ગુજરાતી
और
ब्रजभाषा
कृष्ण-काव्य
का
तुलनात्मक अध्ययन

(१५ वीं, १६ वीं, १७ वीं शती ई०)

डॉ० जगदीश गुप्त

हिन्दी परिषद्
विश्वविद्यालय, प्रयाग
१९५७

प्रयाग विश्वविद्यालय

की डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत

तथा

ब्रज साहित्य मंडल

की ओर से एक सहस्त्र के पुरस्कार द्वारा

सम्मानित

शोध-प्रबन्ध

मूल्य ८)

प्रकाशक

हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

मुद्रक

एस० एल० गुप्त, बी० एस-सी०,

टेकनिकल प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, २ लाजपत रोड, इलाहाबाद

श्रद्धेय

प्रो० धीरेन्द्र वर्मा

तथा

श्री केशवराम काशीराम शास्त्री

को

आदर सहित

सूर

कोऊ माई लैहै री गोपालहि।
दधि को नाम श्यामसुंदर रस बिसरि गई ब्रजबालहि।

—सू० सा०, पृ० ३२६

मीरां

कोई श्याम मनोहर ल्योरी, सिर धरे मटुकिया डोलै।
दधि को नाँव बिसर गई ग्वालन, 'हरिल्यो हरिल्यो' बोलै।

—मी० पदा०, पृ० ६१

नरसी

धरणीधरसु लागु मारुं ध्यान रे।
लोक कहेशे गोपी घेली रे थइ छे,
माथे छे महि, कहे छे कान रे।

—न० कृ० का०, पृ० ५३६

परिचय

भारतवर्ष के महत्वपूर्ण सांस्कृतिक आंदोलन प्रायः देशव्यापी रहे हैं, यद्यपि इनमें साथ साथ प्रादेशिक विशेषताएँ भी विकसित होती रही हैं। इस प्रकार के आंदोलनों में मध्ययुग की वैष्णव भक्ति-भावना ने देश के बहुत बड़े भाग को प्रभावित किया था और वह जन-जीवन में बहुत गहरी उतर गयी थी। एक ही मूल धार्मिक प्रेरणा को मध्यदेश, गुजरात, बंगाल, उड़ीसा, आसाम आदि के संप्रदाय-प्रवर्त्तकों तथा भक्त-कवियों ने अपने-अपने ढंग से प्रकट किया।

मेरी यह निश्चित धारणा रही है कि यदि हमें अपने देश के सांस्कृतिक आंदोलनों का वास्तविक पूर्ण अध्ययन उपस्थित करना है और उनका पूर्ण चित्र सामने रखना है तो यह केवल मात्र प्रादेशिक अध्ययनों के रूप में नहीं हो सकेगा, किंतु विस्तृत ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन भी अनिवार्य होंगे। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए मैं अपने सहयोगियों तथा खोज के विद्यार्थियों को भाषा, साहित्य और संस्कृति संबंधी ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक विषयों पर कार्य करने को निरंतर प्रेरित करता रहा हूँ।

तुलनात्मक विषयों में गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन मैंने श्री जगदीश गुप्त के सिपुर्द किया था। कुछ अन्य विद्यार्थियों को हिंदी-बंगाली, हिंदी-तेलगू, हिन्दी-मराठी, आदि विषयों के तुलनात्मक अध्ययनों में लगाया था। मुझे अत्यंत संतोष है कि श्री गुप्त ने अपने विषय का अध्ययन पूर्ण परिश्रम और खोज के साथ किया और उनके इस कार्य पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० फिल्० की उपाधि प्रदान की। उनके परीक्षकों ने इस महत्वपूर्ण कार्य की अत्यंत प्रशंसा की थी। यही थीसिस अब परिवर्द्धित तथा संशोधित रूप में प्रकाशित हो रहा है।

इस कार्य के सिलसिले में श्री गुप्त ने गुजराती भाषा और साहित्य का भली प्रकार अध्ययन किया तथा कई महीने गुजरात के अनेक केन्द्रों में रह कर सामग्री

संकलित की और वहाँ के विद्वानों के साथ विचार विनिमय किया। ब्रज की तो उन्होंने कई यात्राएँ कीं। मेरे विचार में अपने देश के दो प्राचीन जनपदों की साहित्यिक तथा धार्मिक धाराओं का ऐसा विस्तृत और गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत ग्रंथ के रूप में पहली बार उपस्थित किया जा रहा है। मुझे विश्वास है भारतीय संस्कृति और साहित्य के विद्यार्थी इसे अत्यंत उपयोगी तथा ज्ञानवर्द्धक पायेंगे।

प्रयाग,
नवम्बर १९५७

धीरेन्द्र वर्मा

प्राक्कथन

समस्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं और उनके साहित्यों का विकास प्रायः समानान्तर ही हुआ है। मध्यकाल में महान् भक्ति आन्दोलन से अनुप्रेरित होकर राम और कृष्ण सम्बन्धी जो विशाल साहित्य निर्मित हुआ वह हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि सभी भाषाओं में उपलब्ध होता है। एक समय में लगभग एक ही प्रकार की प्रेरणाओं से उत्पन्न विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में रचित इस साहित्य के सम्यक् ज्ञान के लिए गंभीर तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इस आवश्यकता को समझ कर और गुजराती तथा ब्रजभाषा में पर्याप्त कृष्ण-साहित्य देखकर 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक विषय को हाथ में लिया गया। जहाँ तक ब्रजभाषा का प्रश्न है १६वीं और १७वीं शती में कृष्ण-काव्य की सर्वाधिक रचना हुई, इससे पहले का प्रामाणिक काव्य नहीं मिलता परन्तु गुजराती में भालण जैसे प्रमुख कवि १५वीं शती में ही माने जाते हैं, अतएव १५वीं, १६वीं और १७वीं इन तीनों शतियों के समय विस्तार को स्वीकार किया गया। कवियों और उनके काव्यों का परिचय शती-क्रम के अनुसार ही दिया गया है। कौन सा कवि किस शती में माना जाय इसका निर्णय जन्मकाल के आधार पर न करके काव्यकाल के आधार पर किया गया है जो काव्य सम्बन्धी अध्ययन के लिए अधिक उचित है। अध्यायों का विभाजन काव्य में पाये जाने वाले प्रमुख अंगों के अनुसार किया गया है।

"कवि और काव्य" शीर्षक प्रथम अध्याय में कवियों के समय से सम्बन्धित प्रमाण देते हुए उनके कृष्णपरक काव्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। जो काव्य कृष्णपरक नहीं समझे गये उन्हें, स्वीकृत कवि की रचना होते हुए भी, प्रस्तुत अध्ययन में स्थान नहीं दिया गया है। जैसे नरसी मेहता की 'हारमाला' आदि कई रचनाएँ जो उनके जीवन से सम्बद्ध घटनाओं पर रची गयी हैं, इस अध्ययन में सम्मिलित नहीं की गयी हैं। इसी तरह तुलसीदास की केवल 'कृष्णगीतावली' को ही सम्मिलित किया गया है क्योंकि इसके अतिरिक्त उनकी सारी रचनाएँ रामपरक हैं। दोनों भाषाओं के सम्पूर्ण काव्य साहित्य को लेकर रचनाओं का इस तरह चयन लेखक को स्वयं करना पड़ा है। गुजराती की बहुत सी ऐसी सामग्री का प्रयोग किया गया है जो अभी तक अप्रकाशित है। ब्रज में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रभाव से

कृष्ण-साहित्य का विकास होने के कारण ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का परिचय सम्प्रदायों के वर्ग बनाकर दिया गया है और जो सम्प्रदाय-मुक्त कवि हैं उनको एक स्वतन्त्र वर्ग में रक्खा गया है। गुजराती में परिस्थिति भिन्न होने के कारण इस प्रकार के वर्ग-विभाजन की आवश्यकता नहीं हुई। कृष्ण-काव्य केवल भक्ति-काव्य ही नहीं है अतएव ब्रजभाषा के रीतिकार और गुजराती के आख्यानकार कवियों को भी स्थान दिया गया है। गुजराती कवियों के समय को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न इतिहासकारों द्वारा दिये गये उनके समय को एक स्वतन्त्र तालिका-चित्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है साथ ही तीन तालिका-चित्र और दे दिये गये हैं जिनसे प्रत्येक शती में गुजराती और ब्रजभाषा दोनों के कवियों और काव्यों की तुलनात्मक परिस्थिति तत्काल एक ही दृष्टि में विदित हो जाती है। यह सब ग्रंथ के अंत में छपे हैं। गुजराती कवियों और काव्यों का परिचय अपेक्षाकृत कुछ अधिक विस्तार से दिया गया है क्योंकि हिन्दी-भाषी क्षेत्र अभी उनसे कम परिचित है। नरसी मेहता के लिए गुजराती में प्रयुक्त 'नरसिंह' का व्यवहार न करके 'नरसी' का ही व्यवहार किया गया है जो हिन्दी में प्रचलित रहा है। नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में और ध्रुवदास ने अपनी 'भक्तनामावली' में इसी का व्यवहार किया है। मीरां के तथाकथित "नरसी रो माहेरो" में भी यही रूप व्यवहृत हुआ है।

इस अध्ययन का द्वितीय अध्याय, जिसमें वर्ण्यवस्तु का विश्लेषण एवं विवेचन किया गया है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी सारी सामग्री, ब्रज-लीला, मथुरा-लीला तथा द्वारका-लीला, इन तीन भागों में विभाजित कर दी गयी है। इन भागों के अन्तर्गत अवान्तर विभाजन करते हुए वर्ण्य-वस्तु की सूक्ष्म तुलना करने का प्रयास किया गया है। तुलनात्मक स्थिति को पूर्ण बनाने के लिए प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के स्रोतों का बराबर निर्देश कर दिया गया है। एक तो इससे मूल प्रेरणाओं पर प्रकाश पड़ सका है दूसरे कवियों की, वस्तु के क्षेत्र में, मौलिक देन का भी निश्चय किया जा सका है। यह सारा विश्लेषण मूल ग्रंथों का आधार लेकर मौलिक रूप से किया गया है।

तृतीय अध्याय में "सिद्धान्त पक्ष" शीर्षक से दोनों भाषाओं के कवियों द्वारा ब्रह्म, जीव, जगत्, माया तथा भक्ति के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये सिद्धान्तों, विचारों एवं धारणाओं को यथावत् प्रस्तुत किया गया है। साम्प्रदायिक मान्यताओं तथा प्राचीन स्रोतों का भी आवश्यकतानुसार प्रसंग के अनुकूल उल्लेख कर दिया गया है परन्तु प्रधानता कवियों के अपने विचारों को ही दी गयी है।

चतुर्थ अध्याय काव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। उसमें 'भावपक्ष' का तुलनात्मक निरूपण किया गया है। भावों की गंभीरता, उनका सहज सौन्दर्य, औचित्य-अनौचित्य, अभिव्यंजना के गुण-दोष, सभी का विवेचन रूढ़िगत शास्त्रीय परिपाटी से न करके साहित्य के स्वाभाविक मानदंड से किया गया है। इसके लिए कृष्ण-काव्य के कुछ विशेष भावमय स्थल अथवा प्रसंग चुन लिए गये हैं। दोनों भाषाओं में प्राप्त होने वाले भावसाम्य की ओर विशेष रूप से संकेत कर दिया गया है।

'कलापक्ष' शीर्षक पंचम अध्याय में कला का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए अलंकार-विधान के अतिरिक्त दृश्य-चित्रण, स्वभाव-चित्रण, प्रकृति-चित्रण तथा प्रबन्ध-निर्वाह का भी समावेश कर लिया गया है जिससे दोनों भाषाओं के कृष्ण-काव्य के लगभग सभी प्रमुख पक्ष सामने आ जाते हैं।

'छंद' शीर्षक षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत प्रबन्ध, पद और मुक्तक तीनों शैलियों में व्यवहृत छंदों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। छंदों के सूक्ष्म भेदों, लक्षणों, समानताओं एवं विषमताओं के निर्देशन के बाद अंत में दोनों भाषाओं के काव्य में स्थान स्थान पर निर्दिष्ट मुख्य रागों की सूची भी दे दी गयी है।

'भाषा शैली' शीर्षक सप्तम अध्याय भी पर्याप्त महत्त्व रखता है क्योंकि इसके उत्तरांश में भाषा-मिश्रण की विवेचना करते हुए कुछ ऐसे स्थलों का उदाहरण सहित निर्देश किया गया है जहाँ गुजराती कवियों के काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग मिलता है। ब्रजभाषा काव्य में गुजराती से प्रभावित जो प्रयोग मिलते हैं उनकी ओर भी संकेत कर दिया गया है। अध्याय के प्रारंभ में तत्सम, तद्भव, देशज अथवा लोक प्रचलित शब्दों के वैभव का परिचय दिया गया है और पर्याय शब्दों के उदाहरण रूप में कृष्ण के लिए दोनों भाषाओं में प्रचलित शब्दों का संकलन प्रस्तुत किया गया है जो मनोरंजक भी है और महत्त्वपूर्ण भी। लोकोक्तियों और मुहावरों की सूची देकर दोनों भाषाओं की भावाभिव्यंजन-शक्ति की तुलना की गयी है तदनन्तर भाषा की शैलीगत विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसी अध्याय में मीरां तथा भालण की भाषा से सम्बन्धित दो ब्लॉक भी दे दिये गये हैं।

पहले अध्याय को छोड़ कर शेष सभी अध्यायों में दी गयी सामग्री तथा उसका विश्लेषण एवं विवेचन मौलिक रूप में लेखक द्वारा प्रथम बार प्रस्तुत किया गया है। बीच में यदि कहीं से सहायता ली गयी है तो उसका उल्लेख भी कर दिया गया है।

दोनों भाषाओं के कृष्ण-काव्य में मिलने वाले बहुमुखी साम्य और वैषम्य के आधार को प्रकट करने के लिए उपसंहार में गुजरात और ब्रज के युगों पुराने सांस्कृतिक सम्बन्धों पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए उनके अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। इस उपसंहार में जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है उनके संकलन में विभिन्न विद्वानों की कृतियों से सहायता ली गयी है।

प्रस्तुत अध्ययन से सम्बन्धित सामग्री की प्राप्ति के लिए लेखक को गुजरात, बम्बई, पूना, नाथद्वारा, काँकरौली, उदयपुर जैसे अनेक स्थानों की यात्रा करनी पड़ी। गुजरात में रहकर उसने कई महीनों तक अहमदाबाद की 'गुजरात विद्या सभा' (गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी) तथा बड़ौदा के 'प्राच्यविद्या मंदिर' में कार्य किया। बम्बई की 'फार्बस गुजराती सभा' तथा 'भारतीय विद्या भवन' में भी कुछ समय तक उसे कार्य करना पड़ा। 'भंडारकर इन्स्टीट्यूट' पूना तथा 'विद्याविभाग' काँकरौली से भी लेखक ने आवश्यक सामग्री प्राप्त की।

अपने यात्रा काल के शोधकार्य में लेखक को श्री दुर्गाशंकर शास्त्री, श्री रणछोडलाल ज्ञानी, डॉ० मोतीचंद, श्री पी० के० गोडे, श्री मुनि जिनविजय, श्री रविशंकर रावल, श्री रसिकलाल छो० पारीख, श्री केशवराम काशीराम शास्त्री, श्री जेठालाल गोवर्धन शाह, श्री गोविन्द लाल भट्ट, डॉ० मंजूलाल मजमूदार तथा श्री बालचन्द जैन आदि अनेक विद्वान् महानुभावों से सहयोग प्राप्त हुआ जिसके लिए वह उनका हृदय से आभारी है।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने साहित्यकार संसद् की ओर से आर्थिक सहायता देकर यात्रा का व्यय-भार कुछ हलका किया अतएव लेखक उनका भी आभार सधन्यवाद स्वीकार करता है। प्रयाग विश्वविद्यालय ने लगातार तीन वर्ष तक डी० फिल्० का रिसर्च स्कॉलरशिप प्रदान करके तथा इस शोध-प्रबंध के प्रकाशन की अनुमति देकर जो उपकार किया है उसके लिए धन्यवाद देना लेखक का कर्त्तव्य है।

श्री के० एम० मुंशी तथा स्वर्गस्थ श्री रामनारायण विश्वनाथ पाठक ने परीक्षक रूप में जो अमूल्य सुझाव दिये थे उनका, कृतज्ञता के साथ, ग्रंथ में उपयोग किया गया है।

अपने श्रद्धेय गुरु डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का लेखक सबसे अधिक कृतज्ञ है जिनकी देखरेख और निर्देशन में सारा कार्य सम्पन्न हुआ। वस्तुतः इस कार्य में मुझे प्रवृत्त करने का सारा श्रेय उन्हीं को है और उन्हीं के बहुमूल्य परामर्श से इस प्रबन्ध को इतना व्यवस्थित रूप मिल सका।

तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में लेखक को अपना पथ स्वयं बनाना पड़ा है क्योंकि आदर्श रूप में कोई कृति उसके सामने नहीं थी। विवेचन करने और निष्कर्षों पर पहुँचने में उसने यथाशक्ति तटस्थ रहने का प्रयास किया है।

ग्रंथ विषयक कुछ सामान्य बातों की ओर भी यहाँ ध्यान दिला देना आवश्यक है। एक तो यह कि प्रत्येक अध्याय की पादटिप्पणियाँ सुविधा के कारण अध्याय के अन्त में दी गयी हैं दूसरे यह कि इस अध्ययन में सर्वत्र सनों का व्यवहार किया गया है। जहाँ संवतों का व्यवहार हुआ है वहाँ वैसा संकेत कर दिया गया है। कुछ ग्रंथों तथा व्यक्तियों के पूरे नाम न देकर संक्षिप्त रूप प्रयुक्त किये गये हैं जिनके पूर्णरूप संक्षिप्त रूपों के साथ ग्रंथ के प्रारंभ में दे दिये गये हैं।

अन्त में मैं उन सब लोगों का साभार स्मरण करना चाहता हूँ जिनके श्रम और सद्भाव ने ग्रंथ को वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने में योग दिया। श्री गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने कुछ अंशों के संक्षिप्तीकरण एवं अनुलेखन में, श्री पुरुषोत्तमदास मोदी तथा श्री कृष्ण चन्द्र कपूर ने टाइपिंग की व्यवस्था में, आदरणीय श्री लल्लीप्रसाद पाण्डेय तथा मेरे प्रिय शोध-छात्र श्री योगेन्द्र पाण्डेय ने प्रूफ-संशोधन में सहायता दी। श्री शेषकुमार रस्तोगी तथा श्री सुदर्शन मिश्र ने अनुक्रमणिकाएँ निर्मित करने में जिस लगन से कार्य किया वह सराहनीय है। न चाहते हुए भी अनेक त्रुटियाँ यत्र तत्र रह गयी हैं जिनका सुधार अगले संस्करण में अवश्य ही कर दिया जायगा। अपनी सीमाएँ और विषय-विस्तार दोनों का ध्यान करके मैं विनम्र भाव से यह ग्रंथ आपके हाथों में अर्पित करता हूँ।

जगदीश गुप्त

प्रयाग,
कार्त्तिकी पूर्णिमा, सं० २०१४

विषय-क्रम

[अंक पृष्ठ-संख्या के द्योतक हैं।]

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

संक्षिप्त रूप

अ०	अध्याय
अ० व०	अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय
उत्त०	उत्तरार्ध
उप०	उपनिषद
क० च०	कवि चरित
कृ० खं०	कृष्ण जन्म खंड
कृ० गी०	कृष्ण गीतावली
गु० व० सो०	गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी
गु० सा०	गुजराती साहित्य
गू० हा० संकलित यादी	गूजराती हाथप्रतोनी संकलित यादी
छं० सं०	छंद संख्या
झावेरी	कृष्णलाल मोहनलाल झावेरी
तारापोरवाला	इरच जहाँगीर सोराबजी तारापोर-वाला
त्रिपाठी	गोवर्धनराम माधवराम त्रिपाठी
थूथी	एन० ए० थूथी
द० स्कं०	दशम स्कंध
दिवेटिया	नरसिंहराव भोलानाथ दिवेटिया
ध्रुव	आनन्दशंकर ध्रुव
न० कृ० का०	नरसिंह महेता कृत काव्य-संग्रह
नि० मा०	निम्बार्क माधुरी
नं०	नंबर
नंद०	नंददास
पु०	पुराण
प्रा० का० मा०	प्राचीन काव्य माला

प्रा० गु० छं०	प्राचीन गुजराती छंदो
पृ०	पृष्ठ
फा० गु० स०	फार्बस गुजराती सभा
ब्र० वै०	ब्रह्म वैवर्त
बृ० का० दो०	बृहत् काव्य दोहन
भा०	भागवत
मा० वा०	माधुरी वाणी
मीतल	प्रभुदयाल मीतल
मी० प०	मीरां पदावली
मुंशी०	कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी
ले०	लेखक
सू० सा०	सूरसागर
सं०	संवत् तथा संपादक (प्रसंगानुसार)
श्लो०	श्लोक
शास्त्री	केशवराम काशीराम शास्त्री
श्रीकृ० ली० का०	श्रीकृष्ण लीला काव्य
श्रीकृ० वृ० रा०	श्रीकृष्ण वृन्दावन रास
श्रीगदा० वा०	श्रीगदाधर भट्ट की वाणी
श्रीम० भा०	श्रीमद्भागवत (प्रेमानंद कृत)
श्रीव० र० वा०	श्रीवल्लभ रसिक की वाणी
श्रीहि० चौ० से० वा०	श्रीहित चौरासी सेवक वाणी
वा०	वाणी
व्या० वा०	व्यास वाणी (हरिरामव्यास कृत)
ह० प्र०	हस्त प्रति
हरि० षो०	हरिलीला षोडशकला
हि० चौ०	हित चौरासी

अंग्रेजी

A. G.	Archaeology of Gujarat, Sankalia.
Chap.	Chapter.
C. P. G.	Classical Poets of Gujarat and their Influence on Society and Morals, G. M. Tripathi.
G. G.	The Glory that was Gurjara desha.
G. L.	Gujarat and Its Literature, Munshi.
G. L. L.	Gujarati Language and Literature, N. B. Divetia.
J. O. I. B.	Journal of Oriental Institute, Baroda
J. I. S. O. A.	Journal of The Indian Society of Oriental Art
M. G. L.	Milestones in Gujarati Literature, Jhaveri.
S.C. G. L.	Selections from Classical Gujarati Literature, Taraporewala.
Vol.	Volume.
V. G.	Vaishnavas of Gujarat, Thoothi.

गुजराती

और

ब्रजभाषा

में लिखे गये, १४०० ई० से
१७०० ई० तक के समस्त

कृष्ण-काव्य

का,
उसके विविध पक्षों के
विश्लेषण से युक्त, विवेचना-
पूर्ण तुलनात्मक अध्ययन।

१

कवि और काव्य

१५वीं शती—गुजराती

गुजराती साहित्य के प्रमुख इतिहासकारों में १५वीं शती के कृष्णपरक कवियों और उनके समय के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। प्रस्तुत अध्ययन के लिए इस शती के जिन कवियों और काव्यों को स्वीकार किया गया है उनके नाम चित्र नं० १ में दिये गये हैं तथा चित्र नं० ४ में विभिन्न इतिहासकारों द्वारा दिये गये कवियों के समय एवं तत्सम्बन्धी जटिलता को स्पष्ट किया गया है।

चित्र नं० ४ के देखने से ज्ञात होता है कि इस शती में कुल सात कवि उपलब्ध हुए हैं जिनमें से मयण का उल्लेख मुंशी और शास्त्री के अतिरिक्त अन्य किसी इतिहासकार ने नहीं किया है।[1] नर्रांष तथा केशवदास का परिचय भी मुंशी और शास्त्री दो ही ने दिया है। मीरां के विषय में दिवेटिया मौन हैं तथा मुंशी और शास्त्री ने उन्हें १५वीं शती में स्वीकार नहीं किया है किन्तु शेष इतिहासकारों ने १५वीं में ही माना है। भालण को सबने स्वीकार किया है और भीम को भी। केवल दिवेटिया ने भीम का परिचय नहीं दिया। नरसी को मुंशी और दिवेटिया के अतिरिक्त सबने १५वीं शती में रक्खा है। इस विषय में दिवेटिया की धारणा उतनी दृढ़ नहीं है जितनी मुंशी की। अधिकतर कवियों के जीवनकाल के विषय में अनिश्चय एवं मतवैविध्य है जिसका निराकरण करते हुए निष्कर्ष रूप में १५वीं शती में निम्नलिखित चार कवियों को स्वीकार किया गया है।

१. नर्रांष
२. मयण
३. भालण
४. भीम

शेष कवि १६वीं शती के अन्तर्गत स्वीकृत हुए हैं। उक्त चार कवियों तथा उनके काव्यों का परिचय आगे दिया गया है।

मुंशी ने 'नरसिंह युगना कवियो' तथा अपने इतिहास में इस कवि का समय सं० १४९५ (सन् १४३९) के आसपास दिया है किन्तु नाम नर्तर्षि माना है।[२]

नयर्षि

कीर्तिमेरु नामक जैन कवि की सं० १४९७ की एक हस्त-प्रति में 'फागु' नामक रचना के प्राप्त होने तथा उसकी एक पंक्ति 'कीरति मेरु समाण' के आधार पर उन्होंने फागु-कार को कीर्तिमेरु का शिष्य होना भी संभव माना है। नर्तर्षि नाम का आधार ग्रंथ के अंत में प्राप्त संस्कृत के दो श्लोकों में से निम्नलिखित श्लोक है।

पौराणैः कीर्तितो देव त्यामेव भुवनाधिपः ।
नत (य) र्षिः श्री जगद्वन्द्यो ज्ञानी ध्यानी गुणी कविः ॥

शास्त्री नर्तर्षि को निरर्थक समझते हुए नयर्षि (नय+ऋषि) को उचित समझते हैं।[३] यही दूसरे श्लोक की पंक्ति **'रमा रमा रमा राम तस्य येन नयोनते'** को देखते हुए अधिक सभाव्य लगता है। वसंतविलास नामक काव्य, जिसकी हस्तप्रति सं० १५०८ तक की उपलब्ध है, की अनेक पंक्तियाँ फागु की अनेक पंक्तियों से समानता रखती हैं जिसके कारण मुंशी एक ही व्यक्ति को दोनों का रचयिता मानते हैं परन्तु शास्त्री दोनों का रचनाकाल सं० १४५० से सं० १५०० के बीच मानते हैं और इनके रचयिता के एक ही होने के सम्बन्ध में शंकालु हैं। उनके मत से फागु का रचयिता यदि भिन्न है तो लगभग २५ वर्ष बाद फागु की रचना हुई होगी।[४] जो भी हो इतना स्पष्ट है कि फागु का रचयिता सं० १४९७ के आसपास का अर्थात् १५वीं शती ईसवी का कवि है। यहाँ इतना ही अभिप्रेत है।

रचना : फागु—कवि की कृष्ण विषयक रचना केवल एक ही प्राप्त है जिसे 'फागु' की संज्ञा दी जाती है। वसंतविलास यदि नयर्षि की ही रचना हो तो भी वह प्रस्तुत विषय की सीमा में नहीं आती। इस 'फागु' नामक काव्य का विषय वसंत ऋतु में द्वारकावासी कृष्ण की गोपियों सहित रासक्रीड़ा है। प्रारंभ में सरस्वती वंदना के उपरान्त सोरठ देश का परिचयात्मक निरूपण है। काव्य के नाम का आधार यह अन्तिम पंक्तियाँ हैं।

देव तणउ अे फाग। पढह गुणह अणुराग।
नव निधि ते लहइ अे। जे पाणि संभलइ अे॥ ६४॥

इस कवि के काल निर्णय के सम्बन्ध में कोई स्थूल प्रमाण उपस्थित नहीं किया जा सकता तो भी 'मयणछंद' की भाषा के आधार पर इतना अवश्य अनु-

मयण

मान होता है कि इसकी रचना १५वीं शती के बाद की नहीं है। शास्त्री इस कवि का समय सं० १५०० के आसपास मानते हैं।[५]

रचना : मयणछंद—मयण की एक मात्र कृति मयणछंद ही उपलब्ध है। सारी रचना में विविध प्रकार से 'स्यामास्याम' का संभोग श्रृंगार वर्णित है। यत्र तत्र विरह एवं मान सम्बन्धी छंद भी है।

यद्यपि सामान्यतः सभी इतिहासकारों ने भालण को १५वीं शती में माना है तथापि उनका समय पूर्णरूप से असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। भालण के विशेषज्ञ रामलाल चुन्नीलाल मोदी एक स्थल पर उन्हें नरसी का समकालीन मानते हुए सं० १४९० से सं० १५७० के बीच स्थापित करते हैं और दूसरे स्थल पर वे ही उनका मृत्यु समय सं० १५४५-४६ होने का अनुमान करते हैं।[१] मुंशी इनका समय सन् १४२६ से १५०० के बीच मानते हुए उसे एक प्रकार से अनिश्चित बताते हैं। शास्त्री भालण का जन्म सं० १५१५-२० के आसपास संभव मानते हैं किन्तु आश्चर्य है कि इसी के साथ भालण की कादम्बरी की भाषा को वे दूसरी भूमिका न मानकर गुजराती की तीसरी भूमिका मानते हुए 'सं० १६२५ लगभग मां स्थापित थयेली भाषा छे' भी लिखते हैं।[२] यदि कादम्बरी की भाषा के सम्बन्ध में उनका यह निर्णय स्वीकार किया जाय तो भाषा की यह अपेक्षाकृत अर्वाचीनता भालण के सर्वमान्य काल को स्वीकृत करने में बाधक सिद्ध होती है। संभव है कि गुजराती के अन्य विद्वान कादम्बरी की भाषा विषयक शास्त्री जी की उक्त धारणा से सहमत न हों। ऐसी स्थिति में भालण के समय की सीमा निर्धारित करने वाली अन्य सामग्री का परीक्षण आवश्यक है।

भालण

जिस सामग्री के आधार पर भालण का समय निश्चित किया जाता है उसकी प्रामाणिकता प्रधानतः चार मान्यताओं पर आधारित है।

१. भालण और 'हरिलीलाषोडशकला' के रचयिता भीम के वेदान्तपारंगत गुरु 'पुरुषोत्तम' की एकता

२. नारायण भारती द्वारा भालण के घर से प्राप्त सामग्री की सत्यता एवं प्रामाणिकता

३. भालण की तथाकथित रचना 'बीजुं नलाख्यान' में दिया हुआ समय सं० १५४५[८]

४. भालणसुत विष्णुदास के उत्तरकांड की समाप्ति का समय सं० १५७५[९]

इन चारों में से एक भी बात ऐसी नहीं है जिसे स्वतः सिद्ध प्रमाण माना जा सके। सभी संदेह से युक्त हैं।

भीम ने गुरु रूप में पुरुषोत्तम का उल्लेख केवल 'प्रबोधप्रकाश' में किया है। 'हरिलीलाषोडशकला' में 'महारिषि' एवं 'द्विज' मात्र कहा गया है। पूरा नाम उसमें नहीं मिलता। इस स्थिति को समझाने के लिए मोदी ने यह कल्पना की कि जिस काल में पुरुषोत्तम भालण जीवित थे उनका नाम परंपरानुसार कवि ने नहीं दिया किन्तु 'प्रबोधप्रकाश' की रचना के समय तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी अतः उसमें उनका नामोल्लेख किया गया।[१०] शास्त्री के अनुसार यह कल्पना भी संभव नहीं।[११] सबसे मुख्य बात तो यह है कि न तो भालण की किसी रचना से उनके पुरुषोत्तम नाम का प्रमाण मिलता है और न भीम की किसी रचना से भालण नाम का। फिर भालण के वेदान्तपारंगत होने का भी कोई समर्थन नहीं है। नारायण भारती द्वारा भालण के घर से प्राप्त ताम्रपत्र पर 'पुरुषोत्तम महाराज पाटणनां' खुदे होने से यह कभी सिद्ध नहीं होता कि पुरुषोत्तम भालण का ही नाम था। रही मानने की बात सो तो भीम को भालण का शिष्य ही नहीं पुत्र तक मानने की निराधार कल्पना की जा चुकी है जिसके लिए मोदी को लिखना पड़ा कि 'भीम भालण नो पुत्र होवो शक्य नथी'।[१२]

'बीजुं नलाख्यान' में दिये गये संवत् की प्रामाणिकता से पहले स्वतः उसी की प्रामाणिकता विचारणीय है। मोदी इसे भालण की रचना ही नहीं मानते यद्यपि शास्त्री को यह पूर्णतया अमान्य भी नहीं।[१३] किन्तु वे भी 'आ काव्य नी रच्या साल तेमने मळली' 'क' प्रत मां छे 'ख' मां न थी' की सूचना देकर सं० १५४५ की पूर्ण मान्यता को संदिग्ध बना देते हैं। अतएव इस तिथि, बार, दिवस शून्य संवत् के आधार पर, भालण का समय निश्चित नहीं किया जा सकता।

रामजनकुंअर रचित उत्तरकांड में 'भालण सुत विष्णुदास' के दो कड़वों से जो समय निकलता है (सं० १५७५) वह भी अशुद्ध ठहरता है। यह बात मोदी और शास्त्री दोनों ने ही स्वीकार की है। वहाँ बुधवार दिया है जबकि गणनानुसार शनिवार ही आता है।

इधर भालण के दशमस्कंध में कवि की छाप वाले छः ब्रजभाषा के पदों की स्थिति पर विचार करने से एक नयी ही समस्या उत्पन्न हो गयी है।[१४] इस दृष्टि से भालण के समय पर इतिहासकारों द्वारा अभी तक विचार नहीं किया गया था। हरगोविंददास कांटावाला, नारायण भारती तथा मोदी आदि जिन अन्य विद्वानों ने भालण का समय निश्चित करने की चेष्टा की उन्होंने भी उनके ब्रजभाषा के पदों को कोई महत्व नहीं दिया। मोदी को तो इसका भान भी नहीं है। उनकी दृष्टि में केवल विष्णुदास के ही पद आये।[१५] शास्त्री ने भालण छापवाले केवल चार ब्रज-

भाषा के पदों का उल्लेख किया। सन् १९४९ की ओरियंटल कांन्फ्रेंस में गुजराती सेक्शन के लिए उन्होंने इस विषय पर एक लेख भेजा जिसमें पाँच पदों को स्वीकार किया। इस सम्बन्ध में वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह उनके लेख की सिनॉप्सिस के निम्न उद्धरण से स्पष्ट है :

'These five padas should be considered either later interpolations by some one else, giving the Bhālaṇachāpa, or Bhālaṇa's own composition By accepting the latter view, it is easy to say that he knew vaisṇava vraja Bhāṣa poetry of Suradāṣ, and imitated him by giving five padas in vraja Bhāṣa.

Bhālaṇ's Akhyānas are of the same type as those of Nākar. It will be easier to put Bhālaṇa in the second half of the 16th century V. S. and to consider him a contemporary, but a senior contemporary of Nākara.

भालण को १६वीं शती विक्रमी के उत्तरार्ध में मानने का तात्पर्य है उनको १५वीं शती ईसवी से वहिष्कृत करना। परन्तु ऐसा करना तब तक उचित नहीं है जब तक यह पूर्णतया प्रमाणित न कर दिया जाय कि भालण छाप वाले पद स्वयं भालण की ही कृति हैं। भालण के उक्त पदों के अन्य व्यक्ति द्वारा रचे जाने और प्रक्षिप्त होने की संभावना को शास्त्री ने स्वीकार भी किया है। साथ ही विष्णुदास, रसातलनाथ, सीतलनाथ तथा सूर के पद दशमस्कंध में प्रक्षिप्त रूप में मिलते ही हैं। अतएव जिस समय तक प्रक्षेप की संभावना का पूर्ण निराकरण नहीं हो जाता तब तक इसी आधार पर भालण को समय-च्युत करना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः इन पदों और कादम्बरी की भाषा के सम्बन्ध में अधिकारी तथा विशेषज्ञ विद्वानों का निर्णय प्राप्त होने से पूर्व भालण का समय संदिग्ध मानते हुए भी उन्हें १५वीं शती में रखना ही उचित लगता है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन में उन्हें समय-च्युत नहीं किया गया है।

रचनाएँ: दशमस्कंध, कृष्णविष्टि—यों तो भालण ने कादम्बरी, नलाख्यान, सप्तशती, रामबालचरित आदि अनेक रचनाएँ की हैं किन्तु कृष्ण सम्बन्धी उनकी केवल दो ही कृतियाँ प्राप्त होती हैं।

१. दशमस्कंध
२. कृष्णबिष्टि

मोदी के अनुसार यह दोनों रचनाएँ उनके उत्तरकाल की हैं, शास्त्री के मत से उत्तम कोटि की।[११] मुंशी ने रुक्मिणीहरण, सत्यभामाविवाह तथा कृष्णबाल-

चरित का भी उल्लेख किया है[१७] किन्तु यह सारी की सारी रचनाएँ दशमस्कंध के अन्तर्गत ही आ जाती हैं।

दशमस्कंध—भागवत के दशमस्कंध का अनुवाद होते हुए भी कई कारणों से भालण की यह रचना अत्यन्त महत्व रखती है। कृष्ण की बाल लीला के पद, राधा का वर्णन तथा ब्रजभाषा के पद ऐसे ही कारण हैं। इसमें अनेक प्रक्षिप्त पद भी हैं जिनकी ओर समय के प्रसंग में संकेत किया जा चुका है। रासपंचाध्यायी के ११ पद (पद नं० १५७ से १६७ तक) लक्ष्मीदास के रचे हुए हैं। इस ग्रंथ की प्राचीन हस्त-प्रतियों में भी यह क्षेपक यथावत् विद्यमान मिलते हैं।

कृष्णविष्टि—इस रचना के केवल चार पद ही प्राप्त हैं। इनमें कृष्ण के दूतत्व की भूमिका रूप द्रौपदी के मनोभावों को व्यक्त करने वाला संदेश पद्यबद्ध है। इस आधार पर एक विद्वान इसे 'द्रोपदी प्रकोप' नाम देना अधिक उचित समझते हैं।[१८] नडियाद वाली हस्तप्रति में भी 'पांचाली नां पद' शीर्षक दिया है परन्तु अन्य में 'इति श्री विष्टि समाप्त' लिखा है जिससे अनुमान होता है कि कदाचित् भालण ने पूर्ण कृष्णविष्टि की रचना की होगी जिसमें से केवल यह चार पद ही उपलब्ध हैं।

भीम

भीम के समय के सम्बन्ध में भालण की तरह न कोई मतभेद है और न उसकी संभावना ही क्योंकि भीम ने अपनी दोनों रचनाओं 'प्रबोधप्रकाश' और 'हरिलीला-षोडशकला' में रचना संवतों का उल्लेख कर दिया है जो प्रामाणिक तथा शुद्ध सिद्ध होता है।[१९] सं० १५४६ प्रथम ग्रंथ का तथा सं० १५४१ द्वितीय ग्रंथ का रचनाकाल है। इससे स्पष्ट है कि कवि का काव्य काल १५वीं शती ईसवी के अन्तर्गत आता है। भाषा और वस्तु की दृष्टि से भी कोई विरोध स्थापित नहीं होता।

रचना : हरिलीलाषोडशकला—भीम की कृष्ण विषयक रचना केवल हरि-लीलाषोडशकला ही है। इसका आधार बोपदेव की हरिलीला है। हरिलीला एक प्रकार से भागवत का संक्षेप मात्र है किन्तु भीम ने उसे षोडशकला का रूपक देकर श्रीकृष्णचंद्र की निष्कलंक कथा का निरूपण किया है।[२०] वर्णन अधिकतर संक्षिप्त एवं अनुवादात्मक हैं। स्थान स्थान पर संस्कृत श्लोक और उनके अनुवाद दिये गये हैं।

१५वीं शती—ब्रजभाषा

अभी तक की शोध के आधार पर १५वीं शती में कोई निर्विवाद महत्त्वपूर्ण कवि ऐसा प्राप्त नहीं होता जिसने ब्रजभाषा में कृष्ण विषयक काव्य की रचना की हो।

इस स्थान पर इस विषय के विशेषज्ञ डॉ० दीनदयालु गुप्त का मत उद्धृत कर देना अनुचित न होगा।

'भाषा की दृष्टि से सूर और परमानन्ददास के पहले ब्रजभाषा में रचना करने वाले किसी भी कवि का परिचय इतिहास नहीं देता। नामदेव की ब्रजभाषा भी परिवर्तित रूप में हमारे सामने आती है। इस प्रकार अष्टछाप का प्रथमवर्ग ही ब्रज-भाषा का आदि कवि वर्ग है और उसमें भी सबसे अधिक श्रेय सूर को है।'[२१]

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के मत से भी इसी तथ्य का पोषण होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा से सम्बन्ध रखने वाली १५वीं शताब्दी तक की प्रकाशित प्रामाणिक सामग्री अभी शून्य के बराबर है।[२२]

अन्यत्र वे पुनः लिखते हैं।

'सोलहवीं' शताब्दी से पहले भी कृष्ण काव्य लिखा गया था लेकिन वह सब का सब या तो संस्कृत में है जैसे जयदेव कृत गीतगोविंद या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में जैसे मैथिलकोकिल कृत पदावली। ब्रजभाषा में लिखी हुई सोलहवीं शताब्दी से पहले की प्रामाणिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं।'[२३]

हिन्दी साहित्य की १५वीं शती में मुख्यतया कबीर, विद्यापति, लालचदास तथा बैजूबावरा आदि के नाम आते हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय के श्रीभट्ट तथा हरिव्यास को साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार १४वीं शताब्दी में स्वीकार किया जाता है।[२४] कबीर ने कृष्ण काव्य की रचना नहीं की। विद्यापति मैथिली के तथा दशमस्कंध के अनुवादक लालचदास अवधी के कवि होने से प्रस्तुत विषय की सीमा में नहीं आते। विचारणीय केवल बैजूबावरा, श्रीभट्ट और हरिव्यास ही रह जाते हैं। बैजूबावरा के कुछ पदों के प्राप्त होने का उल्लेख प्रभुदयाल मीतल ने किया है।[२५] किन्तु ऐसी स्वल्प सामग्री से प्रस्तुत अध्ययन में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। जहाँ तक श्रीभट्ट का प्रश्न है उनके विषय में प्राप्त एक दोहे के 'नैनबान पुनि राम ससि' को आधार मानकर उनका समय सं० १३५२ के आस-पास निश्चित करना उचित प्रतीत नहीं होता।[२६] समय निर्णय में प्राप्त ग्रंथ की भाषा, भाव तथा वस्तु और तत्सम्बन्धी बहिस्साक्ष्य पर भी विचार करने की आवश्यकता होती है। और इस दृष्टि से श्रीभट्ट का समय १६वीं शती के पहले नहीं आता। दोहे में दिये गये संवत् के साथ तिथि, वार, मास आदि का निर्देश न होने से ज्योतिष गणना द्वारा उसकी प्रामाणिकता भी सिद्ध नहीं की जा सकती। निम्बार्क-माधुरी के रचयिता बिहारीशरण के अतिरिक्त कदाचित् हिन्दी के किसी अन्य विद्वान ने श्रीभट्ट को १६वीं शती के पहले का कवि नहीं माना।[२७] यही दशा हरिव्यास

की है। वे श्रीभट्ट के शिष्य होने से वे श्रीभट्ट के परवर्ती ठहरते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा हरिव्यास को चैतन्य और वल्लभाचार्य का समकालीन मानते हैं तथा उन पर चैतन्य का प्रभाव भी स्वीकार करते हैं।[२८] ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त मतों के अनुसार यही सिद्ध होता है कि १५वीं शती में ब्रजभाषा का कोई महत्त्वपूर्ण कवि नहीं हुआ तथा किसी की कोई भी प्रामाणिक रचना उपलब्ध नहीं होती।

१६वीं शती—गुजराती

जैसा कि चित्र नं० २ से स्पष्ट है १६वीं शती के कृष्णपरक कवियों में निम्नलिखित बारह कवियों को स्वीकार किया गया है।

१.	नरसी मेहता	७.	ब्रेहेदेव
२.	मीरां	८.	कीकु बसही
३.	केशवदास	९.	वासणदास
४.	नाकर	१०.	काशी सुत शेधजी
५.	चतुर्भुज	११.	संत
६.	भीम वैष्णव	१२.	फूढ

इन कवियों की सूची में से प्रथम तीन कवि तो ऐसे हैं जिन्हें अनेक इतिहासकारों ने १५वीं शती में स्वीकार किया है किन्तु प्रस्तुत अध्ययन में उन्हें १६वीं शती में ही रखना उचित समझा गया है। इस सम्बन्ध में आधारभूत कारणों का उल्लेख तीनों कवियों के परिचय के साथ कर दिया गया है। नरसी और मीरा को मुंशी ने अपने इतिहास में १६वीं शती के कवियों में स्थान दिया है। केशवदास के विषय में इतिहास ग्रंथों के आधार को छोड़ना पड़ा है। नाकर का समय थूथी, मुंशी और शास्त्री तीनों को इसी शताब्दी में मान्य है। शेष आठ कवियों का परिचय केवल शास्त्री के कविचरित में ही मिलता है।

त्रिपाठी ने इस शती में जिन तीन कवियों को माना है[२९] उनमें से किसी ने कृष्णपरक काव्य नहीं रचा। झावेरी ने भी उन्हीं का अनुकरण किया है।[३०] तारापोरवाला ने कुछ और कवियों के नाम दिये हैं किन्तु वे भी विषय की सीमा में नहीं आते। नरसी के अतिरिक्त दिवेटिया ने नाकर का उल्लेख मात्र किया है तथा इस शती के अन्य किसी कवि के सम्बन्ध में उनके ग्रंथ से कोई सूचना नहीं मिलती। गोपालदास का उल्लेख मुंशी, थूथी तथा शास्त्री ने किया है किन्तु वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद भी उन्हें कृष्ण-काव्य का रचयिता नहीं माना जा सकता यद्यपि उनका 'वल्लभाख्यान' अन्य अनेक दृष्टियों से प्रस्तुत अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है।

आगे १६वीं शती के कृष्णपरक कवियों का पृथक्-पृथक् परिचय दिया गया है।

कवि नर्मदाशंकर, इच्छाराम सूर्यराम देसाई तथा हरगोविंददास कांटावाला जैसे प्राचीन गुजराती संशोधकों ने अपने समय में प्राप्त सामग्री के आधार पर नरसी मेहता का समय सं० १४७०, निश्चित मान लिया था। यह वृद्धमान्य समय बहुत काल तक स्वीकृत किया जाता रहा। झावेरी, थूथी, तारापोरवाला तथा शास्त्री ने इसी का प्रतिपादन किया है। इस विषय में सबसे पहली शंका उठाने वाले थे आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव।[११] गोवर्धनराम त्रिपाठी ने भी १९०५ की साहित्य परिषद् के प्रमुख पद से दिये गये भाषण में उसका समर्थन किया।[१२] बाद में मुंशी ने अपने अनेक लेखों में नवीन-नवीन तर्क देकर विवाद को आगे बढ़ाया।[१३] १९३० में न० भो० दिवेटिया ने इस प्रश्न को पुनर्जीवन दिया। मुंशी को और भी बल मिला और उन्होंने अपने इतिहास में नरसी को स्पष्टतया वृद्धमान्य समय से च्युत करके १६वीं शती में स्थापित किया।[१४] नरसी को समय-च्युत करने के पक्ष में जो तर्क दिये जाते हैं वे बहुसंख्यक हैं। उनकी आधारभूत प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं।

नरसी मेहता

क. नरसी में जो सखी भाव मिलता है वह गुजरात की प्रकृति के प्रतिकूल है अतः उन पर निश्चय ही चैतन्य की शुद्ध वृन्दावनीय भक्ति का प्रभाव पड़ा जिसका प्रमाण 'गोविंददासरे कडछा' है जिसमें चैतन्य की गुजरात यात्रा और जूनागढ़ में मीरांजी ब्राह्मण के घर निवास तथा रणछोड़दास के मंदिर दर्शन का वर्णन है। यह १५११ की रचना है। इसमें नरसी का कोई उल्लेख न मिलना महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यदि वे उस समय रहे होते तो उनकी ख्याति से जूनागढ़ जाकर भी गोविंददास का अपरिचित रह जाना संभव नहीं। अतः नरसी का समय चैतन्य की गुजरात यात्रा के बाद होना चाहिए।

ख. नरसी जीवगोस्वामी की रचना 'उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'विदग्धमाधव, की टीका से परिचित प्रतीत होते हैं। इसके दो प्रमाण हैं।

(१) ललिता, विशाखा तथा चन्द्रावली आदि राधा की सखियों के जो नाम नरसी के 'गोविंद गमन' तथा 'सुरतसंग्राम' में मिलते हैं उनका आधार उज्ज्वलनीलमणि का निम्नलिखित अंश है।
'तत्र शास्त्र प्रसिद्धास्तु राधा चन्द्रावली तथा विशाला ललिता श्यामा' जीवगोस्वामी को शायद यह नामं भविष्योत्तर पुराण से मिले होंगे।

प्राचीन गुजराती साहित्य में यह नाम उपलब्ध नहीं होते। भविष्योत्तर में से नरसी ने यह नाम लिये हों इससे अधिक संभव यही है कि उन पर गौडीय सम्प्रदाय के उक्त ग्रंथों का प्रभाव पड़ा हो।

(२) नरसी के उपास्य गोपनाथ महादेव से मिलता नाम गोपीश्वर महादेव का है। आचार्य ध्रुव ने यह साम्य देखकर लिखा कि 'काठियावाडना गोपनाथ महादेवनुं नाम पूर्वोक्त गोपीश्वर ऊपर थी पडयुं होइ अेम सहज कल्पना थई आवे छे'[१५] विदग्धमाधव नाटक की प्रस्तावना में जो 'अद्याहं स्वप्नान्तरे समादिष्टोस्मि भक्तावतारेण श्री शंकरदेवेन' वाक्य आया है उसकी टीका में जीव गोस्वामी ने उन महादेव का नाम गोपीश्वर दिया है।

ग. नरसी की रचनाओं की १६वीं शती से पूर्व की हस्तप्रतियाँ उपलब्ध नहीं होतीं। हारमाला की प्राचीनतम प्रति सं० १६७५ की है। फिर प्राचीन प्रतियों में दी हुई तिथियों में समानता नहीं है। हारप्रसंग का समय सं० १५१२ पाठभेद से सं० १५७२ भी पढ़ा जा सकता है। वृद्ध मान्य समय का सर्वप्रमुख आधार नरसी तथा रामांडलिक की समकालीनता है जो ऐतिहासिक दृष्टि से किसी प्रकार श्रद्धेय नहीं है। वस्तुतः हार का प्रसङ्ग एक दंतकथा है तथा हारमाला नरसी की अपनी कृति न होकर किसी परवर्ती कवि की रचना है।

घ. नरसी का उल्लेख १५वीं शती के भीम, भालण, केशवदास, यहाँ तक कि उनके परवर्ती नाकर तक ने नहीं किया है। १६वीं शती के विष्णुदास, मीरां, नाभा, वस्ता, विश्वनाथ जानी तथा सं० १६६० में कल्याणराय द्वारा लिखित 'लौकिकेषु इदानीं प्रसिद्धेषु नरसिंहाख्यादिषु अपि प्रसिद्धि बोधको हि शब्दा:'[१६] से स्पष्ट ज्ञात होता है कि नरसी की ख्याति १६वीं शती में और इसके बाद हुई।

इन प्रमुख बातों के साथ पेढीनामा, नरसी द्वारा प्रयुक्त छंद-प्रणाली तथा भाषा आदि को लेकर अन्य नवीन-नवीन तर्कों से इन्हीं का प्रतिपादन किया गया। वाद-विवाद विचारों तक ही सीमित न रह कर भावों का भी स्पर्श करने लगा। दूसरी ओर से भी इनके उत्तर में बहुत कुछ कहा गया। अम्बालाल बुलाकीराम जानी, नटवरलाल देसाई तथा कल्पित प्रमाण देते हुए जगजीवनराम बधेका ने इस मत का सशक्त विरोध किया। मुंशी के 'नरसिंह महेतानो कोयडो' पर दुर्गाशंकर शास्त्री ने

अत्यन्त गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए 'नरसिंह मेहताना कोयडा नो विचार' लिखा।[१७] 'भागवत नी छाप न थी,' का उत्तर देते हुए उन्होंने भागवत से नरसी की रचनाओं की विस्तृत तुलना की और निष्कर्ष रूप में कहा कि 'नरसिंह महेतानांकाव्यो भागवत-मय छे' तथा 'नरसिंह ऊपर सौ थी वधारे असर भागवतनी छे'। उन्होंने नरसी पर वृंदावनीय भक्ति के प्रभाव एवं जीवगोस्वामी के ऋण को अस्वीकार करते हुए उनके सखी-भाव को भागवत तथा गीतगोविंद के आधार पर विकसित माना। सखियों के नामों के सम्बन्ध में उनका मत है कि वे नरसी को भक्त संतों की देश व्याप्त वाणी से प्राप्त हुए, उज्ज्वलनीलमणि से नहीं। चैतन्य से नरसी को सम्बद्ध करने में उन्हें शंका हुई फलतः वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जूनागढ़ के नरसी मेहता, आंध्र के श्री वल्लभाचार्य तथा नदिया के श्री चैतन्य तीनों ने अपनी अपनी रीति से भागवतोक्त गोपी जनों की प्रेमलक्षणा भक्ति का, जयदेव तथा विल्वमंगल आदि भक्तों के सम्प्रदाय का अनुसरण करके विस्तार किया है। 'कडछा' को उन्होंने अप्रामाणिक घोषित किया। उनके पश्चात के० का० शास्त्री ने अपने कविचरित में तथा अन्यत्र इस प्रश्न के उक्त सभी मूलाधारों को हठपूर्वक ध्वस्त करने की चेष्टा की। उन्होंने बहुत से ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किये जो सर्वथा नवीन थे। 'सुरतसंग्राम' तथा 'गोविंद-गमन' को, जिनमें राधा की सखियों के नाम मिलते हैं, उन्होंने भाषा के आधार पर अप्रामाणिक ठहराया।[१८] परन्तु ललिता का नाम नरसी की 'चातुरी षोडशी' में भी प्राप्त होता है जिसके समाधान के लिए उन्होंने जीवगोस्वामी से पूर्ववर्ती गुजराती कवि चतुर्भुज की सं० १५७६ की भ्रमरगीता में 'सुनी तनी थई सर्व सखी चंद्राउली जानि चित्रामि लिखी' पंक्ति की ओर संकेत करके दिखाया कि उज्ज्वलनीलमणि की रचना से पहले गुजरात राधा की सखियों के नामों से परिचित था। साथ ही सं० १४७८ के 'पृथ्वीचन्द्रचरित' में भविष्योत्तर, ब्रह्मवैवर्त तथा पद्मपुराण का उल्लेख निर्दिष्ट करते हुए सिद्ध किया कि चैतन्य से पहले ही गुजरात में भविष्योत्तर पुराण प्रचलित था। अतः सखियों के नामों के लिए नरसी को चैतन्य सम्प्रदायी जीवगोस्वामी का ऋणी मानना न अनिवार्य है और न उचित ही।

'गोविंददासेर कडछा' को तो उन्होंने अप्रामाणिक अथवा 'झूठग्रंथ' माना ही, साथ ही साथ यह भी दावा किया कि उसमें दिया हुआ चैतन्य के जूनागढ़ निवास का सारा वर्णन, उसमें आने वाले सारे नाम असत्य हैं। शास्त्री के अनुसार चैतन्य के समय जूनागढ़ में रणछोड़ का कोई मंदिर ही नहीं था। मांगरोल में अवश्य सं० १५०१ का मंदिर है जिसकी प्रेरणा से सं० १८३५-३८ में पहले पहल जूनागढ़ में रणछोड़-राय का मंदिर स्थापित हुआ। इसी प्रकार मीरांजी ब्राह्मण के स्थान पर वहाँ मुसलमानों

के पीर मीरांदातार का पता चलता है। उनके मत से किसी १९वीं शती के लेखक ने कर्णोपकर्ण नाम सुनकर मीरांजी तथा रणछोड़ को अपने वर्णन में स्थान दिया। इस प्रकार 'कडछा' की सामग्री के साक्ष्य को उन्होंने पूर्णतया अस्वीकार किया और अपने समर्थन में बंगाली विद्वान डॉ० आर० सी० मजूमदार द्वारा १९३६ की अमृत-पत्रिका में प्रकाशित कडछा के खंडन की ओर संकेत किया। इसके विरुद्ध हारप्रसंग तथा नरसी और रामांडलिक की समकालीनता को उन्होंने ऐतिहासिक माना। 'हारमाला' में प्रक्षेप एवं परिवर्धन मानते हुए भी उसके सात पद वाले आदि रूप को प्रामाणिक सिद्ध किया। १५वीं शती के कवियों तथा नाकर आदि के नरसी सम्बन्धी मौन के अनेक कारण दिये। कल्याणराय के 'इदानीं' का अर्थ उनके मत से 'इस जमाने में' होना चाहिए क्योंकि सं० १६२१ के तिथि काव्य में नरसी का उल्लेख मिलता है और उससे भी पहले मीरां के 'नरसी रो माहेरो' में जिसे अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। नरसी के छंद-विधान की प्राचीनता को उन्होंने पूर्ववर्ती जैन रास काव्यों से तुलना करते हुए प्रतिष्ठित किया। अपने दृष्टिकोण के समर्थन में उन्होंने और भी बहुत से प्रमाण प्रस्तुत किये जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं है। कुल मिला कर उन्होंने नरसी को वृद्धमान्य समय से च्युत करने के हर विचार का सायास प्रतिवाद किया।

वस्तुतः इस प्रश्न का समाधान पूर्णरूप से तब तक नहीं हो सकता जब तक नरसी की रचनाओं की प्राचीन प्रामाणिक प्रतियाँ उपलब्ध नहीं होतीं। भाषा, छंद, पाठ-भेद तथा तिथियों की समस्या बहुत कुछ इसी के आश्रित है। जहाँ तक 'गोविंददासेर कडछा' की सामग्री का सम्बन्ध है उसे पूर्णतया अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इस विषय में बंगला के अधिकारी विद्वान एस० के० दे का मत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह उनकी चैतन्य सम्बन्धी नवीनतम शोध पर आधारित है। वे लिखते हैं [१९]-

'It is difficult to pronounce a definite judgement, but it seems probable that some of the matter it contains is old, and this internal evidence itself, in the absence of other proofs, makes the genuineness of the general substance of the work extremely plausible.

वास्तव में चैतन्य की गुजरात यात्रा के 'कडछा' में दिये गये विवरण की गंभीर ऐतिहासिक शोध की आवश्यकता है। उसमें दी हुई सामग्री को सहज ही अप्रामाणिक कह कर टाला नहीं जा सकता। सखियों के प्रश्न को लेकर तो नहीं किन्तु नरसी की भक्ति, भावमयता, मंडलीबद्ध कीर्तन प्रणाली तथा सखीभाव की उत्कटता को

देखते हुए सहसा यह कहना कठिन है कि उन पर बृन्दावनीय भक्ति का प्रभाव नहीं पड़ा। वल्लभ-सम्प्रदाय में नरसी को 'बधैय्या' माना जाता है। जहाँ शुद्ध भक्ति में चैतन्य का प्रभाव झलकता है वहाँ दार्शनिक विचारों में वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत से विचित्र साम्य मिलता है। नरसी के अनेक पदों में मीरां का उल्लेख है। उनके ऐसे सभी पदों को प्रक्षिप्त कहना भी उचित नहीं लगता। अतएव सारी परिस्थिति पर विचार करते हुए ध्रुव, त्रिपाठी, मुंशी तथा दिवेटिया की धारणा में बहुत कुछ सार प्रतीत होता है। इसी विचार से प्रस्तुत अध्ययन में नरसी को वृद्धमान्य समय के विरुद्ध १६वीं शती में स्वीकार किया गया है।

रचनाएँ—विषय और वस्तु की दृष्टि से नरसी की रचनाएँ दो प्रकार की प्राप्त होती हैं। एक प्रकार की कृतियाँ वे हैं जिनमें उन्होंने अपने जीवन की किसी अलौकिक घटना का वर्णन किया है और दूसरी वे जो पूर्णतया कृष्ण को आलम्बन मान कर लिखी गयी हैं। द्वितीय प्रकार की रचनाएँ ही प्रस्तुत निबन्ध की सीमा में आती हैं।

प्रथम प्रकार की रचनाएँ—१. सामलदासनो विवाह
२. हारमाला

द्वितीय प्रकार की रचनाएँ—१. सुरतसंग्राम
२. गोविंदगमन
३. चातुरी छत्रीसी
४. चातुरी षोडशी
५. दाणलीला
६. सुदामाचरित
७. राससहस्रपदी
८. शृंगारमाला
९. बाललीला

इन नौ रचनाओं के अतिरिक्त कुछ प्रकीर्णक पद हैं जिनकी संज्ञा विषय के अनुसार ही दी गयी है।

१०. हींडोलानां पदो
११. भक्तिज्ञाननां पदो
१२. कृष्णजन्मसमैनां पदो
१३. कृष्णजन्मवधाईनां पदो
१४. वसंतनां पदो

उपर्युक्त सभी रचनाएँ 'नरसिंह मेहेताकृत काव्य संग्रह' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त इनका प्रकाशन 'बृहत् काव्य दोहन', 'प्राचीन काव्य त्रैमासिक' तथा 'प्राचीन काव्य सुधा' आदि ग्रंथों के विभिन्न भागों में भी हो चुका है। मुंशी ने 'नागदमन' और 'मानलीला' का भी उल्लेख किया है।[२०] स्वतन्त्र रूप से ऐसी कोई रचनाएँ प्राप्त नहीं हैं। विषय विशेष के पदों के आधार पर यह नाम दे दिये गये हैं।

शास्त्री ने हस्तलिखित ग्रंथों की शोध के आधार पर 'आठ वार', 'कक्को', 'गायनी मागणी', 'द्रौपदी नूं कीर्तन', 'पांडवजुगटानूं पद', 'बारमास', 'बारमास रामदेना', 'मधुकरना बारमास', 'मामेरुं', 'मोती नी खेती', 'विष्णुपद', 'शशियर', 'सत्यभामानूं रुसरणुं', 'सालवणनी समस्या' तथा 'हूंडी' को नरसी की रचनाओं के रूप में उल्लिखित किया है।[२१] इनमें से अनेक रचनाओं का कृतित्व संदिग्ध है। कुछ कृष्ण से सम्बन्धित नहीं हैं और शेष मात्र स्फुट पदों के रूप में हैं जो विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं।

दूसरे प्रकार की रचनाओं में 'सुरत संग्राम' और 'गोविंदगमन' की प्रामाणिकता पर अभी कुछ समय पूर्व शास्त्री द्वारा आक्षेप किया जा चुका है। त्रिपाठी से लेकर मुंशी तक गुजराती साहित्य के सभी इतिहासकारों ने तथा स्वयं शास्त्री ने अपने कविचरित में इन रचनाओं पर कोई संदेह व्यक्त नहीं किया। किन्तु इनमें आये हुए राधा की सखियों के नामों का नरसी के जीवनकाल के प्रश्न से घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण इन पर विशेष विचार करने की आवश्यकता हुई। शास्त्री ने इन रचनाओं की प्रामाणिकता पर जो अविश्वास प्रकट किया उसका समर्थन यद्यपि अन्य गुजराती विद्वानों द्वारा अभी नहीं हुआ तथापि उनके तर्कों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनके मुख्य तर्क यह हैं।

१. इनकी हस्तप्रतियों का कोई पता नहीं है। स्व० हरगोविंददास कांटावाला ने हस्तप्रति मिलने की जो कथा बताई है वह श्रद्धेय नहीं।

२. कृत्रिम भाषा, अर्वाचीन प्रयोग तथा अस्वाभाविक प्रास योजना।

३. राही और राधा का पृथक्-पृथक् निरूपण।

४. मोहिनी, सोहिणी, गर्विणी, दोहिनी तथा मोदिनी आदि काल्पनिक नाम हैं जो नारदपांचरात्र, गर्गसंहिता, पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्त आदि प्राचीन ग्रंथों में कहीं नहीं मिलते।

५. रचनाओं की ही कुछ पंक्तियों के आधार पर ज्ञात होता है कि इनका रचयिता प्राचीन न होकर कोई नवीन नरसी है। संभवतः हरगोविंद-

दास कांटावाला और नाथाशंकर ने मिलकर इन्हें रचा है जो 'हरिनाथ' पद से व्यंजित है।"[३]

इन तर्कों में सबसे प्रबल तर्क पहला ही है। राही और राधा का पृथक्-पृथक् निरूपण प्रेमानंद वासणदास आदि अन्य कई गुजराती कवियों ने किया है।[४] अतः इसे शंका की दृष्टि से देखना अनुचित है। दूसरी ओर ऐसी सूक्ष्म बात का सचेष्ट निरूपण संभव और विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। मोहिनी सोहिनी आदि की तरह काल्पनिक नाम ब्रजभाषा के कवि ध्रुवदास ने भी गिनाये हैं।[४] उनकी रचना की प्रामाणिकता भी असंदिग्ध है अतएव इस तर्क के आधार पर कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। भाषा की कृत्रिमता आदि अवश्य विचारणीय हैं परन्तु इनसे इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किसी अर्वाचीन व्यक्ति के द्वारा उक्त रचनाओं का पुनर्लेखन अथवा संशोधन हुआ। ऐसी स्थिति में नाथाशंकर और हर गोविंददास को भी इसका श्रेय दिया जा सकता है। परन्तु वस्तु को देखते हुए दोनों रचनाएँ अप्रामाणिक प्रतीत नहीं होतीं। नारीकुंजर की कल्पना जो गोविंद-गमन में की गयी है वह उस समय के गुजरात की प्रकृति के पूर्णतया अनुकूल है।[५] रचनाओं के शीर्षक भी उचित तथा परम्परापुष्ट हैं। सुरतसंग्राम की कल्पना नरसी की अन्य रचनाओं को देखते हुए अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होती है। शास्त्री के मत को अन्य गुजराती विद्वानों का अभी समर्थन भी प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत अध्ययन में इन रचनाओं को सम्मिलित कर लेना ही उचित समझा गया है।

सुदामाचरित में यद्यपि प्रधान नायकत्व सुदामा का माना जायेगा तथापि भक्ति-भाव और कृष्ण महिमा वर्णन उद्देश्य होने के कारण इसे कृष्ण काव्य की कोटि में स्वीकार किया जा सकता है। राधा, यशोदा, नंद तथा अक्रूर की तरह सुदामा का प्रसंग भी कृष्ण से अभिन्न रहा है।

नरसिंह कृत काव्य संग्रह के परिशिष्ट भाग में दिये हुए कुछ स्फुट पदों के अतिरिक्त इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन के लिए नरसी की केवल तेरह रचनाएँ उपयुक्त जँचती हैं जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

सुरतसंग्राम—यह आख्यानात्मक रचना है। इसका विषय कृष्ण की दान-लीला का ही एक कल्पनात्मक विकसित रूप है। राधाकृष्ण की प्रणय लीला को संग्राम का रूपक देकर चित्रित किया गया है। राधा की ओर से स्वयं नरसी और

कृष्ण की ओर से जयदेव दूत कार्य करते हैं। अन्त में राधा के पक्ष की विजय होती है। समस्त रचना में ८२ समान पद हैं।

गोविंदगमन—भागवत के शुक-परीक्षित सम्वाद के रूप में कृष्ण के मथुरागमन के प्रसंग को लेकर इसकी रचना हुई है। इसमें कुल ३३ पद हैं।

चातुरी छत्रीसी—दूती, कुंज विहार, श्यामाश्याम रमण तथा दान आदि के प्रसंगों को लेकर विविध प्रणय चर्चा को विभिन्न चातुरियों का रूप देकर इसमें वर्णित किया गया है। नामानुसार ही इस रचना में छत्रीस चातुरी प्रकरण हैं।

चातुरी षोडशी—नाम साम्य होने पर भी चातुरी छत्रीसी जैसी विश्रृंखलता इसमें नहीं है। सारा प्रसंग एक आख्यान रूप में चलता है। ललिता राधा को महावन में ले जाती है। वहाँ कृष्ण राधा मिलन होता है और अन्त में राधा स्वयं अपना रति-सुख ललिता से स्पष्ट शब्दों में कह सुनाती है। राधा को खंडिता रूप में भी चित्रित किया गया है। सारी रचना में कुल १६ पद हैं।

दाणलीला—यह कोई ग्रंथ नहीं है केवल आख्यानात्मक पद है। इसकी हस्तप्रति भी अप्राप्य है। के० का० शास्त्री ने जिन दो प्रतियों[४१] का उल्लेख किया है उनमें से 'द० ८४३ ड' अशुद्ध है तथा 'फा० ५४ ड' में जो दानलीला प्राप्त होती है वह इस पद से भिन्न है। परन्तु परिशिष्ट तथा अन्यत्र दिये हुए नरसी के अनेक ऐसे पद हैं जिनका विषय दानलीला है।

न० कृ० का० संग्रह में निम्नलिखित पद इस विषय के प्राप्त होते हैं।

पृष्ठ संख्या	पद संख्या
३८९	४३३, ४३४, ४३५
३९०	४३६, ४३७, ४३८
४२३	५३२।
परिशिष्ट ५७७	५
५७९	१०
५८०	१४
५८३	२०
५८८	३७
५९४	५८

प्रसंगांतर से अन्य रचनाओं में भी इस विषय के कुछ पद मिल जाते हैं।

सुदामाचरित—९ पदों की संक्षिप्त रचना है। विषय स्वतः स्पष्ट है। भावात्मकता की अपेक्षा पदों में वर्णनात्मकता अधिक है।

राससहस्रपदी—मूलतः भागवत के पाँच अध्यायों पर आधारित इस रचना का नाम रूप अत्यन्त भ्रामक है। नाम से प्रतीत होता कि इसमें सहस्र रास-विषयक पद होंगे और इसका रूप अत्यन्त विशाल होगा परन्तु वस्तुतः सौ सवासौ से अधिक पद इस शीर्षक के अन्तर्गत नहीं आते। न० कृ० का० में इसमें १८९ पद हैं, मुंशी ने १२३ पदों का उल्लेख किया है[७७] और शास्त्री ने इसका समुद्धार कर के पदों की संख्या ११३ निश्चित की जिसमें परिशिष्ट तथा शृंगारमाला के अन्तर्गत आने वाले पद भी सम्मिलित हैं। शास्त्री ने भागवतानुसार दशम स्कंध के २९-३३ अध्यायों के अनुरूप पद-क्रम निर्धारित करने की भी चेष्टा की है।[७८]

यह रचना अत्यन्त विशृंखलित है। अनेक पद ऐसे हैं जिनमें पाँचों अध्यायों का सम्पूर्ण रास संक्षेप में वर्णित है। लगता है कि जैसे किसी क्रम के आधार पर ये पद नहीं रचे गये। कई स्थलों पर भागवत के समान भाव वाले पद प्राप्त ही नहीं होते और कई स्थलों पर राधा आदि के उल्लेख के साथ नवीन भाव वाले पद भी मिल जाते हैं।

शास्त्री द्वारा दी गई पद संख्या में शृंगारमाला के ८, परिशिष्ट द्वितीय के ४, परिशिष्ट-प्रथम के३३और शेष ६८ पद राससहस्रपदी के ही हैं। जो अध्यायक्रम उन्होंने निश्चित किया है उसमें प्रथम अध्याय में ४५ पद, द्वितीय में ५ पद और शेष तीनों अध्यायों में सम्मिलित रूप से ६३ पद दिये गये हैं। इससे सपष्ट है कि राससहस्रपदी की रचना नरसी ने अनुवादात्मक रूप में नहीं की यद्यपि मूल आधार भागवत का ही लिया है। राधारास के सम्मिश्रण से इसे केवल भागवत तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। फिर स्वयं नरसी गोलोक में अपनी उपस्थिति तथा रास दर्शन के आत्मानुभव का वर्णन करके भागवतोक्तरास को और भी अलौकिक बना देते हैं।

शृंगारमाला—इस रचना में नरसी के सर्वाधिक पद संकलित हैं। न० कृ० का० में इन पदों की संख्या ५४१ है। इसमें शृंगार सम्बन्धी विविधि विषयों एवं अन्तर्दशाओं पर विभिन्न प्रकार की शैली के अनेक अनेक पद प्राप्त होते हैं। रास विषयक आठ पद उपर्युक्त राससहस्रपदी में सम्मिलित किये जाने का उल्लेख हो चुका है। कुछ पद ऐसे भी हैं जो शृंगार के नहीं कहे जा सकते। उदाहरणार्थ यशोदा कृष्ण के वात्सल्य भाव को व्यक्त करने वाले पद नं० १८५, ४४६ तथा कृष्ण जन्म से

सम्बद्ध पद नं० १८९ आदि प्रस्तुत किये जा सकते हैं। तो भी अधिकांशपद विरह, प्रेम, रमण, खंडिता, परकीया, रतिप्रात तथा नखशिख वर्णन से सम्बन्ध रखते हैं।

बाललीला—इसमें कृष्ण के बालचरित विषयक पद संकलित हैं किन्तु अन्तिम पद स्पष्टतया रास-आरती का पद है। पदों की संख्या ३० है। इस रचना के अन्त में संकलनकर्ता ने जो नोट दिया है उसमें भाषा के आधार पर अन्त के दो पदों के नरसी कृत होने में शंका की गई है।[४९] रचना का नाम कदाचित संग्रहकार का ही दिया हुआ है जैसा कि नरसी की अधिकांश रचनाओं के विषय में कहा जा सकता है।

हींडोलानां पद—इस शीर्षक के अन्तर्गत ४५ पद संग्रहीत हैं। वृन्दावन की शोभा, वर्षाऋतु तथा सखियों के साथ राधा कृष्ण का हिंडोला झूलना यही समस्त पदों के मुख्य विषय हैं।

भक्तिज्ञाननां पदो—इस नाम से जिन ६६ पदों का संग्रह किया गया है उनमें सभी का विषय भक्ति और ज्ञान नहीं है। पद नं० ४ नरसी का आत्मचरित-परक पद है जिसमें ढेढ के प्रसंग का वर्णन है, पद नं० ६, ७, ८ 'द्रोपदी नी प्रार्थना' के पद हैं जिनमें अनेक अवतारों तथा अनेक भक्तों के उद्धार का कथन है और पद नं० ९, १७ कृष्ण के गोचारण से सम्बन्धित है। शेष पद अवश्य नरसी के आध्यात्मिक अनुभवों तथा ईश्वर, जीव , प्रकृति, ब्रह्म, माया एवं भक्ति विषयक विचारों को व्यक्त करते हैं। इस दृष्टि से यह पद समूह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

कृष्ण जन्म सम्बन्धी पद—

१. जन्म समानां पद	११ पद
२. जन्म बधाईनां पद	८ पद

श्री कृष्ण जन्म समानां पद के प्रारंभिक पद में गुरु वंदना है।[५०] इसके अतिरिक्त अन्य किसी ग्रंथ के प्रारंभ में गुरु वंदना प्राप्त नहीं होती। नरसी ने इसका प्रारंभ आख्यानात्मक ढंग से किया है जो ढाल और साखी की व्यवस्था से प्रमाणित होता है। पहले ९ पदों में मथुरा में कृष्णजन्म, वसुदेव द्वारा योगमाया का लाया जाना तथा कंस द्वारा उसका वध वर्णित है किन्तु अन्त के १०वें और ११वें पद में कंसवध तक की लीलाओं का संक्षेप में वर्णन कर दिया गया है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण कृति सी लगती है।

श्रीकृष्ण जन्म बधाई के आठों पदों में नंद यशोदा के बालकृष्ण की क्रीड़ा तथा स्वरूप का वर्णन है।

वसंतनां पद—जिस प्रकार हिंडोलानां पद वर्षा ऋतु से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार वसंतनां पद बसंत ऋतु तथा होली और फाग से सम्बन्धित हैं। लीला, विलास, शृंगार और नृत्य गायन के वातावरण में राधाकृष्ण तथा सखियों के उल्लास का विविधि प्रकार से वर्णन किया गया है। पद नं० १४, १८ तथा २२वें में वात्सल्य भाव मिलता है अतएवं यह पद अप्रासंगिक प्रतीत होते हैं। बसंत के पदों की कुल संख्या ११६ है।

मीरां को १५वीं शती में मानने वाले विद्वानों का मत अब पूर्णतया भ्रान्त सिद्ध हो चुका है। त्रिपाठी और झावेरी की धारणा का आधार कर्नल टाड द्वारा मीरां को महाराणा कुंभ (मृत्यु सन् १४६८ ई०) की पत्नी मानना था।[५१] थूथी ने झावेरी के अनुकरण पर ही मीरां का समय १४०३—१४७० ई० मान लिया परन्तु

मीरां

तारापोरवाला द्वारा दिये गये समय १४९९—१५४७ ई० का क्या प्रमाण है, ज्ञात नहीं। मुंशी और शास्त्री आदि आधुनिक गुजराती इतिहासकार गौरीशंकर, हीराचंद ओझा तथा मुंशी देवीप्रसाद आदि राजस्थानी विद्वानों के आधार पर मीरां को १६वीं शती में ही मानते हैं। हिन्दी साहित्य के गण्यमान्य इतिहासकारों का भी प्रायः यही मत है।[५२] यों कुछ लोगों का मत कर्नल टाड के मत के पुनर्संस्थापन की ओर भी है अर्थात् वे मीरां को राणा कुंभ की पत्नी और १५वीं शती के उत्तरार्ध में स्थित मानना चाहते हैं।[५३] उन लोगों द्वारा केवल शंका ही उठायी गयी है। ऐसे प्रमाण अभी प्रस्तुत नहीं किये गये जिनके आधार पर उनके मत को निश्चयात्मकता प्राप्त हो। ऐसी स्थिति में मीरां को १६वीं शती में स्वीकार करना ही समुचित प्रतीत होता है। हिन्दी तथा गुजराती के विद्वानों का बहुमत इसी पक्ष में है।

रचनाएँ—मीरां के गुजराती पद बृहत् काव्य दोहन, भाग १, २, ५, ६ और ७ में प्रकाशित हैं। एक 'सत्यभामानु रूसणु' नामक रचना भी प्राप्त होती है।[५४] परन्तु देखने से ज्ञात होता है कि यह बीस कड़ियों का एक लम्बा पद ही है। इन समस्त पदों की संख्या १६० है। तारापोरवाला द्वारा SCGL में जो १०६ पद प्रकाशित हैं वे बृहत् काव्य दोहन में से ही संग्रहीत हैं। प्राचीन काव्य सुधा, भाग ४ में भी बहुत से पद छपे हैं जिनका समावेश भी लगभग काव्य दोहन के पदों में ही हो जाता है। सभी पद गुजराती भाषा के सिद्ध नहीं होते। कुछ पद मिश्रित भाषा के हैं। स्थिति की स्पष्टता के लिए अधिक विवेचन की अपेक्षा है अतएव बृहत् काव्य दोहन के विभिन्न भागों को लेकर पृथक्-पृथक् निरूपण आवश्यक है।

भाग १ लुं—इस भाग में 'सत्यभामानुं रूसणु' समेत कुल १० पद हैं। सभी पदों की भाषा गुजराती है। सत्यभामानु रूसणुं, में पारिजात पुष्प न

पाने पर सत्यभामा के मान और कृष्ण द्वारा उनके मनाये जाने का वर्णन है।

भाग २ जुं—इसमें भी सब पद गुजराती के हैं और उनकी संख्या १७ हैं।

भाग ५ मो—इसमें गुजराती के १५ पद प्राप्त होते हैं।

भाग ६ ट्ठो—इस भाग में केवल ५ पद हैं। चौथा पद खड़ी बोली का है। तीसरे में खड़ी बोली और फारसी का मिश्रण है। दूसरा और पाँचवाँ दो पद गुजराती के हैं। पहले में खड़ी, ब्रज तथा गुजराती तीनों का सम्मिश्रण है। दूसरे पद में 'दास मीरां नो स्वामी' में दासी के स्थान पर दास का प्रयोग उसे संशयास्पद बना देता है। खड़ी बोली के पद भी प्रामाणिकता की दृष्टि से संदिग्ध हैं।

भाग ७ मो—इस भाग में मीरां के सर्वाधिक गुजराती पद संकलित हैं। किन्तु इनमें मिश्रित भाषा के पदों के अतिरिक्त विशुद्ध ब्रजभाषा के पदों की संख्या भी कम नहीं है। समस्त पद गिनती में ११३ हैं जिनमें से ३५ पद गुजराती के नहीं हैं[५५]। शेष ७८ पदों में भी कुछ पदों की भाषा मिश्रित है।

सारे पदों का शीर्षक 'कृष्ण कीर्तन' दिया गया है परन्तु राम विषयक पद भी अनेक मिलते हैं।

केशवदास

केशवदास कायस्थ के 'कृष्णक्रीडाकाव्य' का रचना काल मुंशी और शास्त्री दोनों ने (सं० १५२९) सन् १४७३ माना है जो असत्य है। कवि ने काव्य के रचना काल का उल्लेख स्वयं निम्न पंक्तियों में कर दिया है।

> **तिथि सवत निधि दसका दोय।**
> **संवत्सर शोभन कृत होय।**
> **दक्षिणायन शरद ऋतु सार।**
> **आशवनि शुक्ल पक्ष गुरुवार।**
> **तिथि द्वादशी वली वृद्धि योग।**
> **शत तारक त्रिप्रहरनो भोग।** —पृ० ३१०

इसमें दिये हुए सम्वत्सर, तिथि, मास पक्ष, दिवस एवं योग गणना करने पर सं० १५९२ ही में पड़ते हैं, सं० १५२९ में नहीं। (पिल्लइ की Indian chronology

के अनुसार) । न जाने किस आधार पर शास्त्री ने सं० १५२९ को शुद्ध मान लिया । उन्होंने लिखा है कि 'गणितनी दृष्टि पण आ आषाढी संवत् होवाथी ते दिवसे अेटले सां० १५२९ ना आश्विन सुदि १२ ने दिवसे बरोबर गुरुवार आवी रहे छे । अे जोतां शंका करवा कोई खास कारण न थी ।'[55] अब स्वयं वे भी इस के पक्ष में नहीं हैं । कदाचित् यह लिखते समय उन्होंने योग तथा सम्वत्सर को ध्यान में नहीं रक्खा था अन्यथा दूसरा कोई कारण प्रतीत नहीं होता । रामलाल चुन्नीलाल मोदी सं० १५९२ के पक्ष में हैं । वे केशवदास को वल्लभाचार्य का परवर्ती विट्ठलनाथ का समकालीन समझते हैं तथा इन पर अष्ट सखाओं के काव्य का असर भी मानते हैं ।[57] कृष्णक्रीडा-काव्य के सर्ग १४ में कुछ ब्रजभाषा मिश्रित पद मिलते हैं । सं० १५२९ में अर्थात् सूर के जन्म सं० १५३५ से पहले गुजरात में ब्रजभाषा की रचनाएँ मिलना आश्चर्य-जनक ही नहीं असंभव भी है । सं० १५९२ तक अवश्य अष्टछाप के कवियों का प्रभाव गुजरात तक व्याप्त हो चुका था । फिर 'निधि दसका दोय' से स्पष्ट ही 'नौ दशक और दो' अर्थात् ९२ का बोध होता है । 'वामतो गतिः' का प्रश्न यहाँ उठाना असंगत है क्योंकि कवि ने १५ के लिये एक पूर्ण पद 'तिथि' दे दिया है जिसे पहले ही लेना होगा अन्यथा सं० २९१५ सिद्ध होगा ।

सं० १५२९ की मान्यता का मूल कारण यह है कि कच्छ से उतारी हुई सं० १७८७ की फार्बस गुजराती सभा वाली जिस हस्तप्रति के आधार पर कृष्णक्रीडाकाव्य का प्रकाशन हुआ है उसके हाशिये में 'संवत १५२९ वर्ष उलध' लिखा हुआ है । साथ ही पांचवी गुजराती साहित्य परिषद के विवरण में छपे 'कायस्थ कविओ' नामक लेख में लीलुभाई चु० मजूमदार ने 'संवत पंदर ओगणतीस होय' ऐसा मत दिया है परन्तु वह कहाँ से प्राप्त हुआ है यह अज्ञात है ।

अतएव केशवदास को १५वीं शती में मानना सर्वथा अनुपयुक्त है । 'कृष्णक्रीडा-काव्य' के रचनाकाल की दृष्टि से वे स्पष्टतया १६वीं शती में आते हैं ।

रचना : कृष्णक्रीडाकाव्य—फार्बस गुजराती सभा से प्रकाशित इनकी रचना पर 'श्रीकृष्णलीलाकाव्य' नाम छपा हुआ है जो अशुद्ध है । वस्तुतः नाम 'कृष्णक्रीडाकाव्य' होना चाहिए क्योंकि सर्गान्त में लेखक ने सर्वत्र 'कृष्णक्रीडायां' का प्रयोग किया है । भालण के दशम स्कंध की तरह यह भी भागवत दशमस्कंध का अनुवाद है । राधा, ब्रजभाषा के पद तथा अन्य पुराणों के संदर्भों के कारण इसका भी वैसा ही महत्व है । प्रारंभ में संस्कृत का 'गोपीजनवल्लभाष्टक' दिया हुआ है जिसे पुष्टिमार्गीय साहित्य में हरिराम कृत माना जाता है ।[58] संभव यह भी है कि यह अष्टक केशवदास तथा हरिराय दोनों के अतिरिक्त किसी अन्य प्राचीनतर कवि की रचना हो । केशवदास

ने अपने काव्य में स्थान-स्थान पर सानुवाद श्लोक दिये हैं। रचना के अन्त में कवि ने रचना के विस्तार का निर्देश कर दिया है।

नाकर

नाकर ने अपने 'हरिश्चन्द्राख्यान' में समय का निर्देश कर दिया है जो असंदिग्ध है। अतः उनके समय के विषय में कोई शंका प्रस्तुत नहीं होती।

रचना : भ्रमरगीता—गुजराती साहित्य में नाकर का स्थान उनके आख्यानों के कारण ही श्रेष्ठ माना जाता है। कृष्ण सम्बन्धी काव्य उनका एक मात्र 'भ्रमरगीता' ही मिलता है जो अप्रकाशित है। आख्यान शैली में लिखित तथा भागवत पर आधारित यह काव्य नाकर की अन्य रचनाओं की तुलना में साधारण कोटि का है। प्रारंभ में कवि गणेश, सरस्वती ही की वंदना नहीं करता वरन् कालिदास, श्रीहर्ष आदि कवियों एवं ज्योतिष, गीता आदि शास्त्रों का भी स्मरण करता है। काव्य का रूप भावात्मक न हो कर वर्णनात्मक है। भागवत के गोपी उद्धव संवाद का एक प्रकार से पुनर्लेखन जैसा कर दिया गया है।

चतुर्भुज

कवि के स्वतः दिये हुये 'छिहुतरि' शब्द से, उपलब्ध हस्त प्रति के सं० १६२२ की संगति बैठाकर कुछ विद्वानों ने सं० १५७६ के आसपास चतुर्भुज का समय निश्चित किया है।[१०]

रचना : भ्रमरगीता—चतुर्भुज की एकमात्र रचना भ्रमरगीता है। इसकी शैली फागु काव्यों जैसी है। कवि रचना का अन्त 'इतिश्री कृष्ण गोपी विरह मेलापक भ्रमरगीता फाग' लिखकर करता है। इस पुष्पिका में प्रयुक्त 'फाग' शब्द से सिद्ध होता है कि कवि ने सजग होकर फागु शैली में काव्य रचना की। भाषा प्राचीन है। 'गुजराती' के सं० १९८९ के दीपोत्सवांक में भोगीलाल सांडेसरा ने इसे प्रकाशित किया। रचना का विषय स्पष्ट ही भागवत पर आधारित उद्धव गोपी संवाद है। चंद्रावली के नामोल्लेख की दृष्टि से भी इस रचना का विशेष महत्व है।

भीम वैष्णव

भीम द्वारा काव्य के अन्त में लिखित 'प्रगट बीठलो' तथा विट्ठल नाथ विषयक धोल के आधार पर शास्त्री ने इन्हें गोसाईं विट्ठलनाथ का समकालीन माना है और इनका जीवन काल सं० १५७२-१६३६ के बीच निर्धारित किया है।[११]

रचना : रसिकगीता—कृष्ण सम्बन्धी इनकी एकमात्र रचना है रसिकगीता। यह विषय की दृष्टि से भ्रमरगीता ही है। इसका प्रकाशन बृ० का० दोहन, भाग

३ जु' तथा S C G L में हो चुका है। काव्य के अन्त में विट्ठलनाथ तथा वल्लभाचार्य का स्मरण किया गया है।

कवि द्वारा स्वयं दिये गये समय के आधार पर उसका काव्य काल सं० १६०९ के आसपास निर्धारित होता है।[62]

ब्रेहेदेव

रचना : भ्रमरगीता—ब्रेहेदेव की निस्संदिग्ध रचना केवल भ्रमरगीता ही है। यों पांडवगीता की भी संभावना है किन्तु उसके विषय में शास्त्री किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं।[63] भ्रमरगीता का आधार अन्य भ्रमरगीताओं की तरह भागवत का भ्रमर प्रसंग ही है। शैली की दृष्टि से इसमें नरसी की चातुरी की छाया प्रतीत होती है। 'रढियालो रास सोहायणो' कह कर कवि इसे 'रास' काव्य की परम्परा से सम्बद्ध करता है। यह बृ० का० दोहन, भाग १लुं में प्रकाशित है और चालीस कडवों की संक्षिप्त रचना है।

कीकु के काव्य की हस्तप्रतियाँ सं० १६०० के आसपास की प्राप्त होने के कारण शास्त्री ने इनका समय सं० १५५० के लगभग माना है।

कीकुवसही

कीकु का काव्यकाल १६वीं शती के पूर्वार्ध में ही कहीं हो सकता है।

रचना : बालचरित—कृष्णपरक काव्य कीकु ने एक ही लिखा है जिसका नाम है 'बालचरित'। विषय की दृष्टि से यह अप्रकाशित रचना महत्वपूर्ण है। इसमें कृष्ण के बाल रूप तथा बाल क्रीड़ाओं का वर्णन मिलता है। दोहा चौपाई की आख्यानात्मक शैली में कवि ने भागवत की कथा के अनुसरण पर इस काव्य का निर्माण किया है।

सं० १६४९ तक की प्राचीन हस्तप्रतियों तथा भाषा के कतिपय प्राचीन प्रयोगों के आधार पर शास्त्री वासणदास को सं० १६००

वासणदास

के आसपास स्थापित करते हैं।[64] अन्य अपेक्षित प्रमाणों के अभाव में यह उचित ही प्रतीत होता है।

रचनाएँ—कृष्णवृन्दावन राधारास, हरिचुआक्षरा तथा सत्यभामानी कंकोतरी, यह तीन ऐसी रचनाएँ हैं जिन्हें वासणदासकृत माना जाता है। दूसरी और तीसरी की सूचना गु० ह० संकलित यादी से प्राप्त होती है और पहली की कविचरित से। तीसरी रचना संशयास्पद है।[65] सभी रचनाएँ अप्रकाशित हैं।

कृष्ण बृन्दावन राघवरास—रचना का मुख्य विषय बृन्दावन में राधाकृष्ण और गोपियों की रासक्रीड़ा है। प्रतिलिपिकार अमरवैकुंठ ने पुष्पिका में 'इतिश्री भागवते महापुराणे कृष्णवृंदावने राघवरास' लिखा है। शास्त्री ने 'राघवरास' को अशुद्ध समझकर उसके स्थान पर 'राधारास' शुद्ध समझा। परन्तु कवि की रचना में 'राघव-रास' का स्पष्ट प्रयोग मिलता है—यथा 'ते तां राघवरास भावि भणतां'। शार्दूल-विक्रीड़ित वृत्त होने के कारण गण और वर्णक्रम में भी यहाँ राघवरास ही उचित है। ऐसी स्थिति में इसे निश्चयपूर्वक 'कृष्ण वृंदावन राधारास' नहीं कहा जा सकता। संभव है कवि भालण की तरह रामानंदी हो और इसलिए उसने 'राघव' शब्द का प्रयोग किया हो। रचना के अन्त में कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन है। प्रारंभ में शीर्ष स्थान पर 'श्री कृष्ण लीला' लिखा भी है। वर्णन कई भागों में विभाजित है और प्रत्येक अपने में पूर्ण है। एक प्रकार से यह रचना कई रचनाओं की शृंखला जैसी है। 'चन्द्राउली विलास सम्पूर्ण' 'लीलाउली विलास', 'इति श्री गोपी सम्वाद सम्पूर्ण' तथा 'इति श्री राधारंग सम्पूर्ण' लिखकर पृथक्-पृथक् प्रसंगों की पूर्णता का निर्देश किया गया है। एक प्रकार से इसमें समस्त कृष्ण लीला समाहित है किन्तु 'राधारंग' की प्रधानता के कारण कदाचित ग्रंथान्त में इसे पूर्ण रचना मान लिया गया है। सारी रचना संस्कृत वृत्त शार्दूलविक्रीड़ित में हैं। कुल वृत्त १३५ हैं। विविध खंडों में विभाजित होने पर भी छंदों की क्रम-संख्या टूटी नहीं है जिससे इसके एक ही रचना समझे जाने का प्रमाण मिलता है।

हरिचुआक्षरा—यह १०३ दोहों में वृंदावन सौन्दर्य तथा होली एवं फाग के विषय को लेकर लिखी गयी रचना है। वर्णन की दृष्टि से पहली रचना के सदृश है। कवि कृष्ण को राधा तथा अन्य सखियों से संयुक्त रूप में चित्रित करता है।

काशीसुत शेधजी

काशीसुत शेधजी ने अपनी अनेक रचनाओं में रचना संवत् का उल्लेख किया है जिससे उनका समय सं० १६४७–४८ निर्धारित होता है।[७]

रचना : रुक्मिणीहरण—यों तो शेधजी ने विराटपर्व, सभापर्व, हनुमानचरित तथा अंबरीष कथा आदि अनेक काव्य रचे परन्तु कृष्णपरक उनकी एकमात्र रचना रुक्मिणीहरण ही प्राप्त है जो अप्रकाशित है। कवि ने कृष्ण रुक्मिणी विवाह विषयक इस काव्य की रचना अनेक पुराणों की कथाओं के आधार पर की है। भागवत, हरि-वंश तथा विष्णुपुराण का स्वतः उल्लेख किया है।

श्रीभागवत, हरीवंश मां अे कथा वीष्णुपुराण।
कंहीअेक छ वीस्तार कंही संक्षेप सुध जाण ॥१३॥

अतएव कथा-वस्तु की दृष्टि से रचना छोटी होते हुए भी महत्वपूर्ण है। 'शेधजी' नाम इसमें नहीं है। केवल 'कासीसुत' का ही प्रयोग मिलता है। कवि की अन्य रचनाओं से इस नाम की पुष्टि होती है। शैली कडवाबद्ध है तथा कथा के अनेक प्रसंग रोचक एवं नवीन हैं।

इनकी भाषा में प्राप्त 'अंतरि' जैसे प्रयोगों के आधार पर शास्त्री ने इनका समय विक्रम की १७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना है।[६८] किन्तु इस विषय में अधिक निश्चित होने के लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता है।

संत

रचना : भागवत अनुवाद—संत की एकमात्र रचना भागवत का अनुवाद ही है। ग्रंथ अप्रकाशित है। प्राप्त प्रति में १, २, ३, ४, ८, ९ तथा ११वां स्कंध पूर्ण है। दशमस्कंध आदि अंत में तथा द्वादश स्कंध अंत में टूटा है। दोहा चौपाई में सरल रीति से सारी भागवत को अनुवादित किया गया है।

फूढ १६वीं तथा १७वीं शती ई० के संधिकाल के कवि हैं। शास्त्री ने इनका समय सं० १६५२—१६८३ के आसपास माना है।[६९] सं० १६५७ तक का समय १६वीं शती ई० के अन्तर्गत आता है। इसमें उनकी एक रचना का निर्माण हुआ है। अन्य कृष्ण विषयक रचना 'मल्लअखाडानां चंद्रावला' का समय ज्ञात नहीं। पांडवविष्टि सं० १६७७ में रची गयी जो १६वीं शती की सीमा में नहीं आती। उसकी हस्तप्रति भी उपलब्ध नहीं है।[७०]

फूढ

रचनाएँ—फूढ की कृष्णपरक दो रचनाएँ, 'रुक्मिणीहरण' तथा 'मल्लअखाडानां-चंन्द्रावला' प्राप्त होती हैं जो इस शती में ग्राह्य हैं। दोनों अप्रकाशित हैं।

रुक्मिणीहरण—राग, वलण तथा कडवा पद्धति में इसका निर्माण हुआ है। कथावस्तु की दृष्टि से यह भागवत पर ही आधारित है।

मल्लअखाडानांचंद्रावला—इसमें फूढ ने ७५ चंद्रावलों में कंसवध का वर्णन किया है। इसका भी आधार भागवत ही है।

१६वीं शती—ब्रजभाषा

ब्रजभाषा में कृष्ण संबन्धी अधिकांश काव्य रचना सम्प्रदायों के अन्तर्गत हुई। इन सम्प्रदायों में वल्लभ, राधावल्लभीय, गौडीय, निम्बार्क तथा हरिदासी सम्प्रदाय प्रमुख हैं। १६वीं शती के कवियों तथा उनके काव्य का परिचय स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने के लिये प्रत्येक सम्प्रदाय के साहित्य का पृथक-पृथक निरूपण हुआ है। इसके

अतिरिक्त जो कृष्णपरक काव्य इन सम्प्रदायों से स्वतन्त्र होकर रचा गया उसका वर्णन एक भिन्न वर्ग में किया गया है ।

इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत अष्टछाप के आठों कवि सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, गोविंद स्वामी, नंददास, छीत स्वामी तथा चतुर्भुजदास आते हैं।

वल्लभ सम्प्रदाय

इनमें से पहले चार वल्लभाचार्य के शिष्य थे और अन्तिम चार गो० विट्ठलनाथ के। डॉ० दीनदयालु गुप्त तथा प्रभुदयाल मीतल द्वारा दिये गये इन कवियों के जीवन काल में कुछ विभिन्नता है किन्तु उसे नगण्य माना जा सकता है क्योंकि सभी कवि अन्ततः १६वीं शती की सीमा में ही आते हैं। इन कवियों की रचनाओं पर हिंदी साहित्य के कई विद्वानों द्वारा स्वतन्त्र रूप से विचार किया जा चुका है अतएव आवश्यक मतभेद का निर्देश मात्र करते हुए यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय दे देना ही पर्याप्त होगा।

सूरदास की रचनाएँ (सं० १५३५—१६३८—३९)—सूरदास की रचनाएँ आज भी विवाद का विषय है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा एकमात्र सूरसागर को प्रामाणिक मानते हैं पर डॉ० दीनदयालु गुप्त, मुंशीराम शर्मा, प्रभुदयाल मीतल तथा द्वारिकादास परीख आदि विद्वान् साहित्यलहरी और सूरसारावली को भी प्रमाणिक सिद्ध करते हैं।[३१] इनके अतिरिक्त सूर की अन्य रचनाओं सूरसाठी, सूरपचीसी, सेवाफल आदि की स्थिति भी विवादास्पद है। एक ओर 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में उन्हें सूरसागर के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है।[३२] दूसरी ओर सूरनिर्णय में स्वतन्त्र रचना माना गया है।[३३] वस्तुतः इन्हें स्वतन्त्र रचनाएँ मानना उचित नहीं है क्योंकि सूरसागर से भिन्न इनके अस्तित्व के विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। जहाँ तक सूरसारावली और साहित्यलहरी का प्रश्न है हिन्दी के विद्वानों का बहुमत उन्हें सूरदास की ही रचनाएँ मानने के पक्ष में हैं। इस सम्बन्ध में और भी गहन अनुसंधान की आवश्यकता है। तब तक उन्हें सूरदास की पूर्णतया प्रामाणिक रचनाएँ मानने की अपेक्षा विवादास्पद एवं संदिग्ध रचनाएँ कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। इन शब्दों के साथ बहुमत की उपेक्षा न करते हुए इन दोनों रचनाओं को प्रस्तुत अध्ययन में स्वीकार किया गया है।

सूरसागर—यह सूरदास की एकमात्र पूर्णतया प्रामाणिक रचना है किन्तु इसका रूप और विस्तार बहुत अंशों में अनिश्चित है। सूरदास के नाम से प्रचलित अनेक रचनाएँ वास्तव में इसी का अंश मात्र हैं। दूसरी ओर इसके अनेक ऐसे अंश हैं जो स्वतन्त्र रचनाओं जैसे लगते हैं। यों इसे 'श्रीमद्भागवत, बारहों स्कन्धों का ललित रागरागिनियों में अनुवाद' माना जाता रहा परन्तु वस्तुतः अनुवाद की अपेक्षा इसे

मौलिक रचना मानना अधिक उपयुक्त होगा। इसके अन्तर्गत कई कथाओं का एक से अधिक बार वर्णन हुआ है। एक प्रकार से यह सूर की कृष्ण विषयक लगभग समस्त रचनाओं का संकलन है जिनका मुख्य आधार भागवत पुराण है। किन्तु भागवतेतर कथाओं का भी इसमें स्पष्ट समावेश है। अनेक कथाएँ तथा वर्णन पूर्णतया मौलिक हैं। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने सूरसागर के अन्तर्गत निम्नलिखित १६ प्रामाणिक रचनाओं को समाविष्ट माना है।[७४]

१.	भागवत भाषा	९.	दशमस्कंध भाषा
२.	सूरदास के पद	१०.	नागलीला
३.	गोवर्धन लीला	११.	सूरपचीसी
४.	ब्याहलो	१२.	भँवरगीत
५.	सूर रामायण	१३.	दानलीला
६.	सूर साठी	१४.	मानलीला
७.	राधारसकेलि कौतुहल	१५.	सेवाफल
८.	सूरसागर सार	१६.	सूर शतक

उपलब्ध सूरसागर भागवत की तरह ही 'द्वादश स्कंध' में विभाजित है। कदाचित् स्वयं सूरदास ने ही इसे स्कंधबद्ध रूप में रचा है।[७५] सूरसागर में प्रथम नवम तथा दशम पूर्वार्ध और उत्तरार्ध सबसे अधिक विशाल एवं महत्वपूर्ण हैं। शेष इनकी तुलना में अत्यन्त अल्प और नगण्य से हैं। सम्पूर्ण पद-संख्या ४५७८ है और स्कंधवार पद-संख्या निम्नांकित रूप में प्राप्त होती है।

(१) २१९, (२) ३८, (३) १८, (४) १२, (५) ४, (६) ४, (७) ८, (८) १४, (९) ७२, (१०) पूर्वार्ध ३९३६, (१०) उत्तरार्ध १४२, (११) ६, (१२) ५

प्रथमस्कंध में प्रारम्भिक ११२ पद विनय के हैं। स्कंधवार पद-संख्या से नितान्त स्पष्ट है कि सूरसागर का मुख्य भाग दशमस्कंध के आधार पर ही निर्मित हुआ है। सूरसागर और भागवत में समानता से अधिक भिन्नता प्राप्त होने के कारण दो एक विद्वानों का अनुमान है कि 'वल्लभाचार्य जी ने व्यासजी की जिस समाधिभाषा को प्रमाण रूप माना है उसी का सूरदास ने गायन किया'।[७६] विचार करने पर यह अनुमान अधिक यथार्थ प्रतीत नहीं होता। यह भी अनुमान किया जाने लगा है कि सूरसागर के इस द्वादशस्कंधी रूप में भिन्न विषय-क्रमानुसारी जो एक अन्य रूप मिलता है वह कदाचित् मूल के अधिक निकट रहा होगा। वस्तुतः यह प्रश्न अभी प्रमाण सापेक्ष है। सूरसागर की एक विशेषता यह भी है कि भागवत के प्रथम स्कंध

से द्वादश स्कंध पर्यन्त की प्रत्येक प्रमुख कथा को वर्णनात्मक रीति से बड़े पदों में भी गया है। इनकी शैली पद शैली से भिन्न है।

सूरसागर का प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, नवलकिशोर प्रेश लखनऊ तथा नागरीप्रचारिणी सभा काशी से हुआ है। वेंकटेश्वर प्रेस वाले सूरसागर के सब पदों को अष्टछापी सूर कृत मानने में डॉ० दीनदयालु गुप्त को कुछ संदेह है।[७७] नवल किशोर प्रेस की प्रति के दो भाग हैं। एक में भिन्न-भिन्न रागों के अनुसार नित्य कीर्तन के पद हैं और दूसरे में कृष्णकथानुसार लीला के पद। इसमें सूर के अतिरिक्त अन्य अष्टछापी कवियों के पद भी मिश्रित हैं।

सूरसारावली—११०७ द्विपद छंदों में निर्मित इस रचना को सूरसागर का सार ही नहीं 'सूचीपत्र' तक माना गया परन्तु वस्तुतः यह एक स्वतन्त्र रचना है जिसमें सूरसागर तथा भागवत की कथा का सम्मिश्रण भी प्राप्त है। कथाओं का प्रवाह अविच्छिन्न है किन्तु स्कंधक्रम में विभाजित नहीं। इसकी कथावस्तु का आरम्भ प्रकृति पुरुष रूप पारब्रह्म के सृष्टि विस्तार को होली और फाग का रूपक देकर होता है और इस रूपक का निर्वाह अन्त तक किया गया है। अवतारों के वर्णन में भागवत का अनुकरण है। रामावतार की कथा सांगोपांग रूप में विस्तार से दी गई है तथा कृष्णावतार की कथा में मधुरालीला की प्रमुखता है। अनेक नवीन कल्पनाएं हैं। अन्तिम भाग में रुक्मिणी के प्रश्न के उत्तर के रूप में ब्रज, वृंदावन, राधा, यशोदा तथा रास आदि लीलाओं का समावेश है। यह रचना सूरसागर के बम्बई और लखनऊ वाले संस्करणों के आरंभ में प्रकाशित हुई है।

साहित्यलहरी—यह कृष्ण राधा के नायक नायिका भेद के रूप में प्रस्तुत करने वाले ११८ दृष्टिकूट पदों का संग्रह है। उपसंहारों के रूप में ५३ पद और संग्रहीत हैं जो सूरसागर में भी प्राप्त होते हैं। इसका प्रकाशन खड्गविलास प्रेस बांकीपुर से हो चुका है।

कुंभनदास की रचनाएं (सं० १५२५–१६३९)—दानलीला के एक ३१ छंद के विस्तृत पद, जो स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हो चुका है, के अतिरिक्त कुंभनदास का समस्त काव्य स्फुट पदों के ही रूप में प्राप्त है।

नाथद्वार के निज पुस्तकालय में ३६७ पदों का एक संग्रह प्राप्त होता है और विद्याविभाग कांकरौली में १८६ पदों का जिसका डॉ० दीनदयालु गुप्त ने उल्लेख किया है।[७८] किन्तु कांकरौली में अब हजारीलाल शर्मा द्वारा कुंभनदास के २३२ पद संग्रहीत हो चुके हैं।

कुंभनदास के इन पदों में राधाकृष्ण से सम्बन्धित विविध लीलाओं का वर्णन मिल जाता है। दान प्रसंग, युगलरूप, मिलन, विरह, मान, खंडिता, गोदोहन तथा रास आदि सभी विषयों के पद प्राप्त होते हैं।

परमानंददास की रचनाएँ (सं० १५५०–१६४०)—यद्यपि खोज रिपोर्ट में 'ध्रुव चरित्र' तथा 'दानलीला' नामक रचनाओं का भी उल्लेख मिलता है किन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से एकमात्र 'परमानंदसागर' ही परमानंद की असंदिग्ध रचना सिद्ध होती है।[७९] मीतल ने इन रचनाओं के अतिरिक्त 'उद्धवलीला' परमानंद दास के पद तथा संस्कृत रत्नमाला का भी उल्लेख किया है किन्तु न तो इनका कोई परिचय ही दिया है न इनकी प्रामाणिकता पर ही विचार किया गया है।[८०] परमानंदसागर का विस्तार लगभग २००० पदों तक जाता है। यह संख्या नाथद्वार तथा काँकरौली में प्राप्त इस ग्रंथ की अनेक हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित है।

परमानंदसागर में सूरसागर की तरह सम्पूर्ण भागवत की कथा का समावेश न होकर दशमस्कंध तक के प्रसंगों का वर्णन है। भँवरगीत को छोड़कर अन्य विषयों पर इसमें कथात्मक लम्बे पद भी नहीं हैं। पदों का वर्गीकरण विषयानुसार है। कृष्ण की बाललीला, गोपी प्रेम, गोपी विरह तथा भ्रमरगीत पर अधिक संख्या में पद उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त राधा को लेकर मान, खंडिता, युगल लीला, रास आदि पर तथा अन्य स्फुट विषयों पर भी पद प्राप्त होते हैं।

वल्लभ सम्प्रदायी कीर्तन संग्रह के तीनों भागों में ५०० से अधिक पद ऐसे प्रकाशित हैं जिनके रचयिता परमानंददास हैं। इनके अतिरिक्त अन्य पद संग्रहों में भी यत्रतत्र परमानंददास रचित पद उपलब्ध हो जाते हैं।

कृष्णदास की रचनाएँ (सं० १५५२–१६३८)—कृष्णदास की प्रामाणिक, रचना केवल उनके पद ही सिद्ध होते हैं। कीर्तन संग्रह के तीन भागों में प्रकाशित २४८ पदों के अतिरिक्त इनके ६७६ पदों के हस्तलिखित संग्रह की दो प्रतियाँ एक काँकरौली तथा एक नाथद्वार में उपलब्ध हैं। इन स्थानों में प्राप्त अन्य संग्रहों में भी 'कृष्णदास के पद' मिलते हैं।[८१]

कृष्णदास की संदिग्ध रचनाओं के रूप में डॉ० दीनदयालु गुप्त ने भ्रमरगीत, प्रेमसत्व निरूपिता तथा वैष्णववंदना को स्वीकार किया है साथ साथ रास-पंचाध्यायी विषयक ३१ छंद के एक लम्बे पद को प्रेमरसरास तथा पद संग्रह को 'कृष्ण-दास की बानी' नाम दिये जाने की संभावना व्यक्त की है।[८२]

मीतल ने कृष्णदास की रचनाओं का नामोल्लेख मात्र किया है यथा—

'भ्रमरगीत, प्रेमतत्व निरूपण, भक्तमाल की टीका, वैष्णव बदन, बानी, प्रेम रसराशि, हिंडोरा लीला आदि'।[८१] इनमें कुछ नाम अशुद्ध प्रतीत होते हैं।

गोविंदस्वामी की रचनाएं (सं० १५६२–१६४२)—गोविंदस्वामी की प्रामाणिक रचना के रूप में उनका २५२ पदों का संग्रह ही स्वीकार किया गया है जिसकी अनेक हस्तप्रतियाँ काँकरौली तथा नाथद्वार के पुस्तकालयों से उपलब्ध हुई हैं।[८२] इन प्रतियों में नाथद्वार की सं० १७३३ की प्रति सब से पुरानी है। इधर काँकरौली में विभिन्न पद संग्रहों के आधार पर गोविंदस्वामी के पदों का जो संग्रह किया गया है उसकी पद संख्या ७६० है। इस प्रकार २५२ पदों के अतिरिक्त इतनी संख्या में प्राप्त सभी पदों को संदिग्ध नहीं माना जा सकता। गोविंदस्वामी के पद यद्यपि कृष्ण की अनेक लीलाओं से सम्बद्ध हैं फिर भी कुंज लीला और किशोर लीला के पद विशेष रूप से प्राप्त होते हैं।

नंददास की रचनाएँ (स० १५७०–१६४०)—नंददास की रचनाओं के विषय में पर्याप्त शोधन हो चुका है। उनके नाम से प्राप्त २८ या ३० रचनाओं में से अधिकतर अप्रामाणिक सिद्ध हुई हैं। डॉ० दीनदयालु गुप्त के अनुसार प्रामाणिकता का श्रेय निम्नलिखित १४ रचनाओं को प्राप्त हुआ है।[८३]

१. रसमंजरी
२. अनेकार्थमंजरी
३. मानमंजरी
४. दशमस्कंध
५. श्यामसगाई
६. गोवर्धनलीला
७. सुदामाचरित्र
८. विरहमंजरी
९. रूपमंजरी
१०. रुक्मिणीमंगल
११. रासपंचाध्यायी
१२. भँवरगीत
१३. सिद्धान्तपंचाध्यायी
१४. पदावली

किन्तु इनमें से दो एक रचनाओं के विषय में विद्वानों में मतभेद है। उमाशंकर शुक्ल गोवर्धनलीला को स्वतन्त्र रचना के रूप में स्वीकार नहीं करते और सुदामाचरित को संदिग्ध मानते हैं।[८४] प्रभुदयाल मीतल ने गोवर्धनलीला का उल्लेख ही नहीं किया है। सुदामाचरित को स्वीकार करने के साथ साथ उस पर संदेह किये जाने का संकेत कर के भी स्थिति स्पष्ट नहीं की।[८५] गोवर्धनलीला को स्वतन्त्र रचना मानना अनुचित नहीं क्योंकि दशमस्कंध की लीला से कुछ साम्य होते हुए भी आद्यन्त युक्त यह रचना सर्वथा वही नहीं है। जहाँ तक पदावली का प्रश्न है उसकी प्रामाणिकता तो सिद्ध है किन्तु पद संख्या के विषय में उक्त तीनों विद्वानों के मत में पर्याप्त

भिन्नता है। मीतल के अनुसार 'नंददास कृत लगभग ४०० पद उपलब्ध हैं'।[८८] उमाशंकर शुक्ल ने मूलपाठ में ३५ और परिशिष्ट में २४८, इस प्रकार पदावली के अन्तर्गत कुल २८३ पद प्रकाशित किये हैं।[८९] जवाहरलाल चतुर्वेदी के पास 'नंददास पदावली' के नाम से लगभग ७०० पदों का संग्रह है इसका उल्लेख कई विद्वानों ने किया है।[९०] कांकरौली के विद्या विभाग की ओर से नंददास के स्फुट पदों का जो संकलन हुआ है उसमें ७६२ पद हैं। ऐसी स्थिति में चतुर्वेदी जी के संग्रह में ७०० के लगभग पदों का उपलब्ध होना अविश्वसनीय नहीं।

विषय की दृष्टि से नंददास की उक्त प्रामाणिक रचनाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि अन्ततः कृष्ण से सम्बद्ध होते हुए भी यह सभी रचनाएँ पूर्णतया कृष्ण-परक नहीं कही जा सकतीं। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने विषयानुसार चार वर्गों में विभाजित करके वस्तु स्थिति को अधिक स्पष्ट कर दिया है।[९१]

मानमंजरी, अनेकार्थमंजरी तथा रसमंजरी कवि की इन तीनों प्रारंभिक रचनाओं का उद्देश्य मूलतः कृष्णलीला वर्णन नहीं है। यद्यपि प्रारंभ में कृष्ण वंदना मिलती है और यत्रतत्र उनकी प्रेम लीलाओं का संकेत भी, तथापि वस्तु की दृष्टि से यह प्रस्तुत अध्ययन में किसी प्रकार भी उपयोगी नहीं हैं। रसमंजरी के नायिका भेद के उदाहरणों का अवश्य रीतिकालीन अन्य कृतियों की तरह महत्व हो सकता है किन्तु शेष दो केवल कोश काव्य हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी रचनाएँ विषय की दृष्टि से उपयोगी हैं और उनका परिचय नीचे दिया जाता है।

दशमस्कंध—दोहा चौपाई की शैली में लिखित नंददास की यह अपूर्ण रचना है। भागवत दशमस्कंध के उन्तीस अध्यायों को इसमें एक प्रकार से अनूदित किया गया है। वार्ता साहित्य में इस रचना के अपूर्ण रहने का कारण कथावाचक ब्राह्मणों का विरोध कहा गया है तथा उससे यह भी ज्ञात होता है इसके निर्माण की प्रेरणा कवि को तुलसीदास की रामायण से मिली थी इस दृष्टि से, इसका रचना काल सं० १६३१ के बाद ही संभव है।[९२]

श्यामसगाई—यद्यपि इसकी कुछ प्रतियो में 'तारपाणि' की छाप भी प्राप्त होती है तथापि अनेक, हस्तप्रतियों, रचनाशैली एवं वस्तु के आधार पर यह रचना नंददास की ही सिद्ध होती है। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने इसे स्वतंत्र ग्रंथ न मानकर 'एक लम्बा पद मात्र' माना है।[९३] वंदना और अंत के अभाव से यह उचित ही है। २८ छंदों के इस वर्णनात्मक पद में राधाकृष्ण की सगाई का वर्णन है। कृष्ण गारुड़ी बनकर छल से राधा का काल्पनिक विष उतारते हैं और इस प्रकार अंत में सगाई स्वीकृत कराने में सफल होते हैं।

गोवर्धनलीला—नंददास के दशमस्कंध में तथा इस रचना में कुछ पंक्तियों एवं भावों की समानता होते हुए भी प्रारंभ में गुरु वंदना तथा अन्त में कवि की छाप से युक्त यह काव्य भी स्वतन्त्र कृति ही ज्ञात होता है। नाथद्वार की प्रति में इसको 'गोवर्धनपूजा' और 'गोवर्धनलीला' दोनों संज्ञाएँ दी गयी हैं। विषय शीर्षक से ही स्पष्ट है। रचना वर्णनात्मक होते हुए भी संक्षिप्त है।

सुदामाचरित्र—इस रचना के विषय में डॉ० दीनदयालु गुप्त का यह अनुमान कि 'यह रचना नंददास कृत सम्पूर्ण भागवत भाषा का, जो अब अप्राप्य है, अंश है'।[१४] उचित ही प्रतीत होता है। इसकी रचना शैली ठीक वैसी ही है जैसी दशमस्कंध की। कवि ने 'दशमस्कंध' विमल सुख बानी, सुनत परीछित अतिरति मानी' लिखकर स्वयं इसी तथ्य को स्वीकार किया है। रचना का विषय नाम से स्वतः प्रकट है।

विरहमंजरी—इस छोटी सी कृति में नंददास ने 'द्वादश मास विरह की कथा' का चित्रण किया है। प्रारंभ में चार प्रकार के विरह का उल्लेख करके फिर क्रम से चैत से लेकर फागुन मास तक नाना प्रकार से उद्दीपन सामग्री प्रस्तुत करते हुए ब्रज-वासिनियों की विरह व्यथा का वर्णन किया गया है। प्रत्येक मास के वर्णन का आदि अंत दोहे में तथा मध्य आठ दस चौपाइयों में विरचित है।

रूपमंजरी—५८० पंक्तियों की यह प्रेम कथा रूपमंजरी नामक निर्भयपुरी के राजा की कन्या को नायिका रूप में प्रस्तुत करती है। गिरिगोवर्धन पर कृष्ण की प्रतिमा देखकर तथा स्वप्न में दर्शन पाकर वह उनकी ओर आकृष्ट होती है और अन्त में अपनी सखी इंदुमती की सहायता से कुंज में उनसे मिलकर कृतार्थ भी होती है। दोहा चौपाई की शैली में विस्तार से इसी कथा का वर्णन किया गया है। कथा वस्तु का आधार भागवत से नहीं लिया गया है।

रुक्मिणीमंगल—१३३ रोला छंदों में कृष्ण रुक्मिणी विवाह की भागवतोक्त कथा को मूलाधार मानकर इसकी रचना की गई है। 'विधिवत कियो विवाह तिहूं पुर मंगल गावैं' में प्रयुक्त मंगल शब्द इसके नामकरण की व्याख्या करता है। कथा-कथन में कल्पना का भी पर्याप्त आश्रय लिया गया है।

रासपंचाध्यायी—यह नंददास की सर्वमान्य एवं सर्वप्रसिद्ध कृति है। २९ से ३३ तक भागवत दशमस्कंध पूर्वार्ध के पाँच अध्यायों में वर्णित रासलीला का उसी क्रम से ३०१ रोला छंदों में वर्णन किया गया है। कवि ने भाव युक्त होकर रास का आ-लेखन किया है अतएव इसे अनुवाद नहीं कहा जा सकता। उमाशंकर शुक्ल ने इसके ८३ संदिग्ध छंद 'नंददास' की परिशिष्ट में दे दिये हैं।

भंवरगीत—७५ छंदों में विरचित गोपी-उद्धव-संवाद विषयक इस रचना की अनेक हस्तप्रतियों में 'जनमुकुंद' नामक कवि की भी छाप प्राप्त होती है।[५५] परन्तु रचना शैली और वस्तु की दृष्टि से यह नंददास की ही रचना सिद्ध होती है। इसके प्रारंभ में न वंदना है और न कथा की भूमिका, जिससे ज्ञात होता है कि कदाचित् यह रचना किसी अन्य विशाल रचना का अंश हो। यह भी संभव है कि सूरदास के भ्रमर गीत से प्रभावित होने के कारण इसका ऐसा रूप हो।[५६]

सिद्धान्तपंचाध्यायी—नंददास की यह रचना रासपंचाध्यायी में वर्णित रास-क्रीड़ा की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करती है। रासप्रसंग के शृंगारिक वर्णनों की आलोचना का तथा तद्विषयक अलौकिकता पर की गई शंकाओं का शास्त्रीय उत्तर एवं समाधान उपस्थित करना ही इस रचना के निर्माण की मूल प्रेरणा प्रतीत होती है जो निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है।

जे पंडित सिंगार ग्रंथ मत यामैं सानैं।
ते कछु भेद न जानैं हरि कौ विषई मानैं ॥४९॥

१३८ रोला छंदों में रास का यह सैद्धान्तिक विवेचन समाप्त हुआ है। रास पंचाध्यायी की कुछ प्रतियों में इसकी पंक्तियाँ भी प्रक्षिप्त मिलती हैं।[५७]

पदावली—पदावली के पदों की संख्या ७०० तथा ८०० के बीच में है, इसका निर्देश किया जा चुका है। विषय की दृष्टि से इन पदों में पुष्टिमार्गीय वर्षोत्सव संबंधी लगभग सभी प्रसंगों का वर्णन मिल जाता है। यों नंददास ने बाललीला पर कोई स्वतन्त्र रचना नहीं की किन्तु पदों में इस विषय का भी समावेश है। हिंडोला, वसंत, खंडिता, मान आदि प्रसंगों पर भी पर्याप्त पद प्राप्त होते हैं।

छीतस्वामी की रचनाएँ (सं० १५६७—१६४२)—स्फुट पदों के अतिरिक्त छीतस्वामी की कोई सम्बद्ध रचना उपलब्ध नहीं होती। इन पदों की संख्या के विषय में मतऐक्य नहीं है। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने 'वल्लभ सम्प्रदायी छपे कीर्तन संग्रहों' में से ६४ पदों की, जो छीतस्वामी विरचित हैं, सूची दी है और मिश्र बन्धुओं के ३४ पदों के अप्राप्य संग्रह तथा जवाहरलाल चतुर्वेदी के निजी संग्रह का उल्लेख किया है।[५८] प्रभुदयाल मीतल के अनुसार, उनके रचे हुए अधिक से अधिक २०० पद प्राप्त हो सके हैं, जिनमें से अधिकांश कीर्तन संग्रहों में दिये हुए हैं।[५९] विद्याविभाग कांक-रौली में हजारीलाल शर्मा द्वारा जो संग्रह किया गया है उसमें २३२ पद हैं। इस संग्रह का आधार विभिन्न हस्तलिखित पद-संग्रह हैं। विषय की दृष्टि से इन पदों की स्थिति अष्टछाप के अन्य कवियों की पदावली के ही समान है। कृष्णलीला से सम्बन्धित

लगभग सभी विषयों पर पद प्राप्त होते हैं इनमें दान, मान, संभोग, बाल-लीला तथा यमुना-प्रशंसा प्रमुख हैं।

चतुर्भुजदास की रचनाएँ (सं० १५९७—१६४२)—अन्य अष्टछापी कवियों की तरह चतुर्भुजदास के पदों का संग्रह भी विद्याविभाग काँकरौली की ओर से उक्त शर्मा द्वारा किया गया है जिसमें ४३६ पद संग्रहीत हैं। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने चतुर्भुजदास के अनेक हस्तलिखित पदसंग्रहों का उल्लेख किया है जिनकी पदसंख्या ३०० के लगभग है।[100] कवि की प्रामाणिक रचना के रूप में उन्होंने इन्हीं को स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त 'दानलीला' को भी प्रामाणिक माना है, जो वास्तव में कवि का एक लम्बा पद है। ना० प्र० सभा की खोज रिपोर्ट में उल्लिखित 'मधुमालती', 'भक्तिप्रताप', 'द्वादशयश', तथा 'हितूज को मंगल' अष्टछापी चतुर्भुजदास की रचनाएँ नहीं हैं। इनमें से अन्तिम तीन राधावल्लभीय चतुर्भुजदास द्वारा रचित हैं।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय

वृंदावन में गोस्वामी हितहरिवंश[101] द्वारा संस्थापित युगल रूप राधावल्लभ के उपासक इस सम्प्रदाय के कवियों ने भी पर्याप्त कृष्ण-काव्य का सृजन किया। १६वीं शताब्दी में हितहरिवंश के अतिरिक्त उनके अनुयायी सेवक जी, व्यासजी, भगवतहित, परमानन्ददास, चतुर्भुजदास तथा झूँठास्वामी के नाम प्रमुख हैं। इनमें से भगवतहित, परमानन्ददास तथा झूँठास्वामी की कोई सुसम्बद्ध रचना प्राप्त नहीं होती। केवल स्फुट पद यत्र तत्र प्राचीन प्रतियों में मिलते हैं। हितहरिवंश के पुत्र वनचंद आदि ने भी कविता की किन्तु उनके भी कतिपय स्फुट पद ही प्राप्त होते हैं। शेष कवियों की कृतियों का परिचय नीचे दिया जाता है।

हितहरिवंश की वाणी—ब्रजभाषा में हितहरिवंश की दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

१. श्रीहितचौरासी २. श्रीहित स्फुटवाणीजी

ये दोनों ही प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं। हितचौरासी में ८४ पद संग्रहीत हैं जिनमें राधाकृष्ण के अनुराग, संभोग, कुंजक्रीड़ा, रास, मान, नखशिख, आदि का वर्णन है। सभी पद रागबद्ध हैं। यह रचना हित सम्प्रदाय में गीता भागवत की तरह पूज्य मानी जाती है और सभी साम्प्रदायिक कवियों द्वारा आदर्श रूप में ग्रहण की गई है।

स्फुटवाणी में १५ पद, ३ सवैये, २ कुंडलियाँ, २ छप्पय तथा १ अरिल्ल, इस प्रकार कुल २३ मुक्तक संग्रहीत हैं। यह कवि की प्रारंभिक रचना प्रतीत होती है।

विषय की दृष्टि से अधिकांश पद हितचौरासी के पदों के समान हैं। कुछ पदों में (११, १६) नंद और वृषभानु के द्वार का आनन्दोत्सव वर्णित है। स्फुटवाणी के शेष अंशों में कृष्ण भक्ति की महत्ता का गायन किया गया है।

सेवक जी की वाणी—हितहरिवंश के शिष्य सेवक जी (जन्म सं० १५७०) की वाणी 'श्री हितचौरासी सेवकवाणी' के नाम से गुरु की रचना के साथ ही प्रकाशित हो चुकी है।[१०२] इस वाणी का विषय यद्यपि प्रधान रूप से हितहरिवंश की प्रशंसा है तथापि 'श्री हितरसरीतिप्रकरण' और 'श्री हितभक्तभजन प्रकरण' आदि कुछ प्रकरणों में राधाकृष्ण की कुंज क्रीड़ा का वर्णन भी मिलता है। मिश्र-बन्धुओं ने वाणी के अतिरिक्त इनके 'भक्ति परचावली मंगल' नामक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है[१०३] पर वह उपलब्ध नहीं है। सेवकवाणी के पदों तथा छंदों की संख्या सीमित ही है किन्तु समस्त वाणी का विस्तार लगभग २०० मुक्तकों तक है जिसमें दोहा, छप्पय, सवैया आदि अनेक छंद प्रयुक्त हैं।

व्यास जी की वाणी—ओड़छा नरेश मधुकरशाह के गुरु हरिराम व्यास ने (जन्म सं० १५६७)[१०४] जो हितहरिवंश के सर्वप्रधान शिष्य थे, विस्तृत रूप में काव्य रचना की। उनकी समस्त रचनाएँ 'श्रीव्यासवाणी' नाम से दो भागों में प्रकाशित हो चुकी हैं। इस प्रकाशन का आधार तीन विभिन्न हस्तप्रतियाँ हैं। पहली में ६२७ पद, दूसरी में ६९० पद तथा तीसरी में, जो सं० १८९० की है, ७२२ पद मिले किन्तु प्रस्तुत प्रकाशित वाणी में पद संख्या ७५६ है और साथ में १४६ साखियाँ और दोहे भी हैं।[१०५] यह ७५६ पद दो भागों में विभाजित हैं। पहले भाग में 'सिद्धान्त रस' के ३०१ पद हैं तथा दूसरे में 'रस बिहार' के ४५५ पद हैं।

सिद्धान्तरस के पद—इस शीर्षक के अन्तर्गत आने वाले सभी पद सिद्धान्तपरक नहीं हैं। प्रारम्भ में वृन्दावन, मधुपुरी, यमुना, महाप्रसाद तथा नाम रूप की स्तुति तथा गुरु महिमा का वर्णन है। इसके उपरान्त श्री साधुन की स्तुति' के रूप में समस्त प्रसिद्ध भक्तों का यश वर्णन है जो एक प्रकार से कृष्णकाव्य की सीमा से बाहर की वस्तु है। शाक्त निन्दा कलिकाल प्रवाह आदि प्रकरण भी इसी कोटि में आते हैं। किन्तु शेष अंश किसी न किसी तरह कृष्ण भक्ति से सम्बद्ध है। विनय, विरह, मनोपदेश, भक्ति ज्ञान आदि विभिन्न विषयों के व्याज से युगलरूप की उपासना ही व्यंजित होती है।

रस बिहार के पद—इन पदों में राधाकृष्ण का कुंजविहार, शय्याविहार, जलक्रीड़ा, षड्ऋतुरास, षोडशश्रृंगार, नखशिख, मान, भोजनविलास, होली, हिंडोला,

विवाह आदि अनेक अनेक प्रकार से वर्णित हैं। **'रासपंचाध्यायी'** पृथक रूप से पद्य-बद्ध की गई है जिसमें राधारास को छोड़कर शेष अंश भागवत के आधार पर लिखित हैं। राधा और कृष्ण के जन्मोत्सव से सम्बन्धित पद भी प्राप्त होते हैं और कुछ में गोपाल मंडली का भी चित्रण है। कतिपय पदों में खंडिता के भाव भी व्यक्त हैं। इन थोड़े से अपवादों के अतिरिक्त सभी पदों में राधा कृष्ण के युगलरूप का ही आलेखन हुआ है।

गौड़ीय सम्प्रदाय

ब्रज प्रदेश चैतन्य-सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र रहा है किन्तु जहाँ तक ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का प्रश्न है १६वीं शती में केवल दो कवियों की कृतियाँ ही उपलब्ध होती हैं। ये कवि हैं गदाधर भट्ट तथा सूरदास मदनमोहन। गदाधर भट्ट जीव गोस्वामी के शिष्य थे और सूरदास मदन-मोहन सनातन गोस्वामी के। ये चैतन्य के समकालीन थे।[106] रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार गदाधर भट्ट का कविताकाल सं० १५८०—१६०० के बाद तथा सूरदास मदनमोहन का सं० १५९०—१६०० के लगभग है।[107] स्फुट पदों के अतिरिक्त दोनों कवियों का कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं होता।

गदाधर भट्ट की वाणी—'गोड़ीय वाणी श्री श्रीगदाधर भट्ट जी की' के नाम से प्रकाशित इनकी संग्रहीत वाणी में पदों के अतिरिक्त कतिपय संस्कृत के गीत तथा वृन्दावन की प्रशंसा में लिखित ५८ रोला छंदों का 'योगपीठ' भी सम्मिलित है। संग्रह में छोटे बड़े सभी प्रकार के पद हैं जिनकी संख्या ८० के लगभग है।

यशोदा, नंद, बधाई, वन्दना, यमुना, वंशी, वर्षा, वसंत, होली, हिंडोला आदि पर अनेक तो पद हैं ही किन्तु राधा कृष्ण के शृंगार, रास, विलास, विवाह तथा मान का विशेष विस्तार से वर्णन किया गया है। एक दो स्थल पर श्रीकृष्ण की ब्रज-गोकुल लीलाओं का भी संदर्भ प्राप्त हो जाता है। कुछ पदों में नाम माहात्म्य तथा दैन्य भाव भी व्यक्त है। पदों का वर्गीकरण एवं क्रम-निर्धारण उचित रूप से नहीं हुआ है।

सूरदास मदनमोहन की वाणी—'सुहृद् वाणी श्री श्री सूरदास मदनमोहन की' नामक प्रकाशित संग्रह में इनके १०५ स्फुट पद उपलब्ध होते हैं। इनके काव्य के प्रधान विषय बाल रूप, मुरली, रास, विवाह, खंडिता, होली धमार, फाग तथा हिंडोला आदि हैं। यों प्रारम्भ के उपदेश तथा राधा कृष्ण जन्म की बधाई के पद भी हैं। नखशिख, कुंज विलास तथा दान मान का भी वर्णन प्राप्त हो जाता है। वर्णनात्मक शैली में लिखा हुआ धमार का विस्तृत वर्णन (पद नं० ८२, रागगौरी) एक स्वतन्त्र रचना ऐसा प्रतीत होता है।

यह सम्प्रदाय ब्रज के उक्त अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की अपेक्षा प्राचीनतर है किन्तु १६वीं शती से पहले इसमें भी कोई काव्य रचना उपलब्ध नहीं होती। १५वीं शती के प्रसंग में श्रीभट्ट और हरिव्यास को १६वीं शती का निर्णीत किया जा चुका है। इन दो कवियों के अतिरिक्त एक कवि परशुरामदेव भी इसी शती में प्राप्त होते हैं।[१०८]

निम्बार्क सम्प्रदाय

श्रीभट्ट की रचना : जुगलसत—किंवदन्ती के अनुसार तो यह एक सहस्र पद के रचयिता हैं किन्तु इनकी उपलब्ध रचना एकमात्र 'जुगलसत' ही है।[१०९] श्रीभट्ट की इस कृति में राधा कृष्ण के युगलरूप को आलम्बन मान कर १०० पदों का निर्माण किया गया है यह शीर्षक से ही व्यंजित है। पद विभिन्न प्रकार के हैं और उनके साथ एक एक दोहा भी समाविष्ट है जो पद का संक्षेप मात्र होता है। इन सौ पदों का विषयानुसार वर्गीकरण प्रस्तुत करने के लिये निम्नलिखित उद्धरण दे देना ही पर्याप्त होगा।

> **दस पद हैं सिद्धान्त, बीस षट ब्रजलीला पद।**
> **सेना सुख सोलहौ, सहज सुख एक बीस हद।**
> **आठे सख, अरु उनत बीस उच्छव सुख लहिए।**
> **श्री जुत श्रीभटदेव रच्यो 'सत जुगल' जो कहिए।**[११०]

हरिव्यास की रचना : महावाणी—श्रीभट्ट के शिष्य इन हरिव्यास देव की ब्रजभाषा की केवल एकमात्र रचना महावाणी ही प्राप्त होती है जो गुरु के 'जुगलशत' का भाष्य कहा जाता है।[१११] इस महावाणी के पाँच सुख हैं:—

१. सेवा २. उत्साह ३. सुरत ४. सहज ५. सिद्धान्त

सेवा सुख में अष्टयाम सेवा का वर्णन है। उत्साह-सुख और सहज-सुख में संभोग शृंगार का उदय, विकास एवं पर्यवसान वर्णित है। सिद्धान्त सुख के अन्तर्गत उपास्य तत्व, सखीनामावली तथा महावाणी के गूढ़ विषयों की तालिका प्रस्तुत की गयी है। अनेक स्त्रोत भी इस रचना में समाविष्ट हैं। हरिव्यास ने अपने समस्त पदों में 'श्री हरिप्रिया' की छाप दी है। 'जुगलसत' के आधार पर निर्मित होने के कारण 'महावाणी' का विस्तार भी उसी प्रकार निश्चित है।

परशुराम देव की रचना : परशुरामसागर—श्री हरिव्यास देव के शिष्य परशुराम देव की एकमात्र रचना परशुरामसागर ही उपलब्ध होती है। इस अप्रकाशित बृहत् काव्य के कतिपय अंश 'निम्बार्क माधुरी' में उद्धृत है।[११२] उसमें इस रचना का

जो विवरण दिया है उससे ज्ञात होता है कि इसमें 'बाइस सौ दोहा छप्पै, छन्द और हजारों पद हैं जो भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, गुरुनिष्ठा, प्रेम-सम्बन्धी तथा उपदेशात्मक हैं'।[११३] जो अंश प्रकाशित हैं उनमें शृंगार विषयक पदों का नितान्त अभाव है केवल भक्त, विनय, आत्मनिवेदन तथा ज्ञान वैराग्य की चर्चा है। निम्बार्क माधुरी में परशुराम सागर से १०० दोहे तथा ३३ पद उद्धृत हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय

१६वीं शती में इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक तथा तानसेन के गुरु स्वामी हरिदास के अतिरिक्त उनके शिष्य विट्ठल विपुलदेव और प्रशिष्य बिहारिन देव के द्वारा काव्य रचना हुई। स्वामी हरिदास का कविता काल सम्वत १६००—१६१७ के लगभग माना जाता है।

स्वामी हरिदास की रचना—इनकी रचनाओं के विषय में हिन्दी के इतिहासकार एक मत नहीं हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार इनके अनेक संग्रह प्राप्त हुए हैं जिनमें 'हरिदास जी की बानी' और 'हरिदास जी के पद' प्रमुख हैं।[११४] रामचन्द्र शुक्ल ने तीन निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख किया है :[११५]

१. हरिदास जी को ग्रंथ
२. स्वामी हरिदास जी के पद
३. हरिदास जी की बानी

मिश्र बन्धुओं ने 'भरथरी वैराग्य' नामक रचना को हरिदास कृत माना है।[११६] उक्त सभी रचनाओं का इतिहासकारों द्वारा केवल उल्लेख मात्र प्राप्त होता है। किसी ने उनकी रूपरेखा तथा परिचय प्रस्तुत नहीं किया। वास्तव में इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं जो पदावली के रूप में हैं। पहली रचना में १८ 'सिद्धान्त के पद' हैं तथा दूसरी 'केलिमाल' नामक रचना में युगल रूप राधाकृष्ण के नित्यविहार, नखशिख, मान, दान, होरी तथा रास आदि विषयों के १०८ पद हैं।[११७] ये दोनों रचनाएँ 'निम्बार्क माधुरी' में प्रकाशित हैं। वियोगीहरि ने भी इन्हीं दोनों रचनाओं की चर्चा की है किन्तु पद संख्या क्रमशः १९ तथा ११० दी है और नाम 'केलिमाल' के स्थान पर 'केलिमाला'। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने कदाचित् इन्हीं का 'साधारण सिद्धान्त' तथा 'रास के पद' नाम से उल्लेख किया है।[११८]

इन रचनाओं में सर्वत्र 'श्री हरिदास' अथवा 'हरिदास' की छाप मिलती है अतः नाभा जी के कथन 'रसिक छाप हरिदास की' की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। उनके 'अवलोकत रहे केलि सखी सुख को अधिकारी' से 'केलिमाल' नाम की व्यंजना होती है जिसमें सखी भाव स्पष्ट है।

विट्ठल विपुलदेव की रचनाएँ—इनकी कोई संबद्ध रचना प्राप्त नहीं होती। केवल चालीस स्फुट पद उपलब्ध होते हैं। इन पदों में श्री राधाकृष्ण के नित्य विहार सम्बन्धी विषयों का वर्णन है।[१११] ३९ पद निम्बार्क माधुरी में प्रकाशित हैं।

बिहारिनदेव की रचनाएँ—इनके द्वारा निर्मित ७०० दोहे और ३०० के लगभग पद प्राप्त होते हैं जिनकी रचना भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, नीति, उपदेश, आचार्य निष्ठा, शृंगार आदि विविध विषयों पर हुई है।[११०] जहाँ तक दोहों का प्रश्न है वे प्रकाशित रूप में उपलब्ध नहीं होते किन्तु पदों में से ९० पद संकलित करके निम्बार्क माधुरी में प्रकाशित कर दिये गये हैं।

सम्प्रदाय-मुक्त कवि

इस वर्ग में १६वीं शती के वे सभी कवि आ जाते हैं जिन्होंने उक्त किसी सम्प्रदाय की सीमा में रह कर कृष्ण काव्य की रचना नहीं की। ऐसे कवियों के भी दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग के कवियों की रचनाएँ स्वतन्त्र रूप में प्रेरणा पाकर कृष्ण-भक्ति अथवा कृष्ण-यशगान के उद्देश्य से लिखी गई हैं किन्तु द्वितीय वर्ग के कवियों ने रीति अथवा नायिका-भेद के ग्रंथों के उदाहरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से कृष्ण-काव्य की रचना की। प्रथम श्रेणी में मीरां, तुलसी, रहीम और नरोत्तमदास प्रमुख हैं तथा द्वितीय में कृपाराम, केशवदास, गंग और आलम। नीचे इन समस्त कवियों की रचनाओं का परिचय दिया जाता है।

प्रथम वर्ग के कवियों की रचनाएँ—ब्रजभाषा में मीरां के स्फुट पद ही प्राप्त होते हैं। इन पदों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं[१११] जिनमें परशुराम चतुर्वेदी का 'मीरांबाई की पदावली' तथा महावीरसिंह गहलोत का 'मीरां जीवनी और काव्य' विशेष महत्वपूर्ण हैं। चतुर्वेदी द्वारा प्रस्तुत संग्रह में शताधिक पद सुसंपादित एवं वर्गीकृत रूप में प्राप्त होते हैं तथा गहलौत के संग्रह का महत्व १०८ पदों में ४० अप्रकाशित पदों को पहली बार प्रकाश में लाने के कारण हैं। प्रस्तुत लेखक को भी मीरां के कतिपय अप्रकाशित पद प्राप्त हुए जो मीरांस्मृतिग्रंथ में प्रकाशित हो चुके हैं।[११२] इस ग्रंथ में ललिताप्रसाद शुक्ल ने डाकोर वाली सं० १६४२ की हस्तप्रति से ६९ तथा काशीवाली हस्तप्रति से ३४ पदों को मुद्रित कराया है जिनकी भाषा प्राचीन राजस्थानी है। इसके विषय में विशेष विचार भाषा के प्रसंग में किया जायेगा।

मीरां

विषय की दृष्टि से मीरां के उपलब्ध पद मुख्यतया तीन निम्नलिखित भागों में विभाजित किये जा सकते हैं:

१. स्वचरित सम्बन्धी पद
२. निर्गुण भक्ति परक पद
३. सगुण भक्ति परक पद

अन्तिम भाग के अन्तर्गत मीरां का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम, विरह, मिलन, आत्म-निवेदन आदि भावों से प्रेरित होकर लिखे गये तथा 'रूपवर्णन' होली, वसंत, दान, मान, कुंज क्रीड़ा, पनघट आदि विषयों पर लिखित सभी पद आ जाते हैं।

तुलसीदास

तुलसीदास की समस्त रचनाओं में कृष्णविषयक केवल एक रचना 'कृष्णगीतावली' ही उपलब्ध होती है। यह रचना 'तुलसी ग्रंथावली' तथा 'तुलसी रचनावली' दोनों में प्रकाशित है। कवि की गीतावली में जिस प्रकार राम सम्बन्धी पद संग्रहीत हैं उसी प्रकार इस श्रीकृष्ण-गीतावली में कृष्ण सम्बन्धी ६१ पद संग्रहीत हैं। इन पदों में कृष्ण के बाल रूप तथा भ्रमरगीत का विशेष रूप से वर्णन मिलता है। कुछ पदों में व्रजलीला, रास तथा नखशिख का भी वर्णन है।

रहीम

अब्दुर्रहीम खानखाना की रचनाओं में से केवल दो रचनाएँ, १. मदनाष्टक तथा २. **रासपंचाध्यायी** कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत आती हैं किन्तु इनमें से पहली रचना में मात्र आठ चौपदे हैं तथा दूसरी के केवल दो पद ही उपलब्ध होते हैं।[१११]

नरोत्तमदास

इनकी कृष्ण सम्बन्धी एकमात्र रचना 'सुदामाचरित' है जो अनेक स्थलों से प्रकाशित हो चुकी है। रचना का विषय शीर्षक से प्रकट है। यह एक सुप्रसिद्ध खंडकाव्य है जिसमें दोहा, कवित्त, सवैया, छंद में सम्बद्ध रूप से कृष्ण-सुदामा मिलन की सारी कथा वर्णित है।

द्वितीय वर्ग के कवियों की रचनाएँ—इस वर्ग में कृपाराम की 'हिततरंगिनी', केशवदास की 'कविप्रिया' तथा 'रसिक प्रिया' और आलम-शेख की 'आलमकेलि' जैसी रचनाएँ आती हैं। इन रचनाओं में लक्षणों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत मुक्तकों में राधाकृष्ण की विविध शृंगार लीलाओं का वर्णन प्राप्त होता है। गंग के नाम से उपलब्ध कृष्ण सम्बन्धी कतिपय कवित्त भी इसी श्रेणी में आते हैं।

ये सभी रचनाएं प्रकाशित हैं।

१७वीं शती—गुजरानी

१६वीं शती की तरह इस शती में भी बहुसंख्यक कवि ऐसे मिलते हैं जिन्होंने कृष्ण सम्बन्धी काव्य रचना की। इनमें से अनेक को पहली बार प्रकाश में लाने का श्रेय शास्त्री को है। चित्र नं० ४ के देखने से विदित होता है कि उन्हीं के द्वारा सर्वाधिक

कवियों का उल्लेख हुआ है। किसी कवि का सभी इतिहासकारों ने परिचय नहीं दिया।[१२४] झावेरी ने देवीदास, शिवदास तथा नरहरि, इन तीन अन्य कवियों का परिचय दिया है और मुंशी ने शिवदास एवं रत्नेश्वर का। रत्नेश्वर का उल्लेख त्रिपाठी ने भी किया है। देवीदास और शिवदास तारापोरवाला के SCGL में भी मिलते हैं। माधवदास तक के सभी कवि तथा केशवदास वैष्णव शास्त्री द्वारा उल्लिखित हुए हैं। विष्णुदास का भी किसी ने परिचय नहीं दिया है। चित्र नं० ३ के अनुसार आगे निम्नलिखित १५ कवियों तथा उनके काव्यों का संक्षिप्त परिचय क्रमशः दिया गया है।

१.	लक्ष्मीदास	९.	फांग
२.	देवीदास	१०.	माधवदास
३.	शिवदास	११.	प्रेमानंद
४.	भाऊ	१२.	रत्नेश्वर
५.	वैकुंठदास	१३.	विष्णुदास
६.	परमाणंद	१४.	केशवदास वैष्णव
७.	कृष्णदास	१५.	रविदास
८.	नरहरिदास		

लक्ष्मीदास

लक्ष्मीदास ने अपने 'गजेन्द्रमोक्ष' में रचना समय सं० १६३९ तथा 'चन्द्रहासाख्यान' में सं० १६४७ दिया है जिससे उनका १६वीं शती में होना सिद्ध होता है परन्तु उनके जिस 'दशमस्कंध' के कारण उन्हें प्रस्तुत अध्ययन में स्वीकार किया गया है उसका रचनाकाल सं० १६७४ है।[१२५] एक हस्तप्रति में सं० १६०४ भी दिया है जो संदिग्ध है।[१२६] दशमस्कंध एक तो उनकी प्रारम्भिक रचना नहीं लगती दूसरे उनका काव्यकाल सं० १६७४ के आसपास तक माना भी जाता है क्योंकि उनकी एक छोटी रचना 'ज्ञानबोध' सं० १६७२ में रची गयी मिलती है।[१२७] अतएव सं० १६७४ की प्रामाणिक एवं संभव प्रतीत होता है। ऐसी दशा में लक्ष्मीदास को १७वीं शती के अन्तर्गत स्वीकार करना अनुचित नहीं है।

रचनाएँ : दसमस्कंध, स्फुट पद—लक्ष्मीदास की कृष्णपरक रचनाओं में उनका 'दशमस्कंध' तथा कुछ स्फुट पद ही आते हैं। शेष रचनाओं में कुछ आख्यान काव्य हैं जो प्रस्तुत विषय की सीमा से बाहर हैं।

दशमस्कंध—लक्ष्मीदास की रास पंचाध्यायी के भालणकृत दशमस्कंध में प्रक्षिप्त रूप में पाये जाने का उल्लेख भालण के प्रसंग में हो चुका है। वह पंचाध्यायी इसी

दशमस्कंध का एक अंश है। यह दशमस्कंध अभी अप्रकाशित है। १९५ कड़वों में भागवत दशमस्कंध के ९० अध्यायों का अनुवाद किया गया है।

स्फुट पद—रामविषयक पदों की तरह इनके कुछ पद कृष्णविष्यक भी प्राप्त होते हैं जो मुख्यतया स्तुति रूप हैं। चार मुक्तक सवैये भी मिलते हैं। इन स्वतन्त्र स्फुट रचनाओं की भाषा मिश्रित है।[१२८]

देवीदास

देवीदास के समय का उल्लेख उनकी रचना 'रुक्मिणीहरण' के अन्तिम कड़वे में मिल जाता है।[१२९] उससे ज्ञात होता है कि उनका काव्य-काल सं० १६६० के लगभग रहा है। सं० १६७५ की तो हस्तप्रति ही प्राप्त होती है।

रचनाएँ—इस कवि की लगभग सभी रचनाएँ भागवत पर आधारित हैं और कृष्णविषयक हैं। तीस कड़वों की रचना 'रुक्मिणीहरण' बृहत् काव्यदोहन, भाग छठुं में प्रकाशित है। 'भागवतसार' तथा 'रासपंचाध्यायी नो सार' में प्रथम अप्रकाशित है और दूसरी बृहत् काव्यदोहन भाग ८ मुं में छपी है। रचनाओं के विषय नाम से ही स्पष्ट है।

शिवदास

शिवदास का काव्य-काल देवीदास के काव्य काल के समानान्तर ही रहा है जो उनकी अनेक रचनाओं में दिए हुए समय से प्रमाणित होता है।[१३०] सं० १६६७–७७ तक के समय में उन्होंने अपनी विभिन्न कृतियों का सृजन किया।

रचना : बालचरित—शिवदास आख्यानकार थे। उनकी मात्र एक रचना 'बाल चरित्र' कृष्ण काव्य के अन्तर्गत आती है। भागवत का आधार लेकर कवि ने इसे 'दीन त्रण्य' में ही 'पदबंध' कर दिया। रचना कड़वाबद्ध और वर्णनात्मक है तथा अभी तक अप्रकाशित है।

भाऊ

भाऊ का काव्यकाल सं० १६७६—७९ के लगभग निश्चित है।[१३१] शिवदास की तरह भाऊ भी आख्यानकार ही थे।

रचना : पांडवविष्टि—कृष्ण से सम्बन्धित इनकी एक रचना 'पांडवविष्टि' ही प्राप्त है। यह प्राचीन काव्य त्रैमासिक १८९० अंक ३, में प्रकाशित है। रचना का विषय कौरवों पांडवों के बीच कृष्ण का दूतत्व है।

इस कवि के समय के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। कवि अपनी रचना के प्रारंभ में 'श्रीगोकुल चंदनि' को प्रणाम करता है जिससे उसे गोकुलनाथ का शिष्य मान कर १७वीं शती वि० के उत्तरार्ध में स्वीकार किया है।[१११] गोकुलनाथ की शिष्यता के विषय में शास्त्री ने अन्य प्रमाण नहीं दिये हैं अतएव कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता फिर भी भाषा और वस्तु के आधार पर कवि १७वीं शती का ही प्रतीत होता है।

बैकुंठदास

रचना : रासलीला—कवि की एकमात्र उपलब्ध रचना 'रासलीला' है जो अप्रकाशित है। विषय कृष्ण और गोपियों का रासप्रसंग है जो संक्षिप्त रूप में वर्णित है।

फार्ब्स गुजराती सभा में परमाणंद के 'हरिरस' नामक काव्य की जितनी भी प्रतियाँ हैं उनसे ज्ञात होता है कि इसका रचनाकाल सं० १६८९[११३] है। गुजराती प्रेस की प्रति में सं० १५०९ है जो पूर्णतः असत्य है। परमानंद का समय निस्संदेह १७वीं शती के अन्तर्गत ही आता है।

परमाणंद

रचना : हरिरस—इनकी केवल एक कृति हरिरस ही प्राप्त है। इसका आधार भागवत का दशम और एकादश स्कंध है। सारी रचना १२ वर्गों में विभाजित है। शैली वर्णनात्मक है। कुछ प्रसंग अत्यन्त संक्षिप्त कर दिये गये हैं और कुछ विस्तृत। अनुवाद पर विशेष आग्रह नहीं है। यह अभी अप्रकाशित है।

सं० १६७३ में रचित 'सुदामाचरित' सं० १७०१ में रचित 'मामेरु' तथा सं० १७०३ की रचना 'हुंडी' के आधार पर कृष्णदास का काव्य काल १७वीं शती ही स्थिर होता है।[११४]

कृष्णदास

रचनाएँ—'सुदामाचरित', 'रुक्मिणी विवाह' तथा 'रुक्मिणी हरण हमचडी' यही तीन रचनाएँ ऐसी हैं जो कृष्ण से सम्बन्धित हैं।[११५]

सुदामाचरित—१५ कड़वों की यह आख्यानात्मक रचना अभी अप्रकाशित है। विषय शीर्षक से ही स्पष्ट है।

रुक्मिणी विवाह—कृष्णदास के नाम से प्रसिद्ध इस संक्षिप्त रचना में अनेक कवियों के पद संग्रहीत हैं। यही नहीं कुछ प्रक्षिप्त पद ऐसे भी हैं जिनका प्रसंग से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अन्तिम पाँच पद वल्लभ नामक कवि के हैं और उन्हें

सुगमता से 'राधाविवाह' शीर्षक दिया जा सकता है। 'कृष्णोदास' की छाप प्रारम्भिक पद और पांचवें, छठे तथा सातवें कड़वे में ही है। दूसरे कड़वे में सूरदास का 'विप्र-कोउ द्वारकां पे जाय' पद, तीसरे में 'विजयो' का चौथे में 'जन रघुनाथ' का तथा आठवें में अन्तिम 'टपा' पीताम्बर का है। 'कृष्णोदास' छाप वाले पदों की भाषा भी ब्रज मिश्रित है। ऐसी स्थिति में इस रचना को किसी एक कवि की कृति कहना समुचित नहीं लगता। पर जो पद कृष्णदास के इसमें हैं उनको 'रुक्मिणी विवाह' कहना अनुपयुक्त नहीं। रागबद्ध पदों के कारण ही कदाचित् इसके प्रकाशक श्री काशीराम करसन जी ने इसकी संज्ञा 'श्री रुक्मिणी विवाहनां पदो' दे दी। 'वैष्णवों ने त्यां विवाहोत्सव प्रसंगे गवातां' लिखकर प्रकाशक ने इसकी लोक प्रियता की ओर संकेत किया है।

रुक्मिणीहरण हूमचडी—संदेह के लिए थोड़ा-सा स्थान देते हुए भी शास्त्री हूमचडी को शिवदाससुत कृष्णदास की ही रचना मानने के पक्ष में हैं। उन्होंने ग्रंथारंभ में आये हुए दामोदर के स्मरण की समता लेखक की अन्य रचनाओं से दिखाते हुए अपनी-अपनी उक्त धारणा व्यक्त की है।[११६] रचनाकाल की दृष्टि से ऐसा मानने में कोई व्याघात नहीं उपस्थित होता।

यह रचना अप्रकाशित है। 'हूमची' 'हूमांचडी', हूमचडी' आदि शब्द इसके एक विशेष प्रकार से गेय होने का बोध कराते हैं। ५३ कड़ी की यह संक्षिप्त कृति कवि की अन्य रचनाओं की अपेक्षा निम्नकोटि की है।

नरहरिदास

नरहरिदास का समय उनकी अनेक गीताओं में दिये संवतों से पूर्णतया निश्चित हो जाता है। ज्ञानगीता में सं० १६७२, बासिष्ठगीता में सं० १६७४ और भगवद्गीता में सं० १६७७ दिया है।[११७] इस प्रकार इनका १७वीं शती में होना असंदिग्ध है।

रचनाएँ : आनंदरास, गोपीउद्धव संवाद—नरहरि मुख्यतया ज्ञानमार्गी कवि थे फिर भी दो रचनाएँ कृष्ण से सम्बन्धित मिलती हैं, आनंदरास और गोपीउद्धव संवाद। दोनों अप्रकाशित हैं।

आनंदरास—इसका विषय कृष्ण की रासलीला से नितान्त भिन्न है। कवि ने सारी रचना में आनंद स्वरूप, परब्रह्म कृष्ण की भक्ति, सतसंग तथा प्रपंचत्याग की महिमा का गान किया है। २५ कड़ियों की यह छोटी सी रचना ज्ञानपरक होने के कारण अपना स्वतन्त्र महत्व रखती है।

गोपी उद्धव संवाद—'हरिगुरु संत प्रसादे करी गाये ते रंगभरे रास रे' कह कर नरहरिदास इसे भी आनंदरास की तरह रास शैली में रचित स्वीकार करते हैं। रचना का आधार भागवत का गोपीउद्धव संवाद होते हुए भी कवि ने अपने ज्ञानमार्गी होने के कारण उद्धव के तर्कों को विस्तार एवं मनोयोग से लिखा है। रचना छोटी और वर्णनात्मक है।

फांग

फांग के एकमात्र काव्य 'कंसोद्धरण' की उपलब्ध प्रतिलिपि में प्रतिलिपि-काल सं० १७५९ तथा रचनाकाल सं० '१६९७ फागण सुदी १२ बुधवार, विजय-सम्वत्सर' दिया हुआ है। अतएव फांग को १७वीं शती के अन्तर्गत ही स्वीकार करना होगा। जो तिथि दी है वह गणना से शुद्ध है केवल सम्वत्सर 'विजय' नहीं आता है।

रचना : कंसोधारण—कवि ने स्वयं अपनी रचना का नाम 'कंसोधारण' दिया है जिसे शुद्ध करके शास्त्री ने 'कंसोद्धारण' लिखा है।[१३८] शीर्षक से विषय केवल कंस के उद्धार तक ही सीमित प्रतीत होता है परन्तु कवि ने वास्तव में कंस-वध तक की समस्त कृष्णलीलाओं का प्रसंगान्तर से समावेश कर लिया है। यही नहीं कंसवध के बाद की कतिपय घटनाओं का भी उल्लेख है। शैली की दृष्टि से रचना वर्णनात्मक एवं कड़वाबद्ध है और अभी अप्रकाशित है।

माधवदास

माधवदास ने अपनी रचना 'दशमस्कंध' का रचनाकाल सं० १७०५ दिया है जिससे उनका काव्यकाल १७वीं शती में ही निश्चित होता है।[१३९]

रचना : दशमस्कंध—कृष्ण सम्बन्धी इनकी एक रचना दशमस्कंध ही प्राप्त है। यह भागवत दशम का अनुवाद मात्र है। कवि ने स्वतन्त्र रूप से कुछ परिवर्तन परि-वर्धन नहीं किया है।

प्रेमानंद

नरसी की तरह ही प्रेमानंद के जीवन और रचनाओं को लेकर गुजराती विद्वानों में पर्याप्त विसंवाद चलता रहा। जिसका अन्त अभी तक नहीं हो सका है। पर जहाँ तक उनके जीवनकाल का सम्बन्ध है, विशेष मत-भेद नहीं है। चित्र नं ४ से विदित होता है कि झावेरी, तारापोरवाला और मुंशी के मत से इनका जीवन काल सन् १६३६—१७३४ निश्चित है। शास्त्री ने दूसरे ढंग से विचार करके प्रेमानंद का जन्मकाल सं० १७०० के लगभग माना है जिसमें केवल कुछ ही वर्षों का अंतर पड़ता

है। शास्त्री का मत प्रेमानंद के तिथियुक्त बारह ग्रंथों पर आश्रित है। इनमें सर्व-प्रथम रचना 'ओखाहरण' सं० १७२२–२३ की है और अन्तिम 'रणयज्ञ' सं० १७४६ की।[१४०] १७वीं शती ई० की सीमा सं० १७५७ तक जाती है अतएव इन तिथि-युक्त ग्रंथों का निर्माणकाल इसी शती में आता है। इस विषय में सभी विद्वान एकमत हैं कि प्रेमानंद का अधिकांश काव्यकाल १७वीं शती ई० की सीमा में ही है।

रचनाएँ—यों तो प्रेमानंद की रचनाएँ बहुसंख्यक हैं परन्तु उनमें कृष्णपरक बहुत अधिक नहीं हैं। प्रेमानन्द की केवल निम्नलिखित रचनाएँ ही प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत आती हैं।

१.	रुक्मिणी हरण	६.	भ्रमरगीता
२.	रुक्मिणीहरण ना सलोको	७.	भ्रमरपचीशी
३.	बाल लीला	८.	मास
४.	व्रजवेलि	९.	सुदामाचरित
५.	दाणलीला	१०.	दशमस्कंध (मोटो)

यहाँ दशमस्कंध के समाविष्ट करने पर कुछ आपत्ति की जा सकती है क्योंकि शास्त्री उसे प्रेमानंद के काव्यकाल के अन्तिम अंश की रचना मानते हैं।[१४१] इस विषय में उन्होंने जो तर्क उपस्थित किये हैं वे अनुमान पर अधिक आधारित हैं। दशमस्कंध में रचना समय दिया नहीं है अतएव कुछ निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। ऐसी स्थिति में इस रचना की महत्ता देखते हुए तथा स्पष्ट विरोधी प्रमाणों के अभाव में इसे प्रस्तुत अध्ययन में स्वीकार कर लिया गया है। प्रेमानन्द के नाम से एक 'नानुं दशमस्कंध' भी प्रचलित है परन्तु वस्तुतः वह उनकी रचना सिद्ध नहीं होता। इस विषय के प्रमाण दशमस्कंध का परिचय देते हुए प्रस्तुत किये जायेंगे। मास को छोड़कर उपर्युक्त सभी रचनाओं को शास्त्री ने प्रेमानंद की शंकारहित कृतियों की कोटि में स्वीकार किया है साथही व्रजवेलि को बाललीला से पृथक नहीं माना है।[१४२] इन रचनाओं के अतिरिक्त मुंशी ने 'भगवद्गीता' का भी उल्लेख किया है।[१४३] अम्बालाल बुलाकीराम जानी ने भी 'भागवत सम्पूर्ण' का नाम गिनाया है।[१४४] भगवद्गीता की कोई हस्तप्रति नहीं मिलती और भागवत सम्पूर्ण की सत्ता भी नाममात्र की ही है।

रुक्मिणीहरण ना सलोको, बाललीला, व्रजवेलि, भ्रमरगीता तथा मास को मुंशी द्वारा दी गयी प्रेमानंद के काव्यों की सूची में सम्मिलित नहीं किया गया है।[१४५] शास्त्री ने 'प्रेमानंद, एक अध्ययन' में जो सूची दी है उसमें उक्त अन्य रचनाएँ तो हैं

पर 'मास' सम्मिलित नहीं है। गु० ह० संकलितयादी में अवश्य शास्त्री ने 'महिना' नाम से मास का उल्लेख किया है।[१८६] पर यह सूची भी पूर्ण नहीं कही जा सकती क्योंकि व्रजवेलि का समावेश इसमें नहीं मिलता। थूथी ने मास की सत्ता 'बार मास नो बिरह' नाम से स्वीकार की है।[१८७] ब्रह्मानंद, शिवानंद तथा अन्य प्रेमानंद के पद प्रक्षिप्त हो जाने से इसके कर्त्तृत्व के विषय में शंका की गयी परन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह वास्तव में प्रेमानंद की ही रचना है। के० ह० ध्रुव ने इसे सम्पादित करके गु० व० सो० के 'बुद्धि प्रकाश' में प्रकाशित किया। प्रेमानंद की उपर्युक्त रचनाओं में मास के अतिरिक्त, रुक्मिणीहरण, दशमस्कंध, दाणलीला, भ्रमर-पचीशी, भ्रमरगीता तथा सुदामाचरित भी प्रकाशित हो चुके हैं। व्रजवेलि, रुक्मिणी हरण ना सलोको, बाललीला तथा भ्रमरगीता अभी अप्रकाशित ही हैं। नीचे प्रेमानंद की स्वीकृत रचनाओं का संक्षिप्त परिचय क्रमशः दिया गया है।

रुक्मिणीहरण—इस रचना में रुक्मिणी और कृष्ण के विवाह की कथा को अनेक पुराणों का आधार लेकर वर्णित किया गया है। यह एक आख्यान काव्य है जिसमें कुल २५ कड़वे हैं। बीच बीच में पद भी मिलते हैं। यह प्राचीन काव्यमाला, ग्रंथ १४ में प्रकाशित है।

रुक्मिणीहरण ना सलोको—इस रचना का विषय भी रुक्मिणी-कृष्ण-विवाह ही है। एक प्रकार से यह 'रुक्मिणीहरण' का संक्षेप-सा है जिसे कवि ने स्वयं स्वीकार किया है।[१८८] रचनाकाल सं० १७४० दिया हुआ है।[१८९]

बाललीला—यह केवल एक लम्बा-सा पद है, ग्रंथ नहीं। यशोदा नाना प्रकार की बातें कह कह कर कृष्ण को जगाने का प्रयत्न करती हैं। सारी बाललीलाएँ प्रसंगान्तर से आ जाती हैं। यह दीर्घ पद कदाचित् कृष्णविषयक लिखे रास का अवशिष्ट है क्योंकि शीर्ष स्थान पर हस्तप्रति में 'कृष्ण ना रास मां थी बाललीला' दिया हुआ है।[१९०]

व्रजवेलि—व्रजवेलि में प्रेमानंद ने दशमस्कंध की लीला का संक्षेप में वर्णन किया है। यह कवि के 'संक्षेपे दशम लीला कही विस्तारी जी' कथन से भी प्रमाणित होता है। इस रचना का वस्तुविधान स्वतन्त्र है अतः इसे बाललीला के अन्तर्गत मानना भ्रामक है।

दाणलीला—राधा तथा उनकी सखियों से कृष्ण द्वारा दधिदान लिये जाने की कथा को आख्यान का रूप देकर इस काव्य की रचना की गयी है। रचना छोटी ही है और इसमें कुल १५ अंश हैं। १३ तक कड़वाबद्ध हैं और १४वें तथा १५वें अंशों में पद हैं। यह बृहत् काव्य दोहन भाग १ लुं० में प्रकाशित है।

भ्रमरगीता—भागवत के भ्रमर प्रसंग पर आधारित प्रेमानंद की रचनाएँ कई रूपों में प्राप्त होती हैं अतएव उनके यथार्थ रूप का निश्चय करना सरल नहीं है। प्राचीन काव्य सुधा, भाग १ लुं, में प्रकाशित भ्रमरगीता को संकलितयादी में 'नानी' विशेषण के साथ दिया गया है।[५१] यह कदाचित् इसलिए कि इसका मूल 'नानुं' दशमस्कंध में प्राप्त होता है। इस दशमस्कंध में प्राप्त भ्रमरगीता में प्रेमानंद की छाप है और भाषा, शैली आदि के आधार पर भी कर्तृत्व के विषय में कोई शंका नहीं उठती। किन्तु 'नानी भ्रमरगीता' और प्रा०का० सुधा में प्रकाशित भ्रमरगीता एक होते हुए भी कुछ भिन्नता रखती है। पहली में दूसरी की अपेक्षा कुछ पंक्तियाँ अधिक हैं यद्यपि इन पंक्तियों में भ्रमरगीता का कुछ भी संदर्भ नहीं है। इनमें कृष्ण के जन्म से लेकर अध्ययन काल तक का वर्णन करते हुए भ्रमर प्रसंग से पहले तक की सारी कथा समाविष्ट है।

दूसरी ओर इस भ्रमरगीता की तुलना प्रेमानंद के मोटुं दशमस्कंध के भ्रमर प्रसंग से करने पर ज्ञात होता है कि यह एक प्रकार से उसका पूर्व रूप जैसी है। दोनों में पर्याप्त समानता है। संभवतः नानुं दशमस्कंध की भ्रमरगीता का ही परिवर्धित एवं पुनर्निमित रूप मोटुं दशमस्कंध में रख दिया गया है। कथा के रूप में अनेक परिवर्तन हो गये हैं फिर भी कुछ वर्णन लगभग एक जैसे ही हैं। कुछ पद तो ज्यों के त्यों समाविष्ट कर लिये गये हैं। मोटुं के १२७, १३१, १३२ और १३३वें कड़वों में आये पद क्रमशः नानुं के ३, ९, १०, ११ और १२वें कड़वों में आये पदों के समान हैं। बड़ी भ्रमरगीता में 'भ्रमरगीता समाप्त' लिखकर अंत का निर्देश भी कर दिया गया है जिससे ज्ञात होता है कि दशमस्कंध के अन्तर्गत होकर भी यह एक स्वतन्त्र एवं अपने में पूर्ण रचना है। छोटी भ्रमरगीता में ऐसा कोई निर्देश नहीं है।

इस प्रकार सभी गीताओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमानंद ने भ्रमरगीता को उत्तरोत्तर परिवर्धित करके कई बार लिखा।

भ्रमरपचीशी—यह भी विषय की दृष्टि से एक भ्रमरगीता ही है केवल नाम और आकार का भेद है। कवि ने 'संवाद उद्धव व्रज वनिता नो भ्रमरगीता नो भाषुं जो' लिखकर इस वस्तुगत अभेद को स्वीकार भी किया है। इसकी हस्तप्रति का प्रारंभ 'अथ भ्रमरपचीसी लखी छे' के द्वारा होता है और अंत 'इति भ्रमरगीता सम्पूर्ण समाप्त' के द्वारा।[५२] इस प्रकार दोनों ही नाम संभाव्य हैं। छंद संख्या को विषय के साथ सम्बद्ध करके नामकरण करने की प्रथा भी प्राचीन है अतएव संभव है कि प्रेमानंद ने 'भ्रमरपचीसी' नाम दे दिया हो। इसके २५ पदों में अनेक पद ऐसे हैं जो पूर्वोल्लिखित भ्रमरगीताओं में प्राप्त हो जाते हैं। प्रारंभिक अंश

समेत आठ पद तथा १५वाँ, १८वाँ और २४वाँ पद नवीन रचना हैं किन्तु शेष सभी पद नानी भ्रमरगीता में भी हैं।

मास—अंतिम पंक्ति 'भट प्रेमानंद मास गाये' के अनुसार 'मास' नाम ही उचित प्रतीत होता है यद्यपि 'द्वादश मास', 'बार मास' 'मास बार', 'सुरति महीना', 'सुरति-मास' तथा 'मास सुरती' आदि अनेक नाम विभिन्न हस्तप्रतियों में मिलते हैं। इसमें अनेक कवियों के पद प्रक्षिप्त होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। संभवतः यह कवि की प्रारंभिक कृतियों में से है। प्रतिलिपिकार के जैन साधु होने से इसकी व्यापक लोकप्रियता सिद्ध होती है।

इस 'मास' काव्य में कवि ने प्रत्येक मास की प्राकृतिक उद्दीपन सामग्री से वातावरण चित्रित करके राधा के मन पर होने वाली विविध प्रतिक्रियाओं का वर्णन किया है। सारी रचना बारह अंशों में विभाजित है और प्रत्येक अंश में १६ पंक्तियाँ हैं। हर अंश क्रम का निर्वाह करते हुए भी अपने में स्वतन्त्र है।

सुदामाचरित—आख्यान के रूप में लिखी हुई यह रचना अधिक बड़ी नहीं है। कथानक का आधार भागवत होते हुए भी इसमें अनुवाद नहीं किया गया है। कल्पना द्वारा वर्णनों को विस्तार दिया गया है। प्रेमानंद ने इसकी रचना नंदरबार में की थी। बृ० का० दोहन भाग १ लुं के अतिरिक्त और भी कई व्यक्तियों ने इसे प्रकाशित किया।[१५३] इसका रचनाकाल निश्चित नहीं है। किसी प्रति में सं० १७०५, किसी में सं० १७४८ और किसी में सं० १७३२ या सं० १७३८ मिलता है।[१५४] गुजरात में प्रति शनिवार की संध्या को इसके पाठ का प्रचलन है।[१५५]

दशमस्कंध—रचना के नाम के साथ यहाँ 'मोटुं' विशेषण नहीं लगाया गया है क्योंकि उसकी आवश्यकता 'नानुं दशमस्कंध' की सापेक्षता के कारण हुई थी जिसके रचयिता प्रेमानंद नहीं सिद्ध होते। प्रेमानंद का यह दशमस्कंध एक अपूर्ण रचना है। शेष भाग को उनके शिष्य सुन्दर ने पूर्ण किया। प्रेमानंद की रचना कहाँ तक है यह विवादग्रस्त है। ५३वें अध्याय के १६१ वें कड़वे तक प्रेमानन्द की छाप मिलती है किन्तु १६२ से १६५ तक के कड़वों को भी उन्हीं की रचना कहा जाता है। इस ग्रंथ के संशोधक एवं प्रकाशक इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने अनेक कारण देकर निष्कर्ष रूप में लिखा है कि 'आ १६५ मा सूधीनी सर्व कृति प्रेमानंद नी निर्विवाद ठरे छे।[१५६] प्रेमानंद अपनी इस रचना में अनन्य राम-भक्त के रूप में सम्मुख आते हैं। 'विवेक वणझारो' तथा 'रणयज्ञ' की तरह इस ग्रंथ का प्रारंभ भी राम की ही वंदना से होता है। 'रामचरण कमल मकरंद, लेवा इच्छे प्रेमानंद'। इस

पंक्ति को बीच-बीच में लिखकर उन्होंने अपनी इस अनन्यता को और भी स्पष्ट कर दिया है ।

'व्यासवाणी जाणी जथा, तेह्वी प्राकृत जोडी कथा' से प्रकट है कि प्रेमानंद ने मुख्यतया भागवत के दशम स्कंध को आधार मानकर इसकी रचना की है किन्तु इसको अनुवाद किसी तरह भी नहीं कहा जा सकता। कहीं-कहीं अन्य पुराणों की कथाएँ भी दी गयी हैं। कवि ने अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा से सर्वत्र नवीनता लाने का प्रयास किया है। प्रेमानंद के दशमस्कंध के एक सुविज्ञ संपादक की भी यही धारणा है।[१५७] पर एक विद्वान् का ऐसा भी मत है कि प्रेमानंद ने संस्कृत भाषा तथा मूलभागवत से अनभिज्ञ होने के कारण रूपान्तर में फेरफार कर दिया है।[१५८] प्रेमानंद की कृष्णपरक रचनाओं में यह सबसे विशाल कृति है। इसका निर्माण उदर पोषण के निमित्त न होकर भक्ति के उद्देश्य से हुआ है । आख्यान शैली के अतिरिक्त इसमें कहीं-कहीं पद शैली का भी प्रयोग मिलता है। प्रेमानंद ने दशमस्कंध की रचना उसको समस्त ज्ञान का सार समझ कर की, यह कवि की निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट है :

सकल शास्त्र निगमनुं तत्व। सर्व शिरोमणि श्री भागवत।
ते मध्ये सार छे दसमस्कंध। जोडुं हुं प्राकृत पदबंध।

उसके पीछे संस्कृत की प्रतिस्पर्धा में प्राकृत भाषा के सौन्दर्य को प्रस्तुत करने की भावना भी निहित थी। प्रेमानंद ने इसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार भी किया है।

'नानुं दशमस्कंध' प्रेमानंद की रचना नहीं है। अब तक नटवरलाल द्वारा स्थापित मान्यता के अनुसार नानुं दशमस्कंध प्रेमानंद की रचना माना जाता रहा। शास्त्री ने भी इसको स्वीकार किया और उसे प्रेमानंद की शंकारहित कृतियों में स्थान दिया।[१५९] किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत प्रतीत होती है जिसके प्रमाण इस प्रकार हैं :

१. प्रेमानंद की छाप कड़वा ४२ और कड़वा ४३ के बीच आने वाली भ्रमर-गीता में ही है अतः यह अंश स्पष्टतया प्रक्षिप्त है।

२. सारी रचना कड़वाबद्ध है, मात्र प्रेमानंद छाप वाला अंश पद शैली में है। 'पद पुरणे' लिखकर उस अंश की पूर्णता का बोध करा दिया गया है।

३. इस रचना में अनुवादात्मकता है जो प्रेमानंद के स्वभाव के प्रतिकूल है। प्रेमानंद का तथाकथित 'मोटुं दशमस्कंध' इसका साक्षी है।

४. प्रेमानंद ने मोटुं दशमस्कंध' में सर्वत्र राम को इष्टदेव माना है पर इस रचना का रचयिता रामोपसाक नहीं है।

५. यह रचना शिव-पार्वती संवाद और उनके विवाह के उपाख्यान से प्रारंभ होती है जो पद्मपुराण पर आधारित है। यह अंश भी प्रेमानंद का रचा हुआ नहीं लगता।

६. हस्तप्रति के आदि अंत त्रूटक होने से वास्तविक कवि का नाम एवं रचना-काल अज्ञात है।

ऐसी स्थिति में इसे प्रेमानंद कृत मानना बुद्धिसंगत नहीं है। प्रेमानंद की भ्रमर-गीता के प्रक्षिप्त होने के कारण भ्रमवश सम्पूर्ण रचना को प्रेमानंदकृत मान लिया गया। प्रस्तुत अध्ययन में इसीलिए इसे प्रेमानंद की कृतियों में स्थान नहीं दिया गया है।

रत्नेश्वर का अधिकांश काव्य-काल १७वीं शती के अन्तर्गत ही आता है।

रत्नेश्वर

उनके दशमस्कंध के अंत में दिया हुआ समय सं० १७३९ इसका समर्थक है।[१६०] दो एक को छोड़ कर कवि की सभी रचनाएँ इसी शती की सीमा में आती हैं।[१६१]

रचनाएँ: दशम एवं एकादश स्कंध, बारमास—कृष्णपरक रचनाओं में भागवत के 'दशम और एकादश स्कंध' का अनुवाद तथा 'बारमास' की गणना की जा सकती है। रत्नेश्वर ने वैसे पहले और दूसरे स्कंध का भी अनुवाद किया है किन्तु वे कृष्ण से सम्बद्ध नहीं हैं। सं० १७३९ में दशमस्कंध को समाप्त करने के बाद ही सं० १७४० में एकादश स्कंध की भी रचना हुई। दशमस्कंध तो गोवरधनदास नारायणभाई तथा गट्टूलाल द्वारा दो स्थानों से प्रकाशित हो चुका है किन्तु एकादशस्कंध अभी अप्रकाशित ही है।[१६२] रत्नेश्वर ने एक प्रकार से श्रीधर के तिलक का भाषान्तर किया है जिसके कारण काव्य की दृष्टि से उनके दोनों स्कंधों का कोई स्वतंत्र महत्व नहीं है। प्रत्येक अध्याय के प्रारंभ में उसका सारांश एक संस्कृत श्लोक तथा दो एक गुजराती के छंदों में दे दिया गया है। सम्पूर्ण अध्याय की रचना एक ही राग या रागिनी में की गई है।

बारमास में प्रेमानंद के मास के तरह ही राधा के मनोभावों का वर्णन है। 'राधा विरहनां बारमास' के नाम से यह रचना बृ० का० दोहन भाग ६ठुं तथा प्रा० का० सुधा भाग १ लुं में मुद्रित हो चुकी है। रचनाकाल सं० १६९८ दिया गया है जो संदेहास्पद है।[१६३]

अप्रकाशित काव्य 'रुक्मिणीहरण' के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध आख्यानकार

विष्णुदास को ही स्वीकार किया जाता रहा। शास्त्री ने इस रचना की गणना उन्हीं

विष्णुदास

की रचनाओं के साथ ही है।[१६४] किन्तु बाद में संदेह हो जाने के कारण उन्होंने इसे विष्णुदास की शंकास्पद रचनाओं की कोटि में स्थान दिया।[१६५] इस रचना में निर्माण-काल सं० १७१६ दिया हुआ है।[१६६] प्रसिद्ध विष्णुदास का काव्य-काल सं० १६२४-१६६८ के लगभग आता है। इस कृति को उन्हीं की रचना मानने से यह अत्यन्त वृद्धावस्था की रचना सिद्ध होती है जो काव्य की अप्रौढ़ता को देखते हुए संभव प्रतीत नहीं होता। अधिक संभावना इसी बात की है कि यह किसी इतर विष्णुदास की कृति है।

रचना : रुक्मिणीहरण—रुक्मिणीहरण की हस्तप्रति का आदि अंश खंडित है। कवि स्पष्टतया भागवत का आधार स्वीकार करता है।[१६७] काव्य साधारण कोटि का है। अनुवाद भी सुन्दर नहीं है।

एक केशवदास का उल्लेख १६वीं शती में हो चुका है। उसी नाम का यह

केशवदास वैष्णव

अन्य कवि १७वीं शती में उपलब्ध होता है। कवि ने अपनी एक रचना का समय सं० १७३३ दिया है जिससे काल निर्णय में कोई कठिनाई प्रस्तुत नहीं होती।[१६८]

रचना : मथुरामहिमा—इन केशवदास की कृष्णविषयक केवल एक ही रचना उपलब्ध होती है जो 'मथुरालीला' के नाम से प्रा० का० सुधा के तीसरे चौथे भाग में प्रकाशित हो चुकी है। शास्त्री ने 'वल्लभवेल' के रचयिता केशवदास वैष्णव का वर्णन कविचरित में किया है किन्तु उसमें इसका उल्लेख तक नहीं है।[१६९] वे 'वल्लभवेल' के लिए 'एक मात्र मळता काव्य' का प्रयोग करते हैं जिससे स्पष्ट है कि वे मथुरालीला को उन्हीं केशवदास की कृति नहीं मानते। पर ऐसा भी नहीं है क्योंकि गु० ह० संकलित यादी में केशवदास की रचनाओं में 'मथुरालीला' का भी समावेश उन्होंने किया है।[१७०] वस्तुतः गोकुलनाथ जी के शिष्य यही केशवदास दोनों काव्यों के रचयिता थे। वल्लभवेल में वल्लभाचार्य के वंश का वर्णन है अतएवं वह कृष्ण-काव्य की श्रेणी में नहीं आती।

'मथुरालीला' का वास्तविक नाम 'मथुरामहिमा' है क्योंकि स्वयं कवि ने इसी नाम का अनेक स्थल पर व्यवहार किया है।[१७१] संपादक ने मूल को ध्यान से देखे बिना ग्रंथ का नाम 'मथुरालीला' दे दिया जिसका कारण कदाचित् ग्रंथान्त में प्रयुक्त 'कृष्णलीला' शब्द है।[१७२]

मथुरामहिमा—'पूरणकर्युं ये आख्यान' लिख कर कवि ने मथुरामहिमा को स्वतः एक आख्यान काव्य माना है। कड़वाबद्ध इस रचना में यत्र यत्र रागों का निर्देश भी है।

भागवत को मूलाधार मानकर भी कवि ने स्वतंत्र रूप से रचना की है। फलतः अनेक प्रसंग ऐसे भी हैं जो भागवत में प्राप्त नहीं होते। विषय विस्तार की दृष्टि से कवि का निम्नलिखित कथन महत्वपूर्ण है—

> '. . . . मथुरा महिमा श्री भगवान।
> दारामति नी लीला जेह, श्री शुक विस्तारी कहे अेह।
> प्राकृत महिमा बुध अनुसार। दास केशव कहे कर्यो विस्तार।

मथुरामहिमा में इस प्रकार जरासंध और मुचकुंद वध तक की कथा समाविष्ट हैं। कवि ने विशेष विस्तार गोपी उद्धव के प्रसंग में किया है। इस स्थान पर षड्ऋतु वर्णन भी मिलता है। कवि की स्वाभाविक वृत्ति ब्रजगोपी-विरह के चित्रण की ओर है। राधा के वर्णन और कृष्ण के जीवन की उत्तरकालीन लीलाओं के चित्रण के कारण यह काव्य विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

१७वीं शती—ब्रजभाषा

इस शती में भी ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य के सृजन की परिस्थिति लगभग १६वीं शती के समानान्तर ही रही। उक्त वल्लभीय, राधावल्लभीय, गौडीय, निम्बार्क तथा हरिदासी में से प्रत्येक के अन्तर्गत कुछ न कुछ काव्य रचना उपलब्ध होती है। रीति-काव्य-धारा में अपेक्षाकृत अधिक काव्य-निर्माण हुआ। नीचे पूर्वनिर्धारित क्रम के अनुसार ही १७वीं शती के कृष्ण-काव्य का परिचय दिया गया है।

वल्लभ सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय में इस शती में जिन कवि का नाम प्रमुख रूप से सामने आता है वह हैं रसखान। रसखान विट्ठलनाथ के शिष्य थे और उनका काव्य-काल सं० १६७० के लगभग है। इनके अतिरिक्त हरिरायजी (सं० १६४७–१७७२) तथा विटठलनाथ के अन्य शिष्य शोभाचंद द्वारा भी काव्य-रचना के प्रमाण मिलते हैं।

रसखान की रचनाएँ—रसखान की दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं जो प्रकाशित हैं।

१. प्रेमवाटिका (रचनाकाल सं० १६७१)
२. सुजान रसखान

प्रेमवाटिका में ५२ दोहे हैं जिनमें प्रेम की महिमा का वर्णन किया गया है। सुजान

रसखान में विभिन्न प्रकार के कुल १२९ पद्य हैं। रागरत्नाकर में भी रसखान के १३० पद्य संग्रहीत हैं।[१७३] इन पद्यों में कवि ने मुख्यतया राधा-कृष्ण की प्रीति तथा प्रणयलीलाओं का ही विशेष वर्णन किया है। कुछ छंदों में बालरूप का भी चित्रण मिलता है।

हरिरायजी की रचनाएँ—इन्होंने रसिक, रसिकराय, हरिधन, हरिदास आदि कई नामों से काव्य रचना की।[१७४] संस्कृत में तो इनकी अनेक रचनाएँ प्राप्त होती हैं परन्तु ब्रजभाषा में कुछ स्फुट पद, कवित्त और धोल आदि ही उपलब्ध होते हैं जिनमें दैन्यभाव तथा वल्लभ-यश वर्णन की प्रधानता है।[१७५] इन स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त एक छोटी सी प्रबन्धात्मक रचना 'दानलीला' भी प्राप्त हुई है। इसकी हस्तप्रति काँकरौली में है। दानलीला में ३६ दोहे हैं और प्रत्येक के अन्त में 'नागरि दान दै' जोड़ दिया गया है।

शोभाचंद की रचना : भक्तिविधान—भक्तिविधान का रचनाकाल सं० १६८१ दिया हुआ है। सारा ग्रंथ प्रश्नोत्तर के रूप में है। कुल ९३१ दोहे हैं। श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व, उनके अनेक नाम रूप, तन्त्र मन्त्र आदि से भक्ति की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है। उपासना-विधान, पूजा-प्रकार, भोग इत्यादि का भी विस्तार से निरूपण मिलता है साथ ही व्रत उपवास के नियम तथा प्रत्येक मास की साधना का पुष्टिमार्ग के अनुसार प्रतिपादन भी किया गया है। रचना अप्रकाशित है और हस्तप्रति विद्या-विभाग काँकरौली में है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय में, १७वीं शती में यद्यपि अनेक कवियों कान्हर, स्वामी, लाल-स्वामी, दामोदरदास, ध्रुवदास तथा हितविट्ठल आदि की गणना की जाती है तथापि ध्रुवदास सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अन्य कवियों में कान्हर स्वामी तथा हितविट्ठल के केवल स्फुट पद ही प्राप्त होते हैं जिनकी प्रामाणिकता के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। लालस्वामी तथा दामोदरदास के नाम से अनेक ग्रंथों का उल्लेख मिलता है परन्तु उपलब्ध उनमें से एक भी नहीं होते।[१७६] अतएव केवल ध्रुवदास की रचनाओं का परिचय यहाँ दिया गया है।

ध्रुवदास की रचनाएँ—'राधावल्लभ-भक्तमाल' में ध्रुवदास के नाम से निम्न-लिखित पाँच रचनाएँ उल्लिखित हैं।[१७७]

१. ब्यालीस लीला
२. पदावली
३. खिचरी उत्सव
४. सिद्धान्त पद मांझ
५. शृंगाररहस्यमुक्तावली

ब्यालीस लीला वस्तुतः ब्यालीस रचनाओं का संकलन है किन्तु उसे एक ग्रंथ माना गया है ।[१७८] डॉ० रामकुमार वर्मा ने ब्यालीस लीला का 'ध्रुवदास की बानी' के नाम से उल्लेख किया है तथा उसके अन्तर्गत आने वाली अनेक रचनाओं को अनेक 'विषय' समझा है । यही नहीं 'सिद्धान्तविचार' तथा 'भक्तनामावली' का जो ब्यालीस लीला में ही सम्मिलित हैं पृथक् रूप से उल्लेख किया है ।[१७९]

राधावल्लभ-भक्तमाल में जिन पाँच रचनाओं का उल्लेख मिलता है उनमें से पहली को छोड़कर शेष चार के विषय में नाम के अतिरिक्त और कुछ भी सूचना प्राप्त नहीं है । पहली रचना ब्यालीस लीला की सं० १८२५ की एक हस्तप्रति प्रयाग म्युनिसिपल संग्रहालय में मिलती है ।[१८०] कांकरौली में भी एक प्रति है (बं० नं० ८३-९) किन्तु उसमें केवल २४ लीलाएँ ही हैं । **ध्रुवसर्वस्व** नाम से 'ब्यालीस लीला' में से निम्नलिखित २३ रचनाएँ रामकृष्ण वर्मा द्वारा प्रकाशित की जा चुकी हैं :

१. वृन्दावन सत	१३. नृत्यविलास
२. सिंगार सत	१४. रंगहुलास
३. रसरत्नावली	१५. मानरसलीला
४. नेहमंजरी	१६. रहसिलता
५. रहस्यमंजरी	१७. प्रेमलता
६. सुखमंजरी	१८. प्रेमावली
७. रतिमंजरी	१९. भजन कुंडली
८. बनविहार	२०. बृहद्वामनपुराण की भाषा
९. रंगविहार	२१. भक्तनामावली
१०. रसविहार	२२. मनसिंगार
११. आनन्ददशाविनोद	२३. भजनसंत
१२. रंगविनोद	

इन २३ रचनाओं के अतिरिक्त 'ब्यालीस लीला' की शेष १९ अप्रकाशित रचनाओं के नाम नीचे दिये जाते हैं :

१. हितसिंगार	६. अनुरागलता
२. रसानंद	७. आनन्दलता
३. ब्रजलीला	८. भजनाष्टक
४. दानविनोद	९. आनन्दाष्टक
५. रसहीरावली	१०. वैदकलीला

११.	सिद्धान्तविचार	१६.	मनसिक्षा
१२.	जुगलध्यान	१७.	प्रीतिचौवैंनी
१३.	ख्यालहुलास	१८.	रसमुक्तावली
१४.	प्रिया जु की नामावली	१९.	मंडलसभासिंगार
१५.	सुखमंजरी		

नामकरण की दृष्टि से वर्गीकृत करने पर इन रचनाओं में ६ **अवली** रसमुक्ता, रसहीरा, रसरत्न, प्रेम, प्रियाजु की नाम, भक्तनाम, ५ **लीला** रसानंद, मान, दान, ब्रज, वैद्यकज्ञान, ४ **मंजरी** नेह, रति, रहस्य, सुख, ४ **लता** रहस्य, आनन्द, प्रेम, अनुराग ३ **विहार** वन, रंग, रस, ३ **सिंगार** मनि, हित, मंडलसभा, ३ **सत** बृंदाबन, भजन, सिंगार, २ **विनोद** रंग, अनंददसा, २ हुलास रंग, ख्याल तथा २ **अष्टक** भजन, आनन्द मिलते हैं। शेष ८ **रचनाएँ** निर्तविलास, प्रीति चौंवनी, मनसिक्षा, बृहद्‌वामन पुराणभाषा, सिद्धान्त विचार, जीवदशा, जुगलध्यान तथा भजन कुंडली एकाकी हैं।

प्रकाशित एवं अप्रकाशित रचनाओं की इस समस्त सूची में कई ऐसी रचनाएँ सम्मिलित हैं जो प्रस्तुतः निबन्ध की सीमा में नहीं आतीं। 'प्रियाजु की नामावली' काव्य-कृति न होकर साधारण नामावली मात्र है। 'सिद्धान्त विचार' भी गद्य ग्रंथ है। इसी प्रकार भक्तनामावली में भी भक्तमाल की तरह भक्तों का परिचय दिया गया है। 'वैदकलीला' कृष्ण-काव्य से सीधे सम्बन्ध नहीं है। 'बृहद्‌वामनपुराण की भाषा' का शीर्षक से ही अनुवाद ग्रंथ होना सिद्ध है। अतएव इनके अतिरिक्त शेष कृतियों का परिचय संक्षेप में आगे दिया जाता है।

रसमुक्तावली—आदि में गुरुवंदना से युक्त १९० दोहा चौपाइयों की इस रचना का मुख्य विषय 'सखीभाव' का प्रदर्शन है। स्नानकुंज, सिंगारकुंज, भोजनकुंज आदि विविध कुंज-भवनों में ललितादिक सखियाँ राधाकृष्ण की सेवा में रह रहकर उनका विहार देखती हैं।

रसहीरावली—इस रचना की विशेषता इसका षड्‌ऋतु वर्णन है। प्रत्येक ऋतु में राधाकृष्ण का विलास अंकित किया गया है। रचना १६३ दोहा चौपाइयों में समाप्त हुई है।

रसरत्नावली—५० दोहों की इस कृति की मूल वर्ण्यवस्तु कवि के अनुसार 'रसिकरसिकनी केलि' ही है। प्रसंगान्तर से नखशिख आदि का भी वर्णन मिल जाता है।

प्रेमावली—इसके अन्तर्गत राधाकृष्ण का "प्रेमरस" विपरीत वेश धारण तथा संभोग शृंगार का वर्णन है। एक कुंडलिया को छोड़कर शेष सारी रचना दोहों में है। कुल छंद संख्या १२७ है।

रसानंद लीला—कवि ने इस ग्रंथ का रचनाकाल 'संवत सौषोडस पंचासी' सं० १६८५ दिया है। प्रारंभ में की गई श्री हितहरिवंश की वंदना तथा 'मोपै है अवही मति थोरी' से व्यंजित होता है कि कदाचित् यह कवि की प्रारंभिक काल की रचना है। वस्तु के रूप में वृंदावन, नखशिख, रतिविलास, विविध व्यंजन तथा पुष्प-शृंगार का वर्णन है। सारी रचना में १८६ दोहा चौपाइयाँ हैं।

मानलीला—कांकरोली की प्रति में इसकी पुष्पिका में इसका नाम 'मान विनोदलीला' दिया है किन्तु प्रयागवाली प्रति में 'मानलीला' ही लिखा है। ध्रुवसर्वस्व में इसका प्रकाशन 'मानरसलीला' के नाम से हुआ है। इसमें अपने ही प्रतिबिम्ब में अन्य स्त्री की धारणा हो जाने से राधा मान करती है। बाद में सखी की मध्यस्थता द्वारा उसका परिहार हो जाता है। छंद संख्या ३८ है जिसमें दोहा सोरठा अरिल्ल तीनों प्रयुक्त हैं।

दानविनोदलीला—इस नाम का संकेत स्वयं कवि ने पहले ही दोहे में 'देखें लाड़िली लाल की **लीला दान विनोद**' लिखकर कर दिया है। विषय शीर्षक से ही स्पष्ट है यद्यापि सारी घटना एक नवीन रूप से कल्पित की गई है। रचना छोटी है और केवल २२ दोहों में ही समाप्त है।

ब्रजलीला—इसमें राधाकृष्ण के प्रथम परिचय, तज्जन्य प्रीति तथा उसके विकास की विविध स्थितियाँ, बिछोह, मूर्छा तथा ललिता की सहायता से स्त्रीवेष धारण करके मिलन, प्राप्ति आदि का वर्णन है। समस्त रचना दोहा चौपाइयों में है जिनकी संख्या १९२ है।

नेहमंजरी—१७० दोहा चौपाइयों में लिखित प्रारंभिक अप्रौढ़कृति जैसी इस रचना में वृंदावन, कुसुमशृंगार, राधाकृष्ण, रति तथा उसके दर्शन से गोपियों के उल्लास का वर्णन है।

रतिमंजरी—इस रचना में अमर्यादित रूप से संभोग शृंगार का वर्णन प्राप्त होता है। शैली की दृष्टि से नेहमंजरी के ही समान है और छंद संख्या ८२ है।

रहस्यमंजरी—यह विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से नेहमंजरी के समान है और छंद संख्या १०४ है।

सुखमंजरी—'अद्भुत वैदक मधुररस दोहा भये पचीस' से प्रकट है कि २५ दोहों की इस रचना का विषय वैद्यक लीला है। कामज्वर से पीड़ित कृष्ण को राधा व्याधिमुक्त करती हैं।

रहसिलता--ध्रुवसर्वस्व में इसको 'रहसिलीला' संज्ञा दी गई है। इसमें मुख्यतया रासक्रीड़ा का वर्णन है। यद्यापि कवि ने रचना की सीमा 'दोहा रहसिलतानि के अष्ट उपर पंचास' लिखकर निर्धारित की है तथापि यह कथन यथार्थ नहीं है। रचना में दोहे के अतिरिक्त चन्द्रायण छंद भी प्रयुक्त हैं तथा अन्त में कवि की 'भजन कुंडली' नामक रचना की १९वीं कुंडली भी सम्मिलित करली गई है।

आनन्दलता—इसमें राधाकृष्ण की केलि, क्रीड़ा, यमुना, कुंज, आदि भाव तथा स्थल सभी में आनन्द का अस्तित्व प्रदर्शित किया गया है। 'दोहा तीसरु बीस कहे आनँदलता अनंग' से स्पष्ट है कि इस रचना में ५० दोहे हैं। काँकरोली की प्रति में यह उपलब्ध नहीं है।

प्रेमलता—इस रचना में ६८ दोहा चौपाइयों में प्रेम की प्रशंसा की गई है तथा उसके सूक्ष्म स्थूल भेद का भी वर्णन है। बीच बीच में कुंजविहार, सखी-संग और लाल-लाडिली की प्रीति का दिग्दर्शन भी है।

अनुरागलता—इस रचना में भी प्रेमलता की तरह राधाकृष्ण के अनुराग का वर्णन है। शैली की दृष्टि से भी कोई नवीनता नहीं है।

वनविहार—इसमें ५५ दोहे में वन का, वसंत का तथा दूलह-दुलहिनी राधा-कृष्ण के विवाह एवं विलास का वर्णन है।

रंगविहार—सखी द्वारा आरसी में राधा का रूप दिखाये जाने पर कृष्ण का विकल हो जाना तदुपरान्त मिलन, संभोग और नखशिख आदि इसमें ५६ दोहों में वर्णित है।

रसविहार—२२ दोहों की इस संक्षिप्त रचना का विषय राधाकृष्ण का सखियों समेत यमुनाजल-विहार है।

मनिसिंगार—इस रचना की सीमा 'दोहा कहि सिंगार मनि साठ सु चौंतिस आठ' कह कर कवि द्वारा निर्धारित की गई है जिसके अनुसार इसमें १०२ दोहे होना चाहिये परन्तु वस्तुतः ९२ दोहे ही उपलब्ध हैं। इस दृष्ट से चौंतिस के स्थान पर 'चौबिस' पाठ की संभावना अधिक प्रतीत होती है। यही नहीं दोहे के अति-

रिक्त अरिल्ल छंद भी इसमें प्रयुक्त हैं जिसकी कवि ने दोहों में ही गणना कर ली है। वर्ण्य वस्तु में राधाकृष्ण को नायक नायिका के रूप में प्रस्तुत: किया गया है तथा उनके श्रृंगार एवं नखशिख का प्रचुर वर्णन है।

हितसिंगार—निकुंज विलास, शतरंज खेल, नखशिख तथा कोककला का वर्णन कवि ने इस रचना के 'अस्सी दोइ दोहा कवित' में प्रस्तुत किया है।

मंडलसभासिंगार—ध्रुवदास की यह रचना अन्य रचनाओं की अपेक्षा विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें कवि ने अपनी कल्पना के आधार पर राधा की अगणित सखियों के नाम गिनाने का प्रयास किया है। मंडलाकार कुंजों की पंक्ति में बने चौसठ द्वारों वाले सभा मंडप के मध्य स्थित युगल रूप का विशद वर्णन किया गया है। प्रत्येक कुंज का भिन्न नाम है और उसका भिन्न प्रयोजन। इन सबमें बिहार करने के उपरान्त समस्त सखी समूह के साथ राधाकृष्ण का रास होता है तदुपरान्त जलक्रीड़ा। इसका रचना काल सं० १६८१ दिया हुआ है और इसमें दोहा, सवैया, कवित्त आदि कुल २२१ छंद हैं।

वृंदावन सत—रचना का विषय शीर्षक से ही स्पष्ट है, यह रचना सं० १६८६ में पूर्ण हुई।[१८१] 'यह प्रबन्ध पूरन भयो' लिख कर कवि इसे प्रबन्ध कहना चाहता है परन्तु १२२ दोहों की इस रचना में वस्तुत: प्रबन्धात्मकता का अभाव है। केवल वृंदावन के लता कुंजों तथा उसकी महिमा का वर्णन किया गया है।

भजनसत—भजनसत में ध्रुवदास ने भक्ति के स्वरूप की व्याख्या, विषयों की निंदा, ज्ञान के पंथ का तिरस्कार तथा युगलरूप के प्रेम की चर्चा की है। वस्तु की दृष्टि से अन्य रचनाओं से पृथक् होने के कारण इसका स्वतंत्र महत्त्व है। दोहों की संख्या ११३ है।

सिंगारसत—भजनसत की तरह यह भी महत्त्वपूर्ण रचना है यद्यपि इसका महत्त्व दूसरी दिशा में है। रचना के स्वरूप को स्पष्टतया व्यक्त करने के लिये कवि के शब्द ही उद्धृत कर देना उपयुक्त होगा :

> **बांधी ध्रुव गुन शृंखला प्रथम चालीस रु तीन।**
> **दुतिय चालीसरु तीसरी ध्वे पर चालीस कीन ।। ३ ।।**
> **प्रथम शृंखला मांहि कछु कह्यो लाडिली रुप।**
> **निरखिलाल सखि रहे छवि सो छवि अतिहि अनूप ।। ४ ।।**
> **दुतिय शृंखला सुनतही श्रवननि अति सुख होइ।**
> **प्रेम रतन गुन रुप सों मानों राखे गोइ ।। ५ ।।**

अब सुनि तीजी शृंखला रति बिलास आनंद।
तिहि रसमादक मत रहें श्री बृंदावन चंद ॥ ९७ ॥
भये कवित सिंगार के इकसत अरु पच्चीस।
दोहनि मिलि सब ठीक ही इकसत दस चालीस ॥ १५० ॥

इस प्रकार इसका निर्माण विशेष रूप से कवित सवैयों में हुआ है। विषय की दृष्टि से विशेष नवीनता नहीं है।

रंगविनोद—'दोहा रंगविनोद के रचि कीन्हें चालीस' के अन्तर्गत ध्रुवदास ने अपनी धारणा के अनुसार, नवरस, ज्योनार तथा राधा-कृष्ण विहार का वर्णन किया है।

आनन्ददसाविनोद—इस रचना में नायिका-भेद के साथ स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के 'मदनरस' का चित्रण है। छंद संख्या ५७ है जिसमें दोनों के अतिरिक्त ३ कवित्त भी सम्मिलित हैं।

रंगहुलास—५२ दोहों की इस कृति का विषय वही नखशिख, वनविहार तथा रति वर्णन है। आदि अन्तहीन इस रचना का नाम पुष्पिका से ही ज्ञात होता है।

ख्यालहुलास—यह प्रयागवाली 'ब्यालीसलीला' की हस्तप्रति की अन्तिम 'लीला' है और कांकरोली वाली प्रति में अप्राप्य है। इस की रचना किसी निश्चित क्रम के अनुसार नहीं हुई है इसे कवि 'दोहा ख्याल हुलास के तहाँ प्रबन्ध कछु नाहिं। आगे पाछे हैं भये जो आए उर मांहि।' लिखकर स्वीकार करता है। विषय की दृष्टि से इसमें युगलप्रीति उपदेश, चेतावनी आदि की प्रधानता है। समस्त दोहों की संख्या ६० है।

भजनाष्टक—नाम से ही आकार प्रकार स्पष्ट है। फलश्रुति के नवें दोहे में इस अष्टक को 'हृद्रोग' का नाशक कहा गया है क्योंकि वर्ण्यवस्तु के अनुसार पंचवाण के वाण फिर कर उसी को लगे हैं जिससे वह जर्जर होकर नतशीश हो चुका है।

आनन्दाष्टक—यह भी भजनाष्टक की तरह ध्रुवदास की लघुतम रचना है। जिसमें बृंदावनरस तथा राधाकृष्ण की प्रीति की बखान है। इसमें भी फलश्रुति के दोहे समेत ९ दोहे हैं। इसके पाठ का फल त्रिगुण अंधकार का नाश कहा गया है।

निर्तंबिलास—नृत्य का वातावरण उपस्थित करके कवि ने इस रचना के अन्तर्गत विभिन्न गतियों में होने वाले राधा रास का चित्रण किया है। दोहा चौपाई के साथ कुंडलिया का भी प्रयोग है। सारी रचना ४६ छंदों में समाप्त है।

प्रीतिचौंवनी—इस कृति के निर्माण का उद्देश्य 'वृंदावन रसरीति' समझाने के निमित्त पाठक के हृदय में 'प्रीति' प्रस्फुटित करना है जिसके लिए प्रेम का सोदाहरण सैद्धान्तिक निरूपण ५४ दोहों में किया गया है। अन्त के दो अतिरिक्त दोहों में फलश्रुति का कथन है।

मनसिक्षा—ध्रुवदास ने इस रचना के ६४ दोहों में मन को नाना रूप से विषय वासना की निंदा करते हुए वृंदावनरस में रमण तथा राधा-वल्लभलाल के भजन करने का उपदेश दिया है।

जिवदिसा—'दिशा' से कदाचित् यहाँ 'दशा' का तात्पर्य है। ३९ दोहा चौपाई कवित्त में कवि ने कृष्ण-भक्ति तथा नामस्मरण की महिमा का गान किया है और योग, ज्ञान तथा मोक्ष को अनावश्यक ठहराया है। यह रचना प्रयागवाली प्रति में ही है।

जुगलध्यान—जुगलध्यान की काँकरौली की प्रति में अनुपलब्ध है। जीवदिसा की तरह यह भी प्रयाग की हस्तप्रति में ही प्राप्त होती है। इसमें राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति का रूप-वर्णन है। मेंहदी, आभूषण, नखशिख तथा शृंगार आदि विषयों पर 'अष्टदस दोहा' 'वरने' गए हैं।

भजन कुंडली—इस रचना में १२ दोहे तथा १० कुंडलियाँ संकलित हैं। सारी कृति में प्रेमभक्ति का महत्व, वृंदावन की प्रशंसा और युगलरूप का यश वर्णित है। प्रेमभक्ति के आगे नवधाभक्ति को भी अरुचिकर माना गया है।

इस शती में इस सम्प्रदाय के दो प्रमुख कवि उपलब्ध होते हैं।

१. वल्लभ रसिक

गौड़ीय सम्प्रदाय २. माधवदास

वल्लभरसिक षड्गोस्वामियों में से गोस्वामी रघुनाथ भट्ट के शिष्य गदाधर भट्ट के पुत्र थे।[१८२] गदाधर भट्ट का समय नाभाजी के प्रमाण से १६वीं शती निश्चित होने के कारण स्वभावतः इनका कविताकाल १७वीं शती के अन्तर्गत आ जाता है।

माधवदास इस सम्प्रदाय में 'माधुरी जी' के नाम से विख्यात हैं। उनके वास्तविक नाम का ज्ञान विद्या विभाग कांकरौली में उपलब्ध उनकी 'माधुरियों' की एक हस्तप्रति (बंध सं० ७४) से होता है। इनकी पुष्पिकाओं में 'श्री माधवदास विरचिता' अभिन्न रूप से प्राप्त होता है। वंशीवट माधुरी में 'माधवदास कपुर श्री बृंदावन वासी रचित' दिया है जिससे ज्ञात होता है कि यह जाति के कपूर खत्री थे।

आगे इन दोनों कवियों की रचनाओं का परिचय दिया जाता है।

वल्लभरसिक की वाणी—वल्लभरसिक का संग्रहीत-काव्य बाबा कृष्णदास द्वारा 'वाणी वल्लभरसिक जी की' के नाम से प्रकाशित किया जा चुका है। इसकी भूमिका में इसे 'पद संग्रह' कहा गया है।[८१] परन्तु वस्तुतः यह एक काव्य संग्रह है क्योंकि पदों के अतिरिक्त इसमें कई प्रबन्धात्मक ऐसे अंश भी उपलब्ध होते हैं जो पदों से भिन्न शैली में लिखित हैं। इन्हें पदों के अन्तर्गत परिगणित कर लेना उचित नहीं। ऐसी छोटी-छोटी रचनाओं का शीर्षक सहित संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :

सांझी रागगोरी—२१८ पंक्तियों की इस सम्पूर्ण रचना में ललिता विशाखादि सखियों से सेवित राधाकृष्ण के महल निवास, भोग-विलास, नखशिख, कुसुम-श्रृंगार, नृत्य गान तथा रति-रमण का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

होरी खेल—इस रचना के ५९ दोहों में कवि ने साजबाज से होली का वर्णन किया है। राधाकृष्ण आपस में तथा उनकी 'जोरी' के साथ सखियाँ फाग खेलती हैं।

उक्त दोनों रचनाओं के अतिरिक्त निम्नांकित कई रचनाएँ मांझ शीर्षक से दी गई है जिनका विषय नाम से विदित हो जता है।

१. रास की मांझ
२. दिवारी का मांझ
३. गुलाबकुंज की मांझ
४. जलक्रीड़ा की मांझ
५. वर्षा की मांझ
६. वर्षा के बंगला पर की मांझ
७. सदां की मांझ

सातवीं रचना इन सब में बड़ी है और उसकी भाषा पंजाबी मिश्रित ब्रजभाषा है।

इनके बाद ६७ दोहे एक स्थल पर संकलित हैं जिनके विषय विभिन्न हैं। इन्हीं के साथ २२ कवित्त सवैये भी हैं जिनमें युगल मूर्ति की विविध श्रृंगार चेष्टाओं का वर्णन है।

'सुरतोल्लास' नाम से २७ दोहा चौपाइयों की कुंज-रति विषयक रचना स्वतन्त्र कृति जैसी लगती है इसमें आदि अंत तथा नाम का संकेत नहीं मिलता।

'बारह बाट अठारह पैंडे' में अवश्य कवि ने नाम का उल्लेख स्पष्टतया कर दिया है। यथा—

जब अंखियन अंखियां लखियां तौ बारह बाट अठारह पैंडे
पैरो करी एक सैं आठ। बल्लभरसिकन को जब पाठे ॥१०८॥

शीर्षक से रचना का विषय स्पष्ट नहीं होता। इस रचना में नेत्रों की विशेष महत्ता वर्णित है।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त ५० पद प्राप्त होते हैं जिनमें लगभग इन्हीं रचनाओं के विषयों का पुनरावर्तन है।

माधवदास की रचनाएँ—इनके द्वारा विरचित 'ग्रंथ समूह' में निम्नलिखित आठ रचनाएँ मिलती हैं।[१८८]

१. उत्कंठामाधुरी
२. वंशीवटमाधुरी
३. केलिमाधुरी
४. वृंदावनविहारमाधुरी
५. दानमाधुरी
६. मानमाधुरी
७. होरीमाधुरी
८. प्रिया जू की बधाई

ये सभी 'श्री माधुरी वाणी' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। कांकरौली में जो प्रति है उसमें तीसरी, सातवीं और आठवीं रचना उपलब्ध नहीं है। 'होरी माधुरी' नाम कल्पित प्रतीत होता है क्योंकि होली विषयक इन छे पदों के अन्तःसाक्ष्य से यह प्रमाणित नहीं होता। संभवतया संपादक ने अन्य रचनाओं के सादृश्य के आधार पर इसकी कल्पना कर ली हो। 'प्रिया जू की बधाई' में राधा के जन्म से सम्बन्धित केवल दो पद ही प्राप्त होते हैं अतएव इसे भी स्वतन्त्र रचना मानना भ्रामक है। पहली छे रचनाओं का परिचय क्रम से संक्षेप में आगे दिया जाता है इन सभी रचनाओं के आदि में कृष्ण रूप चैतन्य महाप्रभु की वन्दना की गई है।

उत्कंठामाधुरी—आरंभिक अंश में 'मिलन उत्कंठा' तथा विरह वेदना पर विशेष बल देते हुए इसमें राधाकृष्ण की कुंजकेलि, होरी खेलि, तथा उनके रूप शृंगार का वर्णन किया गया है।

वंशीवटमाधुरी—इस 'माधुरी' के अन्तर्गत वृंदावन की निकुंज शोभा विविध वर्ण की वनस्पतियां, जलक्रीड़ा, भोजन, सेजसुख, नौकाविहार तथा रास

आदि का विशद आलेखन है। रचना-काल कांकरौली की प्रति के अनुसार सं० १६९९ है।

केलिमाधुरी—कवि ने इसका रचनाकाल सं० १६८७ अन्तिम दोहे

'वत सोलह सै असी सात अधिक हियधार।
केलिमाधुरी छवि लिखी श्रावण वदि बुधवार ॥१२९॥

में लिख दिया है। रचना का विषय राधाकृष्ण का केलि-विलास है।

वृंदावनमाधुरी—इस रचना में वृंदावन के विशाल कुंज, उनकी प्राकृतिक शोभा तथा उनमें राधाकृष्ण की कामक्रीड़ा का चित्रण है। कांकरौली की प्रति में इसका निर्माण-काल सं० १६९९ दिया हुआ है।

दानमाधुरी—इसमें कृष्ण राधा ललितादि सखियों से दान माँगते हैं। वाद-विवाद की चरम परिणति 'दम्पति सुख' में होती है।

मानमाधुरी—इस रचना का विषय कृष्ण के शरीर में आत्मप्रतिबिम्ब देखकर राधा का मान करना तदुपरान्त ललिता की सहायता से उसका परिहार होना है। इन सारी रचनाओं की छंद संख्या का परिचय श्री माधुरी वाणी की भूमिका में दिया हुआ है जो यहाँ उद्धृत किया जाता है।[१८]

'उत्कंठा माधुरी में ३ कवित्त २०३ दोहा। वंशीवटमाधुरी में २६ कवित्त ५ सवैया १४ रोला ३२ चौपाई १ सोरठा २२० दोहा। वृंदावन माधुरी में १२ कवित्त २ सवैया ३१ चौपाई ३ सोरठा ४५ दोहा। केलिमाधुरी में ६ कवित्त ९२ चौपाई १ छंद १ सवैया ११ सोरठा १ छप्पै १५ दोहा ६ रोला। दानमाधुरी में १७ कवित्त ३ सोरठा १६ दोहा। मानमाधुरी में १६ कंवित्त १५ सवैया ६ सोरठा ९ दोहा।

निश्चित रूप से इस शती में निम्बार्क सम्प्रदाय के दो कवि 'रूपरसिक देवजी' तथा 'तत्ववेत्ता जी' ही प्राप्त होते हैं। ये दोनों ही १६वीं शती के प्रसंग में उल्लिखित हरिव्यासदेव के शिष्य थे।[१८] इस दृष्टि से इनका अस्तित्व १७वीं शती में असंदिग्ध है। इनके अतिरिक्त वृंदावनदेव जी तथा गोविन्ददेव जी के नाम भी विचारणीय हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय

एक ओर वृंदावनदेव का अस्तित्व सं० १७५६ में माना गया है और उन्हें हरिव्यासदेव के शिष्य परशुरामदेव का प्रशिष्य कहा गया है।[१८] दूसरी ओर उनके शिष्य गोविंददेव के लिये लिखा गया है कि 'इनका कविता-

काल संवत् १६७० के लगभग समझना चाहिये।[१८८] यह स्थिति स्पष्टतया असंभव है। वास्तविक बात यह है कि इन दोनों में से किसी का भी समय निश्चित नहीं है अतएव ऐसी अनिश्चित दशा में इनको १७वीं शती के अन्तर्गत न स्वीकार करना ही समीचीन प्रतीत होता है। नीचे पहले दोनों कवियों की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

रूपरसिक देव जी की रचनाएँ—इनकी तीन रचनाओं का परिचय मिलता है।[१८९]

१. वृहदोत्सव मणिमाल
२. हरिव्यासयशामृत
३. नित्यविहार पदावली

इनमें से पहली और तीसरी अभी अप्रकाशित हैं। निम्वार्कमाधुरी में केवल आरंभ की दो रचनाओं से उद्धरण दिये गये हैं। उसमें नित्यविहार पदावली का कोई उद्धरण नहीं मिलता।

वृहदोत्सव मणिमाल—इसमें कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों का भी समावेश है किन्तु राधाकृष्ण के जन्म, मंगल बधाई, से लेकर नित्य वसंत, होरी, झूला प्रभृति समस्त उत्सव व्यवस्थित एवं विस्तृत रूप से वर्णित हैं। इस विशाल रचना की पद संख्या १९९४ है।[१९०]

हरिव्यासयशामृत—इसका प्रधान विषय स्वगुरु महिमा है परन्तु कृष्ण-भक्ति के स्वरूप पर भी पर्याप्त पद, दोहे तथा चौपाइयाँ मिलती हैं।

नित्यविहार पदावली—यह केवल १२० पदों की संग्रहीत एक छोटी वाणी है। इसमें केवल शुद्ध नित्यविहार रस के पद वर्णित हैं। गोकुल लीला का सर्वथा अभाव है।[१९१]

तत्ववेत्ता जी की वाणी—इनकी कोई प्रबन्धात्मक रचना तो उपलब्ध नहीं होती किन्तु हस्तलिखित रूप में छप्पय, छंदों का एक संग्रह अजमेर में महन्त श्री हरि-शरण जी के पास अवश्य प्राप्त हुआ है।[१९२] इसमें से ५२ छप्पय निम्वार्क माधुरी में उद्धृत हैं। ये सभी एक प्रकार की शैली में रचित हैं। 'कृष्ण वसुदेव कुमारा' को विराट रूप में प्रस्तुत किया गया है यही इनकी मुख्य विशेषता है।

हरिदासी सम्प्रदाय की शिष्य परम्परा को देखने से स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि १७वीं शती में इस सम्प्रदाय के तीन कवि सरसदेव जी, नरहरिदेव जी तथा

रसिकदेव जी आते हैं ।[१९३] इनके अतिरिक्त विहारिनिदेव के शिष्य नागरीदासजी भी गणनीय हैं । इन चारों कवियों की वाणी टट्टी सम्प्रदाय के अष्टाचार्यों की वाणी में गिनी जाती है । काल-क्रम की दृष्टि से इनका स्थान सरसदेवजी (सं० १६११—८३) से भी पहले आता है क्योंकि इनका समय सं० १६०० से १६७० माना जाता है ।[१९४] एक प्रकार से इनका काव्यकाल १६वीं तथा १७वीं शती ईसवी का संधिकाल है । नरहरिदेव के शिष्य रसिकदेव भी इसी शती के अन्तर्गत आ जाते हैं । उनका निकुंज प्राप्तिकाल सं० १७५८ दिया हुआ है ।[१९५] इसी क्रम से नीचे इन कवियों की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है ।

हरिदासी सम्प्रदाय

नागरीदास की वाणी—'इनकी सौ पदों की वाणी प्राप्त है' ।[१९६] यह अप्रकाशित है । इसमें से ५० पद तथा सवैये निम्बार्कमाधुरी में उद्धृत हैं । ये पद मुख्यतया राधाकृष्ण के वनविहार, जलविहार तथा हिंडोला आदि विषयों से सम्बद्ध हैं । 'नवल चौबोला', 'सरस चौबोला' जैसे पदों में एक विशेषण का निर्वाह आदि से अंत तक किया गया है और सारी वस्तु उसी के अनुसार निरूपित है ।

सरसदेव की वाणी—इनकी वाणी के ५१ कवित्त तथा पद निम्बार्कमाधुरी में प्रकाशित रूप में प्राप्त होते हैं । कवित्तों का विषय उपदेश तथा पदों का युगल रूप राधाकृष्ण की विविध श्रृंगार क्रीड़ाएँ हैं । कुंजविलास, जलविहार तथा झूला आदि विषयों के भी पद हैं ।

नरहरिदेव की वाणी—इनके फुटकर पद ही प्राप्त होते हैं जिनमें से ७ पद निम्बार्कमाधुरी में प्रकाशित हैं । इनका विषय राधाकृष्ण का श्रृंगार तथा सुरतविहार आदि है ।

पीताम्बरदेव की रचनाएँ—इनके द्वारा निर्मित रचनाओं का नामोल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है ।[१९७]

१. रस के पद	४. सिद्धान्त की साखी
२. सिंगार के पद	५. सिंगार की साखी
३. केलिमाल की टीका	

इनमें स्पष्टतया पदों और दोहों की प्रधानता है । विषय की दृष्टि से पदों में गुरुवंदना, राधाकृष्ण-प्रीति-वर्णन तथा श्रृंगार एवं विहार का चित्रण है । गौड़ीय कवि वल्लभरसिक की शैली में लिखित एक ६४ पंक्तियों की 'मांझ' भी मिलती है जिसमें पंजाबी का पुट है इसका विषय भी श्रृंगार, नखशिख तथा विहार वर्णन है ।

रसिक देव की रचनाएं—इनके द्वारा विचरित ११ ग्रंथों का उल्लेख मिलता है।[१९८]

१.	भक्त सिद्धान्तमणि	७.	रससार
२.	पूजाविलास	८.	गुरुमंगल यश
३.	सिद्धान्त के पद	९.	बाललीला
४.	रस के पद	१०.	ध्यानलीला
५.	रससिद्धान्त के साखी	११.	वाराहसंहिता
६.	कुंजकौतुक		

इन रचनाओं के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। निम्बार्कमाधुरी में रसिक देव के १० पद, ४ साखी तथा 'युगलध्यान' के ८३ दोहे उद्धृत हैं। 'वाराहसंहिता' नामक रचना प्रस्तुत विषय की सीमा से बाहर प्रतीत होती है।

स्वतन्त्र वर्ग के कवि

ऐसे कवियों में इस शती में सेनापति, बिहारी, मतिराम तथा देव के नाम प्रमुख हैं। इनमें से बिहारी और देव को निश्चित रूप से सम्प्रदाय मुक्त कवि नहीं कहा जा सकता। निम्बार्कमाधुरी में दोनों को निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना गया है।[१९९] सेनापति (जन्म सं० १६४६) को टट्टी सम्प्रदाय का वैष्णव कहा गया है।[२००] यों सेनापति रामोपासक प्रतीत होते हैं जिसके प्रमाण उनकी रचना में ही उपलब्ध हो जाते हैं। ब्रजमाधुरीसार के अनुसार बिहारी और देव दोनों ही राधावल्लभीय अथवा 'हितकुल' के कवि ठहरते हैं।[२०१] डॉ० नगेन्द्र देव के गुरु को विश्वसनीय रूप से राधावल्लभीय न मानकर उसकी संभावना मात्र स्वीकार करते हैं।[२०२] ऐसी अनिश्चित स्थिति में इन कवियों की रचनाओं में साम्प्रदायिक तत्व के अभाव तथा रीति-परम्परा की प्रधानता के कारण इनको स्वतन्त्र वर्ग में रखना ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

सेनापति की रचना : कवित्तरत्नाकर—सेनापति की दो रचनाएँ 'कवित्तरत्नाकर' तथा 'काव्यकल्पद्रुम' कही जाती हैं जिनमें से दूसरी अप्राप्य है।[२०३] कवित्तरत्नाकर की चतुर्थ तरंग प्रस्तुत विषय की सीमा के अन्तर्गत नहीं आती। यह कृति प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती है।

बिहारी की रचना : सतसई—सतसई के प्रधान आराध्य राधाकृष्ण हैं इसमें संदेह नहीं परन्तु उसमें अनेक दोहे ऐसे भी हैं जिनका कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है। बिहारी सतसई काव्य-कला की दृष्टि से ब्रजभाषा की अमूल्य निधि है।

मतिराम की रचनाएँ : रसराज, ललितललाम, सतसई—मतिराम के ग्रंथों में 'रसराज' और 'ललितललाम' प्रमुख हैं। रसराज में श्रृंगार रस को 'रसराज' मानकर

शास्त्रीय पद्धति से रस एवं नायिका-भेद का निरूपण है। ललितललाम अलंकार ग्रंथ है। दोनों रचनाओं के अधिकतर उदाहरण कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत आते हैं। सतसई आद्योपान्त दोहों में रची गयी एक श्रृंगारिक रचना है।

देव की रचनाएँ : भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास—देव के काव्य-काल का प्रारंभिक अंश ही इस शती में आता है क्योंकि उनका जन्म सं० १७३० में हुआ था। फिर भी १७वीं शती ई० के अन्त (सं० १७५७) के पहले उनकी तीन रचनाएँ भावविलास, अष्टयाम तथा भवानीविलास निर्मित हो चुकी थीं।[२०४] अतएव प्रस्तुत अध्ययन में उनकी अन्य अनेक रचनाओं को छोड़कर केवल इन्हीं तीन को स्वीकार किया गया है। यह रचनाएँ पूर्णतया रीति-परम्परा के अनुकूल रची गयी हैं। उदाहरण प्रायः कृष्ण से सम्बद्ध हैं।

पादटिप्पणियाँ

१. अपने इतिहास में तो नहीं किन्तु फार्बस गुजराती सभा के त्रैमासिक में छपे एक लेख में मुंशी ने मयण का परिचय दिया है। सं० १९९४, पृ० ३२५:२६

२. क. फार्बस गुजराती सभा त्रैमासिक, पुस्तक १ इ॰ ई० १९३७, जनवरी-मार्च।
   ख. G L Part II Chap. I. 01d Gujarati, page 91.

३. क च, भाग १, पृ० ५८

४. वही, पृ० ६०

५. वही, पृ० ६१

६. क. "नरसिंह अने भालण कंईक अंशे समकालीन छे . . . . भालणनो पूर्वकाल ते नरसिंहनो उत्तरकाल हतो . . . . आथी भालण नो समय लांबा मा लांबो सं० १४९० थी सं० १५७० सुधी मूकी शकाये।"

भालण, पृ० ३

ख. "आथी भालण सं० १५४५:४६ मां मरण पाम्यो हतो अेम आपणे अनुमान करी शकिये"

भालण उद्धव अने भीम, पृ० ६:८

७. "भालणनी कादंबरी मां प्राप्त थती मध्यकालीन गूजराती नी ३जी भूमिका भालण समय नी भाषा मिश्र २जी भूमिका पछीनी सां० १६२५ लगभग मां स्थापित थयेली भाषा छे"

क च, भाग १, पृ० १००-१०१

८. पंदर से पीसतालीस मांहि गाया नलगुणग्राम जी ।
पद्य खटशत ने सात कर्यां छे हरिजन ना विश्राम जी ।।

९. संवत पंदर पंचोतरे शुक्लपक्ष कार्तिक मास ।
पंचमी तिथि बुधवासरे पुर्ण ग्रंथ अतीहास ।।२१।।
उत्तरकांड संपूर्ण शुणता उपजे मन हुलास।
करजोडी भालणसुत वीनवे नीज सेवक वीष्णुदास ।।२२।।

उत्तरकांड, ५०

१०. 'कौमुदी' मार्च १९३१, पृ० २२६

११. प्रबोध प्रकाश, भूमिका, पृ० २५

१२. भालण, पृ० ६४

१३. क च, भाग १, पृ० ६८ पाद टिप्पणी २

१४. भालण कृत दशमस्कंध, सं० हु० कांटावाला पद संख्या ७७, २५१, २५३, २५४, २५५ तथा २६५

१५. "भालणना दशमस्कंध मां कोई विष्णुदासना नामनां व्रजभाषाना केटलाक पद जोवामां आवे छे। अे कदाच आ विष्णुदासना पण होय केमके अे नामनो कोई कवि व्रजभाषा मां थयो होय अेम जणातु ं नथी।

भालण, पृ० ६२.

१६. क. भालण रा० चु० मोदी पृ० ७८
ख. क च, भाग १, पृ० ११०

१७. G L. page, 122.

१८. भालण, उद्धव अने भीम रा० चु० मोदी विरचित, पृ० ३१

"आ काव्य खरी रीति कृष्णविष्टि कहेवाय नहि, आतो कृष्णविष्टि करवा जाय छे ते सम्बन्धी अेटले तेने "द्रोपदी प्रकोप" नाम आपी शकाय, भालण आखी कृष्णविष्टि लखी हशे के ते शंका भरेलु छे, केम के वधीअे प्रतोमां मात्र आ चार ज पदो जोवामां आवे छे।

१९. क. संवत पंदर रुद्रनी वीस। वरस ऊपरि अेक चालीस।

हरिलीला षोडशकला, फलश्रुति, ८, पृ० २१३

ख. संवत पंदर रुद्रनी वीस, षट आगला वरस चालीस।

प्रबोध प्रकाश, अंक षट्ठो, ०२, पृ० ७४

२०. क. पंडित वोपदेव द्विज अेक, कीधुं हरिलीला विवेक।
तिणि आधारि मि करी कथा, सरोवर जमलु कूड यथा।

हरिलीला षोडशकला, पृ० २१२

ख. सोलकला शशिहर सकलंक, अेह श्रीकृष्ण कथा निकलंक।

वही, फलश्रुति, ७, पृ० २१३

२१. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग १, पृ० २६

२२. व्रजभाषा व्याकरण, पृ० ३६।

२३. नाम माहात्म्य, श्री व्रजांक, अगस्त १९४०, व्रजभाषा नामक लेख से

२४. निम्बार्क माधुरी, पृ० ६ तथा २३

२५. "सूरदास के पूर्ववर्ती बैजू बावरा के कुछ श्रृंगार गीत प्राप्त हुए हैं जिनसे स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि इस प्रकार की रचना पहिले से ही होती आ रही थी।"

व्रजभाषा साहित्य का नायिकाभेद, नवीन संस्करण, पृ० ४२

२६. नैन बान, पुनि राम, ससि गिनो अंक गति वाम।
श्रीभट प्रगट जु जुगलसत यह संवत अभिराम।।
निम्बार्कमाधुरी, पृ० ६

२७. क. रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्म सं० १५९५, कविता-काल सं० १६२५ के लगभग दिया है। [हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १८८]

ख. वियोगीहरि ने भी लिखा है कि 'श्रीभट्ट का जन्मकाल अनुमानतः १५९५ के लगभग जान पड़ता है और इनका कविता-काल संवत् १६२५ सिद्ध हुआ।' [व्रजमाधुरीसार पृ० १३८.]

२८. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ७४०

२९. वस्ती, वच्छराज तुलसी, 'Gujarat had only three poets and those of obscure fame in the sixteenth century and yet this century is not without its significance.' CPG, page 30.

३०. M. G. L, page 52-53.

३१. वसंत, १९६१ संवत्, वर्ष ४, अंक ८

३२. गुजराती साहित्य परिषद् : रिपोर्ट १९०५

'आ मूल दीवाओ मां कोई पण अन्य ज्योतिना प्रभाव थी ज्वालाओ प्रकटी होवी जोइअे।'

३३. क. गुजरात सं० १९८२ श्रावण, नरसिंह महेतानो कोयडो
ख. कौमुदी, १९३२
ग. नरसैयो भक्त हरिनो, उपोद्घात

३४. GL. Chap.-IV, Note A, page 149.

३५. वसत, १९६१ संवत्, भाद्र, अंक ८

३६. पुष्टिप्रवाहमर्यादा की टीका

३७. प्रस्थान, सं० १९८३, वैशाख-ज्येष्ट तथा ऐतिहासिक संशोधन, पृ० १२३

३८ गुजरात सभा कार्यवही, १९४२:४३, पृ० ८७:९९

३९. Vaisnava Faith and Movement, page 47.

४०. GL. page 143.

४१. गुजराती हाथप्रतोनी संकलित यादी गु. व. सो. पृ० ८१:८८

४२. क. नरसी ने गुणगावानी शे ते थी ई दशा मा भाखियुं रे।

ख. ते नरसैंइअे गाई रे विविधि विलास मां रे नाम तिनुं सहस्र पदनो रास।
ते अहीं वाचो रे जिन्हें इच्छा वसे रे पुनि पुनि कहइ नव नरसइदास।

ग. नृसिंह अनाथ, थावो हरिनाथ, सावो मम हाथ ते कष्टि खोजो।

४३. क. प्रेमानन्द की 'भ्रमरपचीशी' में राही का केवल उल्लेख ही नहीं है वरन् राधा, चन्द्रावली आदि सखियों के साथ वह उद्धव से संभाषण करती हुई भी चित्रित की गई है।

ख. त्याहां तेडी सवि नारि सोलसहसे साथि ते चन्द्राउली ।
राधा संग रमे ते सोलसहसे साथि ते लीलाउली ।

९१, राधारंग

४४. मंडल सभा सिंगार, ४४ से ७५वें दोहे तक.

४५. Significance of Nari Kunjar picture. By M. R. Majmudar, Baroda Oriental Conference Report, 1933, page 829.

४६. गुजराती हाथ प्रतोनी संकलित यादी, पृ० ८२

४७. GL, page 142. Rasasahasrapadi as it stands at present, it is a loosely woven poem of about one hundred and twenty three padas.

४८. राससहस्रपदी, केशवराम काशीराम शास्त्री द्वारा सम्पादित

४९. न. कृ. का. पृ० ४६८

५०. श्री गुरु ने प्रणाम करी ने वर्णवुं श्री जदुराय ।
श्री कृष्णनी लीला सांभलतां पातिक दूर पलाय ।

न. कृ. का., पृ० ४२८

५१. इस विषय का विशेष विवरण 'मीरांबाई की पदावली' के परिशिष्ट 'क' में परशुराम चतुर्वेदी द्वारा दिया गया है

५२. क. मिश्रबन्धु, मीरां का जन्मकाल, सं० १५७३
ख. रामचन्द्र शुक्ल, वही
ग. डॉ० रामकुमार वर्मा, मीरां का जीवनकाल सं० १५५५:१६३०
घ. परशुराम चतुर्वेदी, मीरां का जीवनकाल सं० १५५५:१६०३ विवाह काल, सं० १५७३

५३. क. मीरां स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४४
शंभुप्रसाद बहुगुना का लेख 'अनम जोगिणी मीरां'
ख. मीरां, एक अध्ययन, पद्मावती 'शबनम' विरिचित, जीवन खंड, पृ० १४:८४

५४. गु. हा. संकलित यादी, पृ० १५७

५५. इन पैंतीसों पदों की क्रम संख्याएँ इस प्रकार हैं :—
२, ३, २६:३५, ३७, ४४, ४७, ४८, ५३, ५४, ५६, ७३, ७८, ८३, ८४, ८६, ९०, ९२, ९५, १०२, १०७, १११:११२

५६. क च, प्रथम भाग, पृ० ८०

५७. 'गुजराती', सं० १९९१

५८. श्रीकृष्णलीला काव्य, भूमिका पृ० १४

५९. संवत पंदर बोतेर अभ्यास । बुधाष्टमी भादरवो मास ।

बृ. का. दोहन, भाग ६, पृ० ७०६

६०. क च, भाग १, पृ० २३१:२३२

६१. क च, भाग १, पृ० २६१:२६२

६२. बृ. का. दोहन भाग १ लो, पृ० ६८३

संवत १६०९ सोलनवोतरो वैसाख सुदि अेकादशी ।
महीदास सुत बह्दे कहे, कृपा करी श्री हरि कहाविउ ।

६३. क च, भाग १, पृ० २७६

६४. क च, भाग २, पृ० २९९

६५. क च, भाग २, पृ० ३७५

६६. क. गु. हा. संकलित यादी, पृ०
  ख. क. च, भाग २, पृ० ३७५

६७. क. संवत शोल सताला जाणय—रुक्मिणीहरण
  ख. संवत शोल अडताला सोय—हनुमान चरित्र
  ग. संवत शोल आठताला · विराटपर्व

६८. क च, भाग २, पृ० ४०५

६९. क च, भाग २, पृ० ४०९

७०. फूढ की 'पांडवविष्टि' के अन्तिम पृष्ठ का उल्लेख सुरतसाहित्य परिषद के विवरण में पृ० ७८ पर दिया है। इसी से इसकी सत्ता का ज्ञान होता है

७१. क. सूरदास, पृ० ९७
  ख. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय भाग १, पृ० २६८
  ग. सूरसौरभ, प्रथम भाग, पृ० ३
  घ. अष्टछाप परिचय, पृ० ९६
  ङ. सूरनिर्णय, पृ० १६९

७२. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग १, पृ० २६८

७३. सूरनिर्णय, पृ० १६९

७४. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग १, पृ० २६८

७५. व्यास कहे सुकदेव सों द्वादशस्कंध बनाइ ।
  सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ ।।
  सू. सा. स्कंध १

७६. सूरनिर्णय, पृ० १६१

७७. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग १, पृ० २८०

७८. वही, पृ० ३१४:३१५

७९. वही, पृ० ३११

८० अष्टछाप परिचय, पृ० ११५

८१. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग २, पृ० ३१५:३२३

८२. वही, पृ० ३२४

८३. अष्टछाप परिचय, पृ० १६६

८४. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग १, पृ० ३८८, ३८६

८५. वही, पृ० ३७२, ३७७

८६. नंददास, भाग १, भूमिका, पृ० २०:२१

८७. अष्टछाप परिचय, पृ० १९८, २००

८८. वही, पृ० १९८

८९. नंददास, भाग १, भूमिका, पृ० ८६

९०. क. वही,
 ख. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय भाग १, पृ० ३००

९१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग १, पृ० ३०४

९२. वही, पृ० ३३८, ३३९

९३. वही, पृ० ३४०

९४. वही, पृ० ३४१

९५. क. वही, पृ० ३४७:३४८
 ख. नंददास, भाग १, पृ० ६८,६९

९६. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग १, पृ० ३४९

९७. नंददास, भाग १, पृ० ८२

९८. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग १, पृ० ३६०:३६१

९९. अष्टछाप परिचय, पृ० २१२

१००. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १, पृ० ३८१,३८४

१०१. सम्प्रदाय में प्रचलित हिताब्द के आधार पर इनका जन्म सं० १५३० सिद्ध होता है और जीवन-काल सं० १५३०: १६०९ तक परन्तु भागवतमुदित नामक कवि के 'हितहरिवंशचरित्र' में जन्म-काल 'पन्द्रह सौ उनसठ सम्वत्सर' दिया है।

१०२. इस विषय में साम्प्रदायिक मान्यता है

रीझे श्री वनचन्द्र जू, बोले सघन उमंग।
सेवकवाणी कूं पढ़ों, श्री चतुराशी संग।।

१०३. मिश्रबन्धु विनोद, भाग १, पृ० ३३२

१०४ **सुभ सत पन्द्रह जान, सरसठ ता ऊपर अधिक।**
ता संबत मे आन, प्रगट भये श्री व्यास जी।।

श्री व्यासवाणी, पूर्वार्ध वक्तव्य पृ० ४०

१०५. वही, पृ० ४०

१०६. ब्रजमाधुरीसार, पृ० ९७

१०७ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १८३, १८७

१०८. निम्बार्क माधुरी पृ० ६९

१०९. वही, पृ० ९

११०. ब्रजमाधुरीसार, पृ० १५६

१११. निम्बार्क माधुरी, पृ० २७

११२. वही, पृ० ७४:७५

११३. वही, पृ० ७४:७५

११४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ७१४

११५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १८६

११६. निम्बार्कमाधुरी, पृ० २०२

११७. ब्रजमाधुरीसार, पृ० १२४

११८. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय भाग १, पृ० ६६

११९. निम्बार्कमाधुरी, पृ० २२४

१२०. वही, पृ० २३३

१२१. मीराँ स्मृति ग्रन्थ, परिशिष्ट 'ख' मीराँ परिचय, पृ० ५८

१२२. वही, पृ० १४१

१२३. रहीम रत्नावली, मायाशंकर याज्ञिक द्वारा संपादित, पृ० ३२

१२४. शास्त्री के कविचरित के अभी दो भाग ही प्रकाश में आये हैं जिसमें सं० १७१६ तक के कवियों का समावेश है। प्रेमानंद का काव्यकाल इसके बाद आता है। उन्होंने अपनी नवीन कृति 'प्रेमानंद एक अध्ययन' में प्रेमानंद के समय पर प्रकाश डाला है

१२५. गु. हा. संकलित यादी पृ० २७५

१२६. वही, पृ० १८६, २६२

१२७. वही, पृ० १८६

१२८. क च, पृ० ३६५:३६६

१२९. **सं० १६ संवछर साठो, माघ सुदी पखवाडो जी।**
ग्रंथ समर्पण करो गोविंद ने, प्रणमें जन देवोदास जी।

गु. व. सो. हु. प्र. नं० २६४

१३०. परशुराम आख्यान, 'संवत सोल सडसठ वर्षे; बाल चरित्र, 'संवत सोल सडसठाधन्य', तथा एकादशी माहात्म्य, 'सवत सोल शींतेर'

१३१. क च, भाग २, पृ० ४५२

१३२. वही, भाग २, पृ० ५०२

१३३. **संवत सोल नवासो अे। साके पनरचोपने कही अे।**

हु. प्र. नं० ३२५

१३४. क च, भाग २, पृ० ४४६

१३५. कृष्णदास के नाम से एक 'रासक्रीड़ा' का भी उल्लेख मिलता है परन्तु हस्तप्रति देखने पर ज्ञात होता है कि यह अष्टछापी कृष्णदास के रास विषयक पदों का संग्रह मात्र है

गु. हा. संकलित यादी, पृ० २२, हु. प्र. नं० ४६८४ बड़ौदा

१३६. क च, भाग २, पृ० ४४९, ४५१

१३७. वही, भाग २, पृ० ५२७

१३८. फा० गु० सभा, हस्तप्रति नं० ३६१

क. श्री कंसोधारण लीक्षते

ख. इति श्री कंसोधारण आक्षांन सम्पूर्ण सयाप्त ।

१३८. संवत सतर पांच्य ने साल नो सक्षां कहू

पनर सत ने एकोतेर ने ......

गु. व. सो. हस्तप्रति नं० ७३

१४०. प्रेमानंद, एक अध्ययन, पृ० ३०,३१

१४१. संशोधन ने मार्गे पृ० ३१

मोटो दशमस्कंध सिद्धरूपो अंनी आखरनी कृति समझाव वै च ।

१४२. 'प्रेमानंद, एक अध्ययन, पृ० ३०

१४३. G L. Page, 183.

१४४. सुभद्राहरण प्रस्तावना, पृ० ११३: ११५

१४५. G L. Page, 183.

१४६. गु. हा. संकलित यादी, पृ० १२२.

१४७. V G. Page, 245: 246.

१४८. रुक्मिणी विवाह् वरणी न जाए। संक्षेप मात्र आ सलोकी थाए ।

गु. व. सो. ह. प्र. नं० ८८५

१४९. संमत सतर ने चालीस साल। वैशाख सुदी बारस गुरुवार ।

—वही

१५०. गु. व. सो. ह. प्र. नं० ७४९ अ

१५१. गु. ह. संकलित यादी पृ० १२२

१५२. गु. व. सो. ह. प्र. नं० द २१२

१५३. गु. ह. संकलित यादी, पृ० १२६

१५४. वही, पृ० १२६:१२७

१५५. सुभद्राहरण, भूमिका, अम्बालाल बुलाकीराम जानी रचित, पृ० ४०:४८

१५६. श्रीमद्भागवत, कवि प्रेमानंदकृत पद्यबंध, पृ० ३५१

१५७. नर्मदाशंकर द्वारा सम्पादित श्रीमद्भागवत दशमस्कंध की भूमिका से ।

विशेष कहेवानु आछे के प्रेमानंद ना ग्रंथ मा संस्कृत श्लोके श्लोक नुं भाषान्तर नथी पण अध्याय अध्यायना कथा प्रसंगो ने वर्णन विस्तारे प्रफुल्ल कर्यों छे । भक्तिबोध ने माटे कथा प्रसंग अने भक्तिबोध आनंद साथे हृदय मां करे तेने माटे लोकप्रिय वर्णन विस्तार छे।

१५८. गोवर्धनदास द्वारा सम्पादित रत्नेश्वर कृत दशमस्कंध के उपोद्घात से—

'कवि प्रेमानंद जातनो ब्राह्मण अने संस्कृत भाषा थी अज्ञान होवाने लोधे मूल भागवत ग्रंथ मां शुं लख्युं छे तेनी बराबर अर्थ न समझतां ओ कविये पोताना ध्यान मां आव्या प्रमाणे साधारण कथा भाग लइ तेमा अनेक फेरफार करी ने भाषान्तर कर्यु छे।

१५९. प्रेमानंद, एक अध्ययन, पृ० ३०

१६०. संवत सतर ओगणचालीस, भाद्रपदे निर्धार जी।
दशमस्कंध थयो संपूर्ण ऋषि पंचमी रविवार जी।
श्री मद्भागवत, दशमस्कंध।

१६१. गु. हा. संकलित यादी, पृ० १०३, १०५

१६२. वही, पृ० १०४

१६३. वही, पृ० १०२

१६४. वही, पृ० २०३

१६५. क च, भाग २, पृ० ३१५

१६६. संवत १७१६ संवच्छरम् शाठो माघ शुध पख जी
वड़ौदा संग्रह, ह. प्र. नं० ८८४

१६७. चोपन में अध्याये संपूरण सांभलता सुखकारी जी।
शुकदेवपरीक्षत ने कहे कथातणु विस्तारी जी।
—वही।

१६८. संवत सतरसै तेत्रीशसार. अषाढसुद द्वितीया शनिवार. १

१६९. क च, भाग २, पृ० ४६४

१७०. गु. हा. संकलित यादी, पृ० २५

१७१. प्रा० का० सुधा० भाग ३. पृ० १४१ 'मथुरामहिमा गाई शुं जात गुरुंजगदीश' मथुरा महिमा गायो सार. श्री गुरुदेव संत आधार।
- वही, भाग ४

१७२. तेना चर्ण प्रतापे करी. श्रीकृष्ण लीला विस्तरी—वही।

१७३. ब्रजमाधुरीसार, पृ० २०९

१७४. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग १, पृ० ८०

१७५. 'संस्कृत न जाणनाराने अर्थे भाषामां पण केटलाक पदो आप श्रीओ रच्यो छे, अने ओ मार्ग पण भावनुं मान कर्यु छे। धोलो पण प्रकट कर्यां छे। ते ज रीतिओ आपना केटलाक ख्यालादि पण संप्रदाय मां प्रसिद्ध छे।
—श्री हरिराय जी जीवन अने बोध, पृ० २१: २२

१७६. राधावल्लभ भक्तमाल, पृ० ३२२, ३२५ ३२६
१७७. वही, पृ० ३३०
१७८. वही, पृ० ३२९

'इस प्रकार आपने ब्यालीसलीला एक ग्रंथ बनाया यह ध्रुवदास जी की ब्यालीसलीला के नाम के विख्यात है।

१७९. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ७२४
१८०. ग्रंथ संख्या, २१४. पुस्तक नं० १६: ३०
१८१. सोलह से ध्रुव छासिया पून्यो अगहन मास
१८२. वाणी वल्लभ रसिक जी की, पृ० १, भूमिका
१८३. वही, पृ० २, भूमिका
१८४. श्री माधुरी वाणी पृ० ४, भूमिका
१८५. वही, पृ० ५, भूमिका
१८६. निम्बार्कमाधुरी पृ० ९३, १२९
१८७ वही, पृ० १४२
१८८. वही, पृ० १६६
१८९. वही, पृ० ९९
१९०. वही, पृ० ९४, १००
१९१. वही, पृ० ९४
१९२. वही, पृ० १३१
१९३. वही, पृ० ३४०: ३४१
१९४. वही, पृ० २६९
१९५. वही, पृ० ३१६
१९६. वही, पृ० २६९
१९७. वही, पृ० २९९
१९८. वही, पृ० ३१६
१९९. वही, पृ० ४९९, ५००
२००. वही, पृ० ५७७
२०१. ब्रजमाधुरीसार, पृ० ४४५
२०२. देव और उनकी कविता, पृ० २७
२०३. कवित्तरत्नाकर, भूमिका, पृ० ६
२०४. देव और उनकी कविता, पृ० ३६: ४२

२

वर्ण्य वस्तु

विश्लेषण तथा विवेचन

कृष्ण-लीलाएँ—लीलास्थल की दृष्टि से कृष्ण-चरित को त्रिधा विभाजित किया जाता है।[1]

१. व्रज-लीला
२. मथुरा-लीला
३. द्वारका-लीला

व्रज-लीला पुनः दो भागों में विभाजित की जा सकती है जिनमें लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकार का चरित समाविष्ट है।

१. गोकुल-लीला — अलौकिक, लौकिक
२. वृन्दावन-लीला — अलौकिक, लौकिक

आगे लीलाओं के इसी विभाजन के अनुसार गुजराती और व्रजभाषा कृष्ण-काव्य की समस्त वर्ण्य-वस्तु का तुलनात्मक निरूपण किया गया है।

व्रज-लीला

दोनों भाषाओं में साधारणतया इन कृष्ण-लीलाओं का वर्णन भागवत के दशमस्कंध पर आधारित मौलिक तथा अनूदित रचनाओं में प्राप्त होता है। लीला विशेष से सम्बन्धित स्वतंत्र उल्लेखनीय रचनाओं का निर्देश यथावसर कर दिया गया है।

पुराणोल्लिखित लीलाओं में से अनेक के वर्णन में कवियों ने पर्याप्त स्वतंत्रता तथा मौलिकता का प्रदर्शन किया है, कतिपय कवियों ने व्रज-लीला के अंतर्गत कई नितान्त नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है, ऐसे कवियों में व्रजभाषा के सूरदास तथा गुजराती के प्रेमानन्द का नाम सर्वोपरि है, विश्लेषण की सुगमता के लिए विशिष्ट प्रसंगों का पृथक् निरूपण अपेक्षित है।

अलौकिक गोकुल लीलाएँ

कृष्ण-जन्म—भालण, प्रेमानंद आदि दशमस्कंधकारों के अतिरिक्त इस विषय में गुजराती में नरसी के 'श्रीकृष्णजन्मसमानां पद' तथा 'श्रीकृष्णजन्म वधाई नां पद' विशेष उल्लेखनीय हैं, ब्रजभाषा में अष्टछाप के समस्त कवियों द्वारा जन्म तथा बधाई के पद रचे गए। अन्य सम्प्रदायों के कुछ कवियों द्वारा भी बधाई के पदों का निर्माण हुआ।

कृष्ण-जन्म से पूर्व पृथ्वी की प्रार्थना से द्रवित हो कर 'हरि' ने भूभार उतारने के निमित्त अवतार धारण करने का वचन दिया जिसका वर्णन अनेक कवियों ने किया है किन्तु विष्णुपुराण का आधार लेकर 'हरिलीला षोडशकला' के रचयिता ने लिखा है कि देवेश ने अपने मस्तक के दो केश भी दिये। 'वलतां वचन कहि देवेश, मस्तकना आप्या दोइ केश' (पृ० १३०.) इसका उल्लेख भागवत में नहीं है फलतः अन्य कवियों ने ऐसा नहीं लिखा। भागवत में '**यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं**' तथा '**निशीथे**' के अतिरिक्त कृष्ण-जन्म की तिथि मास दिवस का कोई निर्देश नहीं किया है किन्तु लगभग सभी कवियों ने कदाचित् ब्रह्मवैवर्त का आधार लेकर स्पष्टतया इसका निर्देश किया है। ब्रह्मवैवर्त में जन्म के समय '**अर्धरात्रेसमुत्पन्ने रोहिण्यामष्टमीतिथौ**' (कृ० पू० ७:६४) मास का उल्लेख व्रत के प्रसंग में किया गया है पर वार वहाँ भी नहीं मिलता। **फलं भाद्रपदेऽष्टम्यां भवेत्कोटिगुणं द्विजः** (वही, ८:६)। इस विषय में गुजराती तथा ब्रजभाषा में दी गई जन्म-तिथियों में मास और वार का अंतर महत्त्वपूर्ण है।[१] नरसी ने श्रावण मास, मंगलवार तथा लक्ष्मीदास और प्रेमानंद ने 'श्रावण वदनी अष्टमी' दिन बुधवार दिया है। सूर ने केवल 'भादों की रात' और नंददास ने कृष्णपक्ष की अष्टमी तथा रोहिणी नक्षत्र का भी उल्लेख किया है।[२]

गुजराती कवि भालण ने कृष्ण-जन्म के अवसर पर इन्द्र-इन्द्राणी के सम्वाद का वर्णन एक पद में किया है। इद्राणी अहीर बन कर गोकुल में निवास करने की इच्छा प्रकट करती हैं परन्तु इंद्र 'प्रभु' की आज्ञा न समझ कर गगन में ही स्थिर रहने का निश्चय करते हैं।[३]

अष्टछाप के कवियों ने जन्मोत्सव के समय ढाढ़ी ढाढ़िन, के पद रचे हैं। चैतन्य सम्प्रदायी कवि गदाधर भट्ट ने कृष्ण जन्म की बधाई के पद भी लिखे हैं और अपने को 'मांगनो' भी कहा है।

१. आज कहूँ ते गोकुल में अद्भुत बरखा आई हो।

—ग० वाणी, पृ० १०

२. हों ब्रज माँगनो जू ब्रज तज अनत न जाऊँ जू।

—वही, पृ० २१

गुजराती कृष्णकाव्य में ढाढी का प्रसंग नहीं मिलता केवल भालण के दशम स्कंध में जहाँ सूर का 'ब्रज भयो महरि के पूत' वाला पद प्रक्षिप्त मिलता है वहीं उनका ढाढी के प्रसंग का यह पद भी प्राप्त होता है।

नंदजू मेरे मन आनंद भयो सुनि गोबर्धन ते आयो।
हों तो तुम्हारे घर को ढाढी सूरदास मेरो नाउँ।

यह प्रक्षेप प्रकाशित प्रतियों में ही नहीं वरन् हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में भी उपलब्ध होता है।

कारागृह में कृष्णजन्म के समय की परिस्थिति का चित्रण प्रायः एक-सा ही मिलता है। दोनों भाषाओं के कवियों ने प्रकट होने के बाद कृष्ण को चतुर्भुज रूप में चित्रित किया है जो भागवत के 'चतुर्भुजं' के अनुकूल है। किसी ने भी ब्रह्मवैवर्त के 'द्विभुजं मुरलिहस्तम्' का अनुसरण नहीं किया।

किन्तु कृष्ण को गोकुल ले जाते हुए वसुदेव को जहाँ यमुना मार्ग देती है वहाँ कई कवियों के वर्णन में भास के बालचरित की छाया प्रतीत होती है। ब्रह्मवैवर्त में उसका वर्णन ही नहीं है। भागवत में यमुना के लिए 'मार्ग ददौ' मात्र लिखा है किन्तु बालचरित में 'द्विधा छिन्नं जलम्' मिलता है। भास की इस कल्पना का कारण रंगमंच को सुविधा कहा जा सकता है। गुजराती के भालण केशवदास तथा प्रेमानन्द और ब्रजभाषा के नन्ददास ने बालचरित जैसा ही वर्णन किया है, सूरदास में इसका वर्णन ही नहीं मिलता।[४] कृष्ण के हुँकारने की तथा पीछे के जल के रुकने और आगे के जल के बह जाने की बात प्रेमानन्द ने अपनी ओर से सम्मिलित कर दी है। शिशु-विनिमय को बात भागवत में कृष्ण द्वारा ही वसुदेव को ज्ञात हुई और भागवतानुयायी कवियों ने इसी का अनुसरण भी किया है। गुजराती के केशवदास ने कृष्ण द्वारा स्पष्ट कथन न कराके उनकी प्रेरणा से ही वसुदेव में ऐसी बुद्धि आना लिखा है।

'हरिये हइये प्रेर्यो वसुदेव'—श्रीकृ० क्री०, पृ० १९

बालचरित में शिशु-विनिमय का प्रसंग नितान्त भिन्न एक अपूर्वनिश्चित आकस्मिक रूप में घटित हुआ है किन्तु उसका किसी कवि द्वारा अनुकरण नहीं किया गया। गोकुल में कृष्ण-जन्म के समय उत्सव, उत्साह, बधाई आदि का जितना विस्तृत वर्णन सूरदास ने किया उतना किसी भी कवि ने नहीं किया।

पूतना-वध

भागवत में पूतना के लिए 'कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी' कहा है और वध के उपरांत उसके दाह-संस्कार का भी वर्णन है।[१] ब्रह्मवैवर्त में उसे कंस की भगिनी तथा हरिवंश में धात्री बताया गया है।[२] स्तन में विष लगाने तथा सुन्दरी स्त्री का वेश धारण करने का वर्णन सब में प्राप्त होता है।

गुजराती तथा ब्रजभाषा दोनों भाषाओं के कवियों ने पूतना को 'बकी' के रूप में ग्रहण किया है जिसका आधार संभवतः भागवत का पूतना के लिए प्रयुक्त 'खेचरि' शब्द हो सकता है। कुछ गुजराती कवियों ने ब्रह्मवैवर्त के अनुसार उसे कंस की बहिन भी लिखा है और उसके द्वारा कृष्ण की मासी बनने का भी उल्लेख किया है।[३] गुजराती कवियों में भालण ने न 'पूतना' नाम दिया है और न 'बकी' ही।

गुजराती में नरसी तथा भालण और ब्रजभाषामें सूर द्वारा भागवतोक्त पूतना के दानवी रूप और दाह-संस्कार का वर्णन नहीं किया गया है। ब्रजभाषा के कवियों द्वारा पूतना का कंस की भगिनी एवं कृष्ण की मासी के रूप में भी चित्रण नहीं हुआ है। गुजराती के कवि प्रेमानन्द ने वसुदेव देवकी को पूतना के ब्रज-प्रयाण की सूचना से दुखी चित्रित किया है।[४]

> पूतना गई गोकुळ विषे वसुदेव जाणी वात,
> दंपती दुखीयां थयां ते करे बहु अश्रुपात।

ब्रजभाषा के किसी कवि ने इसका चित्रण नहीं किया।

सिद्धर ब्राह्मण

सूरसागर में पूतना-वध के अनन्तर कंस द्वारा कृष्ण-वध के लिए भेजे हुए 'सिद्धर बांभन' का प्रसंग वर्णित है। इसका भागवत में अभाव है। किसी परवर्ती कवि द्वारा भी इसका अनुवर्णन नहीं किया गया।

सूरदास के सिद्धर की कथा पूतना की कथा से पर्याप्त साम्य रखती है। पूतना की तरह ही वह भी नंदभवन में कृष्ण को मारने पहुंचता है और जब यशोदा यमुना जाती है तो अपना मनोरथ पूर्ण करना चाहता है। भेद यह है कि कृष्ण पूतना की तरह सिद्धर का वध नहीं करते वरन् उसे ब्राह्मण समझ कर केवल भूमि पर गिराने के बाद उसकी जीभ मरोड़ देते हैं। अपना भोलापन दिखाने के लिए मटकियाँ फोड़ कर कुछ दधिमाखन उसके मुँह में लिपटा देते हैं। तब तक यशोदा पानी लेकर आ जाती है और ब्राह्मण को घर से बाहर कर देती है।[१] सूरसागर में जिस स्थल पर

यह पद है वहाँ पूर्वापर प्रसंग देखते हुए यह अप्रासांगिक है क्योंकि पदान्त के बाद पुनः 'सुन्यो कंस पूतना मारी' लिखकर पूतना के प्रसंग को ही उठा लिया जाता है। सिद्धर की असफलता का न तो कोई समाचार कंस तक पहुंचता है और न उसकी किसी प्रतिक्रिया का ही चित्रण मिलता है। संभव है इस कथा का मूल हरिवंश में पूतना वध के बाद वर्णित एक ब्राह्मण द्वारा रक्षा कवच देने की कथा में निहित हो।

कागासुर-वध—'सिद्धर बांभन, की तरह कागासुर की कथा भी भागवत में नहीं मिलती किन्तु पद्मपुराण में काकरूपधारी एक राक्षस के द्वारा कृष्ण की हथेली पर प्रहार किये जाने का वर्णन है जिसका अनुमोदन ब्रह्मपुराण तथा विष्णुपुराण से भी होता है।[१०] सूरसागर में इसका वर्णन है किन्तु नंददास के दशमस्कंध में कागासुर की घटना का कोई संकेत नहीं है। गुजराती के कवियों द्वारा भी इसका वर्णन नहीं किया गया है, केवल फांग नामक कवि के 'कंसोद्धरण' काव्य में एक स्थल पर 'कक बक' का उल्लेख मिलता है जिसमें कंस उन्हें कृष्ण की आँख निकालने तथा अंग मरोड़ने की आज्ञा देता है।[११] सूरदास ने कागासुर की कथा का सांगोपांग वर्णन किया है। उन्होंने काग को भी अन्य असुरों की तरह कंस प्रेरित बताया है।

> कागासुर को निकट बुलायो तासों कहि सब बचन सुनायो।
>
> —सू० सा० पृ० १६५

मोती बोने की कथा—यह मोती बोने की कथा संभवतः गर्गसंहिता से ली गई है। गुजराती कवि पूंजासुत परमानंद ने अपने हरिरस के द्वितीय वर्ग में इसका वर्णन किया है :

> सीचो दुधहसे अवणपर फल फलीआ बेहु मोती।
> मुगताफल उगीया देषीने वीसमे पामी जसोदा जोती ॥
>
> छंद सं० १९५, फा. ह. प्र. ३२५

विराट् आम्र वृक्ष—नरसी मेहता ने गोकुल में एक बौरे हुए विराट आम्र वृक्ष का वर्णन किया है जिसे यशोदा ने सींचकर बड़ा किया और जिसकी अलौकिकता के कारण ब्रजनारियाँ उसे देखने आती हैं।[१२] नरसी का इसी प्रकार का एक अन्य पद है जिसमें संभवतः कृष्ण को ही आम्र वृक्ष के रूप में एक रूपक के द्वारा वर्णित किया गया है। 'सोल सहस्र कोकिला' से सोलह हजार गोपियों की और यदुकुल में वसुदेव द्वारा बोने तथा यशोदा द्वारा दूध से सींचे जाने से गोकुल में मथुरा में उत्पन्न हुए कृष्ण के लालन पालन की व्यंजना होती है।[१३]

शकट-भंजन अथवा शकटासुर-वध—यह प्रसंग भागवत के दशम स्कंध के सातवें अध्याय में उपलब्ध होता है और पूतना-वध के ठीक बाद में वर्णित है। और वहां न इसमें किसी असुर की कल्पना का मिश्रण है और न इससे कंस का कोई सम्बन्ध ही ज्ञात होता है। भास ने अवश्य शकट को 'दाणव' के रूप में प्रस्तुत किया है

सअडो णाम दाणदो सअडवेषम् गहिवअ आअदो तं पि जाणिअ एक पादप्पहारेण चुण्णो किदो सो वि दाणवो भविअ तत्तो एव्व मुदो।

इस प्रकार कवियों में भी दो वर्ग हो गए हैं। भागवतानुयायी भीम, भालण तथा केशवदास ने शकट में असुरत्व नहीं देखा।[१५] इसके प्रतिकूल नरसी, प्रेमानन्द, परमानन्द, सूरदास तथा नंददास ने असुरत्व की स्थापना की है।[१६]

वर्णन की दृष्टि से शकट को असुरत्व प्रदान करने वाले कवियों की निम्नलिखित कोटियां स्थापित हो जाती हैं।

प्रथम कोटि—इसमें भीम, भालण आदि गुजराती के वे कवि हैं जिन्होंने भागवत के शकट-भंजन का अनुवाद मात्र कर दिया है।

द्वितीय कोटि—इसमें गुजराती के परमानंद तथा व्रजभाषा के नंददास आते हैं जिन्होंने शकट को असुरत्व प्रदान तो किया किन्तु कंस से उसका कोई सम्बन्ध व्यक्त नहीं किया। नंददास ने उसे अभिचार का असुर कहा है और उसका शकटरूप धारण करना न कह कर उसमें अटकना कहा है।

तृतीय कोटि—इस कोटि में गुजराती के नरसी, प्रेमानंद तथा व्रजभाषा के सूरदास आते हैं जिन्होंने शकटासुर को पूतना की तरह कंस द्वारा प्रेरित लिखा है। इस कोटि के कवियों में भी प्रत्येक कवि ने अपनी अपनी इच्छा के अनुसार कथा को विकसित तथा कल्पित किया है।

नरसी तथा प्रेमानंद ने कंस द्वारा शकटासुर के भेजे जाने का उल्लेख किया है। इस असुर ने शकट का रूप धारण कर लिया इस विषय में 'शकट रूपे थयो' लिखकर प्रेमानंद और 'शकट को रूप धरि असुर लीनो' लिखकर सूरदास दोनों एक मत हैं। प्रेमानंद तथा सूरदास ने इस कथा के विकास में विशेष मौलिकता प्रदर्शित की है।

प्रेमानंद के अनुसार कंस ने पूतना-वध सुनकर शकट, वच्छ, तृणावर्त, बग, अघ आदि को तत्काल बुलाकर कृष्ण को मारने का आदेश दिया जिसका सर्वप्रथम पालक था शकटासुर।

भेद सांभली चाल्या भूर, प्रेथमे आव्यो शकटासुर ।

—श्रीमद् भा०, पृ० २४८

सूरदास ने शकटासुर के मुख से कंस के सामने कृष्ण का नाश कर आने अथवा जीवित लाने की करबद्ध याचना कराई है जिसे सुनकर कंस उसे बीड़ा देता है—

दोउ कर जोरि भयो तब ठाढ़ो प्रभु आयसु मैं पाऊँ ।
ह्यां ते जाइ तुरत ही मारों कहौ तो जीवित ल्याऊँ ।
यह सुनि नृपति हर्ष मन कीनो तुरतहिं बीरा दीनो ।

—सू० सा०, पृ० १३६

तदुपरांत सूर ने एक ही पद में शकट संहार का वर्णन समाप्त कर दिया किन्तु प्रेमानंद ने कुछ अन्य उद्‌भावनाएँ भी की हैं। पहली तो यह कि द्वार की कुंडी आदि खटखटाकर यत्नपूर्वक रुदन से चुप कराकर जब यशोदा कृष्ण को शकट के नीचे छोड़ जाती है तो कुछ बालकों से कह जाती है कि ताली बजाते रहना 'बीजां बालकोने कहे ताली पाडो' दूसरी यह कि कृष्ण क्रुद्ध होकर अपने वामपाद की वृद्धि करके स्थूल रूप में परिणत हो जाने वाले उस शकट का संहार करते हैं।

क्रोध रुप थया अशरण शर्ण ।
वृद्धि पमाड्यो डाबो चर्ण ।

तीसरी यह कि यशोदा लौटकर शकट-भंग को उन बालकों का अन्याय बताती है जिसका वे प्रतिवाद करते हैं ।

बीजां बाळ ने यशोदा कहे छे, अे अन्या सर्व तमारो छे;
तमो शकट भांज्युं सर्वे मळी खीजी यशोदा थई आकळी;
बालक कहे अन्या न थी अतमणो, तारे पुत्रे पग बधार्यो घणो;

ऐसा वर्णन ब्रह्मवैवर्त में भी है परन्तु प्रेमानंद ने उसे अधिक स्वाभाविक तथा नवीन रूप प्रदान कर दिया है ।

पप्रच्छुर्बालबल्लिकान् गोपा बभंज शकटं कथम्

—अ० १२, श्लो० ११

चौथी यह कि शकटासुर मरने पर अपना काष्ठाकार त्यागकर पुनः दानव रूप ग्रहण कर लेता है जिसको नंद बाहर निकलवा फेंकते हैं—

काष्ठाकार गाडानो गयो । शकट दानव रुपे थयो ।
नंदे दैत्य नखाव्यो बहार........

पाँचवी और अंतिम यह कि शकटासुर को लेने विमान आता है 'आव्युं शकटासुर ने विमान रे' ।

गुजराती कवियों में पालणूं उल्लेख करने वाले केवल केशवदास हैं । शेष ने झोली का उल्लेख किया है जो गुजरात की विशेषता है । प्रेमानंद ने इसके लिए यशोदा के किंकरी द्वारा सारी मंगवाने तक का वर्णन किया है ।

साडी एक लावी किंकरी

ब्रजभाषा के कवियों ने पालने का ही उल्लेख किया है ।

गुजराती कवियों में प्रेमानंद तथा केशवदास ने शकट के नीचे कृष्ण को सुलाने के प्रयत्न में यशोदा से 'हालरूं' अथवा लोरी गवाई है । सूरदास ने शकट के प्रसंग में तो नहीं किन्तु तृणावर्त-वध के उपरांत 'हालरूं' गाने का उल्लेख किया है:

जन बलि जाइ हालरूं हालरो गोपाल ।

—सू० सा०, पृ० १३९

तृणावर्त-वध

—तृणावर्त की स्थिति शकटासुर से भिन्न है । भागवत में ही इसके दैत्य होने तथा कंस द्वरा भेजे जाने का स्पष्ट उल्लेख है:

दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः प्रणोदितः

——१०:७:२०

भागवत के अनुसार एक दिन अचानक गोद में कृष्ण का पर्वत तुल्य असह्य भार अनुभव करके यशोदा ने उन्हें पृथ्वी पर छोड़ दिया और गृह काज में लग गई । समस्त ब्रज को त्रस्त करता हुआ तृणावर्त आया और कृष्ण को उठा ले गया किन्तु कृष्ण का भार न वहन करने के कारण और उनके द्वारा कंठ ग्रसे जाने से उसकी मृत्यु हो गई । ब्रज में एक शिला पर उसकी देह गिरी और उसके सारे अवयव विशीर्ण हो गए । गोपियों ने कृष्ण को राक्षस की छाती से उठाकर यशोदा को दिया जिसे देखकर नंदादि सभी प्रसन्न हुए ।

इस मूल कथा भाग में से कवियों द्वारा बहुत से अंश स्वीकृत किये गए और बहुत से नहीं भी । गुजराती में केशवदास ने पूर्णतया भागवत का अनुकरण किया है । ब्रजभाषा में सूर और नंददास ने तथा गुजराती में भालण, केशवदास और प्रेमानंद ने भार-वृद्धि का वर्णन किया है किन्तु भारी पड़ने का जो कारण दोनों ने दिया है वह एक दूसरे से भिन्न है, भागवत में इसका कोई भी कारण नहीं दिया है ।[१७] भालण

तथा नंददास के अनुसार कृष्ण इसलिए भार वृद्धि करते हैं कि वे यशोदा को तृणावर्त के आघात से दूर रखना चाहते हैं किन्तु सूर तथा प्रेमानंद ने इसे स्पष्ट नहीं किया है।

गुजराती के एक कवि फांग ने अपने कंसोद्धरण में अघासुर के साथ तृणावर्त की घटना के भी वृन्दावन में घटित होने के उल्लेख किया है जो भ्रांत है

वृन्दावन माहे असूर अघासूर त्रणावंत शंघारयो।

गुजराती के अन्य कवियों में नरसी ने 'तृणावंत तत्क्षण हण्यो रे' लिखकर तृणावर्त-बध का संकेत मात्र किया है वर्णन नहीं। नंददास ने तृणावर्त के कंस द्वारा भेजे जाने का कथन नहीं किया है किन्तु भालण, सूर और प्रेमानन्द आदि ने किया है।[१८]

भालण की गोपियाँ कृष्ण को अकेला छोड़ने पर यशोदा को गालियाँ देती हैं।

बीलो मूक्यो रे बाल, जशोदा ने दे गाळ।
—द० स्क०, पृ० ३१

और नंदादि गोप खोए हुए कृष्ण की खोज बताने वाले को पुरस्कार देने की बात करते हैं

दृष्टे देखाडे कहान ने तो रिद्धि आपुं अति घणी।

प्रेमानंद तृणावर्त के कारण यमुना को उलटी दिशा में प्रवाहित चित्रित करते हैं जो अन्य किसी कवि ने नहीं किया है और न भागवत में ही है।

विपरीत यमुना जी नुं जळ वहेतुं हरि हर्या हवो हाहाकार
—श्रीमद् भा०, पृ० २५०

गोपियों के क्रंदन के अतिरिक्त प्रेमानंद ने नंद तथा उपनंद द्वारा कृष्ण की खोज करने का भी उल्लेख किया है, यह भी अन्यत्र नहीं मिलता।

गोपीनां वृंद आक्रंदकरे, उपनन्द नन्द जी शोधता फरे।

कृष्ण द्वारा तृणावर्त के संहार का वर्णन सभी कवियों ने प्रायः भागवत के अनुसार किया है किन्तु संहार के अनन्तर उसके पूतना सदृश दाह-कर्म तथा दिव्यदेह पाकर विमान द्वारा स्वर्ग-गमन का वर्णन दोनों भाषाओं में केवल प्रेमानन्द ने ही किया है।[१९] भालण तथा सूरदास ने शकटासुर-बध तथा तृणावर्त-बध के बीच बाल-छवि वर्णन के कतिपय पद लिखे हैं।

कृष्ण का मृत्तिका-भक्षण एवं यशोदा द्वारा विश्व-दर्शन

भागवत में मृत्तिका-भक्षण के प्रसंग में यशोदा द्वारा कृष्ण के मुख में विश्व-दर्शन का वर्णन तो है ही किन्तु इससे पूर्व भी एक स्थल पर जम्हाई लेते समय इसका उल्लेख है—

> प्रीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम् ।
> मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशे इदम् ।। ३५ ।।
> सा वीक्ष्य विश्वं सहसा... ।। ३७ ।।
>
> —स्कंध १०, अ० ७

मृत्तिका-भक्षण के समय भागवतकार ने पुनः इसी का वर्णन कुछ विस्तृत रूप में किया है:

> सा तत्र ददृशे विश्वं जगत्स्थास्नु च खं दिशः।
>
> —अ० ८, श्लो० ३७

शार्ंगधरपद्धति में इस विषय का एक श्लोक है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन काल से ही मृत्तिका-भक्षण काव्य का स्वतन्त्र विषय बन चुका था।

> कृष्णेनाम्ब गतेन रन्तुमधुना मृद्भक्षिता स्वेच्छया,
> सत्यं कृष्ण, क आह ह्येष, मुसली मिथ्याम्बपश्यानननम्
> व्यादेहीति विदारिते च वदने दृष्ट्वा समस्तं जगत्,
> माता यस्य जगाम विस्मयपदं पायात् स वः केशवः ।।

जम्हाई लेते समय के विश्व-दर्शन का वर्णन ब्रजभाषा में नन्ददास के दशम स्कंध में मिलता है।[२०] सूरदास ने इसका यमलार्जुन के प्रसंग में उल्लेखमात्र किया है।[२१] नन्ददास ने आगे चल कर इससे नामकरण का प्रसंग सम्बद्ध कर दिया।[२२] इस प्रसंग में प्रेमानन्द ने कृष्ण द्वारा मुख में विश्व-रूप-दर्शन कराने का कारण यशोदा का दुःखी होना बताया, इस प्रकार उन्होंने एक नवीनता उत्पन्न कर दी है। तथा विराट विश्व का विस्तृत चित्रण करने के साथसाथ यशोदा के ज्ञान पाने तथा पुनः माया-वश होने का वर्णन करके और भी मौलिकता का प्रदर्शन किया है।[२४]

जृम्भा के स्थान पर मृत्तिका-भक्षण के प्रसंग में विश्व-दर्शन का विषय अधिक परम्परासिद्ध प्रतीत होता है क्योंकि दोनों भाषाओं के अनेक कवियों ने इसे इसी रूप में प्रस्तुत किया है

भागवतकार ने कृष्ण के मिट्टी खाने का वर्णन स्वतंत्रतापूर्वक न करके बलदेव आदि अन्य गोप बालकों द्वारा की गयी शिकायत से उसकी व्यंजना की है किन्तु सूर ने स्पष्टतया उसका चित्रण किया है।[२५] उन्होंने शिकायत का भी वर्णन किया है।[२६] भागवत के 'हितैषिणी' शब्द को चरितार्थ करते हुए नंददास ने यशोदा द्वारा कृष्ण के साथी बालकों की देखभाल करने का आदेश दिलवाया है जिसका वर्णन स्वयं भागवत में नहीं है।[२७] इसके अतिरिक्त विश्व-दर्शन में भागवत के 'व्रजं सहात्यानमवाप' को निम्न पंक्तियों में अत्यधिक स्पष्ट करके प्रस्तुत किया है जो सूरसागर में भी नहीं मिलता।

पुनि अपन पै सहित ब्रज देखि, जसुमति चकित भई जु विसेखि।
तहँ पुनि सुतहिं लिये कर साँटी, डाँटति ज्यों न भखन करै माटी।

नरसी और भीम ने मृत्तिका-भक्षण के प्रसंग का उल्लेख मात्र किया है।[२८] भालण ने इस विषय का वर्णन ही नहीं किया है। उनके दशमस्कंध में जो प्रक्षिप्त पद है वह व्रजभाषा का है।[२९] केशवदास के श्रीकृष्णक्रीडाकाव्य के पंचम सर्ग का नामकरण ही यह मृद्-भक्षण पर किया गया है।[३०] सूर की तरह केशवदास ने मिट्टी खाने का स्पष्ट वर्णन किया है।[३१] उन्होंने नंददास की तरह मुख में ब्रज का वर्णन तो दिया है किन्तु उसमें कृष्ण यशोदा के उसी रूप में दीखने का चित्रण नहीं किया।

वदन मांह ब्रज दीशे वस्यूं, चराचर देखी कहे कारण किशू।
—श्रीकृ० ली० का०, पृ० ४७

प्रेमानंद ने इस विषय में विशेष मौलिकता न प्रदर्शित करके भागवत का ही अनुसरण किया है। स्वाद के कारण मुट्ठी भर भर मिट्टी खाने की भावना अवश्य नवीन है।

अेक बार कौतिक कीधुं नाथे मृत्तिका भक्षण करी;
स्वाद लाग्यो सामळिया ने मुखमां मूके मुठडी भरी।
—श्रीमद् भा०, पृ० २५४

महराने के पांडे का भोग और नंद का देवार्चन

ब्रजभाषा में प्राप्त महराने के पाँडे की कथा तथा गुजराती में उपलब्ध नंद के देवार्चन के प्रसंग में पर्याप्त साम्य है। पाँडे की कथा का वर्णन एकमात्र सूर के काव्य में मिलता है और नंद के देवार्चन का केशवदास के श्रीकृष्णक्रीडाकाव्य तथा परमानन्द के हरिरस में। सूरसागर में पाँडे की कथा से सम्बन्धित पाँच पद मिलते

हैं।[१२] एक प्रकार से सारी कथा प्रथम पद में ही पूर्ण हो जाती है।[१३] कथा का मुख्य आधार यह है कि कृष्ण अपना ध्यान किये जाने पर स्वतः प्रकट होकर भोग लगाने लगते हैं और इस प्रकार अपना अवतारी होना चरितार्थ करते हैं। गुजरात के उक्त कवियों द्वारा वर्णित नंद के देवार्चन का प्रसंग भी इसी आधार पर निर्मित है, उसका लक्ष्य भी कृष्ण का ईश्वरत्व प्रदर्शन है।[१४]

केशवदास तथा परमानन्द द्वारा वर्णित प्रसंग लगभग समान ही है। परमानन्द के अनुसार कृष्ण के उठाये न उठने के कारण उनके अवतारी होने का बोध यशोदा को होता है और केशवदास के अनुसार गर्ग की भविष्यवाणी के स्मरण से।

पांडे की कथा में कृष्ण स्वयं अपने मुख से अपना भोग लगाने का आदेश ब्राह्मण को नहीं देते किन्तु नंद के देवार्चन में वे स्पष्टतया अपनी पूजा कराने की आज्ञा देते हैं।

उलूखल बंधन और यमलार्जुन मोक्ष

भागवत में दी हुई यह कथा हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त तथा पद्मपुराण की कथा से कुछ भिन्न और अधिक परिवर्धित है। दोनों भाषाओं के कवियों ने इस विषय में भागवत का ही अनुकरण किया है। केवल प्रेमानन्द ही अपवाद है। प्रेमानन्द ने भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त दोनों का मिश्रण कर दिया है, ब्रजभाषा में सूर ने इसका दो बार वर्णन किया है। पहले वर्णन में कई स्थलों पर मौलिकता का प्रदर्शन मिलता है। पर दूसरा वर्णन अनुवादात्मक अधिक है। प्रेमानंद के अतिरिक्त भालण तथा केशवदास आदि अन्य दशमस्कंधकारों ने भी यमलार्जुन-मोक्ष का वर्णन किया है।

प्रेमानंद द्वारा दोनों कथाओं का सम्मिश्रण तथा स्वकल्पित वर्णन—ब्रह्मवैवर्त में नारद के शाप से केवल एक कुबेरपुत्र नलकूबर का, जो रंभा के साथ क्रीड़ा कर रहा था अर्जुन वृक्ष हो जाना वर्णित है किन्तु भागवत में नलकूबर और मणिग्रीव दोनों का।[१५] प्रेमानंद ने नलकूबर और मणिग्रीव दोनों का रंभा के साथ रमण वर्णित किया है।[१६] ब्रह्मवैवर्त में जहाँ 'बद्ध वस्त्रेण वृक्षे च' लिखा है प्रेमानंद ने वस्त्र को न स्वीकार करके भागवतोक्त 'दाम' को ही स्वीकार किया है। परन्तु दूसरी ओर वृक्ष-पात को लेकर होने वाले नंद यसोदा के बिसंवाद को जिसका संकेत ब्रह्मवैवर्त में है, उन्होंने स्थान दिया है।[१७] यही नहीं प्रेमानंद ने अपनी ओर से इस गंभीर परिस्थिति का शुभ परिहार भी करा दिया है जो ब्रह्मवैवर्त में भी नहीं है।

प्रेमानंद ने यमलार्जुन का यमुनातटवर्ती होना तथा उनके गिरने से कृष्ण का छिप जाना चित्रित किया है यह भी उनकी अपनी कल्पना प्रतीत होती है।[३८] भागवत के वर्णन से ऐसा लगता है कि वृक्ष घर के समीप ही थे। इस घटना के अंत में कृष्ण के यमुनातट पर खेलने जाने का उल्लेख '**सरित् तीर गतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत्**' इसकी और भी पुष्टि करता है।

भागवत में डोरी के लिये 'तदपि द्व्यंगुलं न्यूनं' लिखा है और अन्य कवियों द्वारा इसका अनुकरण भी किया गया है परन्तु प्रेमानंद ने दो के स्थान पर 'चार' कर दिया है।

साधी साधी थाकी यशोमती
रहे टुकडुं आंगल चार रे।
—श्रीमद भा०, पृ० २५६

सूरदास की मौलिकता—भागवत के अनुसार यशोदा द्वारा कृष्ण के उलूखल बंधन का कारण उनका घर में माखन चुराना है किन्तु सूरदास ने इससे भिन्न कारण दिये हैं। सबेरे एक ग्वालिन शिकायत करती है और दूसरी कृष्ण की बाँह पकड़ कर यशोदा के सामने लाती है तथा उलाहना देती है।[३९] सूर ने इसी के साथ भागवत के 'ययावुत्सिच्यमाने पयसि' का भी संकेत 'उफनत क्षीर जननि करि व्याकुल, इहि बिधि भुजा छुड़ायो' लिखकर कर दिया है, परन्तु यहाँ कृष्ण बँधी हुई भुजा को छुड़ाते हैं और फिर बाँधे जाते हैं, इसके अनन्तर अन्य ग्वालिनें यशोदा को कृष्ण के बाँधने पर फिर उलाहना देती हैं।

दूसरा कारण नितान्त नवीन है। कृष्ण ने किसी ग्वालिन के लड़के को मारा है और वह इसकी सूचना बलराम को देती है। इसके अनन्तर बलराम का यशोदा के पास आकर कृष्ण के बाँधने पर रोष प्रकट करना और अपने को स्थानान्तरित करने की याचना करना आदि सारा का सारा प्रसंग मौलिक है।[४०]

उलूखल-बंधन ही कृष्ण के 'दामोदर' नाम के मूल में माना जाता है। सूर तथा अन्य कई कवियों ने इसका स्पष्ट निर्देश किया है।[४१] भागवत में दामोदर शब्द के द्वारा इसका संकेत मात्र कर दिया गया है।[४२]

तद्दामोदरेणतरसोत्कलितांघ्रिबन्धौ

भास ने अवश्य इसका उल्लेख किया है—

'दामोदलोणाम होदु त्ति'
—बालचरित, अं २

परन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि सूर ने इस सत्य से अवगत होते हुए भी कृष्ण के उदर-बन्धन के स्थान पर कर-बंन्धन का वर्णन किया है।[६३]

कृष्ण द्वारा यक्षों को चतुर्भुज रूप में दर्शन देने की बात भी सूर की अपनी कल्पना प्रतीत होती है।

दोउ कर जोरि करत दोउ अस्तुति चारि भुजा तिन्हें प्रकट दिखाई।
—सू० सा०, पृ० १८३

इसके अतिरिक्त बन्धन के प्रसंग में भागवत में तो यशोदा 'स्वगेहदामानि' अर्थात् अपने घर की रस्सियों का ही प्रयोग करती है किन्तु व्रजभाषा के कई कवियों ने इसे बढ़ा कर कई घरों की रस्सियों से बाँधने का वर्णन किया है। गुजराती कवियों ने इसी को दूसरे प्रकार से प्रस्तुत किया है।[६४]

लौकिक गोकुल लीलाएँ

कृष्ण के संस्कार

नामकरण—नामकरण का उल्लेख भागवत के अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्त, विष्णु तथा ब्रह्मपुराण में भी मिलता है। इसका वर्णन दोनों भाषाओं के कवियों ने किया है परन्तु प्रेमानंद ने सर्वाधिक विस्तार दिया है। नंददास, भालण केशवदास आदि ने भागवत का ही आधार लेकर अनुवाद कर दिया है। सूर के वर्णन में अनुवादात्मकता तो नहीं है परन्तु संक्षेप अधिक है।

भागवत में वसुदेव द्वारा नामकरण के लिये गर्ग के भेजे जाने का उल्लेख मात्र है[६५] किन्तु प्रेमानंद ने अपनी कल्पना से इस प्रसंग का सांगोपांग वर्णन किया है। वे अपने दशम स्कंध में वसुदेव द्वारा गर्ग का बुलाया जाना तथा उनका अच्छी प्रकार सत्कार एवं चरणामृत लेना वर्णित करते हैं। फिर वसुदेव उनसे सारा रहस्य बताकर दीनतापूर्वक गोकुल जाने, नामकरण कर आने तथा जन्मपत्र बनाने की प्रार्थना करते हैं। इसके साथ वसुदेव को दक्षिणा का स्मरण आता है जिसे चुकाने में अपने को असमर्थ पाकर वे भविष्य में कृष्ण द्वारा चुकाए जाने की बात करते हैं।[६६] इसके उत्तर में गर्ग कहते हैं कि वे कृष्ण रूप में भगवान के दर्शन करने जा रहे हैं अतएव ऐसी ओछी बात कहना उचित नहीं।[६७]

आगे चलकर गोकुल में नामकरण संस्कार का भी जो वर्णन प्रेमानंद ने किया है वह भागवत पर ही सर्वथा आधारित नहीं है। भागवत में बलराम के नामकरण में केवल 'राम' 'बल' और 'संकर्षण' इन तीन का ही कथन है किन्तु ब्रह्मवैवर्त में

'हलधर', 'मुसली' आदि अन्य नामों का भी समावेश है। दोनों में 'संकर्षण' नाम की व्युत्पत्ति भी विभिन्न प्रकार से दी गई है।[४८] प्रेमानंद ने यहाँ पर स्पष्टतया ब्रह्मवैवर्त का अनुसरण किया है।[४९] 'मुसली' आदि नाम न देने से यह भी स्पष्ट है कि यह केवल आंशिक अनुकरण है, अनुवाद नहीं।

दूसरी बात यह है कि प्रेमानंद ने बलराम से कृष्ण के नामकरण के समय की परिस्थिति में भेद कर दिया है जिसका श्रेय कदाचित उन्हीं को है। भागवत आदि पुराणों में सम्पूर्ण नामकरण संस्कार एकान्त में होता है किन्तु प्रेमानंद न केवल कृष्ण का नामकरण एकान्त में कराया और साथ ही गर्ग द्वारा उनकी प्रदक्षिणाएँ भी।[५०] भागवत में एकान्त की बात वसुदेव अथवा गर्ग से न कहला कर नंद के मुख से कहलाई गई है। भागवत में बलराम का नामकरण कृष्ण से पहले होता है परन्तु ब्रह्मवैवर्त में बाद को। प्रेमानंद ने इस विषय में भागवत का आधार लिया है। ब्रह्मवैवर्त में गर्ग इस अवसर पर गोलोक का वृत्तान्त सुनाते हैं। प्रेमानंद ने उसे ग्रहण नहीं किया। परन्तु गर्ग द्वारा कहे गये कृष्ण जन्म के रहस्य को अधिक विस्तार से वर्णित किया है।[५१] नंद कृष्ण को देखकर मोहग्रस्त हो जाते हैं और उक्त रहस्य उन्हें भूल जाता है।[५२]

सूरसागर में इस प्रसंग से सम्बन्धित केवल दो ही पद मिलते हैं जिसमें न वसुदेव के द्वारा गर्ग के भेजे जाने की बात है और न नामकरण की ही। एकान्त की भी बात नहीं है क्योंकि बंदीजन चारण आदि सभी नंद गृह में जा पहुँचते हैं।[५३]

नंददास ने नामकरण के प्रसंग को उसके पूर्व आने वाले जम्हाई के प्रसंग से सम्बद्ध कर दिया है जिसका उल्लेख उसके अन्तर्गत किया जा चुका है। उनका तथा गुजराती के भालण और केशवदास आदि के द्वारा किया हुआ वर्णन भागवत पर ही आधारित है।

अन्नप्राशन—भागवत में तो नहीं किन्तु ब्रह्मवैवर्त में इसका उल्लेख है 'अस्यान्नप्राशन्नायाहं नामनुकरणाय च' (कृ० खं० १३, ४७) सूरदास तथा परमानंद दास आदि अष्टछापी कवियों के अतिरिक्त अन्य किसी भी कवि ने इसका वर्णन नहीं किया है।[५४] सूर ने इसका कई पदों में पूर्णता से वर्णन किया। मणि-कंचन के थालों में षटरस व्यंजन बनतेहैं और नंद स्वयं जाकर सारी जाति को बुला लाते हैं।

वर्षगांठ—वर्षगाँठ का प्रछन्न उल्लेख जन्मनक्षत्र के रूप में भागवत में दो स्थानों पर मिलता है।[५५] प्रथम में स्त्रियों के एकत्र होकर विधिपूर्वक कार्य सम्पादित करने का वर्णन है। इसका सूर तथा वल्लभरसिक ने अनुसरण किया है।[५६]

कर्णछेदन—कर्णछेदन का कोई पौराणिक उल्लेख नहीं मिलता और सूर ने ही इसका वर्णन किया है।[५७]

रक्षाबन्धन—इसका भी पौराणिक आधार नहीं है, ब्रजभाषा के ही कुछ कवियों ने इसका भी वर्णन किया है।[५८]

बाल-लीला

पुराणों में कृष्ण की बाल-लीलाओं को सर्वाधिक महत्व भागवत में प्राप्त हुआ। पूतना तृणावर्त आदि से सम्बन्धित पूर्वोक्त अलौकिक लीलाओं के अतिरिक्त अनेक लौकिक लीलाओं का भी वर्णन उसमें मिलता है। भागवत की लौकिक लीलाओं को आधार मानकर तथा स्वतंत्र रूप से भी अनेक कवियों द्वारा कृष्ण के बाल-चरित का विशेष विस्तार किया गया। ऐसे कवियों में ब्रजभाषा के सूर तथा गुजराती के भालण के नाम अग्रगण्य हैं। ब्रजभाषा में सूर के अतिरिक्त अन्य अष्टछापी कवियों तथा रसखान, तुलसीदास आदि ने भी कृष्ण के बाल-विनोद का चित्रण किया है, इसी प्रकार गुजराती में नरसी, केशवदास, प्रेमानंद, तथा शिवदास आदि ने।

आगे कृष्ण के घुटनों चलने, तुतलाने, खेलने माखन चोरी करने आदि लौकिक बाल-लीलाओं का उनकी पौराणिक पृष्ठभूमि अथवा स्वतंत्र स्थिति को स्पष्ट करते हुए सक्रम तुलनात्मक निरूपण किया गया है।

घुटनों और पैरों चलना—इसका आधार भागवत ही है किन्तु एक तो उसमें बलराम और कृष्ण दोनों को समान महत्व दिया गया है दूसरे यशोदा, रोहिणी तथा नंद किसी के द्वारा चलना सिखाने का कोई संकेत नहीं मिलता।[५९] सूर ने कृष्ण के उलटने, घुटनों चलने तथा पैरों चलना सीखने का अत्यन्त सूक्ष्म रूप से वर्णन किया है। नंददास के नंद भी कृष्ण को उँगली पकड़ा कर चलाते हैं। भालण ने इसका वर्णन न करके केवल कृष्ण के रेंगने का वर्णन किया है। उन्होंने तथा केशवदास ने इसके अतिरिक्त कीचड़ में हाथ डालने तथा सोते हुए सर्प की पूँछ पकड़ लेने का भी वर्णन किया है। कीचड़ से खेलने की बात भागवत पर आधारित होने के कारण प्रेमानंद आदि अन्य दशमस्कंधकारों ने भी वर्णित की है।[६०]

हाथ में नवनीत लिए प्रतिबिम्ब दर्शन—इसका वर्णन सूर, नंददास, भालण आदि के द्वारा हुआ है।[६१] सूर ने प्रतिबिम्ब संबन्धी चित्रण अनेक रूप में किया है।

बछड़े की पूँछ पकड़ना—भागवत में 'प्रगृहीतपुच्छैः' के रूप में इसका उल्लेख है। गुजराती भाषा के ही कवियों ने इसका वर्णन किया है।[६२]

तोतली बोली—इसका वर्णन भागवत में नहीं मिलता किन्तु दोनों भाषाओं के कवियों ने किया है। प्रेमानंद ने तोतली बोली के स्थान पर बोलना सीखने का वर्णन किया है।[६३]

आँगन में नृत्य—इस लीला का उल्लेख भागवत में नहीं है पर दोनों भाषाओं के कई कवियों ने इसे चित्रित किया है।[६४]

मुँह में अँगूठा डालना—भागवत में इसका वर्णन मार्कण्डेय ऋषि के प्रसंग में बारहवें स्कंध में मिलता है।

> **चार्वंगुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम् ।**
> **मुखे निधाय विप्रेन्द्रो धयंतं वीक्ष्य विस्मितः ॥ २५ ॥**

—अ० ९

दोनों भाषाओं के कवियों ने कदाचित् इसी को आधार मान कर ऐसा चित्रण किया है।[६५]

लघुशंका करना—भागवत के **'कुरुते मेहनादीनि वास्तौ'** के आधार पर कुछ गुजराती कवियों ने इसका वर्णन किया है।[६६]

मथानी पकड़ना—उलूखल-बंधन के प्रसंग में भागवत के एक श्लोक में इसका उल्लेख है।

> **तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः ।**
> **गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत्प्रीतिमावहन् ॥४॥**

—स्कं १०, अ० ९

दोनों भाषाओं के कवियों ने इसका वर्णन किया है।[६७] सूर तथा नरसी ने मथानी पकड़ने को लेकर पौराणिकता के आधार पर असाधारण परिस्थिति का चित्रण किया है जिसका संकेत भागवत में नहीं है। भालण ने भागवत का ही अनुकरण किया है और प्रेमानंद ने भी।

चोटी बढ़ने की लालसा से दुग्धपान—यशोदा द्वारा चोटी बढ़ने का प्रलोभन देकर दूध पिलाने की बात भागवतकार ने नहीं लिखी है पर सूर ने उसका वर्णन किया है।[६८] नरसी के पद में भी दूध पीने के कारण वेणी के बलभद्र की वेणी से भी अधिक मोटी हो जाने का वर्णन है।

> वेण वागे वहाला जी तमारी, बलभद्र पे मोटी थाय रे।

—ना० कृ० का०, पृ० ४६२

'वेण' का अर्थ यहाँ बाँसुरी नहीं है अतएव 'वागे' शब्द 'बाढो' के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि इसके बिना 'बलभद्र पे मोटी थाय रे' से इसकी संगति ही नहीं बैठती। भालण ने यद्यपि चोटी बढ़ने तथा दूध पीने का वर्णन एक ही पद में किया है परन्तु दूसरे को पहले का कारण बता कर प्रलोभन देने की बात व्यक्त नहीं की।[६९]

जेंवन—इसका भी भागवतकार द्वारा वर्णन नहीं मिलता। सूर ने 'नन्द' और 'कान्ह' को एक साथ जीमते हुए चित्रित किया है।

'जेंवत कान्ह नन्द इक ठौरे'।

—सू० सा० पृ० १६१

नरसी ने यशोदा द्वारा कृष्ण के जिमाने का वर्णन किया। वहाँ इस प्रसंग में नन्द तथा रोहिणी का कोई स्थान नहीं है केवल बलराम के साथ भोजन करने का उल्लेख है।[७०]

चंदखिलौना—भागवत में इसका उल्लेख है ही नहीं, यह प्रसंग कदाचित किसी अपौराणिक लोक प्रचलित परम्परा के कारण कृष्ण की बाल-क्रीड़ा के साथ समाविष्ट हुआ है क्योंकि नवीं शती के मध्य की कृति तिरुमोली (दक्षिण के कवियों की कृष्ण लीला विषयक गीतियों का संग्रह) में पेरियालवार द्वारा लिखित चन्द्र और कृष्ण विषयक एक गीत उपलब्ध होता है।[७१] पेरियालवार के इष्टदेव वटपत्रशायी बालमुकुन्द बताए जाते हैं।[७२] गीत में यशोदा की भावनाओं की अभिव्यक्ति की गई है किन्तु इसका कहीं भी वर्णन नहीं मिलता कि यशोदा चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को दिखाकर कृष्ण का मन बहलाती है। गुजराती और ब्रज दोनों भाषाओं में उसका वर्णन मिलता है।[७३]

सूरदास के कृष्ण चन्द्रमा को खेलने के लिये ही नहीं चाहते वरन् उससे क्षुधा शान्ति करने की इच्छा भी करते हैं और वे जलभाजन में प्रदर्शित चन्द्र-बिम्ब से संतुष्ट न होकर रोते रोते सो जाते हैं, परन्तु नरसी के कृष्ण यह सब नहीं करते। एक बार तो वे माखन पाकर चन्द्रमा को याचना करना भूल जाते हैं और दुबारा जल में उसका प्रतिबिम्ब देखकर शांत हो जाते हैं। न वे चन्द्रमा को भोजन के लिए चाहते हैं और न यशोदा उनसे यही कहती है कि चन्द्र तुम से डरता है। सूरदास का वर्णन अधिक विस्तृत है और उसमें नन्द आदि का उल्लेख करके विविध प्रकार की परिस्थितियों का संकेत किया गया है।

नरसी के अतिरिक्त किसी अन्य गुजराती कवि द्वारा इस प्रसंग का वर्णन प्राप्त नहीं होता।

कृष्ण का सोना और मीठी कथा—शकट-भंजन के प्रारम्भ में भागवत में कृष्ण के शयन का वर्णन है जिसकी ओर शकट के प्रसंग में संकेत कर दिया गया है। यहाँ तात्पर्य उन कवियों से है जिन्होंने कृष्ण के शयन को स्वतन्त्र रूप से वर्णित किया है।

सूरदास ने यशोदा द्वारा कृष्ण के बहलाने सुलाने के निमित्त रामकथा कहलाई है जिसमें कृष्ण सीताहरण के प्रसंग को सुनते ही चौंक कर लक्ष्मण से धनुष माँगने लगते हैं। इस प्रकार के वर्णन से उनका अवतारी रूप स्पष्ट किया गया है।

> रावण हरण कर्‌यो सीता को सुनि करुणामय नींद बिसारी।
> सूर श्याम कर उठे चाप को लछिमन देहु जननी भ्रम भारी।
>
> —सू० सा०, पृ० १५७

इसके अतिरिक्त सूर ने कई अन्य प्रसंगों में तथा स्वतंत्र रूप से भी सोने का वर्णन किया है।[७४] ब्रजभाषा के अन्य किसी कवि ने संभवत: उपर्युक्त प्रकार का वर्णन नहीं किया। गुजराती कवियों में भी शयन का ही वर्णन मिलता है, इसका नहीं।[७५] भालण के 'सूतो सूतो अति हंसे' और सूर के 'कबहुँ अधर फरकावै' वाले पद लगभग समान स्थिति को व्यक्त करते हैं।

कृष्ण का जगाया जाना, प्रभाती—सूर ने कृष्ण के जगाये जाने का वर्णन किया है। प्रभात होने पर कृष्ण के साथी ग्वाल-बाल आ जाते हैं। यशोदा उन्हें इसकी सूचना दे कर जगाती है।[७६] नरसी की यशोदा ग्वाल-बालों को बुला देने के लिए कहती हैं।

> हमणां हुं तेडावुं संगे रमवा गोवाला।
>
> —न० कृ० का०, पृ० ४६६

यों नरसी ने अनेक प्रभातियाँ लिखी हैं जिनमें जगाये जाने का वर्णन भी है। (पृ० ४७५)

खेल—सखाओं के साथ कृष्ण नाना प्रकार के खेल खेलते हैं। सूर ने भौंरा-चकडोरी, चौगान, चोरमिहीचिनी आदि खेलने का वर्णन किया है।[७७] नरसी ने भी आँख मिचौनी का उल्लेख किया है किन्तु प्रसंग नितांत पृथक् है। उद्धव से अपने जीवन की क्रीड़ाओं को कहते हुए कृष्ण इस खेल की भी याद करते हैं:

> ते दाडने रम्या रे आंखविचामणी रे,
> छबीलो छुपाणा कदम केरी छांह।
>
> —न० कृ० का०, पृ० ५३१

भागवत में इन खेलों का वर्णन वृंदावन जाने के बाद मिलता है।

हाऊ—कृष्ण को डराने के लिए हाऊ का वर्णन दोनों भाषाओं में मिलता है।[७८] भालण और केशवदास के पद आपस में बहुत मिलते हैं, केवल एक दो जगह पर पाठभेद है। सूर ने इसे कृष्ण के ईश्वरत्व से समन्वित करके भी प्रस्तुत किया है।

माखनचोरी—कृष्ण की लौकिक बाललीलाओं में कदाचित् सबसे प्रमुख स्थान माखनचोरी का ही है। यह कथा न तो विष्णुपुराण में है न महाभारत में, हरिवंश में प्रसंगवश आ गई है, भागवत में अवश्य इसकी बड़ी धूमधाम है। भागवत के अतिरिक्त यह ब्रह्मवैवर्त तथा भास के बालचरित में भी है।[७९]

भागवत में यह एक प्रकार से यमलार्जुन-मोक्ष तथा उलूखल-बंधन की भूमिका स्वरूप भी आती है और उससे पहले भी इसका वर्णन है। कृष्ण चोरी से माखन स्वयं ही नहीं खाते वरन् बंदरों को भी खिलाते हैं, बर्तनों को तोड़ देते हैं, कभी कुछ न पाने पर सोते हुए बालकों को रुला देते हैं। छींके पर रक्खे हुए बर्तनों में उलूखल आदि पर चढ़ कर छेद कर देते हैं और अँधेरे घर में अपनी मणियों के प्रकाश में चोरी करते हैं।[८०]

दोनों भाषाओं के कवियों ने इस लीला का वर्णन किया है। सूरसागर में भागवत से इस विषय में निम्नलिखित भिन्नताएँ हैं।

१. माखनचोरी का वर्णन गोपियों के उपालंभ के माध्यम से ही न करके स्वतंत्र रूप से भी किया गया है।

२. स्वतंत्र रूप से किये गए वर्णनों में अनेक ऐसी बातें हैं जिनका भागवत में संकेत तक नहीं है।

३. भागवतोक्त कई बातों का वर्णन या तो मिलता ही नहीं या परिवर्तित रूप में मिलता है। न मिलने वाली बातों में उदाहरणार्थ कृष्ण के द्वारा बन्दरों को माखन खिलाना और परिवर्तित रूप में सोते हुए बालकों पर दही छिड़क देना। भागवत में उन्हें जगाने का ही वर्णन है।

सूर द्वारा वर्णित माखनचोरी के विभिन्न रूप[८१]—

अ. अंतर्यामी कृष्ण एक ब्रज युवती के मन की बात समझ कर उसकी इच्छा-पूर्ति के लिये अकेले माखनचोरी करते हैं और अपने प्रतिबिम्ब को अन्य बालक समझ कर उससे चोरी छिपाने का आग्रह करते हैं।

आ. ग्वाल-बालों के साथ चोरी करते हैं।

इ. अंधेरी साँझ में ग्वालिन के घर जाते हैं, छिपने के लिये चतुर्भुज रूप धारण कर लेते हैं। ग्वालिन उन्हें पकड़ कर यशोदा के पास ले जाती है।

ई. चींटी निकालने के बहाने चोरी करते हैं।

उ. अनेक ब्रज बालाएँ कृष्ण को आलिंगन में भर कर सुख पातीं और चाहती थीं कि कृष्ण उनके घर चोरी करें। ऐसी एक विशिष्ट गोपी को कृष्ण पाँच वर्ष की अवस्था से बारह वर्ष के होकर रिझाते हैं। उपालंभ देते हुए वह अपनी फटी चोली यशोदा को दिखाती है।

ऊ. पकड़े जाने पर स्त्री का रूप धारण कर लेते हैं।

ए. कृष्ण रास्ते चलती गोपियों के पास से माखन लूट भी लेते हैं।

अन्य कवियों द्वारा माखनचोरी का वर्णन[८२]

नंददास ने भी उलूखल एवं सखाओं के सहारे ऊपर चढ़ कर माखन चुराने तथा अपने प्रतिबिम्ब से भेद न बताने की बात कहने का वर्णन किया है। तुलसीदास ने कृष्ण गीतावली में भागवत की ही तरह गोपियों द्वारा 'गोरस हानि' के उलाहने देने का वर्णन किया है। नरसी का वर्णन भी उपालंभ के ही रूप में है परन्तु उसमें कुछ भिन्नता है। कृष्ण बाँसुरी फेंक कर ऊँची मटकी को तोड़ देते हैं, तसले से दही पी लेते हैं और गोपी को भुला देने के लिए उसका हार तोड़ देते हैं। भालण और केशवदास के वर्णनों का आधार भागवत ही है किन्तु केशवदास ने यशोदा-गोपी-संवाद को विशेष विस्तार से प्रस्तुत किया है, उसमें कुछ नवीनताओं का भी समावेश मिलता है जैसे, कृष्ण गोपी द्वारा पकड़े जाने पर उसी गोपी के बालक का रूप बना लेते हैं। प्रेमानंद ने भी भागवत के अनुसरण के अतिरिक्त इस प्रसंग में माखनचोरी को एक नवीन रूप दिया है। एक बार कृष्ण एक गोपी के घर घुस जाते हैं। वह जान जाती है और द्वार बंद करके उन्हें समझाती है फिर यशोदा के पास आ कर कहती है कि मैंने कृष्ण को माखन चुराते पकड़ लिया। यशोदा जब आकर देखती हैं तो कृष्ण अंतर्धान हो जाते हैं। सारी गोपियाँ चकित होती हैं कि वे किस प्रकार निकल भागे इतने में यशोदा को एक दासी आकर सूचना देती है कि कृष्ण जाग गये हैं, चलो। यशोदा घर आती हैं तो कृष्ण वहीं मिलते हैं। इस प्रकार गोपियों का कथन असत्य सिद्ध हो जाता है।

बाल कृष्ण के व्याह की बात—तुलसीदास तथा भालण ने इसका भी उल्लेख किया है। तुलसी की यशोदा सास ससुर और दुलहिन का नाम लेकर कृष्ण को माखन चोरी से रोकती हैं।[८३]

गोदोहन सीखना—भागवत में गोकुलवासी कृष्ण को गोदोहन में प्रवृत्त नहीं दिखाया गया है; किन्तु सूरसागर म उनके द्वारा गोदोहन-कार्य सीखने का वर्णन प्राप्त होता है।[८४] नरसी ने गोदोहन का जो वर्णन किया है उसमें कृष्ण सीखने की इच्छा व्यक्त नहीं करते वरन् एक गोपी उन्हें इस कार्य में पटु समझ कर आमंत्रित करती है।[८५] नरसी के अतिरिक्त गुजराती के अन्य किसी कवि ने इस प्रकार का वर्णन नहीं किया है ।

अलौकिक वृन्दावन-लीलाएँ

वृन्दावन-गमन—गोकुल से वृन्दावन गमन करने का निश्चय सूर के अनुसार यशोदा और नंद, नंददास, भालण तथा केशवदास के अनुसार उपनंद, प्रेमानंद के अनुसार नंद, उपनंद तथा वृषभानु की सम्मति से हुआ।[८६] इन सबमें भालण, नंददास और केशवदास के वर्णन भागवत के अधिक निकट हैं क्योंकि उसमें उपनंद का इसी प्रकार उल्लेख है ।

तत्रोपनन्द नामाह गोपोज्ञान वयोधिकः

—१०:११:२०

इस घटना का अन्य पुराणों में कुछ भिन्न प्रकार से वर्णन है किन्तु सभी कवियों ने भागवत का ही आधार लिया है। हरिवंश में भेड़ियों का आक्रमण भी गोकुल छोड़ने का कारण बनता है।[८७] किन्तु किसी भाषा के कवि ने ऐसा नहीं लिखा। हरिवंश में वृन्दावन-गमन के समय कृष्ण की आयु सात वर्ष की है पर सूर ने पाँच वर्ष और प्रेमानंद ने चार वर्ष की मानी है।[८८] सूर का वर्णन संक्षिप्त तथा प्रेमानंद का विस्तृत है ।

प्रेमानंद के विस्तृत वर्णन में वस्तु की दृष्टि से कई बातें विशेष रूप से दर्शनीय हैं।

प्रेमानंद ने वृन्दावनस्थ इस नवीन निवास-स्थल में भी गोकुल नाम का उल्लेख किया है ।

बहूल निवास श्री गोकुळ गाम; घणी गाय माटे गोकुळ नाम।

—श्रीम० भा०, पृ० २६०

यही नहीं संध्या समय कृष्ण के गोकुल फिर जाने और वृन्दावन में आए हुए वत्सासुर के नाशोपरान्त उन्होंने गोकुल में आनंदोत्सव होने का स्पष्ट संकेत किया है ।

आणंद गोकुळ मां घणो, वच्छ-वध पराक्रम कह्यु रे।

—श्रीम० भा०, पृ० २६१

इसके अतिरिक्त प्रेमानंद ने वृन्दावन में आ जाने के बाद भी गोकुल की बाल-लीलाओं, माखन-चोरी आदि का वर्णन किया है।[८९] ऐसा मिश्रण कदाचित् प्रेमानंद ने ब्रह्मवैवर्त के '**बकप्रलम्बकेशिवधपूर्वकवृन्दावनगमननामषोडशोध्याय:**' के अनुसार किया हो। नरसी ने भी बकासुर, अघासुर तथा केशी आदि का गोकुल ही में उल्लेख किया है।[९०]

वत्सासुर तथा बकासुर—इनके सम्बन्ध में दोनों भाषाओं के कवियों में प्राय: बहुतों ने भागवत का अनुसरण किया है केवल प्रेमानंद ने परिवर्धित करके नवीनता प्रदान की है। सूर के वत्सासुर-वध में भी एक नवीनता है वह यह है कि एक बार बलराम और दुबारा कृष्ण द्वारा उसे मृत्यु प्राप्त हुई।[९१] प्रेमानन्द ने वत्स और बक दोनों असुरों को गोकुल के अन्य असुरों की तरह कंस से सम्बद्ध कर दिया है तथा वपु-वृद्धि द्वारा उनके वध के पश्चात् विमान के आने का वर्णन किया है। भागवत में इन बातों का किंचित् संकेत नहीं है। प्रेमानंद ने बक को बकी अर्थात् पूतना का भाई बताया है। भालण तथा नंददास ने भी वैसा ही उल्लेख किया है। नंददास ने तो बक का कंस से स्पष्ट सम्बन्ध बताया है।[९२] जिसका आधार कदाचित् भागवत का '**बकं कंस सखं**' है। इस स्थल पर बकी-बक का यह सम्बन्ध न भागवत में दिया है न ब्रह्मवैवर्त में। दूसरी ओर कृष्ण के अग्निवत् होने के कारण बक के मुख से निकलने का वर्णन दोनों पुराणों में है पर प्रेमानंद ने नहीं किया।

अघासुर-वध—इस प्रसंग में आकर भागवत में भी बकी-बक के साथ अघासुर के भ्रातृ सम्बन्ध तथा कंस प्रेरित होने की बात स्वीकार की गई है।[९३] संभवत: इसी उल्लेख के कारण कवियों ने बकासुर को पूतना का भाई लिखा है। सूरदास ने अघासुर के वध का दो बार वर्णन किया है फिर भी उक्त दोनों बातों में से किसी का उल्लेख नहीं किया, नंददास में अवश्य यह बातें पाई जाती है।[९४] भालण ने अघासुर को कंस से सम्बद्ध न करके केवल पूतना से ही सम्बन्धित माना है। प्रेमानंद की स्थिति भालण के विपरीत है। उन्होंने अघासुर को कंस द्वारा प्रेरित लिखा है पर पूतना के भाई होने की ओर संकेत नहीं किया। अघासुर के लिए भी स्वर्ग से विमान आया यह बात लिखना प्रेमानंद नहीं भूले।

अघासुर स्वर्ग गयो बेसी दिव्य विमान रे।

—श्रीम० भा०, पृ० २६३

विधि मोह—इस कथा का भी आधार भागवत ही है। सूर ने इसका वर्णन चार पाँच बार किया है।[९५] परन्तु किसी भी स्थान पर भागवत की तरह बलराम की

जिज्ञासा की बात **'सर्वं पृथक्त्वं निगमात्कथं वदेत्युक्तेन वृत्तं प्रभुणाबलोऽवैत्'** (१०:१३:२९) का उल्लेख नहीं मिलता। फिर सूर ने भागवत के 'अन्यत्रे' को स्पष्टतया ब्रह्मलोक में बदल दिया।

'हरि लै बालक वत्स ब्रह्मलोकहिं पहुँचाये'

—सू० सा०, पृ० १९३

इसके अतिरिक्त एक स्थल पर क्षण में ब्रह्मा का भूतल और क्षण में ब्रह्मलोक आना जाना भी लिखा है।[९६] यह एक नवीनता है। सारी कथा को संक्षेप में कहते हुए भालण ने भी सूर की तरह ब्रह्मा के बार बार आने जाने का उल्लेख किया है।[९७] नंददास और केशवदास ने भागवत का प्रायः अनुवाद ही किया है। प्रेमानंद के विधि-मोह वर्णन में भी अनेक नवीनताएँ हैं ब्रह्मा को परीक्षा लेने की प्रेरणा अघासुर-वध में प्रदर्शित कृष्ण की अलौकिक शक्ति को देखकर ही नहीं हुई वरन् उसके चर्म पर बैठ कर ग्वालों का जूठा खाते देख ब्रह्मा को उनके ईश्वरत्व पर सन्देह हुआ जिसके कारण उन्होंने गोवत्सहरण किया।[९८] सूर की तरह प्रेमानंद ने भी 'अन्यत्रे' के स्थान पर स्पष्टतया ब्रह्मलोक का उल्लेख किया है।

वच्छ मूक्यां ब्रह्मलोकमां वळी ब्रह्माजी आव्या फरी।

—श्रीम० भा०, पृ० २६४

ब्रह्मा द्वारा मीन-रूप धारण—नरसी मेहता ने विधि-मोह का वर्णन न करके एक नवीन कथा दी है जिसका वर्णन कदाचित् अन्य किसी कवि ने नहीं किया। इस कथा में ब्रह्मा कृष्ण को ग्वाल बालों के समेत कलेऊ करते देखकर महाप्रसाद पाने की इच्छा से मीन रूप धारण करके यमुना में प्रविष्ट हो जाते हैं, कृष्ण इसे जान कर यमुना में हाथ न धोकर कमली से ही हाथ पोंछ डालते हैं। एक अन्य स्थल पर यही कथा पाठ भेद से पुनः वर्णित मिलती है।[९९]

धेनुकासुर-वध—इस प्रसंग में पुराणों में महत्त्वपूर्ण मतभेद है। हरिवंश और भागवत के अनुसार तालवनवासी गर्दभों का स्वामी धेनुकासुर बलराम पर प्रहार करता है और वे ही उसका संहार करते हैं किन्तु ब्रह्मवैवर्त में एक तो यह कथा कालीय-दमन और गोवर्धन-धारण आदि के पश्चात् दी गई है दूसरे उसमें धेनुक को दुर्वासा-शापित बालिपुत्र साहसिक बतलाते हुए उसके वध का श्रेय कृष्ण को दिया गया है।[१००]

दोनों भाषाओं के उन सब कवियों में जिन्होंने इस प्रसंग का वर्णन किया है केवल भालण और प्रेमानंद ने ब्रह्मवैवर्त का अनुसरणकरके कृष्ण द्वारा धेनुक का वध कराया है। भागवत के १५वें अध्याय की इस कथा को भालण ने १९वें अध्याय में प्रलम्ब-वध और दावाग्निपान के पश्चात् दिया है। भालण ने भी धेनुक के वध का श्रेय कृष्ण को दिया है और ब्रह्मवैवर्त के अनुसार ही गोकुल का उल्लेख किया है अन्यथा भागवत के अनुसार घटनास्थल तो वृन्दावन ही है।[१०१] प्रेमानंद का यह अनुसरण आंशिक है क्योंकि न तो उन्होंने दुर्वासा-शाप का उल्लेख किया है और न क्रम में ही उन्होंने भागवत की भाँति इसको कालीय-दमन के पूर्व रक्खा है। गुजराती के केशवदास और ब्रजभाषा के सूर तथा नंददास ने भागवतानुसार धेनुकासुर का वध बलराम से ही कराया है।[१०२]

कालीय-दमन—यह कथा भागवत के अतिरिक्त ब्रह्म, विष्णु, पद्म, हरिवंश और ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी प्राप्त होती है परन्तु सूरदास ने जिस रूप में इसे प्रस्तुत किया है वह इनमें से किसी पुराण में नहीं मिलता। सूरदास ने इस प्रसंग को कंस से सम्बद्ध कर दिया है। नारद कंस के पास जाकर उसके सामने कालीदह के कमल नंद के द्वारा मँगवाने का प्रस्ताव रखते हैं फलत: कंस एक दूत के हाथ तत्काल राजाज्ञा पत्र द्वारा नंद के पास भेज देता है। पत्र पाकर नंद और यशोदा भयभीत एवं दुखी हो जाते हैं। तब अंतर्यामी कृष्ण उनके पास जाकर कारण पूछते हैं और जानने पर कंस के पास कमल भेजने का आश्वासन देते हैं। कालीदह से फूल लाने तथा गोप कन्याओं को देने का उल्लेख भास ने अपने बालचरित के चतुर्थ अंक में किया है परन्तु कंस से उसका कोई संबन्ध नहीं है। इस भूमिका के पहले सूर कृष्ण को यमुनादह में गिरने का स्वप्न देखते हुए चित्रित करते हैं।[१०३] यमुनादह में कूदने का दूसरा कारण भी सूर ने दिया है। कृष्ण सखाओं के साथ यमुना तट पर कंदुक-क्रीड़ा करने जाते हैं। खेलते खेलते उनके द्वारा श्रीदामा की गेंद यमुनादह में गिर जाती है। श्रीदामा उसे पाने का हठ करता है और तब कृष्ण अपना वास्तविक उद्देश्य बताकर एक तट-वर्ती कदम्ब से कूद कर जल में प्रविष्ट हो जाते हैं।[१०४] भागवत में इस कथा-वस्तु का उल्लेख नहीं है।

गुजराती कवि प्रेमानंद ने कमल लाने की बात का संकेत किया है और कंदुक-क्रीड़ा का वर्णन भी जो सूर जैसा ही है। यहाँ अन्तर एक तो यह है कि श्रीदामा का उल्लेख नहीं है दूसरे यमुना से गेंद निकालने की शर्त भी कृष्ण ने ही लगाई है।[१०५]

दह में प्रविष्ट होते ही कृष्ण और नागपत्नियों में वार्तालाप होता है जिसे ब्रज-भाषा में सूर ने प्रस्तुत किया है और गजराती में नरसी तथा प्रेमानंद ने। भागवत

में नागपत्नियाँ नाग नाथे जाने के बाद उसकी मुक्ति के लिए प्रार्थना करती दिखाई गई हैं, उसके पहले नहीं। नरसी ने नाग-दमन का पूर्णत: भिन्न कारण दिया है। कृष्ण मथुरा में द्यूत-क्रीड़ा में नाग का शीश हार आए हैं उसी को प्राप्त करने के लिए वह यमुनादह में प्रवेश करते हैं।[१०६]

सूरदास के अनुसार कृष्ण ने सोते हुए नाग की पूँछ पर पैर रख कर उसे बलात् जगा दिया किन्तु प्रेमानंद ने कृष्ण की मुरली के नाद से उसके जग जाने का वर्णन किया है।[१०७] भागवत में नाग कृष्ण के कूदने से प्रताड़ित जल के शब्द को सुनकर आ जाता है सोने की बात वहाँ है ही नहीं। इसके अतिरिक्त शेष वर्णन प्राय: सभी कवियों ने भागवत के ही अनुसार दिया है। सूर ने अपनी नवीन कथा का उपसंहार भी अंत में दिया है। कृष्ण नाग नाथने के बाद कमलों का समूह उस पर लाद कर तट तक लाते हैं। बाद में सब कमल सहस्र गाड़ियों में भरकर पत्र सहित गोपों के द्वारा कंस के पास भिजवा दिये गए। कंस प्रसन्न हो कर नंद को 'शिरोपाव' देता है और कृष्ण बलराम को कलेवा भी भेजता है।[१०८] प्रेमानंद ने नाग-लीला को गोकुल में ही घटित मानां है। इसके अतिरिक्त उन्होंने १६वें अध्याय के वर्णन में कदम्ब विषयक परीक्षित की जिज्ञासा का शुकदेव द्वारा जो समाधान कराया है वह भी भागवत के दशम स्कंध के १६वें अध्याय में नहीं है। ऐसा वर्णन भालण ने भी किया है जो उनके दशम स्कंध के उन्नीसवें अध्याय में मिलता है।

प्रेमानंद—'कदमनो वृक्ष केम रह्यो ते वदो व्यास कुमार'॥ श्रीम० भा०, पृ० २७३
भालण—'वृक्ष कदंब जे सूक्यो नहि ते कहो मुजने खरुं'॥ द० स्कं०, पृ० ६५

प्रेमानंद का कालीय-दमन प्रसंग कंस से किसी प्रकार भी सम्बद्ध नहीं है और कदंब इस दृष्टि से वे सूर की अपेक्षा भागवत के अधिक समीप हैं।

प्रलम्बासुर-वध—भागवत में यह असुर एक गोप के वेश में आता है और उसका संहार बलराम करते हैं, विष्णु, ब्रह्म, हरिवंश, आदि पुराणों में भी यही रूप है, परन्तु ब्रह्मवैवर्त में प्रलम्ब एक साँड़ है जिसका वध कृष्ण करते हैं।[१०९] भास भी संकर्षण से ही प्रलम्ब का वध कराते हैं।

सूरदास ने इस कथा के दोनों रूपों को संयुक्त कर दिया और कृष्ण द्वारा गोप रूप प्रलम्बासुर का वध उसी प्रकार कराया जिस प्रकार ब्रह्मवैवर्त में है। उसमें कृष्ण वृष रूप असुर के दोनों सींग पकड़ कर मार डालते हैं, इसमें दोनों हाथ वह कृष्ण को तृणावर्त की भाँति आकाश में उड़ा ले जाता है।[११०] सूर और प्रेमानंद नेउसे कंस से सम्बद्ध कर दिया है। प्रेमानंद के अनुसार प्रलम्ब को मार कर कृष्ण-बलराम सगोप

गोकुल लौट आते हैं।[१११] नंददास, भालण तथा केशवदास इन सभी ने भागवत का ही आधार लेकर इस कथा को लिखा है। फलतः कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं मिलता। नरसी ने दावानलपान के अनंतर एक 'वंवासुर' का उल्लेख किया है। सम्भवतः उनका तात्पर्य प्रलम्बासुर से ही है यदि ऐसा है तो नरसी ने उसे गोपरूप में न प्रस्तुत कर के वृषरूप में ही प्रस्तुत किया है।[११२]

गुजराती कवि कीकुवसही ने प्रलम्बासुर के आगमन के पहले कृष्ण बलराम की मंडली द्वारा राजा प्रजा तथा हाट का नाटकीय वर्णन किया है। गोप बालकों में से कोई सुनार बनता है कोई बजाज।[११३]

दावानल-पान—भागवत में दावानलपान का दो बार वर्णन है तथा ब्रह्मवैवर्त में एक बार। किन्तु दोनों में अंतर यह है कि भागवत के कृष्ण दावानल का पान कर जाते हैं और ब्रह्मवैवर्त में उसका शमन करते हैं।[११४] इन दोनों पुराणों में दावाग्नि के उद्‌भूत होने का कोई कारण नहीं दिया गया किन्तु सूर ने इसे भी अन्य असुरों की तरह कंस से सम्बद्ध कर दिया। नंददास ने दावानल को अभिचार-जन्य माना पर पान करने के विषय में निश्चित कुछ नहीं कहा। एक जगह तो कृष्ण की एक शक्ति उनकी आज्ञा से उसका पान करती है और दूसरी जगह स्वयं कृष्ण उसका पान करते हैं।[११५]

गुजराती के किसी कवि ने ऐसा वर्णन नहीं किया। भालण तथा केशवदास ने भागवत का अनुसरण मात्र किया है। सूर ने इस कथा का वर्णन केवल एक बार प्रलम्ब-कथा के पूर्व किया है परन्तु अन्य सभी कवियों ने भागवत की भाँति दो बार वर्णन किया है। दावानल-पान करने से पहले कृष्ण का गोपों को आँख मींचने का आदेश देना भागवत में दूसरे प्रसंग में है किन्तु सूर तथा प्रेमानंद ने कदाचित् उसी के प्रभाव से पहले प्रसंग में भी उसका समावेश किया है। नरसी ने भी ऐसा वर्णन एक स्थल पर किया है परन्तु उन्होंने आँख खुलने पर गोपों का मुंजबन से भाँडीरक बन पहुँच जाने का उल्लेख किया है।[११६]

प्रेमानंद ने १९वें अध्याय में जो वर्णन किया है उसमें दो नवीनताएँ उल्लेखनीय हैं। प्रथम, गोपों द्वारा दावानल से त्रस्त गायों की रक्षा की प्रार्थना किये जाने पर कृष्ण का वेणुनाद से उन्हें आकर्षित करना, वे सब की सब उनके दर्शनार्थ आग की ओर ही दौड़ती हैं परन्तु उनका एक रोम भी मलिन नहीं होता। द्वितीय यह कि दावाग्नि उनका पीछा करता हुआ कृष्ण के पास आता है और कृष्ण उसे वहीं अंजलि में लेकर पी जाते हैं। घटना के अन्त में प्रेमानंद सबके गोकुल लौट आने का उल्लेख करते है, बीच में वृन्दावन नाम आने से यह सिद्ध होता है कि उसका घटनास्थल वृन्दावन ही है गोकुल नहीं।[११७]

'बृन्दाबन पावक परजळ्यो'

—श्रीम० भा०, पृ० २७४

गोवर्धन-धारण—यह प्रसंग भागवत (अ०२४, २५, २६, २७) के अतिरिक्त ब्रह्म, विष्णु, पद्म, हरिवंश तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी प्राप्त होता है किन्तु सूर और प्रेमानंद को छोड़कर नंददास, भालण, केशवदास आदि दोनों भाषाओं के कवियों ने प्रायः भागवत का अनुवाद मात्र कर दिया है। दशम स्कंध से पृथक् नंददास ने इस विषय पर स्वतन्त्र रचना 'गोवर्धनलीला' भी रची। सूरसागर में गोवर्धन-धारण का प्रसंग तीन बार वर्णित है और वह भागवत से निम्न अंशों में भिन्न है।[११८]

१. भागवत में इस कथा का प्रारम्भ नंद और कृष्ण के विचार-विनियम से होता है किन्तु सूर इसका प्रारम्भ यशोदा और नंद के संवाद से करते हैं। नंद इन्द्रपूजा को विस्मृत कर देते हैं जिसका स्मरण यशोदा दिलाती हैं तथा साथ ही अपनी सखियों को भी सूचित करती हैं।

२. नंद, उपनंद और वृषभान को बुलवाते हैं। भागवत में 'वृद्धाश्नन्दपुरोगमान्' के द्वारा अन्य गोपों की उपस्थिति का संकेत मात्र है।

३. सूर के कृष्ण नंद के आगे इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन की पूजा का प्रस्ताव अत्यन्त संक्षेप में रख देते हैं, भागवत की तरह वे उसकी श्रेष्ठता के प्रतिपादन में कर्म-विधान की दार्शनिक व्याख्या नहीं करते। इस विषय में कृष्ण को एक स्वप्न होता है। गोवर्धन-पूजा के लिए जाने वालों में सूर राधा का भी उल्लेख करते हैं।

४. भागवत में कृष्ण स्वयं द्वितीय रूप धारण करके अपने को पर्वत कहते हुए भोग स्वीकार करते हैं किन्तु सूर के अनुसार पर्वत ही सहस्र भुजशाली रूप धारण करके भोग लगाता है और उसका यह रूप बिल्कुल कृष्ण के समान है।

५. इन्द्र ने जलवृष्टि के लिए भागवत में केवल 'सांवर्तक' गण को आज्ञा दी है जबकि सूर ने 'मेघवर्तक' आदि अनेक नाम दिये हैं।

६. भागवत के अनुसार गर्व-भंजन के अनन्तर इन्द्र केवल सुरभि को लेकर एकान्त में कृष्ण के आगे प्रणत होते हैं किन्तु सूर ने उनके साथ समस्त देवताओं के आने का वर्णन किया है।

इसी प्रकार प्रेमानंद के वर्णन को निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं।[११९]

१. कथारम्भ के समय संवाद के प्रसंग में यशोदा और नंद के स्थान पर वृषभानु और उपनंद का उल्लेख मिलता है।

२. कृष्ण ने गोवर्धन-पूजा के पक्ष में जो तर्क दिये हैं उनमें कर्म-विधान का आधार नहीं लिया गया है ।

३. प्रेमानंद के अनुसार कृष्ण ही पर्वत में से हाथ लम्बा करके पूजा स्वीकार करते हैं ।

४. इन्द्र को उसकी उपेक्षा की सूचना नारद द्वारा मिलती है तब इन्द्र बारह मेघों को आज्ञा देते हैं जिनके नाम नहीं दिये गए हैं ।

५. प्रसंग के अंत में परीक्षित प्रश्न करते हैं कि सात दिन जो मूसलाधार वृष्टि इन्द्र ने की उसका सारा जल कहाँ गया और शुकदेव जी उत्तर देते हैं कि वह उनकी क्रोधाग्नि से प्रतप्त गोवर्धन में लीन हो गया । एक बूंद भी बाहर नहीं गई। भागवत में ऐसे प्रश्न का कोई संकेत नहीं मिलता ।

समानताएँ—१. गोपों ने अपने लकुट लगाकर गोवर्धन उठाए रखने में कृष्ण की सहायता की थी। इसका वर्णन सूर और प्रेमानंद दोनों ने किया है पर प्रेमानंद में विशेष प्रकार का विस्तार तथा मौलिकता है। उनके अनुसार यशोदा ने मथानी लगा दी जो छोटे बालक नहीं पहुँच पाते उन्होंने उलूखल और वृषभ का सहारा लिया। जिसके मन में गर्व आया कृष्ण ने उसकी ओर पर्वत को झुका दिया आदि ।[१२०]

२. कनिष्ठिका उँगली पर पर्वत-धारण की बात ब्रह्मवैवर्त में और हाथ पर उठाने की बात भागवत में है । सूर तथा नंददास ने भागवत और प्रेमानंद, भालणादि ने ब्रह्मवैवर्त का अनुकरण किया है तथा किसी किसी ने एक पग से सात दिन खड़े रहने का भी उल्लेख किया है ।[१२१]

इस समय प्रेमानंद ने कृष्ण को चतुर्भुज रूप में प्रस्तुत किया है, नंददास ने दोनों हाथों से वेणु बजाने का वर्णन किया है । नरसी मेहता के एक पद से, जिसमें गोवर्धन-धारण का भी उल्लेख है, ज्ञात होता है कि उनकी कल्पना में कृष्ण का चतुर्भुज रूप था किन्तु उसमें चारों हाथों की जो क्रियाएँ वर्णित हैं वे गोवर्धन धारण की स्थिति की द्योतक नहीं है ।[१२२]

वरुणगृह से नंद का उद्धार तथा गोपों द्वारा वैकुंठ दर्शन—यह घटना केवल भागवत में वर्णित है। एकादशी व्रत के पश्चात् नंद यमुना स्नान के लिए जाते हैं वहाँ जल में प्रविष्ट होते ही वरुण का एक असुर उन्हें पकड़ कर वरुण लोक ले जाता है । कृष्ण उन्हें बचाने के लिए जाते हैं। वरुण उन्हें भगवान समझ कर पूजा स्तुति करते हैं फिर वे नंद को साथ लेकर वापस लौट आते हैं । नंददास ने इन्द्र की तरह वरुण

के गर्व को भी चूर करने की बात कही है, सूर ने एक भृत्य के स्थान पर वरुण के अनेक दूतों द्वारा वरुणपाश से बद्ध करके नंद को वरुण लोक ले जाने की बात लिखी है। ऐसे ही कुछ अन्य सामान्य अन्तर हैं।[१२३]

गुजराती कवियों में प्रेमानंद में इसी प्रकार के कतिपय अन्तर मिलते हैं किन्तु इस कथा के विशेष महत्त्वपूर्ण न होने के कारण वे भी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इस प्रसंग का एकमात्र उद्देश्य कृष्ण को परमेश्वर सिद्ध करना है।

वैकुंठ-दर्शन—भागवत के निम्नलिखित श्लोक में इसका साधारण सा उल्लेख है—

इति संचिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः।
दर्शयामास लोकंस्वं गोपानां तमसः परम ॥
—१०:२८:१४

सूर ने इसका उल्लेख नहीं किया पर प्रेमानंद ने इसे अधिक विस्तार दिया है। प्रेमानंद के अनुसार कृष्ण गोकुल को ही वैकुंठ में परिणत कर देते हैं। नंददास ने ऐसा चमत्कार प्रदर्शित नहीं किया केवल यही लिखा—

वैकुंठ मधि सुक्ख हैं जिते। सब वृन्दावन ठांठां तिते।
—नंद०, पृ० ३२०

सर्प, शंखचूड़, अरिष्ट, केशी और व्योम वध—भागवत में रास के अनन्तर वर्णित इन प्रसंगों में से अरिष्ट तथा केशी की कथा अन्य अनेक पुराणों में प्राप्त होती है। ब्रह्मवैवर्त में केशी-वध रास से बहुत पूर्व प्रलम्बासुर-वध के ठीक बाद में मिलता है। अरिष्टासुर का नाम इस पुराण में नहीं है किन्तु प्रलम्बासुर का रूप भागवत के अरिष्टासुर के ही समान है। भागवतकार ने पूतना और केशी को ही कंस से सम्बद्ध माना है।[१२४]

सूरदास ने भी केशी के प्रसंग को इन पाँचों की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया है। ब्रजभाषा में सूरसागर में ही इसका वर्णन है। इसके अतिरिक्त सूर ने सर्प रूपी विद्याधर, शंखचूड़, अरिष्ट, केशी तथा व्योमासुर के वध के प्रसंगों को भी वर्णित किया है। सूर ने अरिष्टासुर नाम न दे कर वृषभासुर नाम दिया है तथा केशी को व्योमासुर की तरह गोप रूप दे दिया है और व्योमासुर को भौमासुर कहा है।[१२५]

गुजराती कवियों में नरसी ने इन घटनाओं का कृष्ण के जीवन में उल्लेख भी नहीं किया है। भालण, केशवदास प्रेमानंद तथा अन्य सभी दशमस्कंधकारों ने कथा-क्रम में यथास्थान इन प्रसंगों का वर्णन किया है। इनमें प्रेमानंद ने स्वभावानुसार

भागवत का अनुवाद मात्र न करके प्राय: सभी प्रसंगों को कुछ न कुछ परिवर्धित अथवा नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। अरिष्टासुर के स्थान पर उन्होंने भी वृषभासुर का प्रयोग किया है साथ ही उसे कंस से सम्बद्ध भी कर दिया है। यह वृषभासुर वृन्दावन न जाकर गोकुल जाता है। प्रेमानंद ने केशी को सूर की भाँति गोप रूप नहीं दिया। व्योमासुर को भी कंस की आज्ञा से आया हुआ लिखा है और संक्षेप में उसके वध का भी वर्णन किया है।[१२६]

लौकिक वृन्दावन लीलाएँ

गोचारण—गोचारण का वर्णन प्राय: प्रत्येक अलौकिक लीला के प्रारंभ में मिलता है क्योंकि कृष्ण इसी निमित्त प्रात: घोष से बाहर जाते थे और संध्या समय लौटते थे। सूर ने इसका वर्णन अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक विस्तार से किया है। उन्होंने गोप बालकों की विविध क्रीड़ाओं, गायों के भटक जाने, उन्हें खोजने, बंशी बजाकर या वृक्ष पर चढ़ कर उन्हें बुलाने आदि अनेक बातों का समावेश किया है।[१२७]

भालण और प्रेमानंद आदि गुजराती कवियों ने कृष्ण के गाय बछड़े चराने का वर्णन किया है। प्रेमानंद ने इस प्रसंग में सूर की भाँति गायों के नाम भी दिये हैं। उनके कृष्ण बछड़े अन्य गोपों को चराने के लिये दे देते हैं और स्वयं गायें चराते हैं। सूर ने कृष्ण के साथ जिन बालकों का वर्णन किया है वे सयाने हैं पर प्रेमानंद के अनुसार समान।[१२८]

कात्यायनि-व्रत और चीरहरण—इसका वर्णन भागवत द० स्कं० के अध्याय २२ और ब्रह्मवैवर्त, कृष्णजन्मखण्ड के अध्याय २७ में प्राप्त होता है। दोनों भाषाओं के कवियों ने भागवत का ही अनुसरण किया है केवल दो एक स्थलों पर ब्रह्मवैवर्त का प्रभाव दिखता है। जैसे सूरसागर के एक पद में राधा-कृष्ण के वार्तालाप और कदंब का उल्लेख। किन्तु यही पद कुछ पाठभेद से दूसरे रूप में भालण के दशम स्कंध में भी प्राप्त होता है। अत: इस विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसमें भी वृषभानुदुलारी राधा का उल्लेख नहीं है केवल 'कदम' का है।[१२९] राधा का उल्लेख इस प्रसंग में अन्य किसी गुजराती कवि ने नहीं किया।

भागवत में चीरहरण करके कृष्ण वस्त्रों को 'नीप' पर तथा ब्रह्मवैवर्त में 'कदंब' पर रखते हैं। सूरदास ने चीरहरण लीला के दोनों वर्णनों नें 'कदंब' और 'नीप' दोनों का उल्लेख किया है।[१३०] अन्य कवियों में भालण, प्रेमानंद आदि ने कदंब का ही

वर्णन किया है।[१११] नीप और कदंब संस्कृत साहित्य में पर्याय रूप में तो व्यवहृत होते ही हैं किन्तु उनका भिन्न अर्थ भी होता है, जैसा कि भागवत के 'कदम्बनीपाः' (१०: ३०: ९) से प्रकट है।

सूर तथा प्रेमानंद ने भागवत की कथा के अतिरिक्त कुछ अंश और उद्भावित किये हैं—

सूर द्वारा प्रस्तुत अन्तर

१. कात्यायिनि के स्थान पर शिव की पूजा।
२. कृष्ण का जल के अन्दर प्रकट होकर गोपियों की पीठ मलना।
३. गोपियों का यशोदा के पास उलाहना ले जाना।
४. कृष्ण का सोलह सहस्र गोप कन्याओं के वस्त्र तथा भूषण चुराना।

प्रेमानन्द द्वारा प्रस्तुत अन्तर

१. प्रारम्भ में कृष्ण के अभाव में तुलसी, पीपल, गाय आदि की पूजा का उल्लेख है, मध्य में कात्यायिनि की।
२. कृष्ण वस्त्र वृक्ष पर रख कर खखारते हैं जिससे गोपियों को वहाँ किसी पुरुष के होने का आभास होता है।
३. गोपियाँ वस्त्र पाने के बाद कृष्ण को नग्न करने की बात सोचती हैं जिसे जानकर कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं।

गुजराती के फांग नामक एक कवि ने इसी चीरहरण के अवसर पर गोपियों के नृत्य तथा कृष्ण के साथ रमण का भी वर्णन किया है।[११२] इन अन्तरों के अतिरिक्त घटना के मूल उद्देश्य, पति रूप में कृष्ण की प्राप्ति, अन्त में कृष्ण द्वारा रास के समय मनोकामनापूर्ति आदि का वर्णन सभी कवियों ने भागवत के ही अनुरूप किया है।

ब्राह्मण पत्नियों पर अनुग्रह—भागवत दशमस्कंध के २२वें अध्याय में दिया हुआ यह प्रसंग कवियों द्वारा प्रायः अनुवादात्मक रूप में वर्णित हुआ है। केवल एक ब्राह्मण पत्नी विशेष की कथा ने, जिसमें उसने कृष्ण के पास न पहुँचने पर प्राण त्याग दिये हैं, सूर तथा प्रेमानंद को अधिक आकर्षित किया। सूर ने उसके सम्बन्ध में अनेक पद लिखे हैं और उसे गोपी के रूप मे प्रस्तुत किया है।[११३] प्रेमानंद ने उसके रोके जाने का सम्पूर्ण वर्णन करके मृत्यु के अनन्तर चतुर्भुज रूप में परिणत हो जाने का उल्लेख भी किया है।[११४]

राधा प्रधान कृष्ण लीलाएँ

राधा-जन्म—ब्रह्मवैवर्त में राधा के पिता वृषभानु, माता कलावती, पति रायाण तथा जन्मस्थान गोकुल का स्पष्ट निर्देश है।[११५] पद्मपुराण में राधा के जन्म की तिथि '**भाद्रे मासे सितेपक्षे अष्टमी संज्ञके तिथौ**' बताई गई है। उज्ज्वलनीलमणि के एक श्लोक से राधा की माता कीर्ति सिद्ध होती है।[११६] कृष्णकाव्य में ब्रह्मवैवर्त के वृषभानु को पिता रूप में सर्वत्र लिया गया है परन्तु माता के रूप में कीर्ति को ही माना गया है। राधा का जन्मस्थान भी बरसाने में स्थित 'रावल' ग्राम माना गया है। ब्रजभाषा में राधा-जन्म की बधाई के पद सूर, नन्ददास, माधवदास, हरिराम व्यास आदि द्वारा लिखे गये हैं और उन्हीं में ये बातें प्राप्त होती हैं।[११७]

हरिराम व्यास ने श्रीदामा को राधा का भाई कहा है यद्यपि ब्रह्मवैवर्त में वह कृष्ण का किंकर कहा गया है।[११८] सूर ने राधा-जन्म सम्बन्धी पद नहीं रचे। गुजराती कवियों में किसी ने राधा-जन्म को काव्य का विषय नहीं बनाया और न वृषभानु के पितृत्व को छोड़कर अन्य किसी सम्बन्ध का ही उल्लेख किया है।

राधा कृष्ण का प्रथम मिलन—सूरदास ने इसका पर्याप्त विस्तार से चित्रण किया है और जिस रूप में यह प्रसंग सूरसागर में है, प्राचीन कृष्ण-काव्य में कहीं भी उस रूप में उपलब्ध नहीं होता। सूर के कृष्ण बालकों के साथ भौंरा-चकडोरी खेलते ब्रज खोरी में निकलते हैं वहाँ सप्त वर्षीया सुन्दरी राधा से उनकी भेंट होती है। कृष्ण उसे अपने घर आमंत्रित करते हैं। बिछुड़ते समय वस्त्र बदल लेते हैं। घर पर जब राधा की माँ पूछती है कि देर से क्यों आई तो वह कहती है कि मेरे साथ की एक लड़की को साँप ने डस लिया था कृष्ण ने मंत्र से उसे ठीक कर दिया इससे देर हुई। राधा नंदमहर के घर आती है यशोदा उसकी चोटी गूँथकर, कृष्ण की 'जोटी' समझकर, गोद भर देती हैं। वह अपने घर लौट जाती है और वृषभानु तथा उनकी स्त्री दोनों अत्यन्त प्रसन्न होते हैं।[११९]

नंददास ने भी 'श्यामसगाई' के प्रारम्भिक पदों में राधा के प्रति यशोदा के आकर्षित होने का वर्णन किया है। इस प्रकार का वर्णन अन्य किसी कवि ने नहीं किया। उज्ज्वलनीलमणि के 'राधाप्रकरणम्' में बालिका राधा के प्रति यशोदा के आकर्षण का वर्णन भी है। भालण में एक स्थल पर यशोदा द्वारा राधा के वधू बनाने की बात लिखी है।

राधा सरखी रूपे रूडी वहुअर वहेली लाऊं जी।

—द० स्कं०, पृ० ५०

सूर न इस प्रसंग में ब्रह्मवैवर्त में दी हुई उस घटना का भी उल्लेख कर दिया है जिसके आधार पर गीतगोविन्द के प्रथम श्लोक 'मेघैर्मेदुर . . . ' का निर्माण हुआ, मेघाच्छन्न आकाश देखकर नंद राधिका के साथ कृष्ण को घर भेज देते हैं । मार्ग में दोनों किशोर रूप में रमण करते हैं। ब्रह्मवैवर्त में यहीं पर विवाह का भी वर्णन है । परन्तु सूर ने उसे रास के प्रसंग में स्थान दिया है ।[१४०]

यमुना तट पर राधा कृष्ण के मिलन का उल्लेख नरसी ने भी किया है । एक स्थान पर उन्होंने उनको ब्रज का राजा रानी कहा है । एक अन्य स्थान पर एक सखी राधा कृष्ण के परिणय की बात यशोदा से कहती है । राधा कृष्ण का मिलन नरसी ने दूसरी प्रकार से भी दिखाया है । एक और स्थल पर अन्य-परिणीता राधा कृष्ण को बुलाने आती है ।[१४१]

ध्रुवदास ने अपनी ब्रजलीला नामक कृति में प्रथम मिलन का वर्णन बाल्यावस्था में न करके पूर्ण किशोरावस्था में किया है। एक सखी कृष्ण को राधा के अद्भुत रूप की सूचना देती है और एक सरोवर के निकट संकेत स्थल निश्चित करती है । कृष्ण प्रति दिन उसी स्थल की ओर जाते हैं। एक दिन जब वह एक कुंज में बैठे थे कि राधा वहाँ खेलने आई । कृष्ण राधा का रूप देखकर मूच्छित हो गये और राधा भी विकल हो गई । इसके पश्चात् ललिता दोनों की विह्वलता देखकर पुन: मिलाने का उपक्रम करती है ।[१४२]

कृष्ण का स्त्री-रूप धारण करना—सूरदास, नंददास, ध्रुवदास, व्यास आदि ब्रजभाषा के कई कवियों ने राधा से मिलने के लिए कृष्ण के स्त्री रूप धारण करने का वर्णन किया है । ध्रुवदास की ब्रजलीला में इस युक्ति के बताने का श्रेय ललिता को है । बरसाने में जब लोग स्त्री-वेष धारी कृष्ण का परिचय पूछते हैं तो ललिता उन्हें उपनंद की पुत्री बता देती है ।[१४३] सूर ने मानलीला के प्रसंग में कृष्ण के दूती का रूप धारण करने की बात लिखी है।[१४४] नंददास ने दूती-वेष के स्थान पर सखी-वेष धारण करने का वर्णन किया है ।[१४५] व्यास ने भी इसका संकेत किया है । नरसी के एक पद में राधा के द्वारा कृष्ण का वेष धारण करने का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त दो एक पद ऐसे भी हैं जिनमें कृष्ण स्त्री रूप धारण करते हैं किन्तु इस कार्य का निमित्त नरसी ने पूर्णतया स्पष्ट नहीं किया ।[१४६]

राधा-व्यंतर तथा कृष्ण का गारुड़ी बनना—ब्रह्मवैवर्त में एक स्थल पर विरहिणी राधा के मूच्छित होने तथा कृष्णदर्शन से मूर्च्छा दूर हो जाने का वर्णन है । इस प्रसंग

में न सर्प की बात है और न कृष्ण के गारुड़ी बनने की।[१४७] परन्तु ब्रजभाषा तथा गुजराती दोनों भाषाओं के काव्य में कृष्ण के गारुड़ी बनने की कथा मिलती है।

नंददास ने तो इस प्रसंग को लेकर 'श्यामसगाई' नामक एक स्वतंत्र कृति का निर्माण किया। यशोदा वृषभानु के यहाँ राधा कृष्ण की सगाई का संदेश भिजवाती हैं जो कीर्ति द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है। कृष्ण यह जान कर राधा से ही विवाह करने का निश्चय करते हैं और बरसाने के बाग में जा बैठते हैं। राधा सखियों समेत वहाँ आती है और कृष्ण के रूप को देखकर मूर्च्छित हो जाती है। सखी राधा की कृष्ण के प्रति अनुरक्ति जानकर उससे कहती है कि तू घर जाकर कह दे कि मुझे नाग ने काट खाया और तब हम कृष्ण को गारुड़ी बना कर ले आवेंगी। तब राधा को सखियाँ उठाकर घर ले जाती हैं और एक सखी कृष्ण के गारुड़ी होने की बात कहती है। दूसरी सखी यशोदा के पास जाकर कृष्ण को उपचारार्थ बुला लाती है और वे 'दरस फूँक' दे कर राधा को विष-मुक्त करते हैं। इसके अनन्तर कृष्ण को सगाई स्वीकार कर ली जाती है।[१४८]

सूरदास ने भी इसका वर्णन किया है परन्तु कथा को गोदोहन से सम्बद्ध कर दिया है।[१४९] गुजराती कवियों में केशवदास ने इसका वर्णन तो किया है पर इसका सम्बन्ध न सगाई से दिखाया है और न गोदोहन से। अन्य-परिणीता राधा कृष्ण के साथ शय्यासीन थी और उसकी मूर्च्छा का कारण कृष्ण-रूप दर्शन न होकर व्यंतर था जो राधा को रीछ के समान लगा। केशवदास ने सर्प से डसे जाने की कल्पना नहीं की।[१५०]

वैदक लीला—इस वैदक लीला का मूल गीतगोविन्द का एक पद ज्ञात होता है।[१५१] ध्रुवदास ने कृष्ण को वैद्य बनाकर राधा से उनका संयोग कराया है। यह वर्णन उनकी 'वैदक लीला' में न होकर 'सुखमंजरी' में है।

कृष्ण के इस रूप का वर्णन कदाचित् किसी भी गुजराती कवि ने नहीं किया।

गोदोहन—राधा नंद के घर खरिक में दोहिनी लेकर गाय दुहाने आती है, इस प्रकार उसे कृष्ण से मिलने का अवसर मिल जाता है। सूर ने इस प्रसंग को पर्याप्त विस्तार दिया है।[१५२] गुजराती कृष्ण-काव्य में इस भूमिका में गोदोहन का वर्णन नहीं है।

हार खोने के बहाने राधा का कृष्ण से मिलना—संभवतः इस प्रसंग की उद्भावना सूर ने स्वयं की है क्योंकि इसका कोई पौराणिक आधार नहीं मिलता। ब्रज

और गुजराती के अन्य कवियों ने भी ऐसा कोई वर्णन नहीं किया ।

चतुर राधा अपनी 'मोतिसरी' की माला आँचल से बाँध लेती है और अपनी माँ से यह कह कर कि माला खो गई है, कृष्ण से मिलने जाती है । कृष्ण स्वयं सखाओं को जीमता हुआ छोड़ कर राधा के आगमन की प्रतीक्षा करते हैं और राधा नंद-महर के पिछवाड़े उन्हें बुला कर मिलती है । कृष्ण यशोदा से यह कहकर कि जंगल में एक गाय ब्याई है भाग आते हैं और कुंज में दोनों रमण करते हैं ।[१५३]

राधा के मोतियों में कंकड़ी मिलाना—इसका वर्णन हितहरिवंश ने किया है । सूर सागर में इस सम्बन्ध का जो पद प्राप्त होता है वह पद वस्तुतः हितचौरासी का है ।[१५४] गुजराती में यह प्रसंग अनुपलब्ध है ।

कृष्ण का राधा की आँखें मींचना—राधा मुकुट देख रही है, कृष्ण पीछे से आकर उसकी आँखें मूँद लेते हैं । जब चन्द्रावली आती है तो राधा उसके पूछने पर सारी घटना बताती हैं । इसका भी वर्णन सूर ने ही किया है ।[१५५]

पनघट की लीलाएँ—भागवत में कात्यायिनि-व्रत और रास के प्रसंग में गोपियों का यमुना तट पर जाना वर्णित है किन्तु उसमें पनघट की लीलाओं का कोई संकेत नहीं है और न अन्य किसी पुराण में ही है । इन लीलाओं का वर्णन दोनों भाषाओं के कवियों में सूरदास, हरिराम व्यास, मीरां तथा नरसी आदि ने कुछ तो लोक परंपरा से प्रेरित होकर और कुछ स्वतन्त्र उद्भावना से किया है ।

सूरदास—सूर के कृष्ण पनघट पर निम्न क्रीड़ाएँ करते हैं ।

१. यमुना तट पर मुरली बजाकर तथा अपनी मोहनी मूर्ति दिखाकर गोपियों को मुग्ध बनाते हैं ।

२. पनघट को रोक लेते हैं और कोई गोपी जल नहीं भर पाती ।

३. एक बार कृष्ण सखाओं सहित छिपे थे इतने में राधा आई और ज्योंही जलभर कर ले चली कृष्ण ने पीछे से उसकी गागर का जल लुढ़का दिया । उसने 'कनक लकुट' छीन लिया और बोली कि जब तक मेरी गागर नहीं भर देते लकुट न दूँगी । पर कुछ समय बाद विह्वलता के कारण उसके हाथ से लकुट छूट गिरता है । कृष्ण भी उसकी गागर भर कर उठवा देते हैं ।

४. ऐसे ही एक बार राधा सखियों सहित जल भरने आती हैं । कृष्ण उसकी छाँह में अपनी छाँह छुवाते हैं । इस प्रकार अनेक छल करके उसको काम विवश कर देते

हैं फिर गागर में 'कंकरी' मारते हैं जो राधा के शरीर में लगती है। वे कभी लट कभी वक्ष का स्पर्श करते हैं।

५. यमुना तट पर गेंड़ुरी फटकार देते हैं, गागरें फोड़ देते हैं। यशोदा के पास गोपियाँ उलाहना लेकर जाती हैं जिस पर अन्त को उन्हें अविश्वास हो जाता है।

ब्रजभाषा के अन्य कवियों ने इतने विस्तार से इन लीलाओं का वर्णन नहीं किया। इस विषय में हरिराम व्यास ने कई पद लिखे हैं। किसी में गोपी कृष्ण से सिर पर गागर रख देने की प्रार्थना करती है और पीतपट की ईंडुरी बनाने को कहती है तथा किसी में कृष्ण उसके साथ रमण भी करते हैं किन्तु इन पदों में राधा के स्थान पर सामान्यतः नागरि या पनिहारी का उल्लेख है।[१५६]

मीरां के इस प्रसंग के पद दोनों भाषाओं में हैं। नरसी ने कहीं सरोवर से कहीं यमुना से जल भरने का उल्लेख किया है। मटकी में कंकरी मारने का भी वर्णन है तथा कृष्ण के आलिंगन आदि करने का भी।[१५७]

संभोग वर्णन—राधाकृष्ण के संभोग वर्णन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। गाथा सप्तशती (१३४ वि०), गौडवहो (७७५ वि०), ध्वन्यालोक (९१० वि०) से राधा कृष्ण की शारीरिक समीपता का प्रमाण मिलता है। ब्रह्मवैवर्त में (१२वीं शती वि०) अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ राधा कृष्ण के रति-युद्ध का स्पष्ट वर्णन है। जयदेव ने तो राधाकृष्ण के संभोग की विपरीतादिक दशाओं का विस्तृत वर्णन किया है।[१५८]

गुजराती तथा ब्रज दोनों भाषाओं के कवियों ने राधा कृष्ण के संभोग तथा तज्जन्य परिस्थितियों का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया है। कुछ कवियों ने रास-लीला, दानलीला आदि के अन्तर्गत भी इसका समावेश किया है। ब्रज के समस्त कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों के काव्य में रति-युद्ध का वर्णन मिलता है। प्रायः सभी कवियों ने स्फुट पदों में तथा श्रृंगार के विभिन्न प्रसंगों के बीच रतिवर्णन किया है किन्तु ध्रुवदास की 'रतिमंजरी' तथा माधवदास की 'केलिमाधुरी' का विषय ही यह है। गुजराती में भी प्रासंगिक वर्णनों के अतिरिक्त सुरत-युद्ध को आधार मान कर कई रचनाएँ हुईं। मयण कवि का 'मयणछंद' नरसी की दोनों चातुरियाँ (षोडशी, छत्तीसी) इसी विषय को लेकर लिखी गयी हैं।

'रतिमंजरी' और 'मयणछन्द' में संभोग का वर्णन प्रस्तुत रूप में है किन्तु चातुरियों में संवादात्मक है। राधा अपनी प्रिय सखी से रति-रमण की सारी कथा कहती

है। नरसी की 'शृंगारमाला' में सुरत-संग्राम का कई पदों में वर्णन है और उनके 'सुरत संग्राम' में रूपक का आधार भी यही है।

चौपड़ और शतरंज खेलना—रूपक के रूप में व्रजभाषा के कई कवियों ने राधाकृष्ण को कहीं चौपड़ और कहीं शतरंज खेलते हुए चित्रित किया है।[१५९] पर गुजराती में ऐसा वर्णन नहीं है।

जल-क्रीड़ा वर्णन—व्रजभाषा के कतिमय कवियों ने रास-वर्णन के अंतर्गत आई हुई जल-क्रीड़ा से भिन्न जल-केलि का वर्णन किया है। राधा कृष्ण कहीं नौका-विहार करते हैं कहीं जल-विहार।[१६०] गुजराती कवियों ने ऐसा वर्णन नहीं किया।

इसके अतिरिक्त वेणी-गूँथना, महावर-देना आदि क्रीड़ाएँ ऐसी हैं जिनका वर्णन राधा कृष्ण के प्रेम-प्रसंग में कवियों ने किया है।

वसंत-क्रीड़ा

रास के प्रसंग में वासंती-रास की परम्परा का जो इतिहास आगे दिया गया है उससे यह सिद्ध होता है कि वसंत ऋतु में राधा-कृष्ण की विलास-लीला के वर्णन की परम्परा पर्याप्त प्राचीन है। रास के साथ ही होलिकोत्सव का भी इसमें समावेश हो जाने तथा वसंत ऋतु के स्वयं विशेष उद्दीपक होने के कारण दोनों भाषाओं के कवियों ने वसंत-क्रीड़ाओं का विस्तार से वर्णन किया है। कुछ कवियों ने क्रीड़ाओं के वर्णन के साथ वसंत-वर्णन को स्वतंत्र महत्व भी दिया है।

गुजराती में इस प्रकार की रचनाओं में मुख्यतया नरसी के 'वसंतनां पद' वासणदास का 'कृष्ण वृंदावन रास' तथा कतिपय अन्य काव्यों के स्फुट अंश आते हैं। व्रजभाषा में सूर के वसंत तथा होरी सम्बन्धी अनेक पद, ध्रुवदास की 'ब्यालीस लीला' की कई लीलाएँ, गदाधर भट्ट, माधवदास आदि अनेक कवियों द्वारा रचित स्फुट पद एवं प्रसंग इस सम्बन्ध में गणनीय हैं।

वसंत-क्रीड़ा की मुख्य वस्तु निम्नलिखित है:

१. वसंत के प्रभाव से मानिनी गोपियों का मान-मोचन।
२. होली, फाग-क्रीड़ा अबीर गुलाल आदि डालना, पिचकरी मारना।
३. नृत्य गीत होली-धमार चंग, ढफ, मृदंग झांझ आदि का वादन।
४. कृष्ण के साथ गोपाल-मंडली तथा राधा के साथ गोपी-सूमह की प्रतिद्वंद्विता।

इन रचनाओं में वस्तु आदि सभी दृष्टियों से नरसी तथा सूर के पद सर्वप्रधान हैं अन्य कवियों द्वारा वर्णित वस्तु प्रायः इन्हीं कवियों की वस्तु के अंतर्गत आ जाती है। सूरदास ने कतिपय ऐसे भी प्रसंग वर्णित किए हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं।

१. क्रीड़ा में बलराम की उपस्थिति।

आए बलराम श्याम आईं तजि काम बाम।

—सू० सा०, पृ० ५५७

२. शीला नामक गोपी विशेष से कृष्ण का उलझना।

शीला नाम ग्वालिनी अचानक गहे कन्हाई।

—सू० सा०, पृ० ५५६

३. बाँसों की मार।

उत जेरी धरे ग्वाल बांसन इत परी मार।

—सू० सा०, पृ० ५५८

वारुणी-दान राधाकृष्ण का गठबन्धन, नंद को गाली, गर्दभारोहण, तिथि-क्रम से होली-वर्णन आदि ऐसे ही प्रसंग हैं जिनकी उद्भावना सूरदास ने अपनी प्रतिभा से की है।[१६१]

नरसी मेहता ने भी होली के प्रसंग में हलधर का उल्लेख किया है। शीला के स्थान पर ललिता तथा चन्द्रभागा का विशेष रूप से वर्णन है। नरसी ने हलधर कदाचित् कृष्ण के पर्याय रूप से व्यवहृत किया है।

१. ललिता ललीत मुख बचन बोले उठे अबील गुलाल रे।

२. मुख अंबर लइ हलधर हसीया, गोपी गोवाला साथे रे।

भणे नरसैंयो चन्द्रभागा अे हलधर साह्या हाथे रे।

—न० कृ० का०, पृ० २३२

नरसी ने यहाँ भी अपने को दर्शक के ही रूप में उपस्थित किया है।

गोविन्द गोपी होली रमे त्यां जोये नरसैंयो दास।

—न० कृ० का०, पृ० २३७

नरसी ने बाँस की मार की जगह आपस की मार का चित्रण किया है:

उलट्या हलधर गोप संगाथे पड़े परस्पर मार रे।

—न० कृ० का०, पृ० २४१

वसंत पंचमी के उत्सव का वर्णन सूर तथा नरसी दोनों ने किया है।[१६२] नरसी

के एक पद में राधा-कृष्ण-विवाह वर्णित मिलता है जिसका साम्य सूर के विस्तृत विवाह-वर्णन से हो सकता है।

वसंत विवाह आदर्यो हो, परणे छे नंद जी को लाल।

——न० कृ० का०, पृ० २५३

वर्षा-हिंडोला—इस ऋतु में भी विलास-लीला तथा हिंडोला झूलने का दोनों भाषाओं में वर्णन मिलता है। ब्रजभाषा में इस विषय में कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है। गौड़ीय और वल्लभीय सम्प्रदाय के अनेक कवियों के पदों में सूर के 'हिंडोल लीला' के पद अधिक महत्वपूर्ण हैं। गुजराती में नरसी के 'हिंडोलनां पद' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वर्षा-विहार के अंतर्गत निम्न मूल-वस्तु पाई जाती है।

१. वर्षा ऋतु का वर्णन
२. वर्षा सम्बन्धी अन्य प्रसंग
३. हिंड़ोले का वर्णन
४. हिंडोले पर राधाकृष्ण के झूलने-झुलाने का वर्णन

इन प्रसंगों पर उक्त दोनों कवियों की उद्भावित विशेषताओं का उल्लेख पृथक् पृथक् किया गया है।

वर्षा ऋतु वर्णन—स्वतन्त्र रूप से वर्षा-वर्णन पर कोई काव्य नहीं लिखा गया। सूरदास तथा नरसी ने केवल वर्षा पर कोई सम्पूर्ण पद तक नहीं रचा, कुछ पंक्तियों तथा अंशों में ही वर्षा की शोभा का चित्रण है।[११३]

वर्षा सम्बन्धी अन्य प्रसंग—समस्त कृष्ण चरित में वर्षा सम्बन्धी अन्य प्रसंग कृष्ण-जन्म तथा गोवर्धन-धारण हैं, जिनका वर्णन हो चुका है। सूर ने वर्षा में राधा कृष्ण मिलन का भी वर्णन किया है।

गगन गरजि घहराइ जुरी घटा कारी।
....
दोउ घर जाहु संग, नभ भयो श्याम रंग कुंवर गह्यो वृषभानवारी।
गए वन घन ओर नवलनंदनंद किशोर नवल राधा नए कुंज भारी।

यह प्रसंग ब्रह्मवैवर्त के आधार पर वर्णित गीतगोविंद के पहले श्लोक 'मेघै-र्मेदुरमंबरं...' में है।

मेघावृतं नभो दृष्ट्वा श्यामलं काननान्तरं ।

—ब्र० वै० कृ० खं०, अ० १५

वर्षाकाल में राधाकृष्ण के कुंज-विहार तथा विप्रलंभ शृंगार का वर्णन ब्रजभाषा के अनेक कवियों द्वारा किया गया है ।

हिंडोला वर्णन—सूर तथा नरसी दोनों ने कृष्ण के हिंडोले को मणिरत्नजटित एवं स्वर्णविनिर्मित लिखा है दोनों ने ही उसे विश्वकर्मा की रचना माना है।[१६४]

सखियों के साथ झूलना-झुलाना—सूर ने इस क्रीड़ा में गोपियों के साथ गोपालों और बलराम का भी उल्लेख किया है नरसी में ऐसा नहीं है। सूर ने यमुनातट के अतिरिक्त रंगमहल में भी हिंडोला झूलने का वर्णन किया है और बलराम वहाँ भी हैं।[१६५]

सखियों में सूर ने ललिता, विशाखा तथा नरसी ने चन्द्रावली का विशेष उल्लेख किया है।[१६६] नरसी ने कृष्ण को हिंडोला खींचते हुए दिखाया है, सूर ने नहीं ।

आ जोने आ जोने हरि हींडोले हीचतो रे।

—न० कृ० का०, पृ० ४४३

वृन्दावन-वर्णन

हरिवंश, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त आदि जिन पुराणों में कृष्णचरित उपलब्ध होता है उनमें वृन्दावन का भी वर्णन है। दोनों भाषाओं के अनेक कवियों ने वत्सासुर-वध से रास तक की समस्त लीलाओं के अंतर्गत वृन्दावन का भी वर्णन किया है । किन्तु ब्रज के राधावल्लभीय और गौड़ीय सम्प्रदाय में वृन्दावन की मान्यता विशेष होने के कारण इस प्रसंग पर स्वतंत्र रचनाएँ भी उपलब्ध हो जाती हैं, जैसे ध्रुवदास का 'वृन्दावन सत' और माधुरीदास की 'वृन्दावन माधुरी'। गुजराती में प्रासंगिक वर्णन के अतिरिक्त कोई स्वतंत्र काव्य नहीं है । केवल १६वीं शती के वासणदास के 'कृष्णवृन्दावनरास' में वृन्दावन वर्णन-नाम मात्र को प्राप्त होता है ।

वृन्दावन की महत्ता को नरसी, सूर तथा नंददास ने स्वीकार किया है। नरसी ने वृन्दावन को वैकुंठ से भी श्रेष्ठ तथा शोभावान् कहा है। वृंदावन के द्वादश वनों में नरसी ने 'महावन' और वासणदास ने 'परसोली' का उल्लेख किया है। सूर ने द्वादश वनों का संकेत मात्र किया है । नंददास ने वृन्दावन को 'चिद्घन' की उपाधि दी है ।[१६७]

राधावल्लभीय सम्प्रदाय में वृन्दावन-वर्णन का एक निश्चित रूप था जिसका अनुकरण उस सम्प्रदाय के सभी कवियों ने किया, ध्रुवदास उसमें प्रमुख हैं। हित हरिवंश ने इसका सूत्रपात इस प्रकार किया।

प्रथम जथामति प्रणऊं श्री वृन्दावन अतिरम्य।।५७।।

—हितचौरासी

इस परम्परा को व्यास तथा ध्रुवदास ने पूर्णतया स्वीकार किया। ध्रुवदास ने ब्यालीस लीलाओं में बहुत सी लीलाओं का प्रारंभ वृन्दावन-वर्णन से ही किया है। 'वृन्दावनसत' में पूर्णरूप से वृन्दावन की महिमा का गान है जिसके अनुसार कोटि वैकुंठों से भी श्रेष्ठ वृन्दावन की पृथ्वी मणिखचित स्वर्ण की है, सब लता कल्प-वृक्ष हैं तथा सब पुष्प पारिजात।[१६८] ध्रुवदास ने 'मंडलसभा सिंगार' में वृन्दावन में अगणित मंडलाकार कुंज वनों का उल्लेख किया है जैसे, कमल कुंज, शृंगार कुंज, रंग कुंज, विनोद कुंज, आदि। 'रसमुक्तावली' में स्नान कुंज, सिंगार कुंज और भोजन कुंज का भी वर्णन मिलता है। माधवदास की 'वृन्दावनमाधुरी' के वृन्दावन वर्णन में निम्न बातें महत्वपूर्ण हैं।[१६९]

१. सात रंग के कुंज। नरसी ने भी विभिन्न रंगों का वर्णन किया है। (न० कृ० का०, पृ० ६०५)

२. सबसे बड़ा माधुरी-कुंज है जिसमें ६४ द्वार हैं, प्रत्येक द्वार पर एक सहचरी रहती है, जिनमें आठ मुख्य हैं।

३. वृन्दावन वृंदा नामक सखी की प्रेरणा से इतना सौन्दर्यशाली होता है।

बारहमासा और षड्ऋतु-वर्णन—षड्ऋतु-वर्णन की परम्परा कालिदास के ऋतुसंहार तक जाती है किन्तु बारहमासा संभवतः साहित्य को लोक-काव्य से प्राप्त हुआ। षड्ऋतुओं का क्रमानुसार वर्णन प्रायः संयोग शृंगार के उद्दीपन विभाव के अंतर्गत किया जाता रहा। बाद में उसका प्रयोग वियोग शृंगार में भी होने लगा। परन्तु बारहमासा में विरह भावना की अभिव्यक्ति होती रही इस प्रकार वह अधिकतर वियोग शृंगार के ही अंतर्गत आता है।

गुजराती और ब्रजभाषा दोनों के कृष्ण-काव्य में इन दोनों परम्पराओं का परिपालन मिलता है। षड्ऋतु-वर्णन ब्रजभाषा में नन्ददास की 'रूपमंजरी' तथा ध्रुव-दास की 'रसहीरावली' और सेनापति के 'कवित्तरत्नाकर' के अंतर्गत और गुजराती में केशवदास की मथुरालीला में प्राप्त होता है। बारह महीनों का वर्णन ब्रजभाषा

में नंददास की विरहमंजरी में तथा गुजराती में १७वीं शती के प्रेमानंद की 'मास', और रत्नेश्वर की 'बारमास' नामक रचनाओं में मिलता है। मास 'बारहमासा' का ही गुजराती रूप है। नरसी मेहता कृत काव्यसंग्रह में भी एक पद के अन्तर्गत द्वादश मास का वर्णन है।

'बार मास पूर्ण थया गाय नरसैंयों दास'

—पृ० ५२५

सूरदास ने वर्षा, वसंत आदि विभिन्न ऋतुओं का पृथक् पृथक् वर्णन किया है किन्तु क्रमवद्ध रूप में षड्ऋतु वर्णन नहीं मिलता। बारहमासा का भी वर्णन सूरसागर में नहीं है।

गुजराती कवि केशवदास ने जो षड्ऋतु वर्णन किया है वह प्रासंगिक रूप में ही है, प्रधान रूप में नहीं, क्योंकि गोपियाँ उद्धव को उत्तर देते समय कृष्ण की क्रीड़ाओं का ऋतु क्रम से वर्णन करती है।[१००] यह वर्णन संयोग श्रृंगार का उद्दीपक न होकर वियोग श्रृंगार के अन्तर्गत आता है। नंददास का षड्ऋतु वर्णन भी वियोग पक्ष का ही प्रकाश करता है। रूपमंजरी नामक कुमारी अपना हृदय कृष्ण को दे देती है और उनकी प्रतीक्षा में दिन बिताती है। नंददास ने इसी स्थान पर षड्ऋतुओं के प्रभाव का वर्णन किया है।[१०१] केशवदास की गोपियाँ मिलन सुख से परिचित हैं किन्तु नंददास की रूपमंजरी अपरिचित। केशवदास ने शरद से और नंददास ने वर्षा से वर्णन प्रारंभ किया है। इतना अन्तर होते हुए भी दोनों कवियों का षड्ऋतु-वर्णन अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि वह संयोग श्रृंगार की परम्परा से भिन्न है।

सेनापति का षड्ऋतु-वर्णन प्रायः विप्रलम्भ का ही उदाहरण है परन्तु ध्रुवदास ने स्पष्ट रूप से उसे संयोग श्रृंगार की पृष्ठभूमि में चित्रित किया है।[१०२] यह वर्णन वसंत ऋतु से प्रारंभ होता है जिसका कारण संभवतः संयोगावस्था ही प्रतीत होती है क्योंकि साहित्य में संयोग श्रृंगार के उद्दीपन रूप में वसंत ऋतु का विशेष स्थान है। ध्रुवदास ने सुख के आधार पर उपसंहार में छहों ऋतुओं का वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है।

वरिषा ग्रीषम नैन सुख, सरद वसंत विलास।
लपटन को सुख हिम सिसिर, प्रेम सुखद सब मास॥१६०॥

बारहमासा का वर्णन गुजराती कृष्ण-काव्य में अधिक मिलता है। नरसी, प्रेमानंद तथा रत्नेश्वर की पूर्वोक्त रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। इसका कारण यह है कि

गुजरात में बारहमास वर्णन की परम्परा बहुत प्राचीन है। जैन काव्यों में इसके उदाहरण मिलते हैं जैसे १३वीं शती की रचना 'नेमिनाथ चतुष्पदी'। १६वीं शती की गणपति कृत 'माधवानल कामकंदला' नामक प्रसिद्ध रचना में भी 'बारहमासा' प्राप्त होता है। व्रजभाषा में नंददास इस परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

द्वादश मास वर्णन में इन सभी कवियों ने स्वतंत्र क्रम का अनुसरण किया है केवल प्रेमानंद तथा नंददास ने चैत से फागुन तक का सीधा क्रम ग्रहण किया है। नरसी ने 'कार्तिक' से, और रत्नेश्वर ने 'मार्गशिर' से बारह महीनों की गणना की है।

गुजरात के सभी कवियों ने इस प्रसंग में राधा के विरह का वर्णन किया है और उसमें रत्नेश्वर ने स्पष्टतया कृष्ण के मथुरा जाने को कारणभूत माना है परन्तु नंददास ने राधा मात्र का विरह वर्णित न करके समस्त व्रजगोपियों के विरह का वर्णन किया है और उसका कारण कृष्ण का द्वारावती गमन माना है।[१७३]

संभवतः यही कारण है कि कुछ गुजराती कवियों ने 'बारहमास' के अन्त में कृष्ण के लौटने का भी संकेत कर दिया है जो नंददास ने नहीं किया है।[१७४]

नंददास ने सारा बारहमासा चन्द्रदूत को दिये गये संदेश के रूप में प्रस्तुत किया है।

दिष्टि परि गयौ चंदा गैन।
लागी ताहि संदेसो दैन।

—नंद०, पृ० ३०

प्रेमानंद ने अपने 'मास' के अन्तर्गत केवल कार्तिक मास में चन्द्र के दूतत्व का प्रसंग उठाया है

चांदलिया तू तांहां जजे वसे जांहां मारा नाथ।
बेहेलो वलजे विट्ठळ ने तेडी ताहारी रे साथ।

चन्द्रदूत का वर्णन नरसी ने भी किया है परन्तु वह 'बारमास' से भिन्न दूसरे पद में मिलता है (न० कृ० का०, पृ० ५०७)

प्रेमानंद ने इस मास वर्णन में राधा की स्वप्नावस्था का भी चित्रण किया है जो उक्त अन्य कवियों में नहीं मिलता।

आज सहेजे नयन मळ्यां सीणूं शम्यूं रे प्रभात ॥८३॥

. . . . . .

जागी ने जोवा लागी रे चुंबन देवानी आश ॥८६॥

—प्रेमानंद कृत 'मास'

दानलीला

गुजराती में १५वीं शती में भालण के 'दशमस्कन्ध' में तथा १६वीं शती में नरसी की 'दानलीला' एवं स्फुट पदों में, कीकुवसही के 'बालचरित' वासणदास के 'कृष्णवृन्दावनरास' और मीरां के कतिपय पदों में दान का प्रसंग आया है। ब्रज-भाषा में सूरसागर को दो दानलीलाएँ तथा मीरां, हरिदास आदि के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य अनेक कवियों के स्फुट पद प्राप्त होते हैं। १७वीं शती में ध्रुवदास की 'दानविनोदलीला', माधवदास की 'दानमाधुरी' तथा हरिराय जी की 'दान-लीला' ये तीन स्वतन्त्र रचनएँ मिलती हैं। स्फुट पद तो अनेक कवियों के हैं। गुज-राती में इस शती में केवल प्रेमानंद की 'दाणलीला' उपलब्ध है।

उक्त दानलीलाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस लीला का कोई निश्चित रूप कवियों के सामने नहीं था, जिसके फलस्वरूप कृष्ण द्वारा दान माँगने के अति-रिक्त अन्य सभी बातों के वर्णन में भेद अवश्य मिलता है। अतएव संक्षेप में यहाँ सबकी रचनाओं की वस्तु प्रस्तुत की जाती है।

नरसी की दाणलीला में प्रातःकाल यशोदा कृष्ण को जगा कर, जलपान के अनन्तर, गोचारण के लिए भेजती है। अनेक शृंगारों से युक्त कृष्ण बलभद्र के साथ खेलते, बन्दरों को पकड़ते तथा वहीं कलेऊ भी करते हैं। इतने में गाएँ इधर उधर हो जाती हैं और कृष्ण गोवर्धन पर चढ़ कर जब विभिन्न गायों के नाम ले ले कर पुकारते हैं तो सहसा उन्हें एक अनुपम स्त्री दिखाई देती है। वे दौड़कर उसके पास जाते हैं और संशय में पड़ जाते हैं कि वह रंभा है कि पद्मिनी। राधा अपना परिचय देती है। कृष्ण राधा से कनक कलश भर दही का दान माँगते हैं। राधा कृष्ण को दान का अनधिकारी सिद्ध करती है। फिर दो टका के गोरस के दान का महत्व ही कितना। कृष्ण हठ करते हैं राधा रूठ जाती हैं। वह स्वयं को मनाने के लिए वेणु वादन का प्रस्ताव रखती है। कृष्ण मुरली बजाते हैं और राधा प्रसन्न हो जाती है।

नरसी की 'चातुरी छत्तीसी' की सारी परिस्थिति इसी दानलीला से सम्बद्ध

है यद्यपि उसमें अन्त में दान का वर्णन न होकर संभोग श्रृंगार का पूर्ण वर्णन है ।

आज मे तमारी चातुरी जाणी जी ।
मारगे बेठा छो थइने दाणी जी ।

—न० कृ० का०, पृ० ११८

एक स्थान पर नरसी ने दान के प्रकरण को होली से सम्बद्ध कर दिया है ।[७५] गोपियाँ कई बार कृष्ण को कंस के पास ले जाने का भय दिखाती हैं ।

कंस कने तुं ने लइने जाशुं

—वही, पृ० ५८०

भालण ने राधा कृष्ण के वर्तालाप को किंचित् विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया है । उनकी परिणीता राधा 'सहियर साथ' मथुरा दधि बेचने जाती है । कृष्ण के मार्ग में रोकर दान माँगने पर राधा यशोदा जी से शिकायत करने का भय दिखाती हैं । एक गोपी राधा से उसके प्रति कृष्ण के विशेष आकर्षण की बात कहती है तब राधा आगे आकर विवाद कहती हैं और बीच में अपने पति की भोगविषयक असमर्थता तथा कृष्ण से भविष्य में परिणीत हो जाने की बात कहती है । अन्त में वह कृष्ण को अपने यहाँ याचक बन कर दान माँगने आने के लिए आमंत्रित करती है फिर दोनों में समझौता हो जाता है । कुछ पदों में भालण ने दान की करबद्ध याचना कराई है । कृष्ण राधा के चरण भी स्पर्श करते हैं ।

पाणिये पायुं ग्रह्यं ।

—द० स्कं०, पृ० १०३

प्रेमानंद की रचना में राधा को मथुरा के मार्ग में कृष्ण के 'दाणी' बन बैठने की बात पहले ही ज्ञात हो जाती है और वह ललिता, चन्द्रावली, राई, विशाखा आदि सात सखियों के साथ कृष्ण पर विजय प्राप्त करने की लालसा से चलती हैं । घाट पर कृष्ण को देखकर वे लोग दूसरी ओर मुड़ जाती हैं । कृष्ण सबको पकड़ लाने के लिए गोपों को भेजते हैं । 'गोप सुदामो' आकर बताता है कि आज तो यूथ में 'राधा राणी' भी हैं, वही कहना नहीं मानती । यह सुनते ही कृष्ण के नेत्र लाल हो जाते हैं 'राधा राणी' तो क्या वे इन्द्राणी को भी बिना दान दिये नहीं जाने देंगे । गोप लोग कृष्ण की आज्ञा से लकुटियों द्वारा 'छाश' 'दधी माखण' भरी मटकियाँ फोड़ना आरंभ कर देते हैं । राधा इस स्थिति में क्रोधान्वित किन्तु मिलनेच्छु होकर 'राई' को दूती बना कर कृष्ण के पास भेजती है । दोनों पक्षों में विवाद होता है ।

कंस का भय, यशोदा का भय, नंद की 'आण' अनधिकार चेष्टा सभी प्रकार के तर्क-वितर्क के बाद भी समझौता नहीं होता। कृष्ण के सखा 'पिंडारिया' राधा की टोली को घेर लेते हैं। राधा कृष्ण का अहंकार नष्ट करने का संकल्प करती है। संवाद होते होते दिन बीत जाता है। कृष्ण 'छः बरसनो छोकरो' बताए गए हैं। अंत में राधा हार मान लेती है और परिणीता होने के नाते 'सास नणद जेठ' आदि को 'बावण नागण जम' कहते हुए गृहस्थाश्रम की मर्यादा का उल्लेख करती हैं पर अंत में कृष्ण को पूर्ण समर्पण करती है। कृष्ण बंशी बजाते हैं, अनेक रूप धारण करते हैं और गोपियों के साथ रात भर रमण करते हैं। गोपियाँ सबेरे कृष्ण के चरण छू कर विदा माँगती हैं।

> दीधुं आलिंगन हेत व्यापियुं रे लोल।
> कुंज माहे रही रति सुख आपियुं रे लोल।
> जेटली हूती ब्रज सुन्दरी रे लोल।
> तेटला रूप धरिया श्री हरी रे लोल।

स्पष्ट है कि गुजराती के इन तीनों कवियों की दानलीलाएँ एक दूसरे से अनेक स्थलों पर भिन्न हैं।

ब्रजभाषा के कवियों में इस प्रसंग को सबसे अधिक विस्तार सूर ने दिया है। सूरसागर में उनकी दो दानलीलाएँ उपलब्ध हैं और पहली के अंतर्गत भी वस्तुतः दो दान लीलाओं का बर्णन है। इस प्रकार यह प्रसंग तीन बार वर्णित हुआ है (पृ० २९६-३४१)। पहली बार के बर्णन में राधा का कोई उल्लेख नहीं है।

कृष्ण के सारे सखा 'पेड़-पेड़ तरु के लगे ठाठि ठगन को ठाट' छिप गए, ब्रज युवतियों के आने पर 'माखन दधि लियो छीनि कै' और 'चोली बन्द' भी तोड़ डाले कृष्ण ने अपना ईश्वरत्व प्रकट किया और 'जोवन दान लेउँगो तुमसे' कहा। गोपियाँ यशोदा के पास जाकर उलाहना देती हैं। 'मेरो हरि कहँ दसहिं बरस को तुम यौवन मद उदमानी' कह कर वे गोपियों पर ही दोषारोपण करती हैं। सूर का प्रथम प्रसंग 'दानचरित सुख देखि के सूरदास बलि जाइ' के साथ समाप्त होता है। दानलीला का दूसरा प्रसंग कृष्ण, सुबल, सुदामा एवं श्रीदामा की राधा आदि को कालिंदी तट पर घेरने की योजना से प्रारंभ होता है। दूसरे दिन कृष्ण सखाओं के साथ पेड़ों में छिप रहने का निश्चय करते हैं। जब राधा सखियों समेत आती है तो उनको घेर लेते हैं। वार्तालाप होता है, कृष्ण अपने ब्रह्मत्व को प्रकट करते हैं। बहुत विवाद के बाद गोपियाँ आत्मसर्मण करती हैं और कृष्ण 'गुप्तहिं जोबन

दान' लेते हैं। जाने के पहले सब गोपियाँ अपना सारा दधि माखन उनको खिला देती हैं पर मटकी भरी ही रहती है। इस पर गण-गंधर्व कह उठते हैं:

'धन्य ब्रजललनानि करते ब्रह्म माखन खात'

तीसरे प्रसंग में इंदा, विंदा, राधिका, श्यामा, कामा आदि ब्रजनागरी शृंगार करके दधि बेचने जाती हैं और सखियों से यह कहला कर 'यहि बन में इक बार लूटि हम लई कन्हाई।' सूर इस प्रसंग को स्पष्टतया पूर्व प्रसंग से सम्बद्ध कर देते हैं। सारी घटनाएँ वैसी ही हैं। अंत में गोपियों ने 'तनु जोवन धन अर्पन कीन्हो मन दै मन हरि को सुख दीन्हो' और स्वतः दधि माखन खिलाया।

राधावल्लभी ध्रुवदास की 'दानविनोदलीला' में दानलीला की सारी घटना सखियों की इच्छा से घटित होती है। यमुना तट पर कृष्ण खड़े होते हैं राधा उधर से आती है। कृष्ण को दान के लिए जो कुछ कहना है, ललिता से कहते हैं। ललिता प्रवीण है। वह 'इहि ठां बिन कुंजेश्वरी नहि काहू की आन।' कह कर कृष्ण को राधा के चरण छूने का आदेश देती है। कृष्ण उसके पैरों पर शीश रख देते हैं और राधा रतिदान देकर कृष्ण को प्रसन्न कर देती हैं।

गौड़ीय कवि माधवदास की 'दानमाधुरी' में वर्णित दानलीला बहुत कुछ ध्रुवदास के ही समान है ललिता वहाँ भी मध्यस्थ है। राधा का प्रभुत्व वहाँ भी घोषित है। कृष्ण सखियों को सौरभ सुगंध लाने के लिए भेज कर एकान्त की व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार 'दान मिस दम्पति-सुख' का वर्णन किया गया है।

हरिराय जी की दानलीला में वर्णित वस्तु का साम्य नरसी की दानलीला से अधिक है। हरिराय जी ने कृष्ण के गोवर्धन पर चढ़ कर टेरने, कनक कलश छीनने तथा राधा को कुंज में ले जाकर मनाने का जो वर्णन किया है वह नरसी की दानलीला में भी मिलता है।

इस प्रकार दानलीलाओं को वस्तु की दृष्टि से तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है:

१. वे रचनाएँ जिनमें दान का प्रसंग केवल राधा-कृष्ण के बीच की घटना है। ब्रजभाषा के हरिराय तथा गुजराती के नरसी की रचनाएँ इसी वर्ग में हैं।

२. वे रचनाएँ जिनमें राधा-कृष्ण के अतिरिक्त अन्य गोप-गोपियों का भी समावेश है। इस वर्ग में भालण के दान विषयक पद, प्रेमानंद की 'दानलीला', नरसी

की 'चातुरी छत्तीसी' सूर की दूसरी और तीसरी दानलीला, माधवदास की 'दान माधुरी' तथा ध्रुवदास की 'दानविनोदलीला' आती हैं।

३. ऐसी रचनाएँ जिनमें राधा आदि गोपी विशेष का उल्लेख न करके समस्त गोपी समूह का वर्णन हो। सूर की पहली दानलीला तथा अन्य कवियों के कुछ स्फुट पद इसके अंतर्गत आते हैं।

नरसी, प्रेमानंद, सूर, माधवदास तथा ध्रुवदास ने दानलीला के अन्त में संभोग का वर्णन किया है। प्रेमानंद तथा सूर ने सभी गोपियों के साथ कृष्ण का रमण दिखाया है। पंक्ति में बिठा कर मंडली के साथ कृष्ण को दधि माखन खिलाने का सूर के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने वर्णन नहीं किया।

माधवदास तथा ध्रुवदास की रचनाओं में मध्यस्थ का काम 'ललिता' को दिया गया है परन्तु प्रेमानंद ने 'राही' को मध्यस्थ बनाया है।

ब्रजभाषा के कवियों ने दानलीला में राधा को स्वकीया किन्तु गुजराती के प्रेमानंद, भालण आदि ने परकीया का रूप दिया है।

मानलीला—यह प्रसंग १५वीं शती में मयण के 'मयणछंद', भालण के 'दशम स्कंध', १७वीं शती में नरसी की 'चातुरीषोडशी', सूरदास की तीन मानलीलाओं तथा कुछ स्फुट पदों में प्राप्त होता है। १७वीं शती में इस विषय पर गुजराती की एक भी रचना उपलब्ध नहीं है पर ब्रजभाषा में ध्रुवदास की 'मानलीला' तथा माधवदास की 'मानमाधुरी', यह दो रचनाएँ मिलती हैं।

इन काव्यों में मानलीला के कई रूप मिलते हैं। प्रथम और महत्वपूर्ण रूप वह है जिसमें राधा कृष्ण के शरीर अथवा कौस्तुभ मणि में पड़ते हुए अपने ही प्रतिबिम्ब को अन्य स्त्री समझ कर भ्रमवश मान करती है और अन्त में दूती, ललिता अथवा स्वयं कृष्ण द्वारा इस भ्रम का निवारण हो जाने पर मान त्याग देती है। मयण के अतिरिक्त दोनों भाषाओं के प्रायः सभी कवियों ने इसी वस्तु को किसी न किसी रूप में आधार बनाया है।

नरसी की चातुरीषोडशी में कृष्ण द्वारा आलिंगित होते समय राधा उनके हृदय में अन्य स्त्री की उपस्थिति जानकर मान करती है, कृष्ण ललिता से कहते हैं। वह उसे मनाने महावन जाती है और सहज ही सफल हो जाती है फिर राधा शृंगार करके कृष्ण से मिलने महावन जाती है। कृष्ण ललिता को कौस्तुभ मणि पुरस्कार में देते हैं तदनन्तर राधाकृष्ण महावन में रमण करते हैं। नरसी की शृंगारमाला

आदि में भी इस विषय के पद हैं। एक पद में मणि के हार में अपना प्रतिबिम्ब देखकर राधा के भ्रान्त होने का स्पष्ट उल्लेख है।[१७६]

भालण ने मान का कारण कौस्तुभ में राधा का प्रतिबिम्ब ही माना है।

कौस्तुभ मां निजरूप, देखी रीसावी प्यारी।
जाण्यु खोळामां बेठी छे मुज सरखी नारी।
—द० स्कं०, पृ० १०६

कृष्ण दूती के कथन से मणि उतार देते हैं और राधा अपना भ्रम समझ कर मान त्याग देती है।[१७७] भालण ने दूती का कोई नाम नहीं दिया और मान के उपरांत रमण का भी वर्णन नहीं किया।

सूरदास, ध्रुवदास, माधवदास तथा हरिवंश ने मणि का उल्लेख न करके मान का कारण राधा द्वारा कृष्ण के शरीर में स्वप्रतिबिम्ब दर्शन लिखा है।[१७८]

सूर के कृष्ण मानभंग के पश्चात् पीताम्बर ओढ़ लेते हैं जिससे पुनः भ्रम न हो।

यहि डर रहत पीतंबर ओढ़े कहा कहौं चतुराई।
अब जनि कहै हिये में को है बहुरि परी कठिनाई।
—सू० सा०, पृ० ५२३

दूती के रूप में ललिता का नाम सूर की दूसरी मानलीला के अन्त में मिलता है।[१७९] यह माधवदास की मानमाधुरी में भी प्राप्त होता है अन्यत्र कवियों ने प्रायः 'चतुरदूतिका' 'दूती' अथवा 'सखी' का ही प्रयोग किया है। माधवदास के कृष्ण भी मान दूर करने के बाद एक झीना वस्त्र ओढ़ लेते हैं।[१८०]

मानलीला का दूसरा रूप वह जिसमें मान का कारण कृष्ण का बहुनायकत्व है। ऐसी दशा में राधा खंडिता होकर मान करती है। स्फुट रूप से ब्रजभाषा के अनेक कवियों ने इस विषय के पद तथा छंद रचे हैं।

सूरसागर में प्रथम मानलीला के पश्चात् राधा के खंडिता स्वरूप का अनेक पदों में विस्तृत वर्णन है। कृष्ण के बहुनायकत्व के प्रसंग में उन्हें ललिता, चन्द्रावली, शीला, वृन्दा आदि सखियों से अनुरक्त चित्रित किया गया है।[१८१] बड़ी मान-लीला में राधा कृष्ण से मिलते ही बहुनायकत्व के पूर्वाभास के कारण रूठ जाती है। उसके इस मान का कारण उसका रूप-यौवन-गर्व भी है जिसकी ओर एक सखी संकेत करती है।

नहि तेरो अति ही हठि नीको।
सूर स्वरूप गर्व जोबन के जानति हौ अपने सिर टीको।

—सू० सा०, पृ० ५०८

गुजराती में मानलीला वर्णन करने वाले कवियों ने मान का यह कारण भी दिया है। मयण के कृष्ण भोगी भ्रमर हैं और अकारण अबला को छोड़कर चले जाते हैं। राधा एक सखी को भेजती है, वह कृष्ण को लाती है और दोनों रमण करते हैं। मयण की 'माणिणी' का मान कृष्ण के प्रयास से नहीं बसन्त के आगमन से स्वत: समाप्त हो जाता है—

सखी ए वसंत प्रियारडु माननि मान धमुक्कीउ।

—मयणछंद, पद २६

नरसी और भालण में भी कृष्ण के बहुनायकत्व के कारण खंडिता राधा के मान का वर्णन है।[१८२]

इस तुलनात्मक विवेचन के उपरांत भी सूर की मानलीलाओं में कुछ ऐसी विशेषताएँ शेष रह जाती हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है:—

१. बहुनायक कृष्ण की एक अनुरक्ता गोपी 'चन्द्रावली' का राधा के पास जाकर उससे सुरत-सुख की बात पूछना। नरसी ने यह काम ललिता से लिया है।[१८३]
२. पाँच वर्ष के बालक कृष्ण का सहसा तरुण होकर एकान्त अंत:पुर में राधा से रमण।[१८४]
३. कृष्ण का दूती रूप धारण करके स्वयं राधा का 'दृढ़ मान' छुड़ाना।[१८५]

रास-लीला

कृष्ण-साहित्य की समस्त वर्ण्य वस्तु में रास सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय रहा है। प्राचीन ग्रंथों में इसका वर्णन भास के बालचरित, तामिल शिलाप्पदिकरम् एवं आंडाल के तिरुपावै, ब्रह्म, विष्णु, हरिवंश, पद्म, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण और जयदेव के गीतगोविन्द में विशेष रूप से प्राप्त होता है। बालचरित तथा हरिवंश में रास की संज्ञा 'हल्लीषक' मिलती है।[१८६] तामिल साहित्य में इसे 'कुरवइ कुट्टु' कहा गया है।[१८७] शेष समस्त ग्रंथों में रास को रास के ही रूप में ग्रहण किया गया है। अर्थ की दृष्टि से सभी का तात्पर्य मंडलीरूप स्त्री-संयुक्त नृत्य विशेष से

है ।[१८८] यद्यपि भास कालीय नाग के फनों पर नर्तित कृष्ण के नृत्य को भी हल्लीषक ही कहते हैं जहाँ कथित परिभाषा घटित नहीं होती ।[१८९] पुराणों में रासवर्णन का प्राचीनतम रूप हरिवंश, ब्रह्मपुराण तथा विष्णुपुराण में प्राप्त होता है । भागवत तथा पद्मपुराण में अपेक्षाकृत वर्णन अधिक विस्तृत हो जाता है। पद्मपुराण में दंडकारण्यवासी ऋषियों की कथा समाविष्ट हो जाती है । ब्रह्मवैवर्त में रास का वर्णन उक्त पुराणों की तुलना में 'बहुत अंशों में' भिन्न रूप में उपलब्ध होता है । गीतगोविन्द तक आते-आते रास के निम्नलिखित कई प्रकार उपलब्ध होने लगते हैं।

१. गोपी-कृष्ण रास
२. राधा-कृष्ण-गोपी रास
३. राधा-कृष्ण रास

ऋतु की दृष्टि से रास के दो भेद किये जा सकते हैं—

१. शारदी रास
२. बासंती रास

रास के यह सभी भेदोपभेद गुजराती तथा ब्रजभाषा दोनों के कृष्ण-काव्य में प्राप्त हो जाते हैं। गुजराती में इनके अतिरिक्त स्थान भेद से वृन्दावन-रास की इस सारी परम्परा से भिन्न द्वारका-रास का भी वर्णन मिलता है। जैसे नयर्षि के फागु में जिसका परिचय उक्त भेदों के परिचय के बाद आगे दिया गया है। नरसी मेहता का स्वानुभूत प्रत्यक्ष रास वर्णन और मीरां का निर्गुणरास, रास का एक नितांत भिन्न रूप प्रस्तुत करता है जो समस्त कृष्ण साहित्य में अद्वितीय है। इसी प्रकार ब्रजभाषा में राधावल्लभीय कवि ध्रुवदास आदि के कमल-रास का वर्णन भी अन्यत्र नहीं मिलता । ब्रजभाषा के कतिपय कवियों ने ब्रह्मवैवर्त से प्राप्त राधा-कृष्ण विवाह के प्रसंग का भी रास के अन्तर्गत ही वर्णन किया है किन्तु गुजराती कृष्ण-काव्य में यह इस रूप में वर्णित नहीं है ।

साधारणतया दोनों भाषाओं में भागवत की रास पंचाध्यायी (दशम, अ० २९-३३) की वस्तु को ही आदर्श रूप में ग्रहण किया गया है यद्यपि उसे शुद्ध रूप में कम कवियों ने प्रस्तुत किया है। प्राय: उसमें ब्रह्मवैवर्त तथा गीतगोविन्द की परम्परा का मिश्रण कर दिया गया है । भागवत के रास-वर्णन की मूल-वस्तु को निम्न अंशों में मुख्य रूप से विभाजित किया जा सकता है ।

१. वेणुगीत
२. गोपी-कृष्ण संवाद
३. गोपी-गर्व, कृष्ण का अन्तर्धान होना, गोपियों का कृष्ण-लीलानुकरण तथा कृष्णान्वेषण
४. यमुना तट पर कृष्ण का प्रकट होना, संभाषण, महारास, वाद्य एवं संगीत तथा कृष्ण का अनेक रूप धारण
५. जल-क्रीड़ा

रास के उपर्युक्त सभी प्रकारों, भेदों, विशिष्ट रूपों तथा भागवत रास के प्रमुख अंशों से सम्बन्धित सामग्री का तुलनात्मक निरूपण करने के पूर्व दोनों भाषाओं में रास विषयक साहित्य का निर्देश कर देना अत्यन्त आवश्यक है।

गुजराती में मुख्यतः रासक्रीड़ा पर लिखित काव्यों में १५वीं शती में नर्षि का 'फागु', १६वीं में नरसी की 'रास सहस्रपदी' वासणदास का 'कृष्णवृन्दावनरास' और १७वीं में देवीदास विरचित 'रासपंचाध्यायी नो सार' तथा वैकुंठदास कृत 'रासलीला' उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं के अतिरिक्त अनेक दशमस्कंधकारों तथा भागवत के अनुवादकों द्वारा रास का वर्णन किया गया है। इनमें १५वीं शती में भालण और हरिलीलाषोडशकलाकार भीम, १६वीं में कृष्णक्रीड़ाकाव्यकार केशवदास और १७वीं में प्रेमानंद, माधवदास, रत्नेश्वर, लक्ष्मीदास आदि प्रमुख हैं। शिवदास के 'बालचरित' तथा परमानंद के 'हरिरस' में भी रास-वर्णन प्राप्त होता है।

ब्रजभाषा में १५वीं शती का प्रश्न ही नहीं उठता, १६वीं में रास पर ही आधारित रचनाओं में सूरदास के बहुसंख्यक पद, नंददास की 'रासपंचाध्यायी' तथा 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' और १७वीं में ध्रुवदास की 'ब्यालीस लीला' की 'निर्तविलास' आदि अनेक रचनाएँ, माधवदास की वंशीवट एवं वृन्दावन विषयक कई माधुरियाँ गणनीय हैं। रहीम विरचित रासपंचध्यायी का भी उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त प्रत्येक सम्प्रदाय के अन्तर्गत रास के प्रसंग पर अनेक कवियों द्वारा पदों की रचना हुई और सम्प्रदाय-मुक्त कवियों ने भी इस विषय पर अनेक पद रचे। नंददास की सिद्धान्तपंचाध्यायी जैसी कोई रचना गुजराती में उपलब्ध नहीं होती जो रास के दार्शनिक महत्त्व पर प्रकाश डालने के निमित्त ही रची गई हो।

रास के विविध प्रकार [पात्रों की दृष्टि से]

गोपी-कृष्ण रास—कदाचित् रास का यह प्रकार परम्परा के रूप में सर्वाधिक प्राचीन है। बालचरित, हरिवंश, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण तथा भागवतपुराण का

रास-वर्णन इसी परम्परा के अन्तर्गत आता है ।[११०] इन पुराणों में रास विषयक इतनी समानता है कि कतिपय वही श्लोक सभी में मिलते हैं । 'तावार्यमाणा' से प्रारंभ होने वाला श्लोक तीनों पुराणों में प्राप्त होता है । रास की मूलवस्तु उक्त पहले दोनों ग्रंथों में ही उपलब्ध हो जाती है जिसका विकास शेष तीनों पुराणों में क्रमशः होता गया है । इस परम्परा में राधा जैसी किसी गोपी विशेष का स्पष्ट उल्लेख न करके समस्त गोपी समूह के साथ कृष्ण के रासरमण का वर्णन किया जाता है । भास ने कतिपय गोपियों तथा बलराम का नाम अवश्य दिया है[१११] किन्तु राधा के अभाव में अंततः उनका रास वर्णन इस परम्परा से बहुत पृथक नहीं है क्योंकि ब्रह्मपुराण तथा विष्णुपुराण में भी 'सहरामेण' से बलराम की उपस्थिति का संकेत किया गया है । ब्रह्मपुराण में गोपियों के नाम लेने की बात भी है पर नाम नहीं दिये हैं ।[११२]

रास-वर्णन की यह परम्परा गुजराती और ब्रजभाषा दोनों के कृष्ण-काव्य में व्यक्त हुई है किन्तु बलराम की उपस्थिति का उल्लेख कहीं नहीं मिलता । ब्रजभाषा में केवल नंददास की रासपंचाध्यायी में ही उसके पूर्णतया भागवत पर आधारित होने के कारण इसका शुद्ध परिपालन हुआ है किन्तु गुजराती में अनेक कवियों द्वारा विशुद्ध गोपी-कृष्ण रास का वर्णन हुआ है जिनमें भीम, केशवदास, संत, प्रेमानंद, माधवदास, शिवदास तथा रत्नेश्वर आदि के नाम अग्रगण्य हैं । नरर्षि ने भी यद्यपि गोपी-कृष्ण रास का ही वर्णन किया है तथापि अन्य कई कारणों से उनका 'फागु' इस परम्परा का काव्य सिद्ध नहीं होता । नरसी का समस्त रास-वर्णन यद्यपि इस परम्परा में नहीं आता तथापि अनेक पदों में उन्होंने गोपी-कृष्ण रास का वर्णन किया है ।[११३] इसी प्रकार ब्रजभाषा में भी कुछ परम्परानुसारी कवियों ने जहाँ पर भागवत का आधार लिया है वहाँ गोपी-कृष्ण रास का भी वर्णन मिल जाता है ।[११४] परन्तु सूर जैसे राधा-रास का वर्णन करने वाले कवियों के काव्य में पद ऐसे अपवाद स्वरूप ही प्रतीत होते हैं ।

राधा-कृष्ण-गोपी रास—ब्रह्मवैवर्त पुराण के द्वारा भागवत की 'अनयाराधितो-नूनं' से व्यंजित गोपीविशेष का राधा के रूप में स्पष्टीकरण तथा उसमें पाये जाने वाले राधामाधव के सखियों से युक्त विशद रास से ही संभवतः इस राधा-कृष्ण गोपी रास की परम्परा का प्रारंभ होता है। ब्रह्मवैवर्त के बाद राधामाधव से संयुक्त इस रास परम्परा का विविध रूपों में विकास हुआ जिसका एक प्रमाण गीतगोविन्द है ।[११५] परन्तु जयदेव ने राधा को रास से सम्बद्ध करते हुए भी गोपी-

कृष्ण रास के वर्णन में उन्हें पूर्ण पात्रता प्रदान नहीं की। 'ललितलवंगलता' वाले गीत में सखी राधा को ही 'नृत्यतियुवतिजनेनसमं' का वर्णन सुनाती है अतएव राधा की पात्रता का प्रश्न ही नहीं उठता।

गुजराती और व्रज दोनों ही भाषाओं के कवियों ने इस परम्परा का अनुसरण किया है किन्तु इस अनुसरण के भी कई स्तर हैं। पहला स्तर वह है जिसमें रास का समस्त वर्णन लगभग भागवत के ही अनुसार किया है केवल गोपी विशेष के स्थान पर तथा एकाध अन्य स्थल पर राधा का उल्लेख कर दिया गया है। गुजराती के दशमस्कंधकार लक्ष्मीदास की 'रासपंचाध्यायी' जो भालण के दशम स्कंध में प्रक्षिप्त है, इसी स्तर की रचना है उन्होंने राधा का उल्लेख दो स्थलों पर किया है।[१९६] 'हरिरस' के रचयिता परमानंद ने भी रास में राधा को ऐसा ही स्थान दिया है। यद्यपि उनका उल्लेख लक्ष्मीदास की अपेक्षा अधिक सांगोपांग है। उसमें राधा की मूर्छा का भी वर्णन है जिसका आधार ब्रह्मवैवर्त पुराण है।[१९७] प्रेमानंद ने रास-वर्णन तो भागवत के ही आधार पर किया है परन्तु केवल एक स्थल पर राधा का उल्लेख कर दिया है 'राधा भक्ति नो अवतार' (श्रीम० भा०, पृ० २९५)। ब्रजभाषा के कवियों द्वारा रास में राधा का पूर्ण स्वीकार हुआ है अतः इस प्रकार की आंशिक स्वीकृति का कोई उदाहरण उसमें प्राप्त नहीं होता।

रास-वर्णन का दूसरा स्तर उन कवियों के काव्य में व्यक्त हुआ है जिन्होंने राधाकृष्ण के युगल रूप को सम्पूर्ण रास में स्थान दिया है और विभिन्न प्रसंगों में स्थल स्थल पर राधा के अस्तित्व का प्रमाण दिया है। इस कोटि में गुजराती और ब्रजभाषा के बहुत से कवियों का रास-वर्णन आ जाता है। गुजराती में नरसी और वासणदास तथा ब्रजभाषा में लगभग सभी साम्प्रदायिक कवियों ने इस प्रकार का रास-वर्णन किया है।[१९८] वासणदास के रास-वर्णन में अन्य अनेक विभेद होने के कारण उसे पूर्णतया इसी स्तर में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस विषय में विशेष परिचय 'विशिष्ट रास वर्णन' शीर्षक के अंतर्गत दिया जायगा।

'राधा-कृष्ण-गोपीरास' वर्णन के तीसरे स्तर में कवियों ने राधा-कृष्ण सम्बन्धी कतिपय नवीन प्रसंगों का समावेश किया है जैसे राधाकृष्ण-विवाह, राधा की नथनी और हार का खो जाना। रास के अन्तर्गत विवाह का वर्णन ब्रजभाषा में सूरदास, ध्रुवदास आदि के काव्य में मिलता है, गुजराती में नरसी के 'वसंतनां पदो' में इसका संकेत है परन्तु विस्तृत वर्णन नहीं है। ब्रजभाषा में इसके विरुद्ध आभूषण खोने का प्रसंग उपलब्ध नहीं होता। राधाकृष्ण-विवाह का मूल स्रोत भी वास्तव

में ब्रह्मवैवर्त पुराण ही है किन्तु उसमें विवाह रास के पूर्व होता है।[१९९] सूर ने रास के अन्तर्गत ही विवाह की कल्पना की है। यह शरद निशि की लग्न तथा मुरली ध्वनि से गोपियों के न्योते जाने के प्रसंग से स्पष्ट है जिसका ब्रह्मवैवर्त के विवाह-वर्णन से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।[२००] ध्रुवदास ने 'मंडलसभासिंगार' में पहले विवाह का वर्णन किया है फिर रास का।[२०१] वनविहारलीला में पुनः विवाह का सर्वांगीण निरूपण मिलता है जिसमें गठजोरा, दूधाभाती के बाद 'रैनि सुहाग' का भी वर्णन है किन्तु रास से उसका कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। राधावल्लभीय गौडीय, हरिदासी तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों द्वारा राधा-कृष्ण का वर्णन 'दम्पति' अथवा 'दूलह दुलहिनी' के रूप में विशेष रूप से प्राप्त होता है फलतः रास प्रसंग में विवाह-वर्णन का उतना आग्रह नहीं मिलता। रास में अधिकतर राधा-कृष्ण दम्पति के रूप में ही चित्रित किये गये हैं जैसा द्वितीय स्तर के राधा-कृष्ण-गोपीरास वर्णन से स्पष्ट है।

गुजराती में नरसी मेहता ने कई स्थलों पर राधा-कृष्ण के विवाह का चित्रण किया है किन्तु रास से उसका निश्चित सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। एक स्थल पर रास के ही अन्तर्गत राधा के विवाहित रूप का संकेत मिलता है।[२०२] किन्तु शेष स्थलों पर विवाह वर्णन स्वतंत्र रूप से किया गया है।[२०३] भालण, केशवदास, प्रेमानंद आदि अन्य किसी गुजराती कवि ने राधाकृष्ण-विवाह का वर्णन ही नहीं किया है अतः रास के प्रसंग से उसके सम्बन्धित होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। भालण एक स्थान पर एक गोपी के मुख से, जो कदाचित् राधा ही है, कृष्ण को सदा के लिए अविवाहित कहलाते हैं—

> लोक विषे लंपट थयो रे, तारो विवाह न मळे वेद रे।
>
> —द० स्क०, पृ० १४७

रास-क्रीड़ा के समय राधा के हार अथवा नथनी के खोये जाने का वर्णन गुजराती में तो अवश्य मिलता है[२०४] पर ब्रजभाषा के किसी कवि ने एसा वर्णन नहीं प्रस्तुत किया। सूर ने केवल राधा की माला के टूट कर गिरने का ही उल्लेख किया है—

> दरकि कंचुकी तरकि माला रही धरणी जाइ।
>
> —सू० सा०, पृ० ४४६

राधा-कृष्ण रास—ब्रह्मवैवर्त पुराण के कृष्णजन्म खंड के ५२वें अध्याय के अन्तर्गत राधाकृष्ण के एकान्त रास का भी वर्णन मिलता है और इसे राधामाधव-

रास की संज्ञा भी दी गई है।[२०५] कृष्ण राधा के साथ अन्तर्धान हो जाने के अनन्तर उन्हीं के साथ रास-क्रीड़ा करते हैं। गुजराती कृष्ण-काव्य में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।[२०६] ब्रजभाषा में सूरदास ने कृष्ण का राधा के साथ अन्तर्धान होना तो वर्णित किया है परन्तु इस प्रकार के रास का वर्णन उस प्रसंग में नहीं है (सू० सा०, पृ० ४४८) और किसी अन्य कवि ने भी नहीं किया, किन्तु अन्तर्धान होने के प्रसंग से भिन्न स्थलों पर राधामाधव रास विषयक पद, सूरदास, हरिवंश, गदाधर आदि कवियों ने रचे हैं यद्यपि उनमें उक्त गुजराती कवियों की भाँति एकांत का निर्देश नहीं है।[२०७]

रास के विविध प्रकार [समय (ऋतु) की दृष्टि से]

शारदी रास—शरद काल की पूर्णिमा के अवसर पर रास-क्रीड़ा वर्णन करने की परम्परा का मौलिक रूप में गोपी-कृष्ण रास की परम्परा से अभिन्न सम्बन्ध रहा है। जिन पुराणों में इस रास का वर्णन मिलता है उन्हीं में शरद ऋतु का भी उल्लेख मिलता है—

शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्र रतिम्प्रति।

—हरिवंश, विष्णु पर्व, अ० ७७

कृष्णस्तु विमलं व्योम शरच्चन्द्रस्य चन्द्रिकाम्।

—विष्णुपुराण ५: १३: १४

—ब्रह्मपुराण अ० ११८

शरदोत्फुल्ल मल्लिका।

—भागवत, १० : २९ : १

ब्रह्मवैवर्त में पूर्णिमा के स्थान पर त्रयोदशी का वर्णन है, ऋतु नहीं दी है—

शुभे शुक्ल त्रयोदश्यां पूर्णे चन्द्रोदये मुने।

—अ० २८

गुजराती और ब्रजभाषा दोनों में कृष्ण काव्य में इस परम्परा के अनुकरण के अगणित प्रमाण हैं और यह प्रमाण पूर्वोल्लिखित रास के लगभग सभी प्रकारों में उपलब्ध हो जाते हैं। कवियों ने गोपी-कृष्ण रास, राधा-कृष्ण-गोपीरास तथा राधा-कृष्णरास सभी को शारदी रास के रूप में चित्रित किया है।[२०८] उन वर्णनों में जिस 'खटमासी' रात्रि का उल्लेख है उसका मूल कदाचित् ब्रह्मवैवर्त में वर्णित एक मास की रात्रि है।[२०९]

वासंती रास—इस प्रकार के रास में प्राकृतिक सौन्दर्य तथा सामूहिक नृत्य

का वर्णन विशेष रूप से किया गया है यद्यपि पौराणिक परम्परा की छाया भी यत्र तत्र मिल जाती है। कृष्ण-काव्य में शारदी रास की तरह इस रास की भी परम्परा पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होती है। 'बालचरित' का रास-वर्णन यद्यपि अधिक अंशों में वासंती रास ही प्रतीत होता है किन्तु ऋतु सम्बन्धी कोई उल्लेख न होने से उसे उन दोनों परम्पराओं में से किसी में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। ब्रह्मवैवर्त में इसका सूत्र अवश्य मिलता है —

> **कृत्वा क्रीड़ां तत्रैव वासंतीं काननं ययौ**
> **रेमे तत्रैव रासेशो वसन्ते सुमनोहरे ।।**
>
> —कृ० खंड, अ० ५३

और 'गीतगोविन्द' पर भी इसी की छाया है—

> **विहरति हरिरिह सरस वसंते**
> **नृत्यति युवति जनेन समं सखि विरहि जनस्य दुरंते।**
>
> —प्रथम सर्ग

मैथिल कवि विद्यापति के पदों में भी वासंती रास के वर्णन मिलते हैं।[२१०] कदाचित् प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्यों में इस रास की परम्परा प्रचलित रही जिसके दर्शन १५वीं शती के गुजराती कवि नर्यषि के 'फागु' काव्य में होते हैं।[२११] १६वीं शती के केशवदास ने वासंती रास का अधिक स्पष्ट वर्णन किया है।[२१२] ब्रजभाषा में भी इसके कतिपय उल्लेखनीय संकेत मिल जाते हैं।[२१३] गुजराती में वासणदास ने सूर की तरह ही प्रारंभ में शरद ऋतु का निर्देश करके अन्त में **'एहवे माधव मास अंगि गाओ केसू ते फूल्यां बहू। कालिंदी सुसुतीर धीर राधा खेले ते होली सहू।'** लिखकर एक स्थल पर वसंत का उल्लेख किया है।

नरसी, सूर तथा अन्य अनेक कवियों ने वसंत विषयक पदों में नृत्य का वर्णन किया है परन्तु वह होली से सम्बद्ध है।

रास के विविध प्रकार [स्थान की दृष्टि से]

वृन्दावन रास—नर्यषि को छोड़कर गुजराती और ब्रजभाषा के सभी कवियों ने रास-क्रीड़ा का क्षेत्र वृन्दावन का यमुनातट माना है जिसका उल्लेख सभी वर्णनों में प्राप्त होता है। सूर ने इस क्षेत्र की सीमाएँ भी दे दी हैं।[२१४]

द्वारका रास—गुजराती के नर्यषि और नरसी ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने द्वारका में रास का चित्रण किया है[२१५]—

(क) राज करइ श्रीरंग...यादवनायकु अे।
नाचइ गोपियवृन्द...
पुहता निजपुरी अे...

(ख) ...मुजने श्री द्वारका मांहे राख्यो।
...शरदपुनमतणो दिवस तहां आवीयो,
रासमरयादनो वेण वाध्यो।
रुकमणी आदि सहु नारि टोळे मळी,
नरसहींअे तहां ताल साध्यो।

वस्तु की इस विचित्रता को दो प्रकार से समझा जा सकता है। एक तो कदाचित् इस प्रकार की परम्परा गुंजरात में प्रचलित रही हो दूसरे यह कि कवियों ने वास्तविक परम्परा से भिन्न स्वकल्पना से ऐसा वर्णन किया हो। दूसरी सम्भावना अधिक यथार्थ प्रतीत होती है।

भागवत के रास की मूलवस्तु के आधार पर रास-वर्णन के विभिन्न अंशो का तुलनात्मक अध्ययन—इस वस्तु का विभाजन विवेचन के प्रारंभ में ही किया जा चुका है अनुवादकों के अतिरिक्त दोनों भाषाओं में कई कवि ऐसे मिलते हैं जिन्होंने भागवत की लगभग सम्पूर्ण वस्तु का अपने ढंग से उपयोग किया है जैसे गुजराती में नरसी, केशवदास और प्रेमानंद तथा ब्रजभाषा में सूर और नंददास। साथ ही बहुत से कवि ऐसे हैं जिन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण अंशों को अपने रास-वर्णन में स्थान नहीं दिया। कुछ ने परिवर्धन और कुछ ने संक्षेप भी किया है। भागवतेतर परम्परा के रास-वर्णन में भी भागवत के रास की छाया मिलती है। इस समस्त वस्तु स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए पूर्वोक्त प्रमुख अंशों पर क्रमशः विचार करने की आवश्यकता है।

१. **वेणु-गीत**—गीत के द्वारा गोपियों को आकर्षित करने की बात ब्रह्म तथा विष्णुपुराण आदि में भी प्राप्त होती है।[२११] किन्तु बालचरित तथा हरिवंश में इसका उल्लेख नहीं मिलता। पौराणिक परम्परा के अनुसार भागवत ने **'जगौकलं वामदृशां मनोहरं'** लिखा और उसे **'अनंग वर्धन'** भी कहा। आगे चल कर भागवतकार ने स्पष्ट कर दिया कि यह गीत केवल गीत न होकर वेणु-गीत है।[२१२]

ब्रजभाषा के लगभग सभी कवियों ने रासारंभ में इस वेणु-गीत का उल्लेख किया है किन्तु सूर ने—

'सूर नाम लै लै जन जन के मुरली बारंबार बजाई'

लिखकर कदाचित् बालचरित तथा ब्रह्मपुराण का अनुसरण किया है। जयदेव तथा विद्यापति ने भी ऐसा वर्णन किया है।[२१८] नंददास ने तो भागवत के **'योग माया-मुपाश्रितः'** को वेणु से सम्बद्ध करके उसे 'जोगमाया की मुरली' कह डाला। ब्रज-भाषा के अन्य अनेक कवियों ने वेणु-गीत का उल्लेख अपने काव्य में किया है।[२१९] गुजराती के कवियों में नरर्षि तथा केशवदास ने वेणु-गीत का उल्लेख नहीं किया है किन्तु शेष कवियों ने वेणु-गीत का बराबर वर्णन किया है।[२२०]

कृष्ण की बाँसुरी को लेकर उपालंभ के रूप में सूर आदि अनेक कवियों ने स्वतंत्र रूप से काव्य रचना की। ऐसी कुछ रचनाएँ नरसी, मीरां के गुजराती के पदों में भी प्राप्त होती हैं।

२. **गोपी-कृष्ण संवाद**—वेणुनाद से आकृष्ट **'तावार्यमाणाः पतिभिः...मोहिता'** गोपियों को कृष्ण घर लौट जाने का आदेश देते हैं जिसका वे उत्तर देती हैं। इस गोपी-कृष्ण संवाद (भा० १० : २९ : १८-४१) का वर्णन ब्रजभाषा में सूरदास, नंददास आदि वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में ही उपलब्ध होता है। इसी प्रकार गुजराती में नरसी, भालण, केशवदास तथा कतिपय अनुवादकों में ही यह संवाद मिलता है। ब्रजभाषा में सूर और गुजराती में केशवदास ने इसका विशेष विस्तार से वर्णन किया है।[२२१]

३. **गोपी-गर्व तथा कृष्ण का अंतर्धान होना**—उन्नीसवें अध्याय में ही उक्त संवाद के उपरान्त रमण में गोपियों के गर्वित होने तथा उस गर्व के कारण कृष्ण के अंतर्धान होने का प्रसंग भागवत में आता है। यह प्रसंग रास की अत्यन्त प्रमुख घटना है। भागवत में कृष्ण के अंतर्धान होने की बात दो स्थलों पर मिलती है। एक बार कृष्ण गोपियों में सौभगमद होने पर अंतर्धान होते हैं और दूसरी बार उस गोपी विशेष की स्कंधारोहण की इच्छा पर जो पहली बार उनके साथ अंतर्धान हुई थी।[२२२] ब्रह्मवैवर्त में भी दोनों अंतर्धानों का वर्णन है।[२२३] यह आश्चर्य की बात है कि नंददास जैसे भागवतानुकूल रासवर्णन करने वाले कवि ने पहले अंतर्धान को 'मंजु कुंज में तनक दुरे' के रूप में परिणत कर दिया और दूसरे का केवल 'किधौं चंद सौ रूसि चन्दिका रहि गई पाछे' लिखकर संकेत भर कर दिया है। सूर ने दोनों का स्पष्ट वर्णन किया है।[२२४] गोपी-कृष्ण संवाद की तरह ही ब्रज के अन्य सम्प्रदायों के कवियों द्वारा अंतर्धान के प्रसंग का भी वर्णन नहीं हुआ है। गुजराती में इस प्रसंग का वर्णन नरर्षि, नरसी, प्रेमानंद, लक्ष्मीदास, वासणदास आदि अनेक कवियों द्वारा विविध प्रकार से रास के प्रसंग में किया गया है। नरसी

ने रास के अन्तर्गत आँखमिचौनी के खेल के उपरांत कृष्ण के अंतर्धान होने का वर्णन किया है।[२२५]

अंतर्धान के दूसरे प्रसंग में प्रेमानंद ने अपनी कल्पना से नवीनता उत्पन्न कर दी है। कृष्ण उस गोपी विशेष से वृक्ष की डाल का सहारा लेने के लिए कह कर छल से वृक्ष के नीचे अंतर्धान हो जाते हैं।

विरह-विह्वल गोपियों द्वारा कृष्णलीलानुकरण—भागवत में कृष्ण के अंतर्धान हो जाने के पश्चात् गोपियों की विरहावस्था का विशद चित्रण है जिसमें वे कृष्ण की अनेक लीलाओं का अनुकरण करती हैं।[२२६] दोनों भाषाओं के भागवतानुयायी पूर्व निर्दिष्ट कवियों ने ही इसका भी वर्णन किया है, नर्याप, भालण, वासणदास आदि ने नहीं। सूर ने स्पष्ट लिखा है—

करति हैं हरिचरित्र ब्रज नारि।
देखि अति ही विकल राधा इहै बुद्धि विचारि।
—सू० सा०, पृ० ४५२

सूर का वर्णन भागवत से कई प्रकार भिन्न है। एक तो यह कि भागवतकार ने इसका वर्णन गोपी विशेष से भेंट होने के पूर्व किया है दूसरे उसका उद्देश्य तन्मयता व्यक्त करना है परन्तु सूर ने राधा से गोपियों की भेंट हो चुकने पर राधा की विह्वलता निवारण के लिए इसका वर्णन किया है। नंददास ने भागवत का ही अनुसरण किया है।[२२७] नरसी तथा सूर के उक्त वर्णन में आश्चर्यजनक साम्य है। परिस्थिति तथा उद्देश्य दोनों ही समान हैं[२२८]—

'कृष्णचरित्र गोपी करे, बीलसे राधानार'।

पदांक दर्शन एवं कृष्णान्वेषण—पूर्व प्रसंग से यह प्रसंग सम्बद्ध है अतः इसकी भी स्थिति पूर्ववत् है। ब्रह्मवैवर्त में इसका वर्णन नहीं है। उदाहरण दोनों भाषाओं के कवियों के पाये जाते हैं।[२२९]

४. यमुना तट पर कृष्ण का प्रकट होना तथा संभाषण—यमुना तट का वर्णन तो अन्य कवियों में भी प्राप्त होता है पर प्रसंग के क्रम तथा संवाद से युक्त वर्णन भागवतानुयायी कवियों में ही मिलता है।[२३०] भागवत के दशम स्कंध के बत्तीसवें अध्याय में इसी प्रसंग का वर्णन है। सूर ने केवल कृष्ण के प्रकट होने का वर्णन किया है। नरसी ने इसी घटना को महत्त्व नहीं दिया और न उनकी 'राससहस्रपदी' में इसका वर्णन ही मिलता है।

महारास—इसके वर्णन में प्रायः कवियों ने भागवत के दशम स्कंध के तैंतीसवें अध्याय से प्रेरणा ली है। इस विषय में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सूर ने इसी महारास का दो बार वर्णन किया है। भागवत में कृष्ण के अंतर्धान होने से पहले उनका गोपियों के साथ केवल रमण करना '**बाहु प्रसार परिरम्भ...रमयांचकार**' वर्णित है। सूर ने यहाँ अपनी स्वतंत्र उद्भावना से रास का सांगोपांग वर्णन किया है। उनके इस रास-वर्णन पर ब्रह्मवैवर्त का भी कुछ प्रभाव लक्षित होता है।

अंतर्धान होने से पहले के रमण को रास रूप में नरसी ने भी ग्रहण किया है जो 'वृन्दावन माहे रास रमतां' वाले पद से प्रकट है किन्तु गुजराती के अन्य कवियों प्रेमानंद, केशवदास आदि ने भागवत की परम्परा का ही पालन किया है। इस महारास के भी दो प्रमुख उपांग हैं—

१. वाद्य संगीत का आयोजन
२. कृष्ण का अनेक रूप धारण

वाद्य संगीत का आयोजन—ब्रजभाषा में हरिदास आदि अनेक कवियों ने अपनी गान विद्या की अभिज्ञता का परिचय रास के इस अंश के वर्णन में दिया है।[२३१] भागवत में संगीत शास्त्र के ज्ञान का प्रदर्शन नहीं है। रास में 'उरप-तिरप' का वर्णन अष्टछाप के कवियों ने भी अनेक बार किया है। गुजराती के कवियों के रास-वर्णन पर भी संगीत का प्रभाव यत्र तत्र परिलक्षित होता है।[२३२]

कृष्ण का अनेक रूप धारण—भागवत में इसका वर्णन स्पष्टतया मिलता है **कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः** (१०:३३:२०)। ब्रह्मवैवर्त में इस विषय की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि वहाँ रास में गोपियों के साथ उतने ही गोपों की उपस्थित भी वर्णित है। कवियों ने गोपियों की १६००० संख्या का उल्लेख किया है जो भागवत में नहीं है। सूर कृष्ण के अनेक रूप धारण करने के साथ ही उन रूपों से प्रत्येक गोपी के साथ विवाह तथा रमण करने का भी उल्लेख करते हैं, जो ब्रजभाषा के अन्य कवियों में नहीं प्राप्त होता।[२३३] 'द्वै द्वै गोपिन बीच जु मोहन-लाल बने छवि' से स्पष्ट होता है कि नंददास ने भागवत का पूर्ण आधार लिया है और गोपियों की संख्या नहीं दी। हरिवंश, ध्रुवदास, श्रीभट्ट, गदाधर भट्ट तथा हरिदास आदि राधा-प्रधान सम्प्रदायों के कवियों में कृष्ण के अनेक रूप धारण का वर्णन नहीं प्राप्त होता। इसका कारण 'दम्पति' अथवा युगल रूप का आग्रह तथा राधा की अन्य गोपियों की अपेक्षा श्रेष्ठता व्यंजित करना प्रतीत होता है इसके प्रतिकूल भागवत में किसी गोपी विशेष को केन्द्ररूप में न लेकर सारी गोपियों की समानता प्रकट की गयी है।

गुजराती में भी रास-वर्णन के अंतर्गत कृष्ण के अनेक रूपों का उल्लेख पाया जाता है ।[२३४] प्रेमानंद ने तो कृष्ण ही नहीं बल्कि चन्द्रमा के भी सोलह सहस्त्ररूप धारण करने का उल्लेख किया है ।[२३५] वासणदास ने 'साथि सोल सहस्त्र नारि शामा' कह कर संख्या की परम्परा का तो पालन किया है परन्तु कृष्ण के अनेक रूपों का वर्णन नहीं किया। नर्यषि ने गोपियों की संख्या 'सहस्त्र अढार' दी है। इन संख्याओं का मूल कदाचित् कृष्ण की हजारों पत्नियाँ हैं जिनका उल्लेख विष्णु पुराण में मिल जाता है—

षोडश सहस्त्राण्येकोत्तरशतानि स्त्रीणामभवन् ।

—४ : १५ : १९

देवताओं द्वारा रास दर्शन तथा चराचर में व्याप्त उसके अलौकिक रूप का उल्लेख नरसी हरिवंश आदि ने किया है ।[२३६]

५. **जल-क्रीड़ा**—भागवत में रास के अंत में यमुना में कृष्ण-गोपियों की जल-क्रीड़ा का वर्णन है ।[२३७] इसका वर्णन दोनों भाषाओं में प्राप्त होता है । ब्रजभाषा के सूर, नंददास, श्रीभट्ट आदि ने इस जल-क्रीड़ा का स्वतन्त्र रूप से विकास किया है ।[२३८] माधवदास ने जल-क्रीड़ा का वर्णन रास से पहले संध्या समय ही कर दिया है और अन्त में सेज-सुख का चित्रण किया है।[२३९] गुजराती में केवल नरसी और नर्यषि ने जलक्रीड़ा का वर्णन किया है ।[२४०]

रास में संभोग वर्णन—भावना के आवेश में श्लीलता तथा अश्लीलता का ज्ञान नहीं रह जाता। इसी के परिणामस्वरूप रास के अंतर्गत संभोग का भी वर्णन किया गया है जो ब्रजभाषा तथा गुजराती दोनों भाषाओं के काव्य में देखा जा सकता है ।[२४१]

रास से सम्बद्ध अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ—ऊपर वर्णित बातों के अतिरिक्त भी रास-वर्णन में कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें शेष रह जाती हैं जिनका उल्लेख करना विषय की दृष्टि से आवश्यक है। ये नरसी-मीरां तथा ध्रुवदास के रास-वर्णन में पायी जाती हैं।

नरसी के रास-वर्णन की प्रमुख ज्ञातव्य वस्तु यह है कि उन्होंने अनेक स्थलों पर अपनी पात्रता का उल्लेख 'दीवटिया' तथा ताल बजाने वाले के रूप में किया है ।[२४२] नरसी ने एक स्थल पर रास की आरती का भी वर्णन किया है ।[२४३]

अपने को 'दीवटिया' कहकर नरसी ने रास की शारदी पूर्णिमा में भी दीपकों की सत्ता स्वतः स्वीकार की है । भागवत तथा इसी परम्परा के अन्य किसी भी पुराण में रास के समय ज्योत्सना के अतिरिक्त अन्य किसी कृत्रिम प्रकाश का वर्णन नहीं मिलता । ब्रह्मवैवर्त में दीपकों का उल्लेख तो है **'दीप्तं रत्न प्रदीपैश्च'** (कृ० ख० २८:११) किन्तु नरसी के मस्तिष्क में कदाचित् किसी तत्कालीन लौकिक रासमंडली के दीवटिये की छाया रही होगी ।

नरसी के इसी आत्मानुभूत रास से पूर्वोक्त राधा की नथनी खो जाने के प्रसंग को सम्बद्ध किया जाता है जिसके फलस्वरूप उन्हें विभिन्न वर्णों में रास लीला के दर्शन हुए ।[२४४] परन्तु विविध वर्णों में जिस वस्तु का चित्रण नरसी के काव्य में मिलता है उससे तथा रास से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता ।[२४५]

नरसी ने एक अन्य पद में रास में नारद के सम्मिलित होने का उल्लेख किया है—

रास ने रमाड्यां रे वृन्दावन मांरे, नारद जी तो नाचता हुता तांहा छंम ।[२४६]
ब्रह्मवैवर्त में श्रोता नारद होने के कारण श्लोकों में यत्र तत्र "नारद" शब्द आ जाता है संभव है वही इस भ्रम का कारण बना हो ।[२४७] नरसी ने 'गोविन्दगमन' के प्रसंग में भी रास का उल्लेख किया है जो वस्तु की दृष्टि से सर्वथा नवीन है ।[२४८]

मीरां के एक गुजराती पद में रास को निर्गुण भावधारा के रूप में ढाल कर प्रस्तुत किया गया है—

> **मारा प्राण पातळिया बहेला आवो रे तम रे विनाहूं तो जनम जोगण छु ।**
> **नाभि कमल थी सुरता रे चाली जइ ने तखत पर रास रचीला रे ।**
> **सुखमना नाडी अेनी सेज बिछावे ते दी रंग भीना छे रास धारी ।**

ध्रुवदास ने रास के प्रसंग में राधा द्वारा कमल पत्रों पर विशिष्ट गति से रास करने का जो चित्रण किया है वह अन्य किसी भी कवि ने नहीं किया । कृष्ण राधा से उनकी गति सीखने की इच्छा व्यक्त करते हैं । इसे सुनकर राधा अद्भुत कौतुक करती है । उसे देखते ही कृष्ण रीझ कर राधा के पैर चूम लेते हैं । ध्रुवदास ने नृत्यविलास में इसका वर्णन पुनः किया है ।[२४९] इसके अतिरिक्त दम्पति के परस्पर वस्त्र परिवर्तन करके रास करने का वर्णन भी ध्रुवदास ने किया है—

कबहुँ पिया पट पीय के पिय प्यारी के बास।
पहिरे दोउ आनंद में निरतत रास बिलास ॥४७॥

—रहसिलता

मथुरा-लीला

अक्रूर के साथ कृष्ण का मथुरा-गमन—गुजराती में १६वीं शती में नरसी मेहता कृत 'गोविन्द गमन' नामक एक ही स्वतंत्र रचना इस विषय पर उपलब्ध होती है और ब्रजभाषा में सूरदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने इस विषय को महत्त्व नहीं दिया। नरसी के पश्चात् गुजराती कवि प्रेमानंद के दशम स्कंध में तथा केशवदास वैष्णव की मथुरालीला में अक्रूर का प्रसंग पर्याप्त विस्तार से वर्णित है।

सूरदास तथा प्रेमानंद ने भागवत के ३८, ३९, ४०वें अध्यायों की कथा को परिवर्धित रूप में प्रस्तुत किया है परन्तु नरसी ने शुक-परीक्षित संवाद का बाह्यतः अनुसरण करते हुए भी वस्तुतः सर्वथा भिन्न कथा दी है। गोविन्द-गमन में राधा तथा उनकी सखियों की प्रधानता है। चन्द्रभागा और राधा, कृष्ण के मधुपुर जाने के के समाचार से विकल हो कर सखियों से परामर्श करती हैं और प्रातःकाल कृष्ण को जगाने जाती हैं परन्तु कृष्ण के स्थान पर अक्रूर जग जाते हैं और वे उन्हीं को कुंजभवन में पकड़ ले जाती हैं। कृष्ण अपने भक्त की यह दुर्दशा देखकर उसे अपना रूप देकर नंदभवन पहुँचाकर स्वयं गोपियों की कामना पूर्ण करते हैं। दूसरे दिन राधा नरसी को ही पत्रवाहक बना कर कृष्ण के पास भेजती हैं। कृष्ण जाने के पहले राधा, गोपी, गायों आदि से मिलने का उपक्रम करते हैं। इसके बाद वे रथ पर अक्रूर के साथ बैठकर चलते हैं। रास्ते में उन्हें सखियों सहित राधा फिर मिल जाती है। वह उनको रोकने के लिए रथ की कील निकाल लेती है और कृष्ण से कुंज में चलने का आग्रह करती है। कृष्ण भी कहते हैं कि यदि हाथी लाओ तो चलें। राधा ने तत्काल सखियों के साथ 'नारी कुंजर' की रचना की और कृष्ण को प्रेम-अंकुश देकर कुंज में ले गई। वहाँ अन्य क्रीड़ाओं के अतिरिक्त रास-क्रीड़ा भी हुई। इसके पश्चात् कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं। परीक्षित-शुक संवाद के रूप में ही इसकी समाप्ति होती है।[३०]

यद्यपि गोविन्द-गमन की उपर्युक्त कथा का अधिकांश कल्पित प्रतीत होता है तथापि इसका मौलिक आधार ब्रह्मवैवर्त पुराण में प्राप्त हो जाता है। इस पुराण

में राधा सखियों समेत कृष्ण को रोकने का प्रयत्न करती है। गोपियाँ रथ तोड़ डालती हैं और अक्रूर को निर्वस्त्र तक कर देती हैं। कृष्ण राधा को समझाने के लिए रुक जाते हैं। ब्रह्मवैवर्त में राधा सम्बन्धी और भी बहुत सी वस्तु इस प्रसंग में दी जाती है जो गोविन्द-गमन में नहीं प्राप्त होती। 'नारी कुंजर' का कोई उल्लेख ब्रह्मवैवर्त में नहीं है।

कंस का कृष्ण-बलराम को बुलाने के लिए प्रेरित होना—भागवत में यह प्रेरणा कंस को नारद से तथा ब्रह्मवैवर्त में एक भयंकर स्वप्न से मिलती है, सूर ने दोनों को एक सूत्र में बाँध दिया है। स्वयं कृष्ण नारद को कंस के पास जाने के लिए कहते हैं तब कंस अक्रूर द्वारा उन्हें बुलाने का निश्चय करता है। वह भयभीत होकर एक दुःस्वप्न देखता है। ब्रह्मवैवर्त में वर्णित शंकित राधा के स्वप्न देखने के प्रसंग को किसी कवि ने नहीं उठाया केवल प्रेमानंद ने किसी एक ब्रज-स्त्री के स्वप्न का उल्लेख किया है।[२५१]

अक्रूर को जल में कृष्ण दर्शन—भागवत के अनुसार जब अक्रूर मार्ग में यमुना स्नान करते हैं तो उन्हें जल में कृष्ण के दर्शन होते हैं। फिर कर देखने पर कृष्ण रथ में बैठे हुए वैसे ही दिखाई पड़ते हैं। अक्रूर कुछ उद्विग्न हो जाते हैं। भागवत में इस प्रकार कृष्ण के दर्शन का कोई कारण नहीं दिया गया किन्तु सूर ने अन्तर्द्वन्द्व में फँसे हुए भक्त के संदेह निवारणार्थ कृष्ण दर्शन कराया है जिससे अक्रूर उनकी प्रभुता को समझकर सन्तुष्ट हो जाँय।[२५२]

नरसी के गोविन्द-गमन में यह घटना नहीं है। प्रेमानन्द ने एक प्रकार प्रकार से सूर का ही अनुसरण किया है। प्रेमानन्द के कृष्ण अक्रूर के साथ स्नान न करने का कारण 'नथी नहावानी टेव' बताते हैं और सूर के कृष्ण कलेऊ में व्यस्त होने के कारण नहीं नहाते।[२५३]

मथुरा-दर्शन, रजक-वध, दरजी और माली पर कृपा तथा कुब्जा-उद्धार—भागवत में वर्णित मथुरा-प्रवेश और धनुर्भंग के बीच घटित होने वाली इन अनेक छोटी छोटी घटनाओं का वर्णन दशमस्कंधकारों ने प्रसंगानुकूल किया है। ब्रजभाषा में केवल सूरसागर में ही इनका वर्णन मिलता है परन्तु गुजराती के दशमस्कंधकार भालण, केशवदास तथा प्रेमानन्द के अतिरिक्त फांग के 'कंसोद्धरण', चतुर्भुज की 'भ्रमरगीता' तथा केशवदास की 'मथुरालीला' में भी यह उपलब्ध है।

कंस के जिस रजक का वध कृष्ण ने किया था सूर ने उसका सम्बन्ध तृणावर्त से स्थापित कर दिया। प्रेमानन्द ने अपने परियट (रजक) के वध के अनन्तर

दिव्य विमान से स्वर्ग भेज दिया।[२५४] दरजो का नाम प्रेमानन्द ने 'सुलक्षण' दिया है और उसे सायुज्य मुक्ति दिलायी है जबकि भागवत में कोई नाम नहीं दिया गया है और उसे सारूप्य मुक्ति मिली है।[२५५] माली का नाम भागवत में 'सुदामा' दिया है और सूर तथा प्रेमानंद ने भी वही दिया है। भालण ने 'सुदामा' को अधिक दाम पाने वाला व्यक्ति माना है।[२५६]

कुब्जा के प्रसंग का चित्रण प्रेमानंद ने विशेष रूप से किया है। भागवत की त्रिवक्रा किन्तु सुन्दरी तरुणी कुब्जा को कवि ने कुरूप तथा वृद्धा वर्णित किया है, जिसे कृष्ण सुन्दर, तरूणी तथा सुडौल बना देते हैं। उस दासी की झोपड़ी को राजमहल में परिवर्तित कर देते हैं। प्रेमानंद ने ये दोनों बातें ब्रह्मवैवर्त पुराण से ली हैं। कुब्जा के प्रसंग में सूरसागर में भी कृष्ण द्वारा सम्पत्ति तथा रूप दान का संकेत मिलता है।[२५७]

धनुर्भंग तथा कुवलयापीड, चाणूर, मुष्टिक आदि के पश्चात् कंस का वध—इन घटनाओं का भी वर्णन दशमस्कंधकारों ने पूर्ववत् किया है जिसमें अनुवादात्मकता ही अधिक है। सूरदास ने धनुर्भंग के प्रसंग में कंस द्वारा किसी एक असुर के भेजे जाने का वर्णन किया है जिसे कृष्ण मार डालते हैं। इसका उल्लेख भागवत आदि में कहीं नहीं है।[२५८]

कुवलयापीड से युद्ध करने में सूर नें कृष्ण बलराम दोनों का योग दिखाया है। प्रेमानंद ने कुवलयापीड को अन्य असुरों की सी गति दिलायी है।[२५९] अन्य पुराणों में जितने मल्लों के नाम मिलते हैं, भागवत में उनमें 'शल' और 'कूट' के नाम और जुड़ गये हैं, जिनका वध कृष्ण और राम करते हैं। सूरसागर में इनका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता पर यह केशवदास आदि गुजराती कवियों की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। प्रेमानंद ने इनके युद्ध में व्यतिक्रम कर दिया है और दोनों का वध बलराम से कराया है।[२६०]

कंस-वध जैसी महत्वपूर्ण घटना को किसी कवि ने समुचित रूप में चित्रित नहीं किया। फूढ का 'मल्ल अखाडानां चन्द्रावला' नामक काव्य इस विषय का एक मात्र स्वतंत्र प्रयास है।

उग्रसेन को राज्य-दान, वसुदेव देवकी का कारा से मोक्ष, उपनयन संस्कार तथा सांदीपनि से शिक्षा-प्राप्ति—अधिकतर कवियों ने इन प्रसंगों का निर्देश मात्र कर दिया है। सूरसागर में सांदीपनि का प्रसंग है ही नहीं। वसुदेव देवकी

की मुक्ति के पश्चात् कृष्ण नंद को विदा कर देते हैं और वे यशोदा को कृष्ण के गोकुल न लौटने की सूचना देते हैं। सूरदास ने इस अंश का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया है। नंद यशोदा संवाद के अनन्तर उससे भी अधिक विस्तार से गोपियों तथा ब्रजवासियों की विरहावस्था का चित्रण किया है। यशोदा और राधा दोनों ही पंथियों द्वारा देवकी और कृष्ण तक संदेश भेजती हैं।[२६१] गुजराती में भालण तथा प्रेमानंद ने भी नंद, यशोदा, देवकी तथा कृष्ण के भावनात्मक संघर्ष का चित्रण किया है परन्तु सूर की तुलना में वह अत्यंत संक्षिप्त है। जिस रूप में नंद, वसुदेव और कृष्ण देवकी का वाद-विवाद प्रेमानंद ने प्रस्तुत किया है वह ब्रजभाषा में उपलब्ध नहीं होता।

अपने दशमस्कंध में प्रेमानंद ने कृष्ण के अध्ययन काल की ऐसी घटनाओं का समावेश किया है जो उन्हीं के अनुसार भागवतेतर स्रोतों से उन्हें प्राप्त हुई थी। गुरु-पत्नी को ईंधन की चिंता में ग्रस्त देखकर कृष्ण, बलराम और सुदामा तीनों 'सरपण' लेने वन में जाते हैं जहाँ आँधी पानी आ जाता है। गुरु यह जानकर अपनी पत्नी पर क्रुद्ध होते हैं और सबको खोजने निकलते हैं और कृष्ण को पाकर उन्हें विष्णु समझते हुए क्षमा याचना करते हैं। कृष्ण जो काष्ठ लाते हैं उन्हें देखकर नगरवासी चकित हो जाते हैं। वे उनको अपने घर उठा ले जाते हैं पर काष्ठ कम नहीं होते।

गुरु-दक्षिणा के रूप में गुरु-पत्नी के आग्रह पर यमलोक से मृत गुरु-पुत्र वापस ला देने की कथा भागवत के दशम स्कंध के अध्याय ४५ में है, परन्तु प्रेमानंद ने जिस रूप में उसका वर्णन किया है उसमें भी कई नवीनताएँ हैं। भागवत में कृष्ण समुद्र-ग्रस्त गुरु-पुत्र को लेने सीधे प्रभास क्षेत्र में समुद्र-तट पर जाते हैं परन्तु प्रेमानंद ने उसे शिप्रा-ग्रस्त लिखा है। इसीलिए उनके कृष्ण पहले शिप्रा तट पर जाते हैं। इसके अतिरिक्त जब वे यमपुरी में पहुँचते हैं तो वहाँ के सभी पापी, पंचजन नामक राक्षस के वध से प्राप्त पांचजन्य शंख की ध्वनि सुनते ही चतुर्भुज रूप धारण करके यमराज के सर पर पैर रखते हुए वैकुंठ चले जाते हैं।[२६२] यह अंश भी भागवत में प्राप्त नहीं होता।

भ्रमरगीत—ब्रजभाषा में 'भ्रमरगीत' सम्बन्धी रचनाएँ गुजराती की अपेक्षा बहुत कम उपलब्ध होती हैं। १६वीं शती में सूरदास ने सूरसागर के अंतर्गत इस प्रसंग का विस्तार से वर्णन किया है तथा नंददास ने 'भँवर-गीत' नामक एक स्वतंत्र रचना की। तुलसी की कृष्णगीतावली में तथा अष्टछाप के अन्य कवियों के स्फुट पदों में इस विषय के भी पद प्राप्त होते हैं। कृष्णदास का 'भ्रमरगीत' संदिग्ध

रचना है। १७वीं शती में कोई स्वतंत्र रचना नहीं मिलती केवल मुक्तकों में उद्धव-गोपी संवाद यत्र तत्र वर्णित हुआ है।

गुजराती में १६वीं शताब्दी में नरसी के कुछ पद (शृंगारमाला और परिशिष्ट में) नाकर, चतुर्भुज तथा ब्रेहदेव, तीनों की भ्रमरगीताएँ और भीम वैष्णव की 'रसिक गीता' प्राप्त होती है। भालण के दशम् स्कंध में भी प्रसंगानुकूल इसका वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त प्रेमानंद की 'भ्रमर पचीशी' नानुं मोटुं दशमस्कंध की भ्रमर-गीताएँ आदि भी हैं। नरहरि का 'उद्धव-गोपी संवाद,' केशवदास की मथुरालीला और पूंजासुत की 'हरिरस कथा' के अंत के कुछ अंश उल्लेखनीय हैं।

इस प्रसंग का आधार यों तो भागवत के दशम स्कंध के ४६, ४७ अध्याय हैं। किन्तु अनुवादकों को छोड़कर अन्य सभी ने इसमें कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य किये हैं। निम्न विषयों के परिवर्तन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

१. उद्धव के ब्रज-गमन का हेतु
२. नंद यशोदा से भेंट
३. कृष्ण का सन्देश
४. भ्रमर के प्रति उपालंभ
५. गोपी-उद्धव-संवाद का आधार
६. उद्धव की कृष्ण से भेंट तथा ब्रज-दशा वर्णन

उद्धव के ब्रज-गमन का हेतु—भागवत के कृष्ण उद्धव को अपना सन्देश देकर नंद-यशोदा को प्रसन्न करने तथा गोपियों का विरह जन्य दुख दूर करने के लिए भेजते हैं। सूरदास के कृष्ण उद्धव को गोपियों को ज्ञान सिखाने के लिए नहीं परन्तु स्वयं उनका ज्ञान-गर्व नष्ट करने के लिए ब्रज भेजते हैं। इस प्रकार सारी कथा का केन्द्र ही बदल जाता है। गुजराती कवियों में अनेक ने भागवत का आंशिक अनुसरण करते हुए गोपियों के दुख निवारणार्थ ही उद्धव का ब्रज जाना वर्णित किया है।[२६३]

भालण के कृष्ण केवल माता यशोदा के दुख को दूर करने के उद्देश्य से उद्धव को ब्रज भेजते हैं परन्तु नाकर ने दोनों बातों का उल्लेख करके भागवत का पूर्णतया अनुसरण किया है।[२६४]

एकमात्र गुजराती कवि भीम ने वही कारण दिया है जो सूरदास ने आरोपित किया है। दोनों का साम्य दर्शनीय है—

सूर—याहि और कछु नहीं उपाय।
मेरो प्रकट कह्यो नहिं वदि है, अजही देंउ पठाय।
गुप्त प्रीति युवतिन की कहि कै याको करौ महंत।
गोपिन कौ परबोधन कारन जैहें सुनत तुरन्त।
अति अभिमान करैगो मन में योगिन की यह भाँति।
सूरश्याम यह निहचै करिकै बैठत हैं मिलि पाँति।
—सू० सा०, पृ० ६४०

भीम—अेवुं अभिमान ज्यारे ओधे मन आणियुं।
हवे अेहने गोकुल मेहलुं हरिअे अेम जाणियुं।
—बृ० का० दो० भाग ७, पृ० ६९६

नंद यशोदा से भेंट—भागवत के दशम स्कंध के ४६वें अध्याय में उद्धव तथा नंद यशोदा के बीच होने वाले वार्तालाप का ही वर्णन है। सारी रात्रि वे नंद की जिज्ञासा और यशोदा का दुख शान्त करने के लिए ज्ञानोपदेश देते रहें।

सूरदास ने इस प्रसंग का वर्णन बहुत ही संक्षेप में किया है। उद्धव कृष्ण का जो संदेश यशोदा को देते हैं उसमें ज्ञान का किंचित् भी स्थान नहीं है। भागवत में उद्धव गोधूलि वेला में आते हैं और नंद उनका स्वागत करते हैं किन्तु सूरदास ने झुंड की झुंड गोपियों का नंदादि के साथ स्वागतार्थ जाना वर्णित किया है—

नन्द हर्षित चले आगे सखा हर्षत अंग।
झुंड झुंडन नारि हर्षत चली उदधि तरंग।
—सू० सा०, पृ० ६४६

भागवत के अनुसार गोपियों को उद्धव का रथ देखकर अक्रूर के पुनरागमन का भ्रम होता है, कृष्ण बलराम के आगमन का नहीं किन्तु सूरदास ने दोनों का ही वर्णन किया है—

१. कैधों बहुरि अक्रूर क्रूर है जियत जानि उठि धायो है।
—सू० सा०, पृ० ६४८

२. आवत बलराम श्याम सुनत दौरि चलीं बाम।
मुकुट झलक पीतांबर मन मन अनुरागे।
—वही, पृ० ६४६

इस प्रकार सूर ने भागवत की वस्तु को नवीनता दे दी है।

गुजराती में प्रेमानंद ने संवाद के प्रसंग को भागवत के अनुसार ही नानुं मोटुं दशमस्कंध की दोनों भ्रमरगीताओं में समुचित स्थान दिया है। उनकी 'भ्रमरपचीशी' में भी इसका समावेश है। उद्धव नंद को भागवत जैसा ही ज्ञान का उपदेश देते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने इतना महत्त्व इस प्रसंग को नहीं दिया।

कृष्ण का संदेश—भागवत के कृष्ण उद्धव को मौखिक रूप से अपना संदेश देकर गोपियों की वियोग-व्यथा दूर करने का आग्रह करते हैं परन्तु वह संदेश क्या था इसका उसमें उल्लेख नहीं है। सूर के कृष्ण नंद-यशोदा, राधा, श्रीदामा तथा एक मित्र विशेष को पृथक्-पृथक् लिखित संदेश देते हैं—

पाती लिखि ऊधो कर दीन्हीं।

—सू० सा०, पृ० ६४३

कुब्जा भी राधा के लिए ऊधो को पाती लिख कर देती है।

तुलसी की 'कृष्णगीतावली' तथा नंददास के 'भँवरगीत' में पाती का प्रसंग नहीं है। उद्धव को मौखिक संदेश ही दिया गया है। गुजराती के किसी कवि ने 'पाती' द्वारा संदेश देने का वर्णन नहीं किया। नरसी मेहता ने लौटते समय उद्धव को, कृष्ण के लिए राधा द्वारा पत्र दिये जाने का अवश्य उल्लेख किया है—

लाव लाव सखी अेक कागल लखीअे हरिने रे।
लखीतंग चरणरजदास राधिका नारी के।

—न० कृ० का०, पृ० ४१५:१६

भ्रमर के प्रति उपालंभ—भागवत में उद्धव-गोपी-संवाद के समय कहीं से एक भौंरा आ जाता है जिसको गोपियां कृष्ण का दूत मानकर कृष्ण को उपालंभ देने लगती हैं।[२६५] इसी के आधार पर सारा प्रसंग 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। भ्रमर के आगमन को लेकर कवियों के दो वर्ग हो जाते हैं। प्रथम तो वे जिन्होंने भ्रमर का प्रसंग लिया है जिनमें सूरदास, नंददास, ब्रेहदेव, नाकर और चतुर्भुज हैं। इनके पदों में अनेक पद ऐसे हैं जो वस्तुतः उद्धव के प्रति कहे गये हैं।[२६६]

प्रेमानंद ने मोटुं दशमस्कंध की भ्रमरगीता में भ्रमर को नितान्त नवीन रूप दे दिया है। भ्रमर गोपियों द्वारा कल्पित कृष्ण दूत नहीं है वरन् स्वयं कृष्ण उस रूप को धारण करके गोपियों के बीच आते हैं। गोपियां उन्हें पहचान लेती हैं पर उद्धव इस रहस्य को अन्त तक नहीं जान पाते—

गोष्ठी सांभलवा गोपी उद्धवनी, सांभल परीक्षित भूप।
मथुरा थी श्रीकृष्ण पधार्या धरी भमरानुं रूप।
मधुकर बोले मधुरी बाणी, ते गोपी ना गुणगाय।
उद्धव जी कांइये नव पीछे, गोपिअे ओलख्या हरिराय।

—श्रीम० भा०, पृ० ३२८

दूसरे वर्ग में भीम, नरहरि, भालण आदि गुजराती के कवि हैं जिन्होंने भ्रमर का उल्लेख ही नहीं किया। उनका सारा वर्णन उद्धव-गोपी-संवाद के रूप में है और अपनी कृतियों का नामकरण भी उन्होंने उसी के अनुरूप किया है।

गोपी-उद्धव-संवाद—भागवत में जो संदेश उद्धव ब्रजवासियों को देते हैं उसको सुनकर किसी में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। गोपियाँ अवश्य कृष्ण की स्मृति में विभोर हो जातीं हैं किन्तु उसी से उनका विरह निवारण भी हो जाता है और वे उद्धव की पूजा करती हैं। उद्धव भी ज्ञान का संदेश देने के पूर्व और पश्चात् गोपियों की भक्ति की मुक्त हृदय से प्रशंसा करते हैं।[२६७] इससे स्पष्ट विदित होता है कि ज्ञान तथा भक्ति, निर्गुण तथा सगुण और योग तथा उपासना में प्रतिद्वंद्विता दिखाकर एक से दूसरे को श्रेष्ठ सिद्ध करना भागवतकार का उद्देश्य नहीं था।

गुजराती तथा ब्रजभाषा के अनेक कवियों ने गोपियों द्वारा उद्धव के संदेश की कटु आलोचना, परिहास तथा तिरस्कार कराया है। ज्ञान और योग द्वारा निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के निवृत्ति मार्ग को उपहासास्पद सिद्ध करके गोपियाँ भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करती हैं और उद्धव अन्त में पराजित होकर उसे स्वीकार कर लेते हैं। सूरदास तथा भीम ने भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन गोपियों का ही नहीं, कृष्ण का भी अभीप्सित सिद्ध करते हैं। नरसी के पदों में इसका कोई उल्लेख नहीं है।

ब्रजभाषा के अन्य कवियों ने प्रायः सूर का ही अनुकरण किया है और गुजराती के कवियों भीम, प्रेमानंद आदि ने भी वैसे ही विचार व्यक्त किये हैं। इस प्रकार यह संवाद अपने आप में भागवत से पर्याप्त भिन्न रूप में विकसित हुआ है। नंददास, ब्रेहदेव, नरहरि तथा प्रेमानंद ने उद्धव द्वारा ज्ञान पक्ष को विशेष विस्तार के साथ प्रस्तुत कराया है। संवाद के ही अन्तर्गत कुछ कवियों ने कृष्ण की विविध लीलाओं तथा अवतारों का भी संदर्भ दिया है।[२६८]

कुब्जा के प्रति व्यंग—भागवत की गोपियाँ कुब्जा के प्रति स्पष्ट रूप से व्यंग कहीं भी नहीं करतीं। एक स्थल पर मधुप के माध्यम से सपत्नी के प्रति ईर्ष्या भाव का प्रदर्शन मिलता है। मथुरा की स्त्रियों के प्रति भी जिज्ञासा मिश्रित इसी भाव

का प्रदर्शन किया गया है। इसके अतिरिक्त कई स्थलों पर लक्ष्मी के प्रति उपालंभ स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है।[२६९]

वस्तुतः दोनों भाषाओं के कवियों ने कुब्जा को व्यंग का आधार बना कर उसे वही स्थान दे दिया जो भागवतकार ने लक्ष्मी को दिया है। इस विषय में सूर, नंद-दास, नरसी, प्रेमानंद, भालण आदि सबकी स्थिति एक सी है। सूर की गोपियों के पास कुब्जा ने पत्र भी भिजवाया है जिससे वे भ्रमर के प्रति 'कुबिजा तोहि पठायो' कह कर और भी कटु व्यंग करती हैं।[२७०]

उद्धव का कृष्ण से मिलकर ब्रज-दशा-वर्णन—भागवत में उद्धव के, गोपियों के भक्ति-भाव से, प्रभावित होने का विस्तार से वर्णन है, किन्तु कृष्ण से मिलकर उन्होंने क्या कहा इसना संकेतमात्र है—

> कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम्
> वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥७०॥
>
> —द० स्कं० ४७ अध्याय

सूरदास के उद्धव कृष्ण को अत्यंत विस्तार से ब्रज का समाचार देते हैं तथा भक्ति की महत्ता, ज्ञान योग की पराजय तथा गोपियों की विरह दशा का भी विशद वर्णन करते हैं। नंददास ने भी अपने भंवरगीत के अन्त में इसी प्रकार का संक्षिप्त वर्णन किया है। गुजराती भ्रमरगीताओं की परिसमाप्ति उद्धव विदा के पश्चात् ही हो जाती है। भालण ने बहुत ही संक्षेप में उपसंहार के रूप में संदेश दिलाया है।

कुब्जा (सैरन्ध्री) रमण, अक्रूर गृह गमन, धृतराष्ट्र को संदेश प्रेषण—भागवत में यह तीनों प्रसंग भ्रमरगीत के पश्चात् वर्णित हैं परन्तु सूरसागर में कुब्जा-कृष्ण समागम का वर्णन भ्रमरगीत के पूर्व ही प्राप्त हो जाता है। शेष दोनों यथाक्रम बाद में मिलते हैं। इस विषय में भालण प्रेमानंद आदि दशमस्कंधकारों ने भागवत के क्रम का अनुसरण करते हुए सूर की अपेक्षा अधिक विस्तार किया है परन्तु उसमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। प्रेमानंद ने अवश्य कुंती और धृतराष्ट्र के अति-रिक्त अक्रूर के पांडवों से मिलने का वर्णन किया है जो भागवत में नहीं है।[२७१]

जरासंध-विजय, कालयवन और मुचकुंद वध, द्वारका-प्रस्थान—इन प्रसंगों के वर्णन की भी परिस्थिति पूर्ववत् ही है। सूरसागर में इनका वर्णन बहुत संक्षिप्त है, युद्ध का वर्णन नदी के रूपक मात्र तक सीमित है। कालयवन और मुचकुंद वध की कथाओं का मात्र एक पंक्ति में वर्णन है और जिस योग-प्रभाव से भागवत के कृष्ण ने समस्त मथुरावासियों को नवनिर्मित द्वारकापुरी में पहुँचा दिया उसका

संकेत भी सूर ने नहीं किया है। पूर्वोक्त गुजराती के कवियों ने इन सब प्रसंगों का सविस्तार वर्णन किया है। द्वारावती-प्रवेश के समय रथ की शोभा तथा चौगान के खेल का जो वर्णन सूर ने किया है वह न तो भागवत में है न गुजराती काव्यों में।[२०२] भालण ने कालयवन की उत्पति की कथा दी है जो ब्रह्म, विष्णु तथा हरिवंश पुराण में प्राप्त होती है।

द्वारका-लीला

रुक्मिणी-हरण—इस विषय को लेकर गुजराती में ब्रजभाषा की अपेक्षा कहीं अधिक काव्य-रचना हुई। १५वीं शती में दोनों भाषाओं में रुक्मिणी सम्बन्धी किसी स्वतंत्र काव्य का निर्माण हुआ हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। किन्तु १६वीं शताब्दी में रुक्मिणी-विवाह सम्बन्धी नरसी का एक पद तथा अन्य रचनाएँ प्राप्त होती हैं। काशीसुत शेधजी तथा फूढ दोनों की 'रुक्मिणीहरण' नामक दो रचनाएँ मिलती हैं। भालण तथा केशवदास के दशमस्कंधों में वर्णित रुक्मिणी विवाह भी उपेक्षणीय नहीं है और ब्रजभाषा में नंददास का 'रुक्मिणीमंगल' और सूरदास के सूर-सागर में 'श्रीकृष्ण रुक्मिणी विवाह' तथा इसी विषय के उनके अन्य स्फुट पद प्राप्त हैं। १७वीं शती के ब्रजभाषा साहित्य में रुक्मिणी पर एक भी काव्य नहीं मिलता किन्तु गुजराती में अनेक हैं। देवीदास का 'रुक्मिणी-हरण' प्रेमानंद के 'रुक्मिणी-हरण ना सलोको और 'रुक्मिणी-हरण कृष्णदास को रुक्मिणी-हरण हमचो या हमचडी' तथा विष्णुदास का इसी नाम का काव्य उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त इस शती में प्रेमानंद, लक्ष्मीदास आदि ने भी अपने दशमस्कंधों के अंतर्गत इस प्रसंग का वर्णन किया है।

सूर और नंददास ने मूलतः भागवत में दशमस्कंध उतरार्ध के ५२, ५३, ५४ अध्यायों में वर्णित कथा का ही अनुसरण किया है किन्तु गुजराती के कवियों ने अन्य पुराणों से भी सहायता ली है। शेध जी ने भागवत के अतिरिक्त हरिवंश और विष्णुपुराण का आश्रय लिया है।[२०३] प्रेमानंद ने इसमें से प्रथम दो पुराणों के साथ ब्रह्मवैवर्त के श्रीकृष्ण खंड का उल्लेख और किया है। विष्णुपुराण का आश्रय उन्होंने नहीं लिया है। रुक्मिणीहरण के रचयिता फूढ तथा इस विषय के उक्त अन्य सभी गुजराती कवियों पर भागवतेतर पुराणों की कथा का प्रभाव है। भालण ने भी अन्य पुराण का आधार स्वीकार किया है—

'कही कथा भागवतनी, कांई अन्य पुराण'

—दशम०, पृ० २८०

इस प्रभाव को स्पष्टतया परिलक्षित करने के लिए आवश्यक है कि रुकिमणी-हरण की कथा के विभिन्न अंशों पर पृथक्-पृथक् विचार किया जाय।

१. **कुंडिनपुर**--रुक्मिणी के पिता भीष्मक की राजधानी का नाम पुराणों में कुंडिनपुर ही मिलता है। परन्तु सूर, नंददास तथा भालण ने 'कुंदनपुर' लिखा है और प्रेमानंद ने 'कुंतलपुर'।[२७४] एक स्थल पर प्रेमानंद ने 'कुंदनपुर' भी लिखा है तथा सूर ने भागवतोक्त 'कुंडिनपुर' रूप को भी स्वीकृत किया है।

२. **नारद का हस्तक्षेप**—कुछ कवियों ने कृष्ण के प्रति रुक्मिणी के पूर्वराग का कारण नारद द्वारा उनका गुणगान माना है। भागवत में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। सूर ने भी नारद को स्थान नहीं दिया पर नंददास ने 'जब ते तुम्हरे गुनगन मुनिजन नारद गाए' लिखा है। गुजराती के शेध, देवीदास, कृष्णदास तथा प्रेमानंद ने यह कार्य नारद को ही दिया है। प्रेमानंद ने नारद को विवाह करवाने वाले पुरोहित का रूप दे दिया है। भीष्मक उनको श्रीफल के साथ कृष्ण के पास भेजते हैं। वे उन्हें श्रीफल देते हुए रुक्मिणी के प्रेम का वर्णन करते हैं।[२७५]

प्रेमानंद ने नारद का कलहकारी स्वभाव भी दिखाया है। राह में आते हुए नारद रुक्म से मिलते हैं, उसको इस विवाह की सूचना देते हैं और द्रविड देश का राजा कहकर शिशुपाल का गुणगान करने लगते हैं। परिचय में अपने को शिशुपाल के लिए कुंडिनपुर में कन्या खोजने के लिए आया बताते हैं। रुक्म बहिन का विवाह शिशुपाल से करने की स्वीकृति दे देता है। फलतः आगे संघर्ष होता है। इस प्रसंग में नारद का यह रूप किसी पुराण में नहीं है।

३. **कृष्ण के नाम रुक्मणी की पत्री तथा वाहक हरिभट ब्राह्मण**—हरिभट नाम के अतिरिक्त कथा के इस अंश का मूलाधार भागवत ही है। रुक्मिणी किसी 'आप्त द्विज' को बुलाकर 'गुह्य संदेश' भेजती है।[२७६] पत्री का तथा किसी चमत्कारिक ढंग से ब्राह्मण के पहुँचने का उल्लेख वहाँ नहीं है। रुक्मिणी ने 'राक्षसेन विधिनोद्वह' तथा 'कुलदेवियात्रा' कह कर हरण की सारी विधि कृष्ण को बतला दी है। हरिवंश पुराण में कृष्ण ने बलराम से पूछ कर हरण किया।[२७७] विष्णुपुराण में यह प्रसंग अत्यंत संक्षिप्त है। ब्रह्मवैवर्त में द्विज पत्रिका उग्रसेन को देता है।[२७८] ब्राह्मण का नाम हरिभट किसी पुराण में प्राप्त नहीं होता।

हरण-विधि का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए भी सूरदास और नंददास ने पाती का स्पष्ट वर्णन किया है। सूर ने 'द्विज पतिया दै कहियो स्यामहिं' के साथ मौखिक संदेश के रूप में 'बाजे शंख जानि हौं साची आयो यादवराय' लिखकर कृष्ण के

बुलाने का संकेत मात्र दे दिया है। नंददास ने केवल 'उचित होइ सो करिये' कहा है रुक्मिणी-मंगल में कृष्ण आँखों में आँसू आ जाने के कारण द्विज से ही पत्रिका पढ़वाते हैं। हरिभट नाम दोनों में से कोई नहीं देता।

गुजराती के प्रेमानंद और देवीदास की कृतियों में हरिभट का स्पष्ट उल्लेख है शेष में नहीं। प्रेमानंद ने ब्राह्मण के बुलाने के स्थान पर स्वयं रुक्मिणी का उसके घर जाना वर्णित किया है। ब्राह्मण के चमत्कारिक ढंग से पहुँचने का दोनों ने भिन्न भिन्न रूप में वर्णन किया है। शेधजी ने कृष्ण के नंद और सुनंद नामक दो गणों का, देवीदास ने थक कर सोये हुए ब्राह्मण को कृष्ण कृपा का तथा प्रेम नंद ने चार योजन चल कर वृक्ष की छाया में सोये हुए भूखे ब्राह्मण को कृष्ण की कर्षिणी शक्ति का आश्रय दिलाया हैं। प्रेमानंद ने हरण-तिथि 'वैशाख सुदी हरिपर्वणि गुरु-वार कृपा अंब तणी' का भी उल्लेख किया है। रुक्मिणी की पत्री पाने के पश्चात् शेधजी के कृष्ण उग्रसेन को उसकी सूचना देते हैं—

> आनंद आणी उठी आने उग्रसेन कने जाय।
> वेह पाण्य जोडी शीस नामी पत्र मेहलूं पाय ॥२७॥

४. देवी का प्रत्यक्ष प्रकट होना—इस प्रसंग में सूर ने 'गौरी सुनि मुसकायी' तथा नंददास ने 'ह्वै प्रसन्न अंबिका कहति सुनु रुक्मिनि सुंदरि' लिखकर देवी की प्रसन्नता का वर्णन किया है। भागवत में ऐसा कुछ नहीं है।

गुजराती में शेध जो ने 'मुद्रिका सहीत कर गह्यो सखी ये जाणे वैष्णवीमाय', 'देवीदास ने नमस्कार करतां प्रसन्न थयां आशीष अंबे दीध' लिखा है किन्तु प्रेमानंद ने देवी द्वारा रुक्मिणी को आलिंगित करने तथा फिर उनकी सखी बन जाने का भी वर्णन किया है—

> हुंतो सहेली रूपे थाऊं।
> अंदा रुक्मिणी रस्ता मा रमे। जन जुवे तैने मनगमे।

५. विवाह वर्णन—भागवत में 'पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरूद्वह' (१०।५५।५३) अर्थात् द्वारका में विवाह के विधिवत् सम्पन्न होने का संकेत भर है। नंददास ने भी इसी प्रकार 'विधिवत् कियो विवाह तिहूं पुर मंगल गाये' लिखा किन्तु सूरदास ने विवाह का पूर्ण वर्णन किया हैं। ब्रह्मा द्वारा, इन्द्र को उपस्थिति में, विवाह सम्पन्न होता है।

गुजराती में शेध जी तथा भालण रुक्मिणी-कृष्ण का पाणिग्रहण गर्गाचार्य द्वारा कराते हैं।[२७९] परन्तु केशवदास, देवीदास और प्रेमानंद ने सूर की भाँति देवताओं द्वारा विवाह कराया है। केशवदास ने देवताओं की उपस्थिति का ही वर्णन किया, देवीदास तथा प्रेमानंद ने ब्रह्मा को रुक्मिणी का पिता तथा सावित्री को माता बनाकर कन्यापक्ष का पूर्ण प्रतिनिधित्व करा दिया है।[२८०] विवाह का यह वर्णन ब्रह्मवैवर्त पुराण में है उसमें भी सब देवता सम्मिलित होते हैं किन्तु विवाह द्वारका में न होकर कुंडिनपुर में होता है और कन्यादान भीष्मक स्वयं करते हैं, ब्रह्मा नहीं—

भीष्मकः साश्रुनेत्रश्च कन्यां कृष्णे समर्प्य च।

—१०९: ३६

नरसी के एक पद में, गर्गाचार्य के पुरोहित होने तथा ब्रह्मा के कन्यादान देने, दोनों का वर्णन है—

गर्गाचार्य हाथेवाळो मेळव्यो ब्रह्माजी तो दे छे कन्यादान।

—न० कृ० का० पृ० ५२५

कंकण छोड़ना—गुजराती में देवीदास तथा प्रेमानंद ने विवाह के साथ कंकण छोड़ने का भी वर्णन किया है किन्तु ब्रजभाषा में रुक्मिणी विवाह विषयक काव्य में यह प्रसंग नहीं है—

देवीदास—दोरडी दशगाठ बांधो छोड़े श्रीयदुराय रे।
प्रेमानंद—तारे दोरडियो दशगाठ छबीलो दोरडो नव छूटे।

रुक्मिणी की भक्ति-परीक्षा—भागवत दशम के ६०वें अध्याय में रुक्मिणी-परिणय के बाद के इस प्रसंग का वर्णन है सूरदास ने इसका वर्णन सूरसागर (पृ० ७३८) में किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने रुक्मिणी द्वारा राधा आदि ब्रज-बालाओं के स्नेह के प्रति जिज्ञासा व्यक्त करायी है जिसका निवारण कृष्ण स्वयं करते हैं (पृ० ७५३: ५४)।

गुजराती कवियों में भागवतोक्त पहले प्रसंग का वर्णन केशवदास आदि दशम स्कंधकारों में मिल जाता है पर दूसरे का नहीं मिलता।

उक्त अंशों के अतिरिक्त गुजराती में प्रेमानंद द्वारा बलराम के साथ नेमिनाथ का युद्ध में भाग लेना, रुक्मिणी से सुभद्रादि का परिहास, तथा ब्रजभाषा में सूर द्वारा 'गारिका' वर्णन विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

सुदामा-दारिद्र्य-भंजन—ब्रजभाषा में इस विषय पर सूरदास, नंददास तथा नरोत्तमदास ने काव्य-रचना की और गुजराती में दशमस्कंधकारों के अतिरिक्त नरसी, कृष्णदास तथा प्रेमानंद ने। नरोत्तम तथा प्रेमानंद के सुदामाचरित की कथावस्तु अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक सुगठित और सुसम्बद्ध है। प्रेमानंद ने वर्णन में स्वाभाविकता लाने के लिए अनेक परिवर्धन किये हैं जो भागवत के सुदामाचरित में नहीं हैं। जैसे द्वारका जाते समय सुदामा से उनके पुत्रों का भोजन लाने का हठ, द्वारका के बालकों का सुदामा पर पत्थर फेंकना, कृष्ण की रुक्मिणी आदि पट-रानियों की उपस्थिति, कृष्ण द्वारा सुदामा को प्रत्यक्ष कुछ न दिये जाने पर सत्यभामा की चिंता तथा रुक्मिणी का शंका निवारण, वृद्ध सुदामा दम्पति का तरुण हो जाना आदि।[२८१]

भागवत में शैव्या का उल्लेख है रुक्मिणी का नहीं पर यहाँ सब कवियों ने रुक्मिणी को ही उपस्थित माना है—

देवी पर्यचरच्छैव्या चामरव्यजनेन वै'

—भागवत १०:८०:२३

सुदामा के दारिद्र्य की अतिरंजना और कृष्ण की मैत्री के आदर्शीकरण के अतिरिक्त मूल कथा में किसी कवि ने परिवर्तन नहीं किया।

कौरवों पांडवों के बीच कृष्ण का दूतत्व—गुजराती काव्य में इस विषय पर अनेक स्वतंत्र आख्यान-काव्य लिखे गये हैं। भालण और नाकर की 'कृष्णविष्टि तथा भाऊ और फूढ की 'पांडवविष्टि' ऐसी ही कृतियाँ हैं। इनकी प्रेरणा भागवत न होकर महाभारत है ब्रजभाषा में इस विषय का कोई भी काव्य उपलब्ध नहीं होता।

स्यमंतक मणि की कथा तथा कृष्ण के अन्य विवाह—सत्राजित की स्यमंतक मणि और उससे सम्बद्ध जाम्बवान अक्रूर आदि की कथा भागवत दशम के ५६, ५७ वें अध्यायों में वर्णित है। इसी मणि के साथ सत्राजित अपनी पुत्री सत्यभामा तथा जाम्बवान अपनी पुत्री जाम्बवती कृष्ण को अर्पित कर देते हैं।

सूरदास ने दो पदों (पृ० ७३५:७३६) में इस कथा का वर्णन किया है। भालण ने कथा के साथ ही दोनों के विवाहों का विस्तृत वर्णन किया है जिसमें भागवत के अतिरिक्त हरिवंश आदि पुराणों का भी आधार लिया गया है।[२८२]

सत्यभामा के विवाह का वर्णन ब्रजभाषा में नहीं है। भागवत के ५८वें अध्याय में वर्णित कालिन्दी, सत्या, भद्रा, मित्रविन्दा और लक्ष्मणा के विवाह की ओर भी

सूरसागर के एक पद में संकेत किया गया है किन्तु सत्या के स्थान पर वहां सीता लिखा मिलता है—

हरि चरननि सीता चित दीन्हों।

—सू० सा०, पृ० ७६३

अन्य गुजराती दशमस्कंधकारों ने भी इन विवाहों का संक्षेप में ही वर्णन किया है।

सत्यभामा का मान तथा नरकासुर-वध—कृष्णविष्टि की भाँति गुजराती में सत्यभामा के मान के प्रसंग पर 'सत्यभामानुं रुसणु' नामक काव्य लिखने की एक परम्परा रही है। मीरां की इसी नाम की कृति (एक दीर्घ पद) तथा भालण के दशम स्कंध के अनेक पद (पृ० ३२५–३२९) इसके उदाहरण हैं। ब्रजभाषा में केवल सूरदास के एक पद में इस प्रसंग का संकेत मिलता है।[२८१]

भागवत में नरकासुर-वध के अनन्तर कृष्ण के द्वारा स्वर्ग से पारिजात वृक्ष लाकर सत्यभामा के उद्यान में स्थापित किये जाने की कथा दी गई है। किन्तु उसमें पारिजात के लिए सत्यभामा के रूठने का लेशमात्र भी इंगित नहीं किया गया है। सत्यभामा के भवन में इन्द्र आकर वरुण के छत्र तथा अपनी माता के कुंडल आदि के अपहरण की शिकायत करके कृष्ण को नरकासुर (भौमासुर) के वध के लिए प्रेरित करते हैं और कृष्ण सत्यभामा के साथ 'प्राग्ज्योतिषपुर' जाकर उसका वध करते हैं तथा स्वर्ग से पारिजात लाते हैं। तत्पश्चात् वे नरकासुर द्वारा अपहृत अनेक राजाओं की सोलह सहस्त्र एक सौ कन्याओं से उतने ही रूप धारण करके विवाह करते हैं। सूरसागर में इस प्रसंग का भी उल्लेख है (पृ० ७३७) गुजराती कवियों में भालण आदि दशमस्कंधकारों ने तथा शिवदास ने अपने 'नरकासुर नूं आख्यान' में विस्तार से इसका वर्णन किया है।

इस प्रकार सत्यभामा का रूठना और नरकासुर का वध वस्तुत: दो प्रसंग हैं जो पारिजात वृक्ष के द्वारा आपस में गुंफित हैं। जैसा भालण की रचना से स्पष्ट है—

सतभामा ने आंगण रोप्यो मुख नी वाचा पाली।
पारिजातक आणी ने श्यामा रीसावी टाली।

—दश० स्कं०, पृ० ३२५

मीरां के 'सत्यभामानुं रुसणु' से नरकासुर की कथा का कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता है।

सूरसागर में स्वयं कृष्ण ही सत्यभामा के हृदय में पारिजात की प्रेरणा उत्पन्न करते हैं। वे 'भक्त भय हरन असुर अंतकारी' कृष्ण नरकासुर के बंदीगृह से कन्याओं के उद्धार के लिए ऐसा करते हैं।

गुजराती कवियों ने पारिजात के लिए सत्यभामा के रूठने के सम्बन्ध में इससे भिन्न कथा दी है। नारद एक पारिजात का वृक्ष द्वारका में लाते हैं कृष्ण उसे रुक्मिणी को देते हैं। सत्यभामा सखी से इस बात को सुनते ही ईर्ष्यालु होकर कोपभवन में चली जाती है। कृष्ण उसे मनाने के लिए स्वर्ग से पारिजात लाकर देते हैं। मीरां तथा भालण ने यही कथा दी है जो ब्रजभाषा में नहीं मिलती।

अन्य विरोधियों का वध—द्वारकावासी कृष्ण बाणासुर, पौंड्रक, शिशुपाल, शाल्व और दन्तवक्र आदि का वध करते हैं। ये भागवत की कथाएँ सूरसागर में बहुत संक्षेप में प्राप्त होती हैं। गुजराती में भी दशमस्कंधकारों ने कोई विशेषता न दिखाते हुए इनका साधारण रूप में ही समावेश किया है। भागवत के 'पौंड्रक' को सूर ने 'पुंडरीक' और भालण ने 'प्रौढक' बना दिया है।[२८४]

बलराम का ब्रजगमन तथा यमुनाकर्षण—भागवत दशम के ६५ वें अध्याय में वर्णित इस कथा के प्रसंग में सूर ने ब्रजबालाओं के उद्‌गारों का विस्तार से वर्णन किया है जो गुजराती के दशमस्कंधकारों ने नहीं किया।

अन्य प्रसंग—भागवत में वर्णित नृग-उद्धार, नारद-संशय, देवकी-पुत्र प्राप्ति आदि कुछ और प्रसंग भी दोनों भाषाओं की उपर्युक्त कृतियों में उपलब्ध होते हैं जिनमें कोई उल्लेखनीय बात नहीं है।

कुरुक्षेत्र में पुनर्मिलन—कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर कृष्ण तथा ब्रजवासियों के पुनर्मिलन का भागवत के ८२वें अध्याय में वर्णन है और गुजराती दशमस्कंधकारों ने उसी के अनुसार इसे भी चित्रित किया है परन्तु सूरदास ने उसका स्वतंत्र वर्णन करके पर्याप्त नवीनता का समावेश कर दिया है।

पहले द्वारका जाते हुए पथिक के प्रति ब्रजबालाओं तथा यशोदा के संदेश का वर्णन है फिर राधा की विरहावस्था विषयक पद हैं (पृ० ७५०-५४) उसके बाद कृष्ण रुक्मिणी का वार्तालाप है। कृष्ण रुक्मिणी से ब्रजवासियों के स्नेह की प्रशंसा करके अपना दुख प्रकट करते हैं फिर सभा में यादवों से परामर्श करके कुरुक्षेत्र पर्व स्नान के लिए जा पहुँचते हैं। वहाँ से वे एक दूत ब्रज से नंदादि को लेने के लिए भेजते हैं जो ब्रज आकर नंद यशोदा से संदेश कहता है। राधा

इसे सुनते ही रोने लगती है। एक सखी उसे समझाती है। तत्पश्चात् उत्साहपूर्वक सभी ब्रज वासी अपने अपने वाहनों पर कुरुक्षेत्र पहुँचते हैं। जब रुक्मिणी कृष्ण से पूछती है कि राधा कौन है तो कृष्ण राधा का परिचय देते हैं। रुक्मिणी राधा को अपने मन्दिर ले जाती है कृष्ण भी वहाँ पहुँचते हैं फिर राधा माधव का मिलन होता है। इसके बाद कृष्ण ब्रजवासियों से मिलते हैं (पृ० ७५७ तक)।

भागवत में न रुक्मिणी-कृष्ण का संवाद है न पथिक द्वारा संदेश भेजने की बात। कृष्ण कोई दूत भी नहीं भेजते, नंदादि स्वयं कृष्ण का कुरुक्षेत्र में आना सुनकर वहाँ पहुँच जाते हैं। कृष्ण पहले नंद यशोदा से मिलते हैं फिर गोपियों से।

सूर ने राधाकृष्ण के मिलन को ही प्रधानता दी है ब्रजवासियों तथा राधा-कृष्ण के पुनर्मिलन का वर्णन ब्रह्मवैवर्त पुराण के कृष्ण जन्म खंड के १२६-२७ अध्यायों में मिलता है परन्तु उसमें अकेले कृष्ण ब्रज जाते हैं और सबको गोलोक ले जाते हैं। ब्रह्मवैवर्तकार ने कुरुक्षेत्र में राधाकृष्ण मिलन नहीं कराया अतएव सूर द्वारा वर्णित प्रसंग या तो स्वकल्पित है या उस पर कुछ कुछ ब्रह्मवैवर्त की छाया मानी जा सकती है। गुजराती के किसी भी दशमस्कंधकार ने ऐसा वर्णन नहीं किया। प्रेमानंद का दशमस्कंध तो अपूर्ण ही है।

कृष्ण कथा के अतिरिक्त कृष्ण सम्बन्धी वस्तुओं यमुना, मुरली, ब्रज आदि पर भी स्वतन्त्र रूप से काव्य रचना हुई है।

सिद्धान्त विषयक काव्य—कृष्ण-लीलाओं पर आधारित काव्यों के अतिरिक्त भक्ति तथा सिद्धान्त विषयक काव्य भी रचे गये। इस विषय में गुजराती में केवल नरसी के 'भक्तिज्ञाननांपदो' उपलब्ध होते हैं।

ब्रजभाषा में वल्लभ-सम्प्रदाय में नंददास की 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' सूर आदि अष्टछाप के कवियों के पद, शोभाचंद का 'भक्ति विधान'; राधावल्लीय-सम्प्रदाय में हितहरिवंश, हरिराम व्यास आदि के सिद्धान्त विषयक पद और ध्रुवदास कृत 'भजनसत', भजन शिक्षा, 'वैंदकलीला', 'भजनकुंडली', 'ख्यालहुलास', 'जीवदिसा'; निम्बार्क सम्प्रदाय में हरिव्यास तथा परशुराम देव की रचनाएँ तथा हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी हरिदास तथा विहारिन देव के सिद्धान्त के पद पीतांबर देव की सिद्धान्त की साखी, रसिक देव की "भक्तसिद्धान्तमणि" उल्लेखनीय हैं।

पादटिप्पणियाँ

१. क. सूरदास : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा पृ० २६३. प्रथम संस्करण

ख. गोकुले मथुरायां च द्वारावत्यां ततः क्रमात् ।
कृष्ण लीला त्रिधा प्रोक्ता तत्तद्भेदैरनेकधा ।।

—श्रीकृष्ण लीला संग्रह : श्रीधर कारिका

२. गुजराती—भीम, हरि० षो०, पृ० १३८; नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४३६; लक्ष्मीदास : दशमस्कंध : कड़वां ७; प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २४०.

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १२६, १३०; नन्ददास : नंद० पृ० २०९.

३. भालण—दशमस्कंध : पृ० १७, १९

४. गुजराती—भालण : दशमस्कंध, पृ० १५; केशवदास : श्रीकृष्ण ली० का०, पृ० १६; प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २४२,

ब्रजभाषा—नंददास : नंद० पृ० २१३

५. भा० १० : ६ : २

६. क. ब्र० वै०, अ० १०

ख. हरिवंश : अ० ६३

७. "सा खेचर्यंकदोपेत्य ······" भा० १० : ६ : ४

गुजराती—भीम : हरि० षो०, पृ० १४२, १४३, नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४३४, ५००, भालण : द० स्कं०, पृ० २६; केशवदास : कृ० लीला० का०, पृ० २८; प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २४४, २४७

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १३४, २; नंददास : नंद०, पृ० २२१; गदाधरभट्ट : श्री० ग० बा०, पृ० २१

८. प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २४५

९. सू० सा०, पृ० १३५

१०. पद्म पु०, २७२, ८२, ८५; ब्रह्म० पु०. १८४, २२, २८;. विष्णु० पु०, ७, १, ७

११. फा० सभा० हु० प्र० नं० ३६१

१२. फा० सभा० हु० प्र० नं, ३२५

१३. न० कृ० का०, पृ० ४२५

१४. न० कृ० का०, पृ० ४६७

१५. भीम : हरि० षो०, पृ० १४८; भालण : दशमस्कंध पृ० २६; केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ३३, ३४

१६. गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४३३; प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २४६; शिवदास फा० सभा० हु० प्र० नं० ५३ प., कड़वा ७

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १३६

नंददास : नंद०, पृ० २२५, २२६; परमानंद : पृ० १२४, वर्ग ६

१७. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १३८ नंददास, नंद०, पृ० २२६,

गुजराती—केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ३४; भालण : दशमस्कंध, पृ० ३१; प्रेमानंद

श्रीम० भा०, पृ० २४९

१८. गुजराती—भालण : दशमस्कंध, पृ० ३१; प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २४६,

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १३८

१९. प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २५०

२०. नंददास : नंद०, पृ० २२८

२१. सूरदास : सू० सा०, पृ० १८४

२२. नन्ददास : नंद०, पृ० २२८

२३. केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ३६; प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २५०

२४. प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २५०

२५. सूरदास : सू० सा० पृ० १६५

२६. सूरदास : सू० सा० पृ० १६६

२७. नंददास : नंद०, पृ० २३३. २३४

२८. नरसी : न० कृ० का०, पृ० २६८; भीम : हरि० बो०, पृ० १४९

२९. भालण : दशमस्कंध, पृ० ३०

३०. केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ४०

३१. केशवदास : वही० पृ० ४६

३२. सूरदास : सू० सा०, पृ० १६४, १६५, पद २१—२५

३३. सूरदास : सू० सा०, पृ० १६४, पद २१

३४. केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ४०, ४१; परमानंद : हरिरस, फा० सभा० हु० प्र०, पृ० ३२५

३५. ब्रह्मवैवर्त : कृ० खं० १४:२६, १४:४०; भागवत : दशमस्कंध, १०:२३

३६. प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २५७

३७. ब्रह्मवैवर्त : कृ० खं० १४:२३. २४, प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २५६, २५८

३८. प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २५६, ०५८

३९. सूरदास : सू० सा०, पृ० १७६, १७६-७७

४०. सूरदास : सू० सा०, पृ० १८१, १८२

४१. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १८०

गुजराती—प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २५४; भीम : हरि० बो०, पृ० १५०; भालण : दश० स्कं०, पृ० ४०

४२. भागवत : १० : १० : २७

४३. सूरदास : सू० सा०, पृ० १८१, १८३. १८५

४४. व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १४४; नंददास : नंद०, पृ० २३०; तुलसीदास : कृ० गी०, पद, १०,
गुजराती—केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० २०; प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २५६

४५. भा० १० : ८ : १

४६. प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २५१

४७. प्रेमानन्द : वही

४८. भागवत : १० : ८ : १२; ब्रह्मवैवर्त : कृ० खं० १३:८१, ८२, ८३, ८५

४९. प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २५१

५०. प्रेमानन्द : वही

५१. ब्रह्मवैवर्त : कृ० खं० १३:४६, प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २५२

५२. प्रेमानन्द : वही

५३. सूरदास : सू० सा०, पृ० १३६, १४०

५४. सूरदास : सू० सा०, पृ० १४०

५५. भागवत : १० : ७ :४, १० : ११ : १६

५६. सूरदास : सू० सा०, पृ० १४१, वल्लभरसिक : श्रीव० र० वा०, पृ० ७.

५७. सूरदास : सू० सा०, पृ० १४२

५८. नन्ददास : नंद०, पृ० ३८९, वल्लभरसिक : श्रीव० र० वा०, पृ० ७

५९. भागवत : १०:८: २१, २६

६०. व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १३०, १४३-४६, नन्ददास : नंद०, पृ० २३०,
गुजराती—भालण : दश० स्क०, पृ० ३०, केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ३८, ३९,
प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ. २५२

६१. व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १४२, पृ० १४३, १४४, नन्ददास : नंद०, पृ० २३०,
गुजराती—भालण : पृ० ३५, केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ३८

६२. नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४६०, भालण : दश० स्क०, पृ० ३६, केशवदास: श्रीकृ० ली० का०, पृ० ३९, प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २५२

६३. व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १४४, १४८, नन्ददास : नंद०, पृ० २३१.
गुजराती—नरसी: न० कृ० का०. पृ० २६६; भालण : भ० कृ० द० स्क०, पृ० ३०; प्रेमानन्द: श्रीम० भा०, पृ० २५२

६४. व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १४०
गुजराती—नरसी : न० कृ०, पृ० ४५८, ४५९, केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ४०

६५. सूरदास : सू० सा०, पृ० १३६; भालण : द० स्क०, पृ० ३३

६६. भागवत : १० : ८ : ३१, भालण : द० स्क०, पृ० ३८, प्रेमानन्द: श्रीम० भा०, पृ० २५३

६७. व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १३६,
गुजराती—नरसी : न० कृ. पृ० ५०२ ५०३, भालण : द० स्क०, पृ० ३८, प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २५५

६८. सूरदास : सू० सा०, पृ० १५३
६९. भालण : द० स्कं०, पृ० १५३
७०. नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४६१, ४६६, ४६७
७१. हिम्स ऑफ द आलवार्स—जे० एस० एम. हूपर
७२. वही
७३. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १५५, ५६,
गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४५८, ४६२
७४. सूरदास : सू० सा०, पृ० १५०, १३३, १३०
७५. नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४६२, ४६५, भालण, दश० स्कं०, पृ० ३४
७६. सूरदास : सू० सा०, पृ० १६२, १८८
७७. सूरदास : वही० पृ० १६३
७८. ब्रजभाषा—सूरदास : वही०, पृ० १६०,
गुजराती—भालण : दश० स्कं०, पृ० ३०; केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ४६
७९. ब्रह्मवैवर्त : अ० १४ श्लोक २, ४; बालचरितः तृतीय अंक
८०. भागवत : १० : ८ : २९, ३०; १० : १० : ८
८१. सूरदास : (अ) सू० सा०, पृ० १६६, १६०, (आ) वही०, पृ० १६७, १७०, (इ) वही०, पृ० १६८, (ई) वही०, पृ० १६९, (उ) वही०, पृ० १७२, (ऊ) वही०, पृ० १७३, (ए) वही०, पृ० १७६
८२. ब्रजभाषा—नन्ददास : नंद०, पृ० २३१, २३३, तुलसीदास : कृ० गी०, पद ८, ४,
गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४६१, ४८१ ८२, भालण : द० स्कं०, पृ० ३०,
केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ५४ प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २५३, २५४
८३. ब्रजभाषा—तुलसीदास : कृ० गी० पद १३,
गुजराती—भालण : द० स्कं०, पृ० ५०
८४. सूरदास : सू० सा०, पृ० १८८
८५. नरसी : न० कृ० का०, पृ० ५८२-८३
८६. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १२८, नन्ददास : नंद०, पृ० २४५
गुजराती—भालण : द० स्कं०, पृ० ५४, केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ५४,
प्रेमानन्द : न० कृ० का०, पृ० २५९, २६०
८७. कृष्ण प्रोबलेम : ८, दि न्यू सैटलमैन्ट हरिवंशपुराण अध्याय ६५, ६६
८८. देखिए उद्धरण ८६, सूरदास तथा प्रेमानन्द
८९. प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २६०
९०. नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४३४
९१. सूरदास : सू० सा०, पृ० १९०
९२. गुजराती—प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २६१, २६२, भालण : द० स्कं०, पृ० ५५
ब्रजभाषा—नन्ददास : नंद, पृ० २४७

९३. भागवत : १० : १२ : १४

९४. व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० १९२, नन्ददास : नंद० पृ० २५०, २५१
गुजराती—नरसी : न० कृ० का० पृ० ४३४, भालण : द० स्कं०, पृ० ५९, प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २६२, २६३

९५. सूरदास : सू० सा०, पृ० १९२, १९३, १९७, १९९, २०२

९६. सूरदास : वही०, पृ० २९९

९७ भालण : द० स्कं०, पृ० ५८

९८ प्रेमानन्द : श्रीम० भा० पृ० २६४

९९. नरसी : न० कृ० का० पृ० ४१४, ५८०-८१

१००. कृष्ण प्राबलेम ८, क ६, भागवत १० : १५ : ३१, ३२, ब्रह्मवैवर्त ४ : २२ : २९, ३०

१०१. भालण : द० स्कं०, पृ० ६८

१०२. गुजराती—केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ७०,
व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० २१२, नन्ददास : नंद. पृ० २७२

१०३. सूरदास : सू० सा०, पृ० २१५-२१६

१०४. सूरदास : वही०, पृ० २१७, २१८

१०५. प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २६९-२७०

१०६. व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० २२०
गुजराती—प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २७० ७१; नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४६३, ४६४

१०७. व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० २२०
गुजराती—प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २७२

१०८. सूरदास : सू० सा०, पृ० २२४-२२५

१०९. भागवत : १० : १८ : ३०; ब्रह्मवैवर्त : कृ० खं० ४:१४, १५, १६

११०. सूरदास : सू० सा०, पृ० २३३

१११. व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० २३४
गुजराती—प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २७

११२. नरसी : न० कृ० का० पृ० ४३४

११३. कीकुवसही : बालचरित्र, फा० सभा० हु० प्र० नं० २१५

११४. भागवत : १० : १७ : २५, १० : १९ : १२; ब्रह्मवैवर्त : कृ० खं० ४ : १९ : १०९

११५. सूरदास : सू० सा०, पृ० २३१; नंददास : नंद, पृ० २८०, २८१

११६. व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० २३२
गुजराती—प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २७४; नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४३४

११७. प्रेमानंद : श्रीम० भा०, २७५, २७६

११८. सूरदास : सू० सा०, पृ० २६६-२६८; २६०, २६९; २७२; २७७
भागवत : १० : २४ : २५; १० : २५ : २; १० : २७ : १,२

११९. प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २८३-२८४

१२०. प्रेमानंद : वही, पृ० २८४

१२१. भागवत : १० : २५ : १९; ब्रह्मवैवर्त : ४ : २१ : ६४
   ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० २०५; नंददास : नंद० पृ० ३१०
   गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४६३; भालण : दश० स्कं०, पृ० ८९; केशवदास : श्रीकृ० का०, पृ० ९१; प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २८४

१२२. नरसी : न० कृ० का०, पृ० ३६५

१२३. नंददास : नंद०, पृ० ३१८; सूरदास : सू० सा०, पृ० २१६

१२४. भागवत : १० : ३७ : १

१२५. सूरदास : सू० सा०, पृ० ५२६, ५३४, ५४३, ५४४, ५४५

१२६. प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २९८, २९९, ३००

१२७. सूरदास : सू० सा०, पृ० २३४

१२८. गुजराती—भालण : दशम० स्कं०, पृ० ५६, ५९, ६०; प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २७५;
   प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २६८
   ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० २३४

१२९. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० २५२
   गुजराती—भालण : दश० स्कं० पृ० ८०

१३०. भागवत : १० : २२ : ९
   ब्रह्मवैवर्त : ४ : २७ : ६३
   सूरदास : सू० सा०, पृ० २५४

१३१. भालण : दश० स्कं०, पृ० ७९; फागु : फा० हु० प्र० नं० ३६१; प्रेमानंद : श्रीम० भा० पृ० २७८

१३२. फागु : फा० हु० प्र०, नं० ३६१

१३३. सूरदास : सू० सा०, पृ० २६५

१३४. प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २२१

१३५. ब्रह्मवैवर्त पुराण ४ : ६ : २२४, २२५, २२८; वही, ४ : ३ : १०४

१३६. उज्ज्वलनीलमणि : राधाप्रकरण, श्लो० ४५

१३७. सूरदास : सू० सा०, पृ० २४२; नंददास : नंद०, पृ० ३३०; माधवदास : माधुरी वाणी पृ० ९४; हरिराम व्यास : व्यासवाणी, उत्त० पृ० ४४३ ४५३

१३८. ब्रह्मवैवर्त पुराण : ४ : ३ : ६१

१३९. सूरदास : सू० सा०, पृ० २०४, २०७, २०८, २०९

१४०. सूरदास : वही, पृ० २०६

१४१. नरसी : न० कृ० का०, पृ० २७०, ३१७, ४१७, ५०४, ५८२

१४२. ध्रुवदास : ब्रजलीला, पृ० १०, १२, ३४, ३८, ४२

१४३. ध्रुवदास : वही, पृ० १५३, १६०, १६८, १७०

१४४. सूरदास : सू० सा०, पृ० ५१८

१४५. नंददास : नंद०, पृ० ४२०

१४६. नरसी : न० कृ० का०, पृ० २२५, २३८, २४३

१४७. ब्रह्मवैवर्त पुराण : ४ : ६५ : ४७, ५४

१४८. नंददास : 'श्याम सगाई', पृ० ११७, ११८, १२१

१४९. सूरदास : सू० सा०, पृ० २४५, ४६, २४८

१५०. केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० १०६, १०८

१५१. जयदेव : गीतगोविन्द, चतुर्थ सर्ग

१५२. सूरदास : सू० सा०, पृ० २४२, २४३, २४५

१५३. सूरदास : वही, पृ० ३०२, ३०४

१५४. सूरदास : वही, पृ० ३५५; हितहरिवंश : हितचौरासी, पद संख्या १३

१५५. सूरदास : सू० सा०, पृ० ४०३, ४०४, ४०५; सूरदास : वही, पृ० २५७, २५८, २६०, २६१

१५६. नंददास : नंद, पृ० ४०५, हरिराम : व्यासवाणी, उत्त०, पृ० ५०५-५१०

१५७. मीरां : मी० प०, पृ० ५६, ६०; नरसी : न० कृ० का०, पृ० ३५२, ३७५, ३३६

१५८. गाथा सप्तशती : १ : ८५

गौडवहो : श्लो० २२

ब्रह्मवैवर्त पुराण : कृ० ख० १५ : १४६ : ५८ : ७१ : २८ : ७५

गीतगोविन्द: द्वादश सर्ग

१५९. ध्रुवदास : हितसिंगार लीला, पद ११, हरिदास : नि० मा०, पृ० २१६

१६०. श्रीभट्ट : नि० मा०, पृ० १८, माधवदास : वंशीवट माधुरी, पृ० ३४

१६१. सूरदास : सू० सा०, पृ० ३६७, ५७०

१६२. गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० ५०, २२१

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ५४८

१६३. गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४५३

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ५३४

१६४. ब्रजभाषा—सूरदास : वही, पृ० ५२४-२५

गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४५४

१६५. सूरदास : सू० सा०, पृ० ५२५, ५२८-२९

१६६. ब्रजभाषा—सूरदास : वही, पृ० ५२६

गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० ४४२

१६७. गुजराती—नरसी : वही, पृ० १४१, ५२०, ११८; वासणदास : दुआचरा, ६

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ५४८; नंददास : नंद, पृ० १५७

१६८. हरिराम : व्यास, पृ० ११; ध्रुवदास : वृन्दावन सत, छंद ११, १४

१६९. माधवदास : माधुरीवाणी, पृ० ६३, ६४, ६०

१७०. केशवदास वैष्णव : मथुरालीला, पृ० २३

१७१. नंददास : नंद, पृ० १६, १९

१७२. ध्रुवदास : रसहीरावली, छंद ७९

१७३. गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० ५२४; प्रेमानंद : 'मास' पद' १२; रत्नेश्वर : बृ० का० दो०, भाग ६, पृ० ८०२—३

ब्रजभाषा—नंददास : नंद, पृ० २८

१७४. नरसी : न० कृ० का०, पृ० ५२५; प्रेमानंद : प्रेमानंद कृत 'मास,' पद ६५; रत्नेश्वर : बृ० का० दो०, भाग ६, पृ० ८०७

१७५. नरसी : न० कृ० का०, पृ० १५५, १५६

१७६. नरसी : न० कृ० का०, पृ० १४०, १४२, २६१

१७७. भालण : दशमस्कंध, पृ० १०६

१७८. सूरदास : सू० सा०, पृ० ४६३, ४६४; ध्रुवदास : मानलीला, २, ३; माधवदास : मान माधुरी, छंद, ३१; हरिवंश : हि० चौ० पद, ७

१७९. सूरदास : सू० सा०, पृ० ४६४, ४६६, ४८४, ४९१, ५१५; ध्रुवदास : मानलीला, छंद ९

१८०. माधवदास : मान माधुरी, छंद ३३, ३४

१८१. सूरदास : सू० सा०, पृ० ४०२, ४०३, ४०५, ४२९

१८२. नरसी : न० कृ० का०, पृ० २९०; भालण : द० स्कं०, पृ० १०९

१८३. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ४९५

गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० १४६

१८४. सूरदास : सू० सा०, पद ६८ ७३

१८५. सूरदास : वही, पद ६० ६९, पृ० ५१८ ५२०

१८६. 'भास, ए स्टडी' : ए० डी० पुसालकर, बालचरित अंक तृतीय

हरिवंश : '· · · · ·हरिवंशे विष्णुपर्वणि हल्लीषक्रीडने सप्तसप्तमोध्यायः'

१८७. इन्डियन कल्चर, ग्रन्थ ४, पृ० २६८ ६९

१८८. हेमचन्द्र अभिधानः मंडलेन तु यन्नृत्यं स्त्रीणां हल्लीषकस्तुतत्

श्रीधर'· · · · · 'स्त्रीषु सां गायतां मंडलीरुपेण भ्रमतां नृत्य विनोदो रासो नाम'

—इन्डियन कल्चर, ग्रन्थ ४, पृ० २६९

१८९. भासः बालचरित, अंक ३

१९०. बालचरित, अंक ३

हरिवंशः विष्णु पर्व, अ० १० श्लो० १८

ब्रह्मपुराणः अ० ११८, श्लो० १५

विष्णुपुराणः पञ्चमांश, अ० १३ श्लो० १०

१९१. भागवतः दश० स्कं०, अ० ३३ श्लो०

बालचरितः अ० ३

१९२. ब्रह्मपुराण : अ० ११८

१९३. राससहस्रपदी : पद १ ८, ७६, ७७, १०६ न० कृ० का०, पृ० १८५, ४०२

१९४. सूरदास : सू० सा०, पृ० ४३६

१९५. गीतगोविन्द : प्रथम सर्ग, अन्तिम श्लोक

१९६. भालण : दश० स्क०, पृ० १२२, १२५ २६

१९७. परमानंद : हरिरस, फार्ब० हु० प्र० नं० ३२५

ब्रह्मवैवर्त पुराण : कृष्णजन्मखंड, अ० २८, श्लोक १०

१९८. गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० १८८, ४०५, ४०८; वासणदास : श्री वृंदा० रा० रास०, ११६-११८

व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ४३६ ४४०; नंददास : नंद० ग्र०, पृ० १७६;
हरिवंश : हितचौरासी, पद ७१ हि० सै० पृ० ३६; गदाधरभट्ट : श्री गदा० वा० पृ० ३६; श्रीभट्ट : नि० भा०, पृ० १ रिव्यास : वही, पृ० ५२; माधव दास : मा० वा०, पृ० ४

१९९. ब्रह्मवैवर्त पुराण : कृष्ण जन्म खंड अ० १५ पृ० ५०२-३

२००. सूरदास : सू० सा० पृ० ४४१-४२, ४४४; गदाधर भट्ट : गदाधर वाणी, पृ० ३६ ४०, ४१

२०१. ध्रुवदास : मंडल सभा सिंगार, पृ० १२६, १५०, १५२

२०२. नरसी : न० कृ० का० पृ० ४०८

२०३. नरसी : न० कृ० का०, पृ० २५३; न० कृ० का०, पृ० ४१७, २५७

२०४. नरसी : एस० सी० डी० एल० ग्रन्थ १, पृ० २०८; वासणदास : श्रीवृं० रास० छंद १०३

२०५. संशोधनने मार्गे, पृ० १३२

२०६. नरसी : न० कृ० का०, पृ० ६००; वासणदास : श्री कृ० वृंद० रास ८८, ९२

२०७. सूरदास : सू० सा०, ४४१; हितहरिवंश : हि० चौ० पद ६२; हरिव्यास : नि० [भा० पृ० ५२; गदाधर : गदा० वा० . ३४

२०८. गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० १६५, ४०४, ५०५; भालण : दश० स्क०, पृ० ११६, ११७; प्रेमानंद : प्रेम० भा०, पृ० २०८, २६४; वासणदास : श्रीवृं० रास६ ३

व्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ४३०, ४५४; हरिराम व्यास : व्या० वा०, पृ० ४५०, ४६०; नंददास : नंद०, पृ० १७६; हितहरिवंश : हि० चौ०, पद ७१; हरि व्यास : नि० भा०, पृ० ५२; ध्रुवदास : मं० स० सि०; माधवदास : मा० वा० २६२

२०९ ब्रह्मवैवर्त : कृ० खं०, अ० ५२

२१०. विद्यापति : विद्यापति पदावली, पृ० २६३

२११. नर्मद : फागु, छंद १६ १७ २८

२१२. केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ११२, ११४

२१३. सूरदास : सू० सा०, पृ० ४६०

२१४. सूरदास : सू० सा०, पृ० ४५९

२१५. क. नर्षि : फागु० काव्य, २, ४१, ६१

ख. नरसी: न० कृ० का०, पृ० ७१

२१६. ब्रह्मपुराण : अ० ११८; विष्णुपुराण पंचमांश, अ० १३

२१७. भागवत : स्कं० १०, अ० २८, श्लो० १८; वही, स्कं० १०, अ० २९, श्लो० ४०

२१८. जयदेव : गीतगोविन्द, ५:११:२ 'नाम समेतं · · ·;' विद्यापति : पदावली १

२१९. सूरदास : सू० सा०, पृ० ४३०, ४५०; नंददास : नंद० ग्रं०, पृ० १६०; हितहरिवंश : हि० चौ०, पद ३६; गदाधर भट्ट : श्रीगदा० वा०, पृ० २५; श्रीभट्ट : नि० मा०, पृ० ६; मीरां : मी० पदावली, पृ० ५८

२२०. नरसी : न० कृ०, पृ० १६३, १६५; केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ९३, ९४; भालण : दश० स्कं०, पृ० ११६; प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २८८

२२१. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ४३३, ४३५; नंददास : नंद० ग्रं०, पृ० १६३

गुजराती—नरसी : न०, पृ० २१४, पद १००, १०१; भालण : दश० स्कं०, पृ० ११६, ११७

केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ९४, ९५

२२२. भागवत : १० : २९ : ४८ : १० : ३० : ३८

२२३. ब्रह्मवैवर्त कृ० खं० २९ : १२ : ५२ : ४

२२४. सूरदास : सू० सा०, पृ० ४४८

२२५. नर्षि : फा० सभा० हु० ग्रं०, नं० ५२; नरसी : न० कृ० का, पृ० १६५; वासणदास : श्री बृ० रा० छंद १०८; प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २९०, २९१

२२६. भागवत : १० : ३० : १४, २३

२२७. नंददास : नंद०, पृ० १६९

२२८. नरसी : न० कृ० का०, पृ० १९९; केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ९७; प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २९०

२२९. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ४४९; नंददास : नंद० ग्रं०, पृ० १६९

गुजराती—केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० ९८; नरसी न० कृ० पृ० १०८; प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २९१

२३०. नंददास : नंद० ग्रं०, पृ० १७१

२३१. हरिदास : नि० मा०, पृ० २१५, २१६; हरिव्यास देव : वही, पृ० ४४, ५१, ५२; सूरदास : सू० सा०, पृ० ४४१

२३२. नरसी : न० कृ० का०, पृ० १९८

२३३. सूरदास : सू० सा०, पृ० ४५६, ४५७, ४३७

२३४. भीम : हरि० षो०, पृ० १५४; नरसी : न० कृ० का०, पृ० १८४; केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० १०१

२३५. प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २९४

२३६. नरसी : न० कृ० का०, पृ० १८५; हितहरिवंश : हि० चौ० पद, ७१

२३७. भागवत : कृ० ख० २८:८०

२३८. सूरदास : सू० सा०, पृ० ४५४, ४५५; नंददास : नंद०, पृ० १८०; श्रीभट्ट : नि० मा०; पृ० १८; ध्रुवदास : मं० स० सि० छंद १६१

२३६. माधवदास : मा० वा०, पृ० २५, ४०

२४०. नर्याषि : फागु, पद ६०; नरसी : न० कृ० का०, पृ० १६४

२४१. गुजराती—वासवादास : श्रीवृ० रास, पद ११०; प्रेमानंद : श्रीम० भा०, पृ० २६४; नरसी : न० कृ० का०, पृ० २०५

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ४४५, ४४६, ४५६; नन्ददास : नंद, पृ० १७९; माधव दास : मा० वा०, पृ० ४५

२४२. नरसी : न० कृ० का०, पृ० १८२, २०२, २१५, ४६८, ४१८, ४२७

२४३. नरसी : वही, पृ० ४२७

२४४. एस० सी० जी० एल०: पु० १, पृ० २०० तारापोरवाला

२४५. न० कृ० का०, पृ० २१८, १६, २६१, ६०५

२४६. वही, पृ० ५३७

२४७. ब्रह्मवैवर्त : अ० २८ श्लो० १०४

२४८. न० कृ० का०, पृ० ७२

२४६. ध्रुवदास : मं० स० सि०, छंद १०८, १८२, १८४; नृत्य विलास, छंद १८, १६, २२, २३

२५०. नरसी : न० कृ० का०, पृ० ६२, ६३, ६५, ६९, ७२, ८१, ८३, ८४

२५१. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ५०३, ५०४, ५०६

गुजराती—प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० ३०२

२५२. सूरदास : सू० सा०, पृ० ५८७

२५३. प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, दश० स्कं०, पृ० ३०५

२५४. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ५६०

गुजराती—प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, दश० स्कं०, पृ० ३०८

२५५. भागवत : १० : ४१ : ४२

२५६. भागवत : १० : ४१ : ४३

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० २६२

गुजराती—प्रेमानन्द : श्रीम० भा० द० स्कं०, पृ० ३०८; भालण : द० स्कं० १५६

२५७. ब्रह्मवैवर्त पुराण : कृ० ख०, ७३, ७६, ३०, ३१

गुजराती—प्रेमानन्द : श्रीम० भा० द० स्कं०, पृ० ३०८, ३०६

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ६०२

२५८. सूरदास : सू० सा०, पृ० ५९२

२५६. ब्रजभाषा—सूरदास : वही, पृ० ५६३ ६४

गुजराती—प्रेमानन्द : श्रीम० भा० द० स्कं० पृ० ३१२

२६०. भागवत : १० : ४८ : २८, २७

केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० १३७; प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, द० स्कं०, पृ० ३१३

२६१. सूरदास : सू० सा०, पृ० ६१२, ६१४

२६०. प्रेमानन्द : श्रीम० भा० द० स्कं०, पृ० ३१६, ३२०

२६३. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ६३० ६४०

गुजराती—ब्रंहदेव : बृ० का० दो० भाग १ प्रति नवीन, पृ० ६६२

२६४. भालण : दश० स्कं०, पृ० २१०-२११; नाकर : बड़ौदा, हु० प्र०, नं ६००

२६५. भागवत : १० : ४० : ११

२६६. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ ६५०; नन्ददास : नंद०, पृ० १३४

गुजराती—प्रेमानन्द : बृ० का० दो०, भाग ३, पृ० १०६; ब्रंहदेव : बृ० का० दो०, भाग १, पृ० ६६६

२६७. भागवत : १० : ४७, : ३६, २५, ५९, ५८

२६८. ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ६५५, ६५६, ६६६

गुजराती—ब्रंहदेव : प्र० का० प्र० पृ० ६७३; प्रेमानन्द : बृ० का० दो० तृतीय, पृ० १७७

भीम : बृ० का० सप्तम, पृ० ६९८

२६९. भागवत : १० : ४७ : १२, ४२, ४३, १५, २०

२७०. गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० २८२, ४१५; भालण : श्रीम० भा० द० स्कं०, पृ० २१५

प्रेमानन्द : भ्रमर पच्चीशी, पद १५

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ६६५; नन्दास : नंद० पृ० १३७

२७१. प्रेमानंद : श्रीकृ० ली० का० द० स्कं० पृ० ३३४

२७२. सूरदास : सू० सा०, पृ० ७२७ ७२८

२७३. रोध : रुक्मिणी हरण, पद, १३, १४; प्रेमानंद : रुक्मिणी हरण

२७४. भागवत : १० : ५३ : ७

हरिवंश भाषा : ६० : १

गुजराती—प्रेमानंद : रुक्मिणी हरण, पृ० ३४६; भालण : द० स्कं०, पृ० २५८

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ७२७, ७३०, ७३१; नंददास : रुक्मिणी मंगल, नंद०, पृ० १४८

२७५. प्रेमानंद : रुक्मिणी हरण, २:६, १३, १८

२७६. भागवत : १० : ५२ : २६, ४४

२७७. हरिवंश भाषा ५९ : ४३

२७८. ब्रह्मवैवर्त पुराण १०५ : ६५, ६७

२७९. भालण : द० स्कं०, पृ० २७५; रोधजी: रुक्मिणी हरण

२८०. केशवदास : श्रीकृ० ली० का०, पृ० १६०

२८१. प्रेमानंद : बृ० का० दो० भाग १, पृ० २४५, २४६, २४७, २५५, २५७

२८२. भालण : द० स्कं०, पृ० २८४-२८५

२८३. सूरदास : सू० सा०, पृ० ७३७

२८४. भागवत : १० : ६६ : १६

ब्रजभाषा—सूरदास : सू० सा०, पृ० ६४१

गुजराती—भालण : द० स्कं०, पृ० ३५६

३

सिद्धान्त पक्ष

आलोच्य काल का प्रायः समस्त ब्रजभाषा-काव्य विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों की छाया में पल्लवित हुआ किन्तु गुजराती-काव्य का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ। उस पर स्पष्टतया किसी सम्प्रदाय विशेष का प्रभुत्व प्रतीत नहीं होता। सम्प्रदाय और उसके अनुयायी कवियों में अंगांगि भाव रहता है, सर्वथा अभेद नहीं। अतएव सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यताओं में तथा कवियों द्वारा व्यक्त सिद्धान्तों में समानता के साथ कहीं कहीं असमानता भी प्राप्त होती है। काव्य सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से अनुप्राणित अवश्य रहा है, परन्तु सर्वत्र सर्वथा अनुयायी नहीं, जो आचार्य और कवि के व्यक्तित्व की भिन्नता का परिणाम है। बहुत से कवि ऐसे हैं जिन्होंने मान्यताओं के आग्रह को दृढ़ता के साथ ग्रहण किया है और अनेक ऐसे भी हैं जो या तो सिद्धान्त पक्ष से उदासीन हैं या अंशतः स्वतंत्र। उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्ययन में काव्य में व्यक्त सिद्धान्तों को प्रधानता दी गयी है और साम्प्रदायिक दार्शनिक मान्यताओं को काव्य गत सैद्धान्तिक विचारों की व्याख्या अथवा विश्लेषण में सहायक माना गया है।

ब्रजभाषा की अपेक्षा गुजराती में दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष की ओर बहुत कम कवियों का ध्यान आकर्षित हुआ है। एक मात्र नरसी ने इस विषय में विशेष पद-रचना की है। अन्य कवियों ने प्रायः प्रसंगवश सिद्धान्तों का निर्देश यत्र तत्र कर दिया है। ब्रज भाषा में वल्लभीय, राधावल्लभीय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के अनेक कवि इस विषय में सचेत रहे हैं। गौडीय सम्प्रदाय के कवियों में अवश्य विशेष सामग्री प्राप्त नहीं होती। सिद्धान्त सम्बन्धी काव्य ग्रन्थों का परिचय वस्तु विश्लेषण के प्रसंग में दिया जा चुका है।

सिद्धान्त पक्ष के समस्त विस्तार को निम्नलिखित विषयों में विभाजित कर लेने से विवेचन में सुगमता रहेगी—

१.	ब्रह्म	२.	जीव
३.	जगत	४.	माया
५.	मोक्ष	६.	भक्ति

ब्रह्म

कृष्ण का ब्रह्मरूप में ग्रहण गीता, गोपालपूर्वतापनीय, उपनिषद्, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों में सर्वत्र किया गया है। गीता में कृष्ण तथा ब्रह्म में नितांत अभेद है। कृष्ण ने जो भी ज्ञान अर्जुन को दिया वह सब ब्रह्म रूप में स्थित होकर दिया है। अर्जुन भी कृष्ण को परब्रह्म कह कर सम्बोधित करते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

—गीता, अ० १०, श्लो० १२

गोपालपूर्वतापनीय उपनिषद् का भी प्रतिपाद्य कृष्ण का ब्रह्मत्व ही है—

तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।

—कल्याण, उप० अंक०, पृ० ५५१

भागवत ने कृष्ण को स्वयं भगवान् के रूप में 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' (१:३:२८) लिखकर स्वीकार किया और भगवान्, परमात्मा तथा ब्रह्म को एक ही अर्थ का बोधक बताते हुए उससे पूर्व ही लिख दिया है—

वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।

—१:२:११

इस प्रकार भगवान् कृष्ण ही ब्रह्म स्वीकृत हुए। ब्रह्मवैवर्तकार ने भी भागवत की इस मान्यता को ज्यों का त्यों ग्रहण करते हुए कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म माना—

१. एते चांशाः कलाश्चान्ये संत्येव कतिधा मुने।

—कृष्ण जन्म खंड, अ० ९, श्लो० १२

२. भज सत्यं परं ब्रह्म राधेशं त्रिगुणात्परम्।

—वही, अ० १३३, श्लो० ७२

निम्बार्क, चैतन्य तथा वल्लभ द्वारा दार्शनिकतया कृष्ण के इस ब्रह्मत्व का पूर्ण समर्थन हुआ और साम्प्रदायिक ग्रंथों में इस विषय का पर्याप्त विस्तार किया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि आलोच्य काल में दोनों भाषाओं के प्रायः समस्त कवियों ने कृष्ण को परब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है। ब्रजभाषा के कवियों ने सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यताओं के अनुसार कृष्ण के ब्रह्मत्व का निरूपण किया है और गुजराती कवियों ने भागवतादि उपर्युक्त मूल ग्रंथों के अनुसार। केवल कुछ

अपवादों को छोड़कर स्थिति प्रायः ऐसी ही है। जिन कवियों ने स्पष्ट रूप से कृष्ण को ब्रह्म घोषित किया है उनके काव्य से कतिपय उद्धरण प्रमाण स्वरूप नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं—

(ब्रजभाषा)

सूर—ब्रह्म धार्‌यो कृष्ण अवतार।

—सू० सा०, पृ० २१०

नंददास—कृष्ण अनावृत परम ब्रह्म परमातम स्वामी।

—नंददास, पृ० १८६

रसखान—ब्रह्म जो गायो पुरानन बेदन ....

.........बैठो पलोटत राधिका पायन।

हरिव्यास—परमातम परब्रह्म करि विस्तारन जगजाल।

जनपालन जय जय सदा रासबिहारी लाल।

—निम्बार्क माधुरी, पृ० ६३

(गुजराती)

नरसी—ते ब्रह्म द्वार आवी ने ऊभा रह्या गोपिका मुख जोवाने ढूके।

—न० कृ० का० सं० भक्तिज्ञाननां पदो, पद १९

प्रेमानंद—हुं पूर्ण ब्रह्म भगवंत।

—श्री० भा०, पृ० २४०

कृष्ण ब्रह्म हैं, इस मान्यता के स्वीकृत हो जाने के पश्चात् ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या का प्रश्न उठता है। इस विषय में ब्रजभाषा में वल्लभ तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों के तथा गुजराती में नरसी के काव्य से विशेष सामग्री उपलब्ध होती है।

वल्लभ-सम्प्रदायी सूर, परमानंद तथा नंददास आदि कवियों द्वारा जो ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण हुआ है वह बहुत कुछ शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तों के अनुकूल है। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के सच्चिदानंद, पूर्ण पुरुषोत्तम अक्षर, सर्वशक्तिमान, स्वतंत्र व्यापक, अनन्त, षड्गुणोपेत, विरुद्धधर्माश्रयी तथा अविकृतपरिणामी माना है।[1] प्रथम और अन्त के कुछ विशेषण शुद्धाद्वैतवाद के अंतर्गत मान्य ब्रह्म की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताओं को व्यक्त करते हैं। नरसी मेहता के काव्य में भी ब्रह्म की यह विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। वस्तुतः ब्रह्म के विषय में शुद्धाद्वैत और नरसी मेहता के दार्शनिक मत की समानता दर्शनीय है।

विरुद्ध धर्माश्रयता—वल्लभाचार्य ने 'तत्वदीप निबंध' के शास्त्रार्थ प्रकरण में वेदान्त ग्रंथों के आधार पर ब्रह्म को 'विरुद्ध सर्वधर्माणामाश्रयम्' माना है। इसी के अनुकूल सूरदास, परमानंद दास आदि ने कृष्ण के निर्गुन सगुण दोनों स्वरूपों का एक साथ आलेखन किया है—

सूर—वेद उपनिषद यश कहैं निर्गुनहिं बतावैं।
सोइ सगुन होय नन्द की दांवरी बंधावैं॥

—सू० सा०, पृ० २

परमानन्ददास आदि अन्य अष्टछापी कवियों ने भी कृष्ण की इस विरुद्धधर्माश्रयता को स्वीकार किया है।

नरसी मेहता भी कृष्ण को सगुण तथा निर्गुण दोनों ही मानते हैं—

सगुण स्वरूप निर्गण अेनु

—पद ४९

सूर तथा नरसी की सगुण निर्गुण विषयक विचारधाराओं में अन्तर इतना है कि सूर ने 'सुर सगुन लीलापद गावैं' लिख कर अपनी रुचि सगुण की ओर अधिक व्यक्त की है और नरसी ने 'जो निराकारमां जेहनु मन गमे भिन्न संसारनी भ्रांति भागे' पद ३९ लिखकर निर्गुण की ओर।

अविकृतपरिणामवाद—शुद्धाद्वैत में स्वीकृत ब्रह्म सम्बन्धी अविकृतपरिणामवाद के सिद्धान्त को सूर ने 'जल और बुद्बुद्' के तथा नंददास ने 'कनक कुंडल' के न्याय से व्यक्त किया है। नरसी ने भी ब्रह्म की अनेक नाम रूप औपाधिक परिणति को व्यक्त करने के लिए कनक कुंडल का उदाहरण अपने कई पदों में दिया है—

सूर—ज्यों पानी में होत बुदबुदा पुनि ता मांहि समाही।
त्यों ही सब जग कुटुम्ब तुमहि ते पुनि तुम मांहि विलाहीं।

—सू० सा०, पृ० ५९५

नंददास—एकहि वस्तु अनेक है जगमगात जगधाम।
ज्यों कंचन ते किंकनी कंकन कुंडल नाम।

—नंददास, पृ० ९८

नरसी—वेद तो अेम वदे, श्रुति स्मृति शाख दे,
कनक कुंडल विषे भेद नोये।

घाट घडिया पछी नाम रूप जूजवा,
अंत तो हेमनुं हेम होये।

किंतु संभवतः नरसी का यह सिद्धान्त शुद्धाद्वैत मत के ग्रंथों से न लिया जाकर वेद स्मृति आदि उन प्राचीनतर ग्रंथों पर आधारित है जिनका आधार स्वयं वल्लभाचार्य ने ग्रहण किया। यहाँ यह बात नरसी के उद्धरण से प्रकट है।

ब्रह्म का आनन्द एवं रस स्वरूप—यद्यपि नंददास ने भी कृष्ण को सच्चिदानंद कहा है और नरसी ने भी, यथा—

नंददास—सघन सच्चिदानंद नंदनंदन हरिवर जस।
—नंददास, पृ० १८४

नरसी—सच्चिदानंद आनन्द क्रीडा करे सोनानां पारणां माहि झूले।
—पद ३९

तथापि अष्टछाप के सभी कवियों ने कृष्ण के आनन्द स्वरूप को ही अधिक महत्ता दी है जो शुद्धाद्वैत की मान्यताओं के अनुकूल है। वल्लभाचार्य ने कृष्ण को 'मर्यादा पुरुषोत्तम' तथा 'पुष्टि पुरुषोत्तम' दोनों का अवतार माना है।[१] दूसरे रूप को पहले से अधिक श्रेष्ठ माना गया है, फलतः अष्टछाप के कवियों में भी ऐसी ही धारणा प्राप्त होती है—

परमानंददास—आनंद की निधि नंदकुमार।
—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ४११

नंददास— नित्य आत्मानंद अखंड स्वरूप
—नंददास, पृ० १९१

अन्य सम्प्रदायों के कवियों ने तो कृष्ण के आनन्दमय अथवा रसिक स्वरूप को ही सर्वत्र ग्रहण किया है। कृष्ण का यह रसिक रूप छान्दोग्य के 'रसोवै सः' (३ : १४ : २) पर आधारित है। शुद्धाद्वैत में भी इसे स्वीकार किया गया है परन्तु तात्विक दृष्टि से राधाकृष्ण के युगल स्वरूप को ग्रहण नहीं किया गया। पुष्टिमार्ग की उपासना पद्धति में भले ही युगल रूप को मान्यता हुई, वह भी विठ्ठलनाथ जी के द्वारा, परन्तु वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों में राधा का कोई स्थान नहीं है और न उन्हीं ग्रंथों में है जिनको उन्होंने 'प्रमाण चतुष्टय' की कोटि में रक्खा। द्वैताद्वैत तथा अचिन्त्यभेदाभेदवादी निम्बार्क और गौडीय सम्प्रदाय में द्वैत तथा 'भेद' को 'अद्वैत' और 'अभेद' के साथ दार्शनिक दृष्टि से स्वीकृति मिली। अतएव राधाकृष्ण का युगल स्वरूप

तत्वतः स्वीकार किया गया जिससे 'द्वैताद्वैत' और 'भेदाभेद' चरितार्थ हो सके। राधा-वल्लभीय तथा हरिदासी सम्प्रदाय में राधाकृष्ण के युगल रूप को ही स्वीकार किया गया है। यह दोनों सम्प्रदाय निम्बार्क सम्प्रदाय से अत्यधिक साम्य रखते हैं। दार्श-निकतया हरिदासी सम्प्रदाय निम्बार्क के द्वैताद्वैत को ही मानता है। हितहरिवंश ने अवश्य कुछ अन्तर करके सिद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया। केवल कृष्ण को ब्रह्म मानकर इन दार्शनिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति असम्भव थी। शुद्धाद्वैत की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। वहाँ कृष्ण के स्थान पर राधाकृष्ण को नित्य मानना अद्वैत की शुद्धता का विरोधी सिद्ध होता है। अष्टछाप के कवियों द्वारा राधाकृष्ण के युगल रूप सम्बन्धी जो पद लिखे गए हैं उनपर अन्य सम्प्रदायों का निश्चय ही प्रभाव है, जो कवियों की उदारता तथा कवि और सम्प्रदाय विशेष के बीच के अन्तर को व्यक्त करता है।

दार्शनिकतया राधाकृष्ण के युगल रूप को सर्वप्रथम निम्बार्क द्वारा स्वीकृत किया गया जिनका सम्प्रदाय कृष्णभक्ति के इतर सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। पुराणों में ब्रह्मवैवर्त ने राधाकृष्ण को संयुक्त रूप से उपास्य माना।

निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी कवि हरिव्यासदेव ने कृष्ण को आनन्द स्वरूप माना है और राधा को आह्लादिनी शक्ति। यह दोनों सर्वत्र अभिन्न रहते हैं—

१—प्रिया शक्ति आल्हादिनी प्रिय आनन्द स्वरूप।

—नि० मा०, पृ० ६३

२—सदा सर्वदा जुगुल इक एक जुगुल तन धाम।
आनन्द अरु अहलाद मिलि बिलसत ह्वै द्वै नाम।

—वही, पृ० ६५

शाक्त मत की तरह कुछ सम्प्रदायों के कवियों ने आह्लादिनी शक्ति राधा को ब्रह्म कृष्ण की अपेक्षा अधिक महत्ता प्रदान की और उन्हें 'स्वामिनी' नाम से विभूषित किया।

सूरदास ने जहाँ राधाकृष्ण के युगल रूप का वर्णन किया है वहाँ राधा को आह्लादिनी शक्ति न कह कर आदि प्रकृति कहा है जो ब्रह्म कृष्ण के आदि पुरुष रूप की पूरक है—

प्रकृति पुरुष एकै करि जानो बातनि भेद करायो।
द्वै तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारन उपजायो।

—सू० सा०, पृ० ३३३

यह संभवतः ब्रह्मवैवर्त के अनुसार है क्योंकि उसमें ही राधा को मूलप्रकृति की उपाधि दी गयी है—

ममाधारस्वरूपा त्वं त्वयि तिष्ठामि साम्प्रतम्
त्वं च शक्तिस्समूहा च मूलप्रकृतिरीश्वरी।

—खंड ४, अ० ६, श्लो० २१२

इस प्रकार रसस्वरूप ब्रह्म कृष्ण की रसमयी लीलाओं का अभिन्न अंग होने के कारण राधा को इतनी महत्ता प्राप्त हुई। दार्शनिक दृष्टि से राधा का यह महत्व ब्रजभाषा काव्य में ही उपलब्ध होता है। गुजराती में युगल रूप में राधाकृष्ण का वर्णन अवश्य मिलता है परन्तु राधा को सर्वत्र भक्ति का प्रतीक माना गया है। न वह ब्रह्म कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं और न आदि प्रकृति।

ब्रजभाषा के कवियों ने कृष्ण के रसिक रूप को विशेष प्रस्फुटित किया है और उनकी रस लीलाओं तथा वृन्दावन की नित्यता पर सर्वत्र बल दिया है दूसरे शब्दों में ब्रह्म को विशेषतया रस स्वरूप और नित्य माना—

नंददास—नमो नमो आनन्द घन सुंदर नंदकुमार।
रसमय रस कारण रसिक जग जाके आधार।

—नंददास, पृ० ३९

हरिव्यास—नित्य विहरत जहाँ नित्य कैसोर दोउ
नित्य सहचरिन संग नित्य नवरंग।
नित्य रस रास उल्लास आनन्द उर
नित्य प्रतिकास परभास अंग अंग।

—नि० मा०, पृ० ६०

ध्रुवदास—नित्त विहारु विवाह नित दुलहिन दूलह लाल।
नित्त सखी सुख नित्त ही लेत रहत सब काल ॥१६१॥

—मंडल सभा सिंगार।

माधवदास—कृष्ण रूप चैतन्य की सदा सनातन केलि।
गिरि वन पुलिन निकुंज गृह द्रुम द्रोणी वनबेलि ॥१॥

—वृंदावन माधुरी, श्री माधुरीवाणी, पृ० ६०

गुजराती कृष्ण-काव्य में नरसी मेहता ने परब्रह्म के इस नित्य आनन्दमय रस रूप को विशेष अभिव्यक्ति प्रदान की है—

क—अखिल शिव आद्य आनंदमय कृष्णजी सुन्दरी राधिका भक्ति तेनी ।

—पद ४९

ख—श्याम शोभा घणी, बुद्धि ना शके कली, अनन्त ओच्छव मां पंथ भूली ।
जड़ ने चैतन रस करी जाणजो पकडी प्रेमे संजीवन मूली ।

—पद ३९

नरसी ने ऐसे रसिक ब्रह्म को पूर्ण पुरुषोत्तम कहा है जो शुद्धाद्वैत की परिभाषा के बिल्कुल समीप है[३]—

ते पूर्ण पुरुषोत्तम प्रेमदाशुं रमे भावेशु भामनी अंक लीधो ।
जे रस ब्रज तणी नार विलसे सदा सखीरूपे ते नरसैंयो पीधो ।

—पद ४९

फिर इस पुरुषोत्तम को क्षर-अक्षर से ऊपर बताया है—

पूर्णानन्द पोते पुरुषोत्तम परम गत छे अेनी रे ।
अे पद क्षर अक्षर नी ऊपर तमे जो जो चित्तमां चेती रे ।

—पद ५७

एक अन्य स्थल पर उन्होंने ब्रह्म को अगणित कहा है

अगणित ब्रह्मानुं गणित लेवुं करे, दुष्ट भावे करी माल झाले ।

—पद ३९

ब्रह्म के अक्षर तथा अगणित स्वरूप का निरूपण वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद के अन्तर्गत किया है ।[४]

अवतार—कृष्ण नें ब्रह्म होकर भी भक्तों का उद्धार करने के निमित्त देह धारण की, अतएव वे अवतारी और अवतार दोनों ही रूपों में ग्रहण किये गये हैं । 'संभवामि युगे युगे' लिखकर गीताकार ने तथा चौबीस अवतारों में परिगणित करके भागवतकार ने भी इसका प्रतिपादन किया है । वल्लभ सम्प्रदाय में ब्रह्म के गुणावतार, लीलावतार, मर्यादावतार, आदि अनेक प्रकार से अवतरित होने तथा अवतार के बाद भी मायिक जगत से निर्लिप्त रहने का प्रतिपादन किया गया है ।[५] कृष्ण को अवतारी समझने के साथ साथ उनके सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी अलौकिक शक्ति का प्रतीक माना गया है । कृष्ण की प्रिया राधा को ब्रजभाषा के कवियों द्वारा आह्लादिनी शक्ति या प्रकृति तथा गुजराती कवियों द्वारा भक्ति का प्रतीक मानने का उल्लेख पीछे किया जा चुका है । उसी प्रकार कवियों ने अन्य कृष्ण सम्बन्धी वस्तुओं का दार्शनिक अभिप्राय एवं प्रतीकार्थ ग्रहण किया है ।

नरसी मेहता ने लिखा है—

अमर आहीर अरधांग गोपांगना, वृक्ष वेली सर्वं ऋषिराणी ।
भक्ति ते राधिका, मुक्ति जशोमती, ब्रज बैकुंठ ते वेद वाणी ।
निगम वसुदेव जी, गाय गोपी ऋचा, देवकी ब्रह्म विवाद कहावै ।
ब्रह्मा कर लाकड़ी, वेणु महादेव जी पंचवदन करी गान गावै ।
इन्द्र अर्जुन, अहंकार दुर्योधन, देवता सर्वे अवतार लीधो ।
धर्म ते राय युधिष्ठिर जाणजो, दासनोदास नरसैंने कीधो ।

इसी प्रकार गुजराती कवि प्रेमानन्द स्पष्ट लिखते हैं—

गोपी छे वेदनी ऋचा, श्री कृष्ण वेद स्वरूप ।
वृन्दावन वैकुंठ जाणवु, रखे भेद अभागे भूप ।
खटराग ते खटशास्त्र छे, वेणु शब्द ते ओंकार ।
चन्द्रावली ते ब्रह्मविद्या, राधा भक्ति नो अवतार ।

—श्री०, पृ० २९५

ब्रजभाषा के किसी भी कवि ने इतने विस्तार से ऐसा तुलनात्मक प्रतीक-विधान तो नहीं प्रस्तुत किया है, परन्तु वेणु तथा गोपी आदि कतिपय प्रधान तत्वों की प्रतीकात्मकता की ओर उन्होंने स्पष्ट इंगित किया है। नंददास ने वेगु को ओंकार अथवा महादेव नहीं माना परन्तु शब्द-ब्रह्म के रूप में अवश्य स्वीकार किया है—

शब्द ब्रह्म मैं वेनु बजाइ सबै जन मोहै ।

—नंददास, पृ० १८५

गोपियों को वेद की ऋचाओं का प्रतीक गुजराती कवियों की तरह ही ब्रजभाषा में सूर तथा ध्रुवदास ने भी माना है, कारण यह है कि सबने इस विषय में वृहदवामन पुराण की कथा का अनुसरण किया है—

सूर— वेद ऋचा होइ गोपिका हरि सों कियो विहार ।

—सू० सा०, पृ० ४६२

ध्रुवदास—और तियनि में गिनहु जनि ए श्रुति कन्या आंहि ।

—वृहद्वामन पुराण की भाषा

सूरदास तथा नंददास ने कृष्ण को अवतारी तथा अवतार दोनों ही रूपों में चित्रित किया है परन्तु अवतारों के इतने भेद प्रदर्शित नहीं किये हैं—

सूर— ब्रह्म अगोचर मन बानी ते अगम अनंत प्रभाव ।
भक्तन हित अवतार धारि जो करि लीला संसार ।

—सू० सा०, पृ० ४८

नंददास—षटगुन जो अवतार धरन नारायन जोई ।
सबको आश्रय अवधिभूत नँदनंदन सोई ।

—नंद०, पृ० १८३

राधाकृष्ण बृन्दावन और रास आदि प्रेम लीलाओं को नित्य मानने वाले अन्य सम्प्रदायों के कवियों ने कृष्ण के अवतार धारण करने का स्वभावत: वर्णन किया है। यदि कहीं प्राप्त होता है तो अपवाद रूप में सूर सारावली में दोनों का समावेश है—

अंश कला अवतार बहुत विधि रामकृष्ण अवतारी ।
सदा विहार करत ब्रजमंडल नंदसदन सुखकारी ।।३६०।।

साथ ही राम और कृष्ण के अवतार चतुर्व्यूहात्मक माने गये हैं ।

गुजराती कवियों में से प्राय: सभी ने पौराणिक आधार पर कृष्ण का अवतरित होना वर्णित किया है । ब्रह्म तो माना ही है—

नरसी—धन्य रे धन्य महापुण्य जशोदातणु पुत्रभावे परिब्रह्म राजे ।
नंदनो नंद आनंद थइ अवतार्‌यो,शेष बलिभद्र संगे विराजे ।

भालण—आठमो जे अवतार लीधो ते साधु ने उद्धारवा ।

—दशा, पृ० ९

प्रेमानंद—पूर्वे लीधा मे अवतार ।
असुर हणी उतार्‌यो भू भार ।

—श्री० भा०, पृ० २४०

विराट रूप—ब्रह्म शब्द के धात्वर्थ में ही उसके वृहत् एवं विराट होने की धारणा निहित है । ब्रह्म के इस विराट रूप का वर्णन ऋग्वेद के पुरुष सूक्त, अनेक उपनिषदों तथा गीतादि ग्रंथों में किया गया है । कृष्ण को ब्रह्म स्वीकार करने वाले कवियों ने कृष्ण के विराट रूप का वर्णन किया है जो दोनों भाषाओं के काव्य में प्राप्त होता है । सूरदास ने सूरसागर के अंतर्गत द्वितीय स्कंध में इसका आलेखन किया है और साथ ही विराट आरती की भी योजना की है—

१. नैननि निरखि स्याम स्वरूप ।
रह्यो घट घट व्यापि सोई ज्योति रूप अनूप ।

चरण सप्त पताल जाके शीश है आकाश।
सूर चन्द्र नक्षत्र पावक सर्व तासु प्रकाश।

—सू० सा०, पृ० ४७

२. हरि जू की आरती बनी।
महो सराव सप्त सागर घृत बाती शैल घनी।
रवि शीश ज्योति जगत परिपूरण हरत तिमिर रजनी।
उड़त फूल उडगन नभ अन्तर अंजन घटा घनी।

—सू० सा०, पृ० ४७

अविनश्वर दीपक की धारणा एक स्थान पर नरसी में भी मिलती है—

वत्ति विण तेल विण सूत्त विण जो वळी।
अचल झलके सदा अनळ दीवो।

—पद ३९

सूरसारावली में सृष्टिव्यापी विराट होली का वर्णन है जो समस्त कृष्ण-काव्य में अद्वितीय है।

कृष्ण के मृत्तिका-भक्षण तथा जमुहाई लेने के समय भागवत के अनुसार सूरदास तथा अन्य अनेक कवियों ने समस्त सृष्टि को उनके मुख के अंतर्गत प्रदर्शित किया है जो ब्रह्म कृष्ण के विराट रूप का ही प्रतिपादक है। इसका निर्देश वर्ण्य वस्तु के प्रसंग में किया जा चुका है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के तत्ववेत्ता के काव्य का विषय ही यह है तथा राधावल्लभी सम्प्रदाय के व्यास ने भी इसका चित्रण एक स्थल पर किया है—

तत्ववेत्ता—कोटि कोटि मेखला कृष्ण वसुदेव कुमारा।

—नि० मा०, पृ० १३२

व्यास—स्याम सुघन को नाहीं अंत।
जाके कोटि रमा सी दासी पद सेवत रतिकंत।
शिव विरंचि मघवा कुवेर जाके सेमनि के तंत।

—व्यासवाणी पूर्वार्ध, पृ० ३५

गुजराती कवि नरसी तथा प्रेमानंद ने कृष्ण के विराट रूप का जो वर्णन किया है वह भी उपर्युक्त कवियों के वर्णन के समान ही है—

नरसी. १—रवि शशि कोटि नख चन्द्रिका मां वसे दृष्टि
पहोंचे नहि खोज खोले।

अर्क उद्योत ज्यम तिमिर भासे नहीं नेति नेति
कहि निगम डोले।
कोटि ब्रह्मांड ना ईश धरणीधरा, कोटि
ब्रह्मांड एक रोम जेनुं।

—पद ४९

२—तारी केम करी पूजा करुं श्रीकृष्ण करुणानिधि
सकल आनन्द कत्थ्यो न जाए।
स्थावर जंगम विश्वव्यापी रह्यो
केशवा कंडीयें केम समाए।

—पद ६६

प्रेमानंद—रमे नारायण नट रूपे रे रमे नारायण नट रूपे रे।
कोटि ब्रह्मांड धरे परमेश्वर अेक लोक रोम कूपे रे।
चोसठ सहस कर पद लोचन श्रवण चोसठ हजारो।
मस्तक बत्तीस सहस्त्र नासिका सोळ सहस्त्रे निशा भरथारो।

—श्री० भा०, पृ० २२८

यह वर्णन पुरुष सूक्त के 'सहस्त्रशीर्षाः पुरुषः' के नितांत समीप है। चौसठ हजार की संख्या रास के प्रसंग के अनुकूल है।

अन्य उपाधियाँ— कुछ कवियों ने ब्रह्म कृष्ण की अनेकानेक उपाधियों का मुक्त हृदय से वर्णन किया है जिनमें तात्विक दृष्टि के साथ भावात्मकता का भी पर्याप्त योग है। सूरदास ने कृष्ण को परमहंस, सर्वेश, जगदीश, अच्युत, अविगत, अविनाशी आदि उपाधियों से विभूषित किया है—

परमहंस तुम सबके ईस, वचन तुम्हारे श्रुति जगदीश।
तुम अच्युत अविगत अविनासी, परमानन्द सदासुखरासी।

—सू० सा०, दशमस्कंध, उत्तरार्ध

नंददास आदि कवियों ने भी इस प्रकार से कृष्ण का वर्णन किया है (अष्टछाप. व. पृ० ४०९)। इस प्रवृत्ति की सीमा हरिव्यासदेव जैसे कवियों में मिलती है जो उपाधियों की श्रृंखला की श्रृंखला रचते चले जाते हैं—

निरवधि नित्य अखंडल जोरी गोरी स्यामल सहज उदार।
आदि अनादि एकरस अद्भुत मुक्ति परे पर सुख दातार।
अनंत, अनीह, अनावृत, अव्यय अखिल अंड अधीश अपार।

—नि० मा०, पृ० ५८

गुजराती कवि नरसी मेहता में भी कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति पाई जाती है—

अकल अविनाशी अे नवज जाअे कलयो अरध ऊरधनी महि महाले ।
नरसैया चो स्वामी सकल व्यापी रह्यौ प्रेम ना संत मा संत झाले ।

—पद ३९

इसके अतिरिक्त नरसी ने ब्रह्म की अन्य विशेषताओं का भी अंकन किया है। श्वेताश्वेतर उपनिषद के 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (३:१९) का अनुसरण निम्नलिखित पंक्ति में मिलता है—

नेत्र विण निरखतो, रूप विण परखतो, वण जिह्वाअे रस सरस पीवो ।

—पद ३९

इसी प्रकार छान्दोग्य के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (३:५:१) की छाया इन पंक्तियों में स्पष्ट परिलक्षित होती है—

अखिल ब्रह्मांड मा अेक तुं श्री हरी जूजवे रूपे अनंत मासे ।
देह मा देव तुं तेज मा तत्व तुं शून्य मा शब्द थइ वेद वासे ।
पवन तुं पाणिं तुं, भूमि तुं भूधरा वृक्ष थई फूली रह्यो आकाशे ।

—पद ४०

इन विशेषताओं का वर्णन प्रच्छन्न रूप में अन्य कवियों में भी मिल जाता है किन्तु इस विषय में नरसी उपनिषदों के जितने समीप हैं उतना ब्रजभाषा का कोई भी कवि दिखाई नहीं देता।

जीव

सभी अद्वैतवादी दर्शन अन्ततः जीव और ब्रह्म के तात्विक अभेद को स्वीकार करते हैं। 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' तथा 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' आदि कथनों से यही प्रतिपादित किया गया है। 'अविकृत परिणामवाद' के सिद्धान्त में जीव जगत के ऐक्य के साथ जीव ब्रह्म का ऐक्य भी स्वीकृत है। मुंडक और वृहदारण्यक आदि उपनिषदों में ब्रह्म को अग्नि और जीवों को स्फुलिंगों का रूपक दिया गया है—

१. यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः,
तथा क्षराद् विविधाः सौम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ।

—मुंडक, २:१:१

२ यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्यच्चरन्त्वमवास्मादात्मनः
सर्व्वे प्राणाः . . . . .

—बृहदारण्यक, २ : १ : २०

शंकराचार्य ने भी इस औपानिषदिक रूपक को स्वीकार किया है—

परस्यैव तावद् आत्मनो ह्यंशो जीवः अग्निरिव विस्फुलिंगाः

शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक वल्लभाचार्य ने इस रूपक को अपनी सैद्धान्तिक व्याख्या में विशेष स्थान दिया है। अपने तत्वदीप निबंध के शास्त्रार्थ प्रकरण में उन्होंने निम्नलिखिति शब्दों में इसे व्यक्त किया है—

विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि ।
आनन्दांश स्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ॥३२॥

पुष्टि मार्ग के अनुयायी कवि नंददास ने इसी का अनुसरण करते हुए एक स्तुति के अन्तर्गत लिखा है—

तुमतै हम सब उपजत ऐसे ।
अगिनि ते विस्फुलिंग गन जैसे ।

—नंददास, पृ० २०८

सूरदास ने 'करत इन्द्रियनि चेतन जोई, मम स्वरूप जानो तुम सोई' तथा 'रह्यो घट घट व्यापि सोई ज्योति रूप अनूप' आदि लिखकर जीव के ब्रह्म होने का सिद्धान्त तो स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने अग्नि और स्फुलिंग का उदाहरण संभवतः कहीं नहीं दिया है। उनके कुछ पदों में प्रतिबिम्ववाद की अभिव्यक्ति मिलती है। उदाहरणार्थ—

चेतन घट घट है या भाई, ज्यों घट घट रवि प्रभा समाई ।
घट उपज्यो बहुरो नशि जाई, रवि नित रहे एक ही भाई ।

—सू० सा०, पृ० ५३

अन्य सम्प्रदायों के कवियों ने भी जीव विषयक इसी प्रकार के सिद्धान्त को स्वीकार किया है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति कुछ कवियों में ही उपलब्ध होती है जैसे निम्बार्क सम्प्रदाय के परशुरामदेव ने निम्नोक्त दोहे में स्पष्टतया जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की है—

सब जीवन में हरि बसैं हरि ही में सब जीव
सर्व जीव को जीव हरि परसराम सो सींव ॥७३॥

—नि० मा०, पृ० ७९

गुजराती कवि नरसी मेहता ने भी जीव और ब्रह्म के भेद को असत्य और अभेद को सत्य स्वीकार किया है। नरसी का 'ते ज हुं, ते ज हुं', पद ३९ तथा 'ते ज तुं ते ज तुं' (पद ४२), वास्तव में **'सोहमस्मि'** तथा **'तत्वमसि'** का रूपान्तर मात्र है—

जीव ईश्वर अने ब्रह्मना भेद मां सत्य वस्तु नाहि सद्य जडशे।

—पद ४६

उन्होंने शिव स्वरूप ब्रह्म से ही जीव की उत्पत्ति मानी है साथ ही ब्रह्म की रस लेने की इच्छा को जीव सृष्टि का कारण माना है।

विविध रचना करी अनेक रस लेवा ने
शिव थकी जीव थयो अे ज आशे।

—पद ४०

तैत्तरीय उपनिषद् के 'एकोऽहं बहुस्याम्' के अनुसार वल्लभाचार्य ने भी ब्रह्म की इच्छा से ही जीवों की उत्पत्ति मानी है—

तदिच्छा मात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांश चेतनाः
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया ॥३१॥

—त० दी० निबंध

किन्तु वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने इस तथ्य को पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं किया है। उनका ध्यान जीव के अविद्याग्रस्त स्वरूप के चित्रण तथा भगवद् कृपा द्वारा उसके उद्धार के ऊपर विशेष केन्द्रित हुआ।

जीव की ब्रह्म से विमुखता—ब्रजभाषा तथा गुजराती दोनों के कवियों ने इसे स्वीकार किया है कि ईश्वर से विमुख होकर ही जीव अनेकानेक कष्टों और क्लेशों का भागी बनता है तथा उसका कल्याण इसी में है कि वह निरन्तर परब्रह्म परमात्मा के स्मरण तथा उपासन में रत रहे। सूरदास कमल लोचन कृष्ण की प्रीति से हीन तथा विषय विलिप्त जीव का जन्म निरर्थक मानते हैं—

आछो गात अकारथ गार्‌यो।
करी न प्रीति कमल लोचन सों जन्म जुवा ज्यों हार्‌यो।
निशि दिन विषय बिलासनि बिलसत फूटि गईं तब चार्‌यो।

—सू० सा०, पृ० ९

नन्ददास भी जीव को काल,कर्म तथा माया के आधीन एवं पाप-पुण्य आदि में लिप्त कहते हैं—

काल करम माया अधीन ते जीउ बखाने ।
विधि निषेध अरु पाप पुन्य तिनमें सब साने ।

—नंददास, पृ० १८४

राधावल्लभीय कवि ध्रुवदास स्पष्टतः मानते हैं कि जीवन ने ईश्वर का अमृत स्वरूप स्मरण ध्यान छोड़कर विषय रूपी विष को अपना लिया है—

जीव दिसा कछु इक सुनि भाई ।
हरि जस अमृत तजि विष पाई ॥१॥
कृष्ण भक्ति सौं कबहूं न रांच्यौ ।
महामूढ़ बड़ सुख ते वांच्यौ ॥२॥

—जीवदिसा

नरसी मेहता का भी यही मत है कि जीव ईश्वर से विमुख होने के कारण ही विपथगामी हो रहा है—

हरि तणु हेत तने काम गयु बीसरी, पशु रे फेडी नै नर रूप कीधु ।

—पद २७

सूरदास तथा नरसी की जीव विषयक मूल स्थापनाएँ प्रायः समान हैं किन्तु ब्रह्म से जीव की विमुखता के कारण में कुछ साम्य भी है और वैषम्य भी । सूरदास ने एक नहीं अनेक स्थानों पर बलपूर्वक प्रतिपादित किया है कि जीव अपने ही भ्रम तथा अज्ञान के कारण बन्धन में पड़ा है । बार बार इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए उन्होंने 'मरकट' तथा 'सुआ' के उदाहरण दिये हैं—

अपुनपौ आपुन ही बिसर्‌यौ ।
जैसे स्वान कांच मंदिर में भ्रमि भ्रमि भूसि मर्‌यौ ।
मर्कट मूठि छाड़ि नहि दीनी घर घर द्वार फिर्‌यो ।
सूरदास नलिनी को सुवटा कहि कौनै जकर्‌यो ।

—सू० सा०, पृ० ४६

कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहाँ इस बन्धन का कारण माया को माना गया है—

१. करौं यतन न भजौं तुमको कछुक मन उपजाइ ।
सूर हरि की प्रबल माया देत मोहि लुभाई ।

—सू० सा०, पृ० ८

२. माधव जू मन माया बश कीन्हो ।

—वही

जहाँ तक वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत का सम्बन्ध है अणुभाष्य में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि जीव में अज्ञान आदि का आविर्भाव तथा गुणों का अभाव 'ईश्वरेच्छया' होता है। उसका कारण न जीव का अज्ञान है और न उसकी इच्छा—

> **तस्माद् ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्म तिरोभावः।**
> **येन जीवभावः अतएव काममयः।**

—अध्याय ३, पांद २, सूत्र ५

इस प्रकार सूरदास के 'अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ' आदि उपर्युक्त कथन शुद्धाद्वैतवाद से सैद्धान्तिक भिन्नता उत्पन्न करते हैं। इन कथनों का साम्य वल्लभाचार्य के मत में तो नहीं मिलता, परन्तु नरसी मेहता के कुछ पद ऐसे अवश्य हैं जिनमें ब्रह्म से विमुख होने का दायित्व जीव को ही दिया गया है—

> प्रौढ़ पापे करी बुद्धि पाछी फरी परहरी थड शुं डाले बळग्यो।
> ईश ने ईर्षा छे नहीं जीव पर आपणे अवगुणे रह्यो छे अलग्यो।

—पद २०

आगे कुछ पदों में नरसी ने यह भी निरूपित किया है कि जीवन के इस बन्धन का कारण कर्तृत्वाभिमान है जैसा कि गीता में मिलता है—

> **अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥३:२७॥**

इसी प्रकार नरसी ने भी लिखा है—

> १. हुं करुं हु करुं अे ज अज्ञानता शकट नो भार जेम श्वान ताणे।

—पद २९

> २. अनेक जुग वीत्या रे पंथ चलता रे तोये अंतर रह्यो रे लगार।
> प्रभु जी छे पासे रे, हरी न थी वेगला रे आडडोरे पड्यो छे अहंकार।

यह मत सूरदास के मत से स्पष्टतया भिन्नता रखता है यद्यपि जीव की अज्ञानता इसमें भी है और उसमें भी। यह भिन्नता शुक, मर्कट तथा श्वान-शकट के न्याय से पूर्णतया प्रकट हो जाती है। जिस अज्ञान के कारण शुक अथवा मर्कट बद्ध रहता है उससे वह अज्ञान जिससे श्वान यह अनुभव करता है कि शकट उसी के बल से चल रहा है, अभिन्न नहीं है। एक स्थिति भय और राग से आच्छादित बुद्धि की निष्क्रियता से उत्पन्न होती है तथा दूसरी अहं की अतिशयता से युक्त बुद्धि की विकृति से। अविवेक तथा भ्रम दोनों ही स्थितियों में रहता है। पहली दशा में मुक्ति की इच्छा निरन्तर रहती है

केवल उपाय ज्ञात नहीं होता दूसरी दशा में मुक्ति की इच्छा का अस्तित्व ही नहीं रहता। अहंकार प्रतिपल उसका निषेध करता रहता है।

इसका परिणाम यह होता है कि सूर जब जीव के उद्बोधन के लिए कुछ कहते हैं तो भ्रम निवारण करने अथवा समझने पर विशेष बल देते हैं और नरसी बार-बार जीव को यही चेतावनी देते रहते हैं कि अहंकार उत्पन्न करने वाली समस्त वस्तुएँ नाशवान् हैं। उदाहरणार्थ सूर लिखते हैं—

१. जब लौं सत स्वरूप नहिं सूझत।
२. सूरदास समुझे की यह गति मन ही मन मुसुकायो।

—सू. सा., पृ० ४६

और नरसी अहंकारी जीव की उपमा लम्बी गरदन वाले ऊँट से अथवा वैभव सम्पन्न हाथी से देते हैं—

लांबी शी डोल ने कांकोल चावतो ऊँट जाणी घणों भार लादे।
आज अमृत जगे, हरखे हलवो भगे, वैकुंठनाथ ने नव आराधे।
पीठ अंबाड़ी ने अंकुश मार सही रेणु उडाडतो धरणी हैंठो।
आजे चुवा चंदन आभ्रण अंग धरी वेगे जाय छे तुं बेले बैठो।

—पद २७

यही कारण है कि सूर सदैव जीव के हृदय को स्पर्श करके भक्ति की प्रेरणा देते हैं पर नरसी कभी-कभी शंकराचार्य के 'कोऽहं कस्त्वं को आयात:' आदि की तरह निम्न-लिखित पंक्तियाँ लिखकर उसकी बुद्धि को भी उद्बुद्ध करने का प्रयास करते हैं—

नरसी—अेक तुं अेक तुं अेम सौ को स्तवे कोण हुं ते नहि को विचारे।
कोण छुं क्यां थकी आवीयो जग विषे जइश क्यां छूटशे देह त्यारे।

—पद ४६

यह विभेद यद्यपि दोनों की रचनाओं में बहुत दूर तक प्राप्त होता है तथापि इसे आत्यान्तिक नहीं कहा जा सकता। सूरदास के ऐसे भी अनेक पद हैं जिनमें जीव को अहंकार त्याग देने का उपदेश दिया गया है। उसके विचार को जगाकर कर्तृत्वाभिमान को निरर्थक सिद्ध किया गया है—

१. अहंकार किये लागत पाप।
सूर श्याम भजि मिटे संताप।

२. करी गोपाल की सब होई।
जो अपनो पुरुषारथ मानत अति झूठो है सोई।
साधन मंत्र तंत्र उद्यम बल सुख यह सब डारहु धोई।
जो कछु लिखि राखी नंदनंदन मेटि सकै नहि कोई।

—सू० सा०, पृ० २६

जीव के अहंकार का निषेध करते-करते नरसी भी ऐसे ही परिणाम पर पहुँचते हैं जहाँ जीव के कर्तृत्व का पूर्णतया निषेध हो जाता है—

जेहना भाग्य मां जे समे जे लख्युं तेहने ते समे ते ज पहोंचे।

—पद २९

जीव के भव-बन्धन से निस्तार पानेके उपाय के विषय में सभी कृष्ण-भक्त कवि एक मत हैं। सभी ने कृष्ण भक्ति को जीव में उत्पन्न होने वाले मोह, अविवेक अज्ञान, अहंकार आदि का उपचार माना है। साधन अथवा भक्ति के स्वरूप पर आगे पृथक् रूप से विचार किया जायगा।

जगत

जगत् का मिथ्यात्व शंकराचार्य के उद्घोष 'जगन्मिथ्या' के पश्चात् विकसित होने वाले विभिन्न दार्शनिक मतवादों के लिए एक अत्यन्त महत्व पूर्ण विषय बना रामानुज ने उसे अचित् के रूप में ग्रहण करके ब्रह्म की उपाधि मात्र माना। अन्य आचार्यों ने भी अपना-अपना मत व्यक्त किया किन्तु वल्लभाचार्य से पूर्व जगत् की सत्यता की पूर्ण प्रतिष्ठा किसी ने भी नहीं की। शुद्धाद्वैत में जगत् को शुद्ध ब्रह्म का अविकृत परिणाम माना गया, जिसकी ओर ब्रह्म के प्रसंग में पहले संकेत भी किया जा चुका है। यही नहीं जगत् और संसार में स्पष्टतया सत्यासत्य का भेद स्थापित किया गया है। जगत् को विद्या माया से तथा संसार को अविद्या माया से उत्पन्न माना गया है।

फलतः वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में जगत् और संसार के सम्बन्ध में इस प्रकार भेद परिलक्षित किया जाता है किन्तु अन्य सम्प्रदायों के कवियों में इस भेद का कहीं भी दर्शन नहीं होता। साधारणतया सभी ने जगत् और संसार को एक ही समझा है और उसकी निस्सारा, नाशवतता तथा मायामयता का अनेकानेक बार वर्णन किया है। राधावल्लभीय कवि हरिराम व्यास सिद्धान्त के रस फुटकर पदों में लिखते हैं—

एक पकरे सब जग छूट्यो।
माया रचित प्रपंच कुटुम्ब की मोह जाल सब छूट्यो।

—व्यास वाणी, उत्तरार्ध पृ० ५३१

हरिदास ने भी लिखा है—

> हरि को ऐसो ही सब खेल।
> मृग तृष्णा जग व्यापि रह्यो है कहूँ बिजौरो न बेल।
> धनमद जोबनमद राजमद ज्यो पंछिन में डेल।
> कह हरिदास यहै जिय जानौ तीरथ को सौ मेल।
>
> —नि० मा०, पृ० २०४

इसी प्रकार के विचार अन्य अनेक कवियों ने व्यक्त किये हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में सूरदास नंददास आदि कवियों ने संसार के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह सब ऐसे ही विचारों से परिपूर्ण है—

> सूर—मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।
> मिथ्या है यह देह कहौ क्यों हरि बिसराया।
>
> —सू० सा०, दशम् स्कंध
>
> नंददास—बहे जात संसार धार जिय फंदे फंदन।
>
> —नंद०, पृ० १८४

इस प्रकार जगत् के सम्बन्ध में लोक प्रचलित जो मिथ्यात्व की धारणा थी वही संसार के प्रति इन उद्धरणों में है। अनेक स्थलों पर जगत् को उपर्युक्त कवियों ने शुद्धाद्वैत मत के अनुकूल सत्य एवं वास्तविक रूप में चित्रित किया है—

> सूर—ज्यों पानी ते होते बुदबुदा पुनि ता मांहि समाहीं।
> त्यों ही सब जग कुटुम्ब तुमहिं ते पुनि तुम माहि बिलाहीं।
>
> —अष्टछाप और वल्लभ सं०, पृ० ४४१
>
> नंददास—१. ब्रह्म निरीह ज्योति अविकार।
> सत्ता मात्र जगत आधार।
>
> —नंद०, पृ० २११
>
> २. जै जै जै श्रीकृष्ण रूप गुण काज पियारा।
> परमधाम जगधाम परम अभिराम उदारा।
>
> —नंद०, पृ० १८३

गुजराती कवि नरसी मेहता ने जगत् के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे संभवतः जगत् को इसी प्रकार सत्य एवं नित्य मानते थे जैसे वल्लभाचार्य के अनुयायी कवियों ने माना है, यद्यपि निम्नलिखित पंक्तियाँ इसका विरोध उपस्थित करती हैं—

जागी ने जोऊं तो जगत दीसे नहीं,
ऊंघ मां अटपटा भोग भासे।

—पद ४२

यहां 'जगत दीसे नहीं' और 'ऊंघ मां अटपटा भोग भासे' यह दोनों अंश जगत् के मिथ्यात्व को सिद्ध करते हैं परन्तु इसी पद में आगे 'पंच महाभूत विषे ऊन्या' कह कर और कनक कुंडल का उदाहरण देकर सिद्ध कर दिया गया है कि कवि वस्तुतः अविकृत परिणामवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करता है और जगत् को ब्रह्म की तरह नित्य एवं सत्य मानता है। इस भूमिका में 'जगत दीसे नहीं' का तात्पर्य यह होता है कि वह तत्वतः ब्रह्म से भिन्न नहीं दिखायी देता है।

परन्तु जगत् तथा संसार का भेद कदाचित् उन्होंने नहीं किया क्योंकि जगत् का प्रयोग उन्होंने उस संसार के पर्याप्त के रूप में भी किया है जिसे स्पष्टतया माया-मोहमय तथा मिथ्या माना है—

१. खांड्या संसारना थोथा ठाला।

—पद २१

२. सूख संसारि मिथ्या करी मानजो।

—पद २९

३. हुं ने महारुं जक्त तेमां बूडो।

—पद ४७

अंतिम पंक्ति में जगत् को 'मेरा तेरा' की माया में डूबा हुआ कहा गया है जो वल्लभ के मतानुसार संसार की परिभाषा है। यहीं अगर 'संसार तेमां बूडो' होता तो वह परिभाषा घटित होती।

प्रेमानन्द ने कृष्ण जन्म के समय वसुदेव से जो कृष्ण की स्तुति करायी है उसमें भी पंचमहाभूत का आधार उन्हीं को माना है—

पंचमहाभूत तारे आधारे, नथीं तुज बिना जोता विचारे।

—श्री०, पृ० २४०

किन्तु यह कथन भागवत से प्रभावित है अतएव कवि की स्वतंत्र धारणा का पूर्ण परिचायक नहीं माना जा सकता। ऐसे कथनों में दार्शनिक विचार को व्यक्त करने की वह शक्ति नहीं होती जिसके आधार पर उसे कवि का ही विचार मान लिया जाय।

गुजराती के अन्य कवियों में जगत् के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण विचार प्राप्त नहीं होते ।

माया

जगत् और संसार के भेद के साथ ही वल्लभाचार्य ने माया के भी दो भेद किये—एक विद्या तथा दूसरा अविद्या । विद्यामाया वह जो ब्रह्म की वशवर्तिनी एवं शक्ति है तथा जिसके द्वारा ब्रह्म समस्त जगत् का निर्माण करता है और अविद्या-माया वह जो जीव को काम क्रोध लोभ मोह आदि के द्वारा वशीभूत करके उसे पथ-भ्रष्ट करती रहती है—

१. विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते ।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता । ३४

—त० दी० निबंध, शास्त्रार्थ प्रकरण

वल्लभ सम्प्रदाय के सूरदास, नंददास ने भी माया को दोनों ही रूपों में चित्रित किया है । निम्नलिखित उद्धरण माया के उस स्वरूप को व्यक्त करते हैं जिसे विद्या माया कहा गया है—

सूरदास—बहुरि जब हरि की इच्छा होय ।
देखै माया के दिसि जोय ।
माया सब तबही उपजावै ।
ब्रह्मा सो पुनि सृष्टि उपावै ।

—सू० सा० पृ० ७६७

नंददास—सो माया जिनके अधीन नित रहत मृगी जस ।
विश्व प्रभाव प्रतिपाल प्रलयकारक आयुस बस ।

—नंद०, पृ० १८३

गुजराती कवियों में नरसी मेहता ने भी एक पंक्ति द्वारा माया के उक्त रूपों का संकेत किया है—

मोहन जीनी माया पासे अवर मायाजम फांसडीयां ।

यह 'मोहन जीनी माया' पद स्पष्टतः संकेत करता है कि नरसी माया के एक ऐसे स्वरूप पर भी विश्वास करते हैं जो कृष्ण के वशीभूत है । इसके अतिरिक्त नरसी के काव्य में अन्यत्र कहीं इसकी व्याख्या प्राप्त नहीं होती अतएव यह ज्ञात नहीं होता कि वस्तुतः इस माया के द्वारा नरसी का क्या अभिप्राय था । अविकृत परिणामवाद और जगत् सम्बन्धी उनके विचारों से अनुमानतः इसका कार्य सृष्टि का सृजन प्रलयादि हो सकता

हैं ।'अवर माया' अर्थात् दूसरी अथवा निम्नकोटि की माया जीव के कालपाश में बद्ध करने वाली कही गयी है ।

प्रेमानन्द ने अपने दशमस्कंध में कृष्णकी गोवत्स हरण तथा रास आदि लीलाओं में माया को जो स्थान दिया है वह उस शक्ति विशेष के रूप में है जिसके द्वारा कृष्ण अनेक अलौकिक घटनाएँ घटित करते थे । सूरदास ने भी कृष्ण की बाल लीलाओं में उनकी इस शक्ति का परिचय दिया है ।

यही नहीं त्रिगुणात्मिका प्रकृति वाली इस माया का वर्णन सूर ने पृथक रूप से उस गाय का रूपक देकर किया है जिसके सम्हालने की सामर्थ्य केवल गोपाल कृष्ण में ही है—

> माधव जू नेकु हटकौ गाइ ।
>
> . . . .
>
> ढीठ निठुर न डरति काहू त्रिगुण ह्वै समुहाइ ।
> नारदादि शुकादि मुनिजन थके करत उपाइ ।
> ताहि कहु कैसे कृपानिधि सकत सूर चराइ ।

—सू० सा०, पृ० ८

माया का जो दूसरा स्वरूप है जिसे अविद्या कहा गया है उसका भक्त कवियों ने विशेष रूप से चित्रण किया है । भक्ति ने कल्याण पथ में बाधक होने का प्रधान कारण उसे ही कहा गया है अतः प्रायः एक स्वर से सभी ने उसकी निन्दा की है । कभी स्वप्न से, कभी नर्तकी से, कभी मृगमरीचिका से कभी तमिस्रा रात्रि से उसकी तुलना की गयी है । उसका बाह्य स्वरूप आकर्षक तथा आन्तरिक रूप असत्य प्रतिपादित किया गया है उसकी सबसे बड़ी शक्ति यही है कि वह जीव को बलात् अपने पाश में जकड़ लेती है जिससे निस्तार पाना अत्यंत कठिन हो जाता है । केवल कृष्णाश्रय ही एक मात्र उपाय है । सूरदास के निम्नलिखित पद में इसी माया का वर्णन प्राप्त होता है—

> बिनती सुनो दीन की चित्त दै कैसे तव गुण गावै ।
> माया नटिनि लकुट कर लीन्हे कोटिक नाच नचावै ।
> दर दर लोभ लागि लै डोलति नाना स्वांग करावै ।
> तुमसों कपट करावति प्रभु जू मेरी बुद्धि भ्रमावै ।
> मन अभिलाष तरंगनि करि करि मिथ्या निशा जमावै ।
> सोवत सपने में ज्यों सम्पत्ति त्यों दिखाय बौरावै ।

महा मोहनी मोह आत्मा मन करि अघहि लगावै।
ज्यों दूती परवधू भोरि कै लै परपुरुष दिखावै।

—सू० सा० पृ० ६

सूर ने इस माया को भी कृष्ण की वशवर्तिनी तथा जगतकी वचकतृ माना है—

तुम्हारी माया महाबली जिन जग वश कीनो।
कछु कुलधर्म न जानइ वाके रूप सकल जग राच्यो।

—सू० सा०, पृ० ७

हरिव्यास देव, हरीराम व्यास, तथा हरिदास आदि अन्य सम्प्रदाय के कवियों ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं—

हरिव्यास—माया त्रिगुन प्रपंच पवन की अंच न आवै तास।

—नि० मा०, पृ० ६५

व्यास—१. माया रचित प्रपंच कुटुम्बी मोह जाल सब छूट्यो।

२. जीवत मरै न माया छूटै काल कर्म मुँह कूटै।
पुत्र कलत्र सजन सुख देता पितर भूत सब लूटै।
कबहुं रंक राजा कबहुं है विषै विकार न छूटै।
साधु न सूझै गुन नहि बूझै हरि जस रस नहि घूटै।
व्यास आस घर घाले जग को दुख सागर नहि फूटै।

श्री व्यास वाणी, पृ० ५३१

हरिदास—तुमरी माया बाजी पसारी विचित्र मोहे मुनि सुनि करके भूलै कोइ।

—नि० ा०, पृ म० २०२

बिहारीदास—माया मोह प्रगह पर्यो मन बहे जात बुधि फेरी।

—वही, पृ० २४४

गुजराती कवियों में नरसी मेहता द्वारा वर्णित 'अवरमाया' का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। उन्होंने अन्यत्र कई स्थलों पर माया को, जीव को बद्ध करने वाली विचित्र शक्ति के रूप में चित्रित किया है—

१. माया नी जाल मां मोह पामी रह्यो।

—पद ३७

२. अवतरी पाश बंधायो मायातणे लपटी लालची लीधो फेरी।
दिवसे चोदश भम्यो, रात निद्राविषे, स्वप्न मा सामरे मोहटी माया।

—पद ४४

माया के आकर्षक रूप को देखकर प्रसन्न होने वाले जीव को उद्बोधन देते हुए नरसी मेहता उसकी तुलना स्वप्न से करते हैं—

कारमी माया जोई का रे हरखो।
स्वप्न नी वार्ता में शुं रे राची रह्यो।

—पद ३७

माया को त्याग कर ज्ञानी होने का उपदेश भी नरसी ने दिया जिससे ज्ञात होता है वे माया को अज्ञान का पर्याप्त अथवा आवरण समझते थे—

माटे तमो माया तजी थाओ ने ज्ञानी।

—पद ६४

अन्य गुजराती कवियोंने माया के विषय में इस प्रकार स्पष्ट रूप से तो कुछ नहीं लिखा है परन्तु अन्य आधारों को देखते हुए उनका मत माया के इस द्वितीय रूप को ही स्वीकार करता प्रतीत होता है।

मोक्ष

जीव की जन्म मृत्यु जरा व्याधि से छूटकर अखंड आनन्द प्राप्त करने की दशा को मोक्ष कहा गया है। इस स्थिति विशेष की सत्ता को प्रायः सभी प्रमुख कवियों ने स्वीकार किया है। साम्प्रदायिक दर्शनों ने मोक्ष की स्थिति के अनेकानेक विभेद किये परन्तु सामान्यतः ब्रजभाषा तथा गुजराती दोनों भाषाओं के कवियों ने चार प्रकार की मुक्ति का निर्देश किया है—

सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य।

सूर—सेवत सगुण स्याम सुन्दर को मुक्ति लही हम चारी।

—सू० सा० वें० प्रे०, पृ० ५४४

हरिराम व्यास—लोक वेद कर्म धर्म छाड़ि मुकुति चारि।

व्यासवाणी, पृ० २९१

नरसी—१. चतुरधा मुक्ति छै।

—पद २२

२. चतुरधा मुक्ति तेओ न मागे ।

—पद २४

मोक्ष अथवा मुक्ति के सम्बन्ध में कवियों के दो वर्ग हैं जिनके विचार एक दूसरे से विरुद्ध हैं। एक वर्ग के मत से मोक्ष की स्थिति भक्ति से श्रेष्ठ नहीं है अतएव उस वर्ग के कवियों ने अपने काव्य में विभिन्न स्थलों पर अनेक प्रकार से मुक्ति की उपेक्षा एवं तिरस्कार किया है । उदाहरणार्थ, गुजराती कवि नरसी की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

१. चतुरधा मुक्ति छे जूजवी जूक्तिनी ताहरा ते तेहने नव राचे ।
   वेहु करजोड़ी ने नरसैंयो वीनवे जन्मोजनम तारी भक्ति जाँचे ।

—पद २२

२. धन वृंदावन धन अे लीला धन अे व्रज ना वासी रे ।
   अष्टमहासिद्धि आगणियां ऊभी, मुक्ति छे प्रेम नी दासी रे ।

—पद १

३. हरिना जन तो मुक्ति न मागे
   मागे जन्मो जन्म अवतार ।

—पद १

परन्तु इस प्रकार मोक्ष की उपेक्षा करते हुए भी नरसी ने अपने आराध्य कृष्ण को मोक्ष का दाता माना है तथा यशोदा को मुक्ति का प्रतीक भी घोषित किया है —

१. नरसैंया चा स्वामी नर मोक्षदाता सदा
   श्रीकृष्ण जी समो देवनोयं ।

—पद ४८

२. मुक्ति जशोमती ।

—पद ३५

ब्रजभाषा के भी कई कवियों ने मोक्ष की भक्ति के समक्ष उपेक्षा की है—

ध्रुवदास—१. धर्म मोक्ष कोउ पूंछत नाहीं सिद्ध कौन विचारी ।

—जीवदिसा ३३

२. रसिक गनत नहि मुकुति को और लोक केहि मांहि ।

—भजनसत

हरिराम व्यास—ताके बल गर्व भरे रसिक व्यास से न डरे
   लोक वेद कर्म धर्म छींडि मुकुति चारि ।

—व्यासवाणी पृ०, २४९

सूरदास ने भी कहीं कहीं चार पदार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को कृष्ण के भजन की तुलना में हीन कहा है—

जो सुख होत गोपालहिं गाये ।
दिये लेत नहिं चार पदारथ चरण कमल चित लाये ।

—सू० सा०, पृ० ४३

सूरसागर के तृतीय स्कंध में एक स्थल पर भक्ति के प्रकार-विशेष को जिसे सुधाभक्ति कहा गया है, मोक्ष का इच्छुक बताया गया है साथ ही मुक्ति से अलिप्त भी—

सुधाभक्ति मोक्ष को चाहै
मुक्तिहु को नाहीं अवगाहै ।

—सू० सा०, पृ० ५२

यहाँ मुक्ति और मोक्ष में अंतर किया गया प्रतीत होता है । मोक्ष मुक्ति से श्रेष्ठ माना गया है ।

सूरदास वस्तुतः दूसरे वर्ग के कवियों में आते हैं जिन्होंने मोक्ष प्राप्ति की बराबर कामना की । उनके अनेक पदों में जन्म मरण के चक्र से अथवा भव व्याधि से विस्तार पाने की प्रार्थना की गयी है—

१. निधरक रहौं सूर के स्वामी जन्म न जाऊँ फेरि ।

—सू० सा०, पृ० ८

२. तुम मोसे अपराधी माधव कितेक मुक्ति पठाये हो ।

—वही, पृ० ३

३. सूरदास भगवंत भजन बिनु फिरि फिरि जठर जरै ।

—वही, पृ० ५

गुजराती के कवियों ने भी भागवत का तथा उसमें वर्णित कृष्ण कथा के श्रवण मनन का ध्येय मुक्ति ही माना है ।

प्रेमानन्द—अेथी श्री भागवत, गंगा प्रकट्यां जेमा काम मोक्ष ने अर्थ ॥७॥

भालण—लीला ते श्रीकृष्ण जी प्रेमे बोली अेह,
भाव कमावे सांभले गर्भवास नावे तेह ।

—दशम०, पृ० ४?७

जिसे सुनकर परीक्षित मुक्त हो गए ऐसी भागवत का चरम लक्ष्य मोक्ष ही है यह धारणा इन्हीं कवियों में नहीं वरन् एक स्थल पर नरसी मेहता में भी प्राप्त होती है—

प्रेम नी वात परीक्षित प्रीछ्यो नहीं शुक जीअे समजी रस संताड्यो।
ज्ञान वैराग्य करि ग्रंथ पूरो कर्यो मुक्ति नो मार्ग सूधो देखाड्यो।

—पद २४

यहीं वे अपन पदों में स्पष्टतया मुक्त होने तथा पुनः जन्म न ग्रहण करने की याचना करते हैं जो उनके पूर्वोक्त मुक्ति की उपेक्षा व्यक्त करने वाले पदों के ठीक विरुद्ध पड़ता है—

१. रे भणे नरसैंयो अटलुं मांगुं पुनरपि नहि अवतार रे।

—पद २

२. भणे नरसैंयो तमे प्रभु भजीलो आवागमन नो फेरो टले।

—पद १२

३. भणे नरसैंयो जेने कृष्ण रस चाखियो, पुनरपि मात ने गर्भ नावे।

—पद ६६

कृष्ण भक्त कवियों ने सायुज्य तथा सारूप्य की अपेक्षा सामीप्य तथा सालोक्य मुक्ति की लालसा विशेष रूप से प्रकट की है। सूरदास ने अपने अनेक पदों में एक चिरन्तन आनन्दमय अतीन्द्रिय लोक में चलने की कामना व्यक्त की है। उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियों से प्रारम्भ होने वाले पद लिये जा सकते हैं—

१. भृंगी री भज चरण कमल पद जंह नहिं निशिको त्रास।

—सू० सा०, पृ० ३६

२. चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।

—वही०, पृ० ३५

गुजराती कवि भालण को भी ऐसी ही मुक्ति अभीष्ट है। अपने दशमस्कंध की समाप्ति करते हुए वे लिखते हैं—

वैकुंठ पद तो तेह पाये, हरिचरणे थयो वास।
बेहु कर जोड़ी ने कहे भालण हरि नो दास।

उक्त उद्धरणों में चरण शब्द से आराध्य की समीपता की भी व्यंजना होती है अतः सालोक्य और सामीप्य दोनों प्रकार की मुक्तियाँ एक साथ ही इन कवियों को अभिप्रेत जान पड़ती हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों का दृढ़ विश्वास है कि श्रीकृष्ण अपने प्रिय भक्तों पर जब अनुग्रह करते हैं तो उन्हें अपने समीप गोलोक में ही स्थान देते हैं जहाँ से उन भक्तों को रास दर्शन का सुख निरंतर प्राप्त होता रहता है—

१. जिनके यहै अनन्य उपास।
तिनको प्रिया लाल नित हित करि राखै अपने पास।
माया त्रिगुण प्रपंच पवन की अंच न आवै तास।
श्री हरिप्रिया निपट अनुवर्तित ह्वै निरखै सुख रास।

—नि० मा०, पृ० ६५०

२. यह अनुक्रम करि जे अनुसरहीं, शनैं शनैं जगते निरवरही।
परमधाम परिकर मधि वसहीं, श्री हरिप्रिया हितू संग लसहीं।

—वही, पृ० ६७०

गुजराती कवि नरसी मेहता ने रासवर्णन के प्रसंग में अपने गोलोक में होने का वर्णन किया है जो इसी प्रकार की धारणा को व्यक्त करता है। वल्लभाचार्य ने 'शनैं शनैं जगते निरवरही' वाली मुक्ति को 'क्रम मुक्ति' का नाम दिया है और गोलोक में स्थान पाने वाली मुक्ति को प्रवेशात्मक मुक्ति माना है,। 'क्रम मुक्ति' के विरुद्ध उन्होंने 'सद्यःमुक्ति' को स्वीकार किया जो जीव को भगवत्कृपा से तत्काल बिना प्रारब्ध कर्म भोगे ही प्राप्त होती है, और प्रवेशात्मक मुक्ति के साथ लयात्मक मुक्ति का निरूपण किया जो केवल ज्ञानियों को ही प्राप्त होती है और जिसमें जीव ब्रह्म में पूर्णतया विलीन हो जाता है। अष्टछाप के कवियों को प्रवेशात्मक मुक्ति ही अभीष्ट रही उसी को अनेक रूपों से व्यक्त किया है। कुछ कवियों ने कृष्ण के लीलाधाम ब्रज में जड़ रूप से प्रवेश पाने तक की कामना की है। सूर का 'करहु मोहि ब्रज रेणु' रसखान का 'पाहन हौं तो वही गिरि को....' तथा व्यास का 'ब्रज के लता पता मोहि कीजै' ये सब इसी भाव को प्रकट करते हैं।

भक्ति

साधना एवं उपासना के अन्य मार्गों की अपेक्षा भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता तथा महत्ता का प्रतिपादन वैष्णव चिंताधारा का मूल स्वर रहा है। गीता, भागवत, नारद भक्ति सूत्र, नारद पंचरात्र तथा शांडिल्य भक्ति सूत्र आदि ग्रंथों द्वारा भक्ति को कर्म तथा योग से भी श्रेष्ठतर स्थान दिया गया है जिसके परिणाम स्वरूप

समस्त वैष्णव काव्य भक्ति की व्यापक आधार भूमि पर विकसित हुआ। गुजराती, ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य भी इसी सत्य का समर्थन करता है। प्रायः सभी प्रधान कवियों ने भक्ति के महत्व को स्वीकार ही नहीं किया अपितु स्पष्ट और सशक्त शब्दों में उसका व्याख्यान एवं गुणगान भी किया है। ब्रजभाषा के कवि अधिकतर किसी न किसी भक्ति सम्प्रदाय में दीक्षित मिलते हैं अतएव उनके लिए स्वाभाविक है कि वे भक्ति के यशगान में काव्य रचें परन्तु गुजराती के कवियों ने भी, जिनका सम्बन्ध किसी भक्ति सम्प्रदाय से स्पष्टतया परिलक्षित नहीं होता, भागवत आदि के आधार पर भक्ति की प्रशंसा में तथा उसके महत्व को व्यक्त करते हुए पर्याप्त परिमाण में काव्य रचना की है जिसकी ओर वस्तु विश्लेषण के प्रसंग में निर्देश किया जा चुका है।

भक्ति की महिमा—नरसी मेहता ने भक्ति को ऐसा श्रेष्ठ पदार्थ माना है जो केवल भूतल पर ही उपलब्ध नहीं होती वरन् ब्रह्म लोक में भी उसकी प्राप्ति नहीं होती—

भूतल भक्ति पदारथ मोटुँ, ब्रह्मलोक मां नाही रे।

—पद १

उनके मत में भक्ति के अभाव में सब कुछ निस्सार है अतएव भक्त को सब प्रपंच तज कर केवल भक्ति न भूलना ही अभीष्ट है—

परपंच परिहरो सार हृदिअे धरो उचरो हरि मुखे अचल वाणी।
नरसैया हरितणी भक्ति भूलीश मा भक्ति बिना बीजुं धूल धाणी।

—पद २०

भक्ति के बिना जो प्राणी जीवित रहते हैं वे मानव कहलाने के भी अधिकारी नहीं हैं—

भक्ति विना जे जन जीवे ते केम कहीये मानव देह रे।

—पद ५५

इसी बात को नरसी फिर भिन्न प्रकार से कहते हैं कि वह जीव जीव नहीं है जिसने हरि की भक्ति नहीं की। वह अपराधी है, शववत् पृथ्वी का भार है तथा जीवित ही नरक भोगी है—

जे कृष्ण हरिनी भक्ति न साधी ते अपराधी जीव कशा रे।
भूतल भार भरे शव सरखा जीवतडां नर नरक वस्या रे।

—पद ६३

नरसी के अनुसार भक्ति में इतनी सामर्थ्य है कि वह भगवान को भी अपने वश में कर लेती है तथा भगवान् को भक्ति के ही कारण देह तक धारण करनी पड़ती है—

भक्ति कारण जो ने भूधरे देह धरी ।

....

नरसैंयां चा स्वामि सबल वश भक्ति ने अवर उपाय नहीं देह त्यागे ।

—पद ३७

प्रेमानन्द ने भी भजन बिना मनुष्य जन्म को निरर्थक स्वीकार किया है—

मनुष्य देह देवने दुर्लभ, को पुण्ये प्राप्ति थाय ।
जे थी परमपद ने पाये प्राणी ते, भजन बिना अेले जाय ॥ ९ ॥

—श्रीमद्० भा० २३३

मथुरा लीला के रचयिता केशवदास वैष्णव भक्ति रस को साक्षात् भगवान का स्वरूप समझते हैं—

योग शृंगार अध्यात्म ज्ञान । केवल भक्ति रस भगवा ।

भक्ति के महत्व को व्यक्त करने के लिए गुजराती कवियों ने उसका तादात्म्य राधा से कर दिया । उनके अनुसार राधा ही भक्ति का स्वरूप हैं जिससे प्रकारान्तर से यह प्रतिपादित होता है कि कृष्ण के लिए जिस प्रकार राधा अभिन्न एवं प्रिय हैं उसी प्रकार भक्ति भी । भक्ति के महत्व का प्रतिपादन करने वाले उक्त तीनों कवियों ने भक्ति को राधा रूप में मूर्त घोषित किया है—

नरसी—भक्ति ते राधिका

—पद २५

प्रेमानन्द—गोपी ऋचा राधा भक्ति

श्रीभा० पृ० २३४

केशवदास—भक्ति स्वरूप ते राधिका साक्षात् अे अवतार ।

—मथुरालीला, कडवा ८

व्रजभाषा के कवियों ने राधा को भक्ति तो नहीं कहा परन्तु उसकी महत्ता को अपने काव्य में बराबर व्यक्त किया है । किसी भी वस्तु की श्रेष्ठता का निरूपण दो रूपों में होता है । एक तो उसके महत्व एवं शक्ति का वर्णन करके और उसमें निरत प्राणियों की प्रशंसा करके, दूसरे अन्य वस्तुओं की निस्सारता दिखाकर तथा उससे विरत प्राणियों की निन्दा करके । गुजराती कवियों ने दूसरे प्रकार से भक्ति

की महत्ता कम प्रदर्शित की है। केवल नरसी में ही वैसे कथन मिलते हैं परन्तु ब्रजभाषा के कवियों ने दोनों ही प्रकार से भक्ति की महिमा का गायन किया है।

सूरदास मानते हैं कि जीव के अन्य धर्म क्षणिक हैं, मात्र भक्ति ही ऐसी है जो युग युग तक यशस्विनी बनी रहती है तथा भक्ति से ही भगवंत की प्राप्ति होती है—

१. हरि की भक्ति विरद है युग युग आन धर्म दिन चारि।

—सू० सा०, पृ० ४४

२. भक्ति बिन भगवंत दुर्लभ कहत निगम पुकारि।

—सू० सा०, पृ० ३७

साथ ही वे भक्तिहीनों को शूकर कूकर की तरह विषयी ठहराते हैं—

१. भजन बिनु कूकर सूकर जैसो।

—सू० सा०, पृ० ४५

उनकी दृष्टि में अभक्त प्रेत तथा नारकी है—

१. भजन बिनु जीवत जैसे प्रेत।

—सू० सा०, पृ० ४५

२. बिनु हरि भक्ति नरक में परै।

—सू० सा०, पृ० ५५

हितहरिवंश मनुष्य शरीर की सार्थकता भक्ति से ही मानते हैं—

मानुष कौ तन पाई भजौ रघुनाथ कों।

—श्री हित० स्फुट वाणी जी, पृ० १

उनके मत से कृष्ण की भक्ति के आगे ग्रहों की गति अर्थात् भाग्य रेखा का भी कोई महत्व नहीं है—

जो पै कृष्ण चरण मन अर्पित तो करिहैं कहा नव ग्रह रंक।

—वही, पृ० १

हितहरिवंश के शिष्य दामोदरदास ने अपनी वाणी में अन्य सभी साधनों की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ स्वीकार किया है—

साधन सकल कहे अविरुद्ध। वेद पुरान सु आगम शुद्ध।
बुद्धि विवेक जे जानहीं दास। समुझौं सबनि सुभक्ति उजास।

—श्रीहित चौरासी सेवक वाणी, पृ० ४९

ध्रुवदास के मत से महासुख स्वरूपा कृष्ण भक्ति से वंचित जीव की दशा महामूढ़ जैसी है—

कृष्ण भक्ति सौं कबहूँ न राच्यौ ।
महामूढ़ बड़ सुख ते बांच्यौ।

—जीवदसा

हरिराम व्यास ने भक्ति को भवसागर से पार जाने का एकमात्र उपाय कहा है तथा भक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं को असत्य माना है—

१. भव तरिबे को एक उपाउ ।

—व्यास वाणी. पृ० ९६

२. सांची भक्ति और सब झूठी ।

—वही, पृ० ९७

व्यास जी का दृढ़ विश्वास था कि यदि भक्ति की व्यापक लोकप्रियता न होती तो धर्म विद्या आदि सभी कुछ नष्ट हो जाता—

जो पै सबहि न भक्ति सुहाती ।
तौ विद्या विधि बरन धर्म की जाति रसातल जाती ।

—वही, पृ० १२७

गौडीय सम्प्रदाय के कवि गदाधर भट्ट अपने एक पद में भक्ति को कलिकाल तारिनी, मंगल विधायिनी जैसे अनेकानेक विशेषणों से विभूषित करते हैं—

अघसंहारिनि अधम उधारिनि, कलिकाल तारिनी मधुमथन गुनकथा ।
मंगल विधायिनी प्रेम रस दायिनी, भक्ति अनपायनी होइ जिय सर्वथा ।

—वाणी ग० भट्ट, पृ० १३ १४

निम्बार्क मतानुवर्ती श्रीभट्ट जीव के जन्म जन्मान्तर के दुखों का मूल कारण उसका गोविंद से विमुख होना अर्थात् भक्तिहीन होना स्वीकार करते हैं तथा भक्ति से अभयपद प्राप्त होना एवं यम त्रास से मुक्ति पाना संभव समझते ह—

जे नर विमुख भये गोविंद सो जनम अनेक महादुख पायो ।
श्रीभट के प्रभु दियो अभय पद जम डरप्यो जब दास कहायो ।

—नि० मा० पृ० ११ ।

इसी प्रकार स्वामी हरिदास भी भयानक संसार-समुद्र का संतरण करने हेतु जीव के लिए श्रीकृष्ण के चरणों का आश्रय ही समर्थ आधार मानते हैं—

कहि श्री हरिदास तेई जीव पार भये जे गहि रहे चरन आनंद नंदसि ।

—नि० मा०, पृ० २०३

इस प्रकार सभी कवियों ने अपने अपने ढंग से भक्ति के माहात्म्य का निरूपण किया है। मुक्ति की अपेक्षा बहुतों ने भक्ति को ही श्रेष्ठ माना है जिसका परिचय मोक्ष के प्रसंग में दिया गया है। उससे स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि गुजराती तथा ब्रज दोनों के ही कवियों ने भक्ति के आगे मुक्ति का तिरस्कार करने की भावना व्यक्त की है जो भक्ति की महिमा का चरम विन्दु है। बहुत से कवियों ने भक्ति की प्रशंसा श्रेष्ठतम साधन के रूप में की है पर कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने उसे भगवंत का स्वरूप बता कर साध्य की कोटि में स्थापित करने का प्रयास किया है।

भक्ति के प्रकार—भागवत के सप्तम स्कंध में नवधा अथवा नवलक्षणा भक्ति का निरूपण किया गया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।

—अ० ५ श्लो० २३

इन नव लक्षणों में से प्रथम तीन का—नाम से, दूसरे तीन का—रूप से तथा अन्तिम तीन का—भाव से सम्बन्ध है। वल्लभाचार्य ने इन सभी लक्षणों को साधन का प्रकार माना है जिसके द्वारा दशवीं प्रेम रूपा भक्ति उत्पन्न होती है[1]। श्री हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु के रचयिता रूप गोस्वामी ने भी भक्ति के 'वैधी' तथा 'रागानुगा' दो भेद स्वीकार किये हैं[2]। भक्ति के प्राचीन सिद्धान्त ग्रंथों में जो लक्षण मिलते हैं उन सभी में प्रेम अथवा अनुरक्ति के शुद्ध तथा परम रूप पर बल दिया गया है। यथा—

१. सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा ॥ २ ॥

—नारद भक्तिसूत्र

२. माहात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः स्नेहो भक्तिरिति।

—नारद पंचरात्र

३. सा परानुरक्तिरीश्वरे ॥ २ ॥

—शांडिल्य भक्ति सूत्र

इस प्रकार भक्ति के एक ऐसे रूप की स्थिति बराबर मानी गयी जो नवधा भक्ति के से इतर थी और श्रेष्ठतर भी।

गुजराती और ब्रजभाषा के प्रायः सभी प्रमुख भक्त कवियों ने भक्ति के इसी प्रकार को मान्यता दी है। विभिन्न कवियों ने इसे विभिन्न नामों से भूषित किया है।

नरसी मेहता ने नवधा के अनुकरण पर इस रागानुगा भक्ति को 'दशधा' नाम दिया है। साथ ही उन्होंने अपने आराध्य की प्राप्ति के लिए नवधा भक्ति को अशक्त भी बताया है। उनका आराध्य जो सत्य है—अनंत है, दृष्टि में नहीं आता है और वाणी से परे है, केवल दशधा के ही माध्यम से प्रकट होता है—

दृष्टे न आवे निगम जगावे वाणी रहित विचारो रे।
साथ अनंत ज जेहने कहीबे ते नवधा थी न्यारो रे।
नवधा मां तो नहीं नरवेडो **दशधा** मां देखाशे रे।
अचवो रस छे अेहेनी पासे, ते प्रेमी जन ने पाशे रे।

—पद ५७

अष्टछापी कवि परमानन्ददास ने भी एक पद में नवधा से दशधा भक्ति को श्रेष्ठतर प्रतिपादित किया है—

ताते **दसधा** भक्ति भली।
जिन जिन कीनी तिनके मन ते नेकु न अनत चली।
श्रवण परीक्षत तरे राजरिषि **कीर्तन** करि शुकदेव।
सुमिरन करि प्रह्लाद निर्भय भयो कमला करी **पदसेव**।
प्रथु **अरचन,** सुफलक सुत **बंदन दासभाव** हनुमंत।
सखाभाव अर्जुन वस कीन्हे श्री हरि श्री भगवंत।
वलि **आत्मसमर्पण** करि हरि राखै अपने पास।
अखिल प्रेम भयो गोपिन को बलि परमानंददास।

सूरसागरसारावली में इसे **प्रेम लक्षणा** कहा गया है—

श्रवण कीर्तन स्मरण पाद रत अरचन बंदन दास।
सख्य और आत्मनिवेदन **प्रेम लक्षणा** जास ॥ ११६ ॥

सूरसागर में इसी रागानुगा भक्ति को 'सुधाभक्ति' तथा 'प्रेमभक्ति' की संज्ञा दी गयी है। सुधाभक्ति का स्थान तामसी, राजसी तथा सात्विकी भक्ति के ऊपर माना गया है और इस प्रकार भक्ति के प्रकारों का एक नवीन वर्गीकरण प्राप्त होता है—

भक्ति एक पुनि बहु विधि होई, ज्यों जल रंग मिलि रंग सुहोई।
माता भक्ति चारि परकार, सत रज तम गुण सुधा सार।
भक्ति सात्विकी चाहति मुक्त, रजोगुणी धन कुटुंब अनुरक्त।
तमोगुणी चाहे या भाई, मम बैरी क्यों ही मर जाई।

सुधा भक्ति मोक्ष को चाहे, मुक्ति हू को नाहीं अवगाहे।

—सू० सा० तृतीय स्कंध, पृ० ५२

यह वर्गीकरण भी नवधा की तरह भागवत पर आधारित है परन्तु भागवत में उसे निर्गुण भक्ति कहा गया है जिसे सूर ने सुधा भक्ति कहा है—

लक्षणं भक्ति योगस्य निर्गुणस्यह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्य व्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥१२

—भागवत, तृतीय स्कंध, अध्याय २९

प्रेमभक्ति नाम सूर ने और नंददास दोनों दिया है साथ ही गुजराती कवि नरसी और भालण ने भी इसका प्रयोग किया है—

सूर—१. प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होई, नाथ कृपा करि दीजै सोई।

—सू० सा० पृ० ७५८

२. प्रेमभक्ति बिनु कृपा न होइ। सर्वशास्त्र में देखे जोइ।

—सू० सा०

नंददास—जो यह लीला गावै चित दै सुनै सुनावै।

प्रेमाभक्ति सो पावै अरु सबके जिय भावै।

—नंद० पृ० १८२

नरसी—प्रेमभक्ति मां भंग पड़ावै अज्ञान आगल लावे रे।

—पद ५४

भालण—१. प्रेमभक्ति ते कही न जाये।
जीहवा अेक मुंह माय जी ।

२. सनकादिक जाणे नहि प्रेमभक्ति निरधार जी ।

—दशम स्कंध, पृ० २२७

सूरदास द्वारा दी हुई पूर्व परिभाषा से यदि इस प्रेमभक्ति की तुलना की जाय तो मुक्ति की प्राप्ति का लक्ष्य रखने के कारण यह सात्विकी भक्ति ठहरती है परन्तु नंददास का मन्तव्य कदाचित् इससे भिन्न है। उनकी प्रेमभक्ति का अर्थ विशुद्ध रागानुगा भक्ति से ही है। नंददास ने सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार भक्ति का एक रूप 'पुष्टि भक्ति' भी माना है जो उनके एक पद से प्रकट होता है—

धर्मादिक द्वारे प्रतिहार, **पुष्टि भक्ति** कौ अंगीकार।

—नंद. पृ० ३४२

किन्तु यहाँ उनका मन्तव्य पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाया है। 'प्रेमभक्ति' तथा 'पुष्टि भक्ति' को उन्होंने पर्याप्त माना अथवा वे इन दोनों में कोई भेद समझते थे, यह उनके काव्य से स्पष्ट नहीं होता।

'प्रेमभक्ति' का संकेत सूर और नंददास में ही नहीं मिलता गौडीय सम्प्रदाय के कवि माधवदास ने भी मानमाधुरी की फलश्रुति में इसका उल्लेख किया है—

मानमाधुरी जो सुने, होय सुबुद्धि प्रकास।
प्रेमभक्ति पावै विमल, अरु वृन्दावन वास ॥४०॥

—श्री मानमाधुरी, पृ० ८३

अगले दोहे में कवि ने इसी अर्थ में 'रागमार्ग' का व्यवहार किया है जिससे ज्ञात होता है कि माधवदास की प्रेमभक्ति वस्तुतः रागात्मिका भक्ति का ही दूसरा नाम है—

मानमाधुरी जो पढ़ै सुनै सरस चितलाय।
राग मार्ग मार्ग में चित रहै राधाकृष्ण सहाय ॥४१॥

—वही

राधावल्लभीय कवि ध्रुवदास ने भी प्रेम की श्रेष्ठता का निरूपण अनेक प्रकार से किया है। वे भजन के समस्त रूपों से प्रेम भजन को श्रेष्ठ कहते हैं—

औरौ भजन आहि बहुतेरे।
ते सब **प्रेम भजन** के चेरे ॥१५१॥

—नेह मंजरी

एक दूसरे स्थल पर वे नरसी तथा परमानन्ददास की तरह ही नवधा भक्ति की तुलना में प्रेम को ही उच्च स्थान देते हैं—

महा माधुरी प्रेम निज आवै जिहि उर मांहि।
नवधा हूँ तिहि रुचति नहि नेम सबै मिटि जाहि ॥१५॥

—भजन कुंडलिया

'सिद्धान्त विचार' नामक रचना में इसी विचार को गद्य में ध्रुवदास ने स्पष्ट किया है—

'पहले स्थूल प्रेम समुझे तब आगे चलै जैसे भागवत की वानी।
पहिले नवधा भक्ति करै तब **प्रेमलछिना** आवै।"

यहाँ स्पष्टतया 'प्रेम लक्षणा' शब्द का प्रयोग किया गया है। सारावलीकार ने भी इसी को प्रयुक्त किया है जिसका उल्लेख हो चुका है। ध्रुवदास के सहसम्प्रदायी कवि हरिराम व्यास नें पूर्वोक्त सूर आदि की तरह प्रेमभक्ति का ही व्यवहार किया है—

घर घर **प्रेमभक्ति** की महिमा व्यास सबै पहिचानी।

—व्यास वाणी, पृ० २८

निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि हरिव्यास ने भक्ति के इस विशिष्ट प्रकार को 'पराभक्ति' कहा है और राधा को 'पराभक्ति प्रदायिनी' की उपाधि दी है—

१. जयति जय राधा रसिकमनि मुकुट मनहरनी त्रिये।

पराभक्ति प्रदायिनी करि कृपा करुना निधि प्रिये।

—नि० मा०, पृ० ३५

२. कर्म अरु ज्ञान करि के सदा दुर्लभ सुल्लभा **परा भक्तिहि** प्रकासी।

—वही, पृ० ५९

उन्होंने इस पराभक्ति के परम पंथ को 'नेम प्रेम' दोनों से श्रेष्ठतर माना है—

रहि गयो मारग उरै नेम अरु प्रेम को पर चल्यो **परा** को परम पर पंथ।

—वही, पृ० ६०

इस पराभक्ति की उपलब्धि के लिए हरिव्यास देव द्वादश लक्षण तथा दस पैंड़ी का विधान किया है। द्वादश लक्षणों में तो सामान्य नैतिक बातों का ही समावेश किया गया है परन्तु दस पैंड़ी में भक्ति के विकास का अनुक्रम निर्धारित करने का प्रयास किया गया है, जो बहुत कुछ अस्पष्ट है। दस पैंड़ी वाला अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

ये **द्वादश लक्षण** अवगाहै। ते जन **परा** परम पद चाहै।
जाके **दश पैंड़ी** अति दृढ़ हैं। विन अधिकार कौन तंह चढ़िहैं।
पहले रसिक जनन को सेवै। दूजी दया हृदय धरि लेवै।
तीजी धर्म सुनिष्ठा गुनि है। चौथी कथा अमृत है सुनि हैं।
पंचमि पद पंकज अनुरागै। षष्टी रूप अधिकता पागै।
सप्तमि प्रेम हिये विरधावै। अष्टमि रूप ध्यान गुन गावै।
नौमी दृढ़ता निश्चय गहिवै। दशमी रस की सरिता बहिवै।
या अनुक्रम करि जै अनुसरहीं। शनै शनै जग ते निरवरहीं।

—नि० मा० पृ० ६७

इसी सम्प्रदाय के कवि रूपरसिक का झुकाव वैधी भक्ति की ओर है जो उनके द्वारा वर्णित उन्चास बातों से प्रकट है—

> ये उन्चास बात छिटकावै।
> सो हरिव्यासी जन मन भावै।
>
> —नि० मा०, पृ० १२०

परिभाषा की दृष्टि से पराभक्ति तथा रागानुगा भक्ति में मौलिक अंतर है। भक्ति के मूलतः दो भेद माने गये हैं परा तथा गौणी। परा भक्ति सिद्ध दशा की मानी गयी है और गौणी भक्ति साधन दशा की। रागानुगा गौणी भक्ति का ही उपभेद है। इस प्रकार शब्द के आधार पर कहा जा सकता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय में साध्य दशा की भक्ति मान्य है तथा अन्य सम्प्रदायों में साधन दशा की। परन्तु वस्तुतः ऐसा कोई भेद परिलक्षित नहीं होता। नरसी से लेकर हरिव्यास देव तक उक्त सभी कवियों का अभिप्राय भक्ति के एक ऐसे स्वरूप से है जो वैधी के विरुद्ध समस्त बन्धनों से मुक्त विशुद्ध प्रेम का द्योतक है। उसीके लिए सबने अपनी अपनी रुचि एवं परम्परा के अनुसार नामों का प्रयोग किया है। भेद वस्तुगत न होकर नामगत ही प्रतीत होता है। नरसी के अतिरिक्त अन्य गुजराती कवियों का झुकाव वैधी भक्ति की ओर अधिक लगता है यद्यपि उनके काव्य में भक्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा गया है।

भक्ति के मुख्य भाव—भक्ति का मूल आधार भाव तत्व माना गया है। भावों की कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती अतएव भक्त और भजनीय के बीच के सम्बन्धों को भी सीमित नहीं किया जा सकता। फिर भी जिस प्रकार संसार में मानव प्रेम के चार मुख्य रूप, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य मिलते हैं उसी प्रकार भक्ति में भी इन्हीं को मुख्य भावों के रूप में स्वीकार किया गया है। दास्य सख्य का समावेश नवधा भक्ति में '**दास्यं सख्यमात्मनिवेदनं** कह कर सातवें तथा आठवें प्रकार के रूप में प्राप्त होता है। नारदभक्तिसूत्र में दी हुई एकादश आसक्तियों में उन चारों भावों को सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, दास्यासक्ति तथा कान्तासक्ति के रूप में ग्रहण किया है। शेष सात आसक्तियाँ इन मूल भावासक्तियों की सहगामिनी ही हैं विरोधिनी नहीं। श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु में रागानुगा भक्ति के कामरूपा तथा सम्बन्धरूपा को भेद करके और पुनः सम्बन्धरूपा के अन्यान्य उपभेद करके उक्त सभी मुख्य भावों को भक्ति के अंतर्गत स्थापित किया गया है।

इन चारों भावों में अंतर्भाव का एक क्रम निर्धारित किया जाता है जिसके अनुसार प्रत्येक भाव में उसके पूर्ववर्ती भाव या भावों का अन्तर्भाव हो जाता है जैसे सख्य

में दास्य का, वात्सल्य में दास्य, सख्य दोनों का और माधुर्य म दास्य, सख्य, वात्सल्य तीनों का ।

किसी कवि के सम्बन्ध में आराध्य के प्रति उसके मुख्य भाव का निर्णय आत्म-निवेदनात्मक पदों के आधार पर सरलता से हो जाता किन्तु बहुत से ऐसे कवि हैं जिन्हों ने इस प्रकार की पद रचना न करके वर्णनात्मक काव्य रचे हैं। उनके मुख्य भाव का निर्णय काव्य के उन भावनात्मक स्थलों के आधार पर किया जा सकता है जिनमें कवि की वृत्ति अधिक केन्द्रित मिलती हो। गुजराती के अनेक कवियों के विषय में इस प्रकार की कठिनाई उपस्थित होती है। नरसी मेहता ने भक्ति विषयक बहुत से पद लिखे हैं अतएव उनके द्वारा स्वीकृत मुख्य भाव सरलता से ज्ञात हो जाता है। उन्होंने माधुर्य भाव को सर्वोपरि स्थान दिया है किन्तु उसके साथ दास्य भाव का भी सम्मिश्रण है। वे कृष्ण को स्वामी मान कर जन्म जन्म उनकी दासी बनने की कामना करते हैं। यथा—

जनम जनमनी हरी दासी थाशुं, नरसैया चा स्वामी नी लीला गाशुं।

—पद ५६

उनका आदर्श गोपी-भाव है जिसका आस्वादन वे सखी रूप में करते हैं—

१. प्रेम ने जोग तो व्रजतणी गोपीका अवर विरला कोई भक्त भोगी।

—पद २४

२. जे रस व्रजतणी नार विलसे सदा सखी रूपे ते नरसैंये पीधो।

—पद ४९

इसे सखी-भाव की संज्ञा भी दी जा सकती है। नरसी ने सेवक-भाव अथवा दास्य भाव को माधुर्य से पृथक स्वतंत्र रूप से भी स्वीकार किया है जिस से उनके मत के सम्बन्ध में संदेह नहीं रह जाता। उनका कहना है कि पुरुष अर्थात् कृष्ण की प्राप्ति मुक्ति पर्यन्त सत्य रूप में सेवक भाव रखने से होती है—

मुक्ति पर्यन्त तो प्राप्ति छे पुरुष ने, सत्य जो सेवक भाव राखे।

—पद २३

पदान्त में छाप के साथ नरसी ने कृष्ण के लिए 'स्वामी' शब्द का बहुधा प्रयोग किया है जो सम्भवतः इसी भाव का द्योतक है। यों इस शब्द का प्रयोग पति के अर्थ में भी होता है। नरसी का दासत्व उनके माधुर्य भाव का सहायक ही था जैसा कहा जा चुका है क्योंकि रास आदि अनेक लीलाओं में यहाँ तक कि संभोग की स्थिति में भी

नरसी अपने को लीलादर्शक तथा सेवक अथवा दूत के रूप में प्रस्तुत बताते हैं। जहाँ दास्य भाव को ही प्रधान माना गया है वहाँ शृंगारिक लीलाओं का वर्णन वर्जित भी समझा गया है, पर नरसी में ऐसा नहीं है। व्रजभाषा के कवियों में भी लगभग ऐसी ही स्थिति मिलती है।

सखी-भाव की प्रधानता के साथ दास्य भाव का संयोग निम्बार्क राधावल्लभीय तथा गौडीय सभी सम्प्रदायों के काव्य में प्राप्त होता है। इन सम्प्रदायों के कवियों ने राधा-कृष्ण के युगल रूप तथा उनकी कुंज-लीलाओं का ही वर्णन किया है जिन्हें देखने का अधिकार केवल राधा की सखियों अथवा सहचरियों को ही है। अतः भक्त इन लीलाओं का दर्शन मात्र सखी-भाव से कर सकता है। सखी-भाव का विकास इन कवियों ने इस प्रकार किया है कि वात्सल्य को छोड़कर शेष सभी भावों, दास्य, सख्य तथा माधुर्य का समावेश उसमें हो जाता है किन्तु अन्ततः प्रधानता माधुर्य को ही प्रदान की गयी है।

राधावल्लभीय कवि ध्रुवदास ने भजनाष्टक में श्रेष्ठता का एक क्रम निर्धारित किया है जिसमें मधुररस को सर्वोपिरि स्थान दिया है और शान्तरस को निम्नतर—

ज्ञान सांत रस ते अधिक अद्भुत पदई दास।
सखा भाव ताते अधिक जिनमें प्रीति प्रकास ॥१॥
अद्भुत बाल चरित्र को जो जसुदा सुख लेत।
ताते अधिक किसोर रस ब्रज बनितन कौ हेत ॥२॥
सर्वोपरि है मधुर रस जुगल किसोर बिलास।
ललितादिक सेवत तिनहि मिटत न कबहुं हुलास ॥३॥

मधुर रस के आस्वादन के लिए ध्रुवदास के मत से सखियों की शरण ग्रहण करना अनिवार्य है—

सखियन सरन भाव धरि आवै।
सो या रस के स्वादहि पावै ॥७॥

—रतिमंजरी

सखी-भाव और सेवा-भाव का संयोग निबार्क सम्प्रदाय के कवि श्रीभट्ट की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है—

टारौं निजकर भंवर लै चारों नैननि नेह।
सोवत जुगलकिसोर जहँ सेऊँ चरन सुदेह॥

—नि० मा०, पृ० १३

श्रीभट्ट के काव्य में इसी सेवा भाव ने उन्हें कृष्ण के चाकर तथा दास बनने की भावना दी—

१—चरनकमल की सेवा दीजे चेरो करि राखो घर जायो।
श्रीभट्ट के प्रभु दियो अभय पद जम डरप्यो जब दास कहायो ॥

—नि० मा०, पृ० ११

२—जनम जनम जिनके सदा हम चाकर निशि भोर।
त्रिभुवन पोषण सुधाकर ठाकुर जुगल किशोर।

—नि० मा०, पृ० १२

इसी प्रकार हरिव्यास देव भी अपनी मनोकामना पूर्ति के लिए राधाकृष्ण के महल की सेवा-टहल करने की इच्छा रखते हैं—

सुख दुख अवधि स्यामा स्याम।
नित्य धाम निवास अद्भुत अहनिशा अभिराम।
महलनी निज टहल में तत्पर सदा सब जाम।
'श्री हरिप्रिया' अंग अंग सेवा पुजवही मनकाम ॥८२॥

—नि० मा०, पृ० ६८

अष्टछाप के कवियों ने सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार कृष्ण के बाल रूप की आराधना करते हुए वात्सल्य रस को पर्याप्त महत्व दिया है विशेषतः सूर तथा परमानन्द दास ने। परन्तु वात्सल्य रस का काव्य लिखना और वात्सल्य भाव से भक्ति करना दो भिन्न वस्तुएँ हैं। जहाँ तक भक्ति के भाव का सम्बन्ध है अष्टछाप के कवियों ने सख्य तथा दास्य को सर्वाधिक महत्व दिया है। उनके लिए प्रयुक्त अष्टसखा शब्द उनके सख्य भाव पर विशेष बल देता है। माधुर्य रस के पद भी सूरदास आदि कवियों ने पर्याप्त संख्या में लिखे हैं परन्तु वात्सल्य भाव की तरह माधुर्य भाव की भक्ति भी इन कवियों में प्राप्त नहीं होती। कृष्ण को पुत्र अथवा पति मानने के स्थान पर कवियों ने सखा तथा स्वामी ही माना है। यह अवश्य है कि आसक्तियों के सिद्धान्त से कभी यशोदा में कभी राधा में अपने भाव की स्थापना करके वात्सल्य अथवा माधुर्य भाव की अनुभूति इन कवियों ने प्राप्त की हैं। माधुर्य और वात्सल्य एक प्रकार से इस सम्प्रदाय में मान्य गोपी-भाव में ही समाविष्ट हो जाते हैं। गोपियों के तीन भेद किये गये हैं, गोपी, गोपांगना और ब्रजांगना। उन्हें क्रमश: अनन्यपुर्वा, अन्यपुर्वा तथा सामान्या कहा गया है। पहली दो प्रकार की गोपियों में माधुर्य भाव तथा तीसरे प्रकार की गोपियों में वात्सल्य भाव की स्थापना की गयी है। सख्य तथा दास्य अष्टछाप के

कवियों के अपने भाव हैं और माधुर्य तथा वात्सल्य इन गोपियों के आश्रित भाव। यों कृष्ण के प्रति सख्य भाव में भी आदर्श रूप में सुबल, सुदामा, उद्धव आदि को ग्रहण किया जा सकता है परन्तु अष्ट सखाओं में यह भावना रूढ़ हो गयी थी।

वात्सल्य भाव का काव्य ब्रजभाषा के अन्य सम्प्रदाय के कवियों में उपलब्ध नहीं होता। गुजराती के भालण तथा प्रेमानन्द में अवश्य इसकी उपलब्धि होती है। उक्त गुजराती कवियों ने वात्सल्य भाव के स्थलों को पर्याप्त तन्मयता से लिखा है जिससे पता लगता है कि उनकी वृत्ति इस ओर अधिक उन्मुख थी। यों माधुर्य रस का काव्य गुजराती कवियों ने भी बहुत रचा है किन्तु माधुर्य भाव केवल नरसी में प्राप्त होता है।

जहाँ तक दास्य भाव का सम्बन्ध है उसका सबसे अधिक प्रस्फुटित रूप सूर में मिलता है। अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी इस प्रकार के पद पर्याप्त संख्या में लिखे हैं। सूर के दास्य भाव में दैन्य का अंश इतना अधिक है कि उनका स्थान अन्य कवियों से स्वतः पृथक हो जाता है। गुजराती कवि नरसी प्रेमानन्द तथा भालण आदि में दास्य भाव तो प्राप्त हो जाता है परन्तु उसमें दैन्य का इतना पुट नहीं मिलता। केशवदास कायस्थ ने भी अपनी कृति 'श्रीकृष्ण क्रीड़ा काव्य' की समाप्ति दैन्य-युक्त दास्य भाव की अभिव्यक्ति के साथ की है—

हरि सेवक ना सेवक होय, तेना दास दास जे कोय।
तेहना दास तणो हुं दास, अहनिशे वांछूं एह ज आश।
कृष्ण भक्ति जेति वारें करे, जाणी दीन सदा संभरे।

—पृ० ३१०

भक्ति और कर्मकांड—भक्ति में प्रेम भाव को ही सब कुछ मानने वाले भक्त कवियों ने कर्मकांड की उपेक्षा ही नहीं की अपितु निन्दा और तिरस्कार भी किया है। गुजराती कवि नरसी ने अपने काव्य में अत्यन्त सशक्त स्वर में कर्मकांड का विरोध किया है—

१—कर्म धर्मनी बात छे जेटली ते मुज ने नव भावे रे।

—पद ५

२—जो ने रीजाय ते कर्मकांड।

—पद ४५

यही नहीं नरसी पूजा स्नान, दान, जटा धारण, भस्म लेपन, जप, तप, तीर्थ, वेद, व्याकरण दर्शन के अध्ययन तथा वर्ण व्यवस्था आदि को पेट भरने का प्रपंच मात्र

समझते हैं। उनके मत से तत्व-दर्शन तथा आत्माराम परब्रह्म के साक्षात्कार के अभाव में यह सभी निस्सार हैं—

शुं थयुं स्नान सेवा ने पूजा थकी, शुं थयुं घेर रहि दान दीधे।
शुं थयुं धरि जटा भस्म लेपन करे, शुं थयुं बाळलोचंन कीधे।
शुं थयुं तप ने तिर्थ कीधा थकी, शुं थयुं माळ ग्रही नाम लीधे।
शुं थयुं तिलक ने तुलसी धार्या थकी, शुं थयुं गंगजल पान कीधे।
शुं थयुं वेद व्याकरण वाणी वदे, शुं थयुं रागने रंग जाणे।
शुं थयुं खट दर्शन सेवा थकी, शुं थयुं वरणना भेद आणे।
अे छे परपंच सहु पेट भरवा तणा, आत्माराम परिब्रह्म जोयो।
भणे नरसैंयो के तत्व दर्शन बिना, रत्न चिंता मणि जन्म खोयो।

—पद ४३

सूरदास ने भी लगभग इतनी ही तीव्रता से कर्मकांड के उक्त स्वरूपों की निस्सारता प्रदर्शित की है यद्यपि उन्हें पेट भरने का साधन कहने का विद्रोहात्मक स्वर वे नहीं अपना सके—

जौ लौं मनकामना न छूटे।
तो कहा योग यज्ञ व्रत कीन्हे बिनु कन तुस को कूटे।
कहा सनान किये तीरथ के अंग भसम जट जूटे।
कहा पुराणन पढ़ जु अठारह ऊर्ध्व धूम के घूटे।
जग सोनाकी सकल बड़ाई इहि ते कछू न खूटे।
करनी और कहै कछु औरै मन दसहू दिसि लूटे।
काम क्रोध मद लोभ शत्रु हैं जो इतनो सुनि छूटे।
सूरदास तबही तम नाशै ज्ञान अग्नि झर फूटे।

—सू० सा०, पृ० ४५

सूरदास की यह 'ज्ञान अग्नि झर' ज्ञानमार्गीय अर्थ न देकर तत्व-दर्शन तथा उससे उपलब्ध आत्मप्रकाश का ही बोध कराती है। सूरसागर में ऐसे भी कथन एक आध स्थल पर मिल जाते हैं जिनमें भक्ति के लिए यम-नियमादि अष्टांग योग की स्पष्ट आवश्यकता बतायी गयी है—

१—भक्ति पंथ को जो अनुसरै, सो अष्टांग योग को करै।
यम नियमासन प्राणायाम, करि अभ्यास होइ निष्काम।
प्रत्याहार धारणा ध्यान, करै जु छांड़ि वासना आन।

क्रम क्रम करिकै करै समाधि, सूर श्याम भजि मिटै उपाधि।

—सू० सा०, पृ० ४६

२—योग न युक्ति ध्यान नहिं पूजा वृद्ध भये अकुलात।

—वही

ऐसे स्थल सूर की मौलिक प्रौढ़ भक्ति भावना के विरोधी लगते हैं अतएव इनके प्रक्षिप्त होने अथवा प्रारम्भिक अवस्था के द्योतक होने की संभावना लगती है। कृष्ण-भक्ति के आगे साधनों की निस्सारता एक अन्य गुजराती कवि नरहरि ने भी प्रदर्शित की है—

सकल साधन भाई तीणे तहाँ कीधलां।
सकल दांन वीधो गते दीधलां।
जेणे लीधलां चरण रुदें हरी तणा॥८॥

—आनंदरास

केशवदास कायस्थ ने तीर्थाटन, दान ,स्नान आदि का तिरस्कार तो नहीं किया परन्तु उन्हें कृष्ण कीर्तन तथा कृष्ण भजन की तुलना में नगण्य अवश्य स्वीकार किया है—

काशी महि कोटि गौ परागे रे दान।
तुला न आवे कोटिये कीर्तन कृष्ण समान्य।
अयुत कल्प लगे प्रयाग मा वास त्रिवेणी स्नान।
तेथी साचूं जाणजो अधिक भजन भगवान।

—श्री कृष्णलीलाकाव्य, पृ० ३११

इसी प्रकार ब्रजभाषा के भी अनेक कवियों ने कर्मकांड का विरोध किया है। हरिवंशी कवि हरिराम व्यास कृष्ण की भक्ति के बिना सभी कुछ व्यर्थ मानते हैं। उनके मत से योग यज्ञ आदि कर्म धर्म सब ऊपरी वस्तुएँ ही हैं इनका प्रवेश अभ्यंतर तक नहीं है—

सांचौई गोपाल गोपाल रढ़िबौ।
रूपशील गुन कौन काम को हरि की भक्ति बिनु पढ़िबौ।
जोग जज्ञ जप तप संजम व्रत कलई कौ सौ मढ़िबौ।
जैसे अन्न बिना तुष कूटत, बारु में तेल न कढ़िबौ।
ऐसेंहि कर्म धर्म सब हरि बिनु, बिनु बैसंदर दढ़िबौ।

—व्यास वाणी, पृ० १२९

इसी प्रकार का भाव निम्बार्क मतानुयायी श्रीभट्ट भी व्यक्त करते हैं—

मन वच राधा लाल जपे जिन।
अनायास सहजहिं या जग में सकल सुकृत फल लाभ लह्यो तिन।
जप तप तीरथ नेम पुण्य ब्रत सुभ साधन आराधन ही बिन।
जय 'श्रीभट' अति उत्कट जाकी महिमा अपरम्पार अगम गिन।

—नि० मा०, पृ० १२

भक्ति-पथ में सत्संग और नाम-कीर्तन की विशेष महत्ता—यों तो भक्त कवियों ने भक्ति से सम्बंधित सभी वस्तुओं के महत्व को स्वीकार किया है परन्तु सत्संग तथा नाम-कीर्तन को विशेष महत्ता दी गयी है। सत्संग—भक्ति की उत्पति एवं विकास के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करने वाला अद्वितीय साधन माना गया और बहुधा संतसंग और साधु संग को उसके पर्याय रूप में ग्रहण किया गया है। नाम-कीर्तन अथवा नाम-स्मरण को भक्ति के अन्य साधनों में इसलिए सर्वाधिक महत्व दिया गया क्योंकि भक्त को भगवान का परिचय नाम के ही आधार पर प्राप्त हो पाता है। वही दोनों का मध्यस्थ है। नाम के अभाव में नामी का परिज्ञान संभव नहीं। भक्ति के प्रायः सभी मान्य ग्रंथों में इन दोनों साधनों का माहात्म्य वर्णित किया गया है किन्तु गुजराती और ब्रजभाषा दोनों के भक्त कवियों ने उसका विशेष रूप से वर्णन किया है। नरसी मेहता के मत से कृष्ण नाम में सभी साधन समाहित हैं। उसका पार कोई विरला संत ही पा सकता है। सब कुछ छोड़ कर मुख से नामोच्चारण ही करना श्रेयस्कर है—

१—सकल साधन नुं श्री हरी नाम छे पार पाम्या कोई संत पूरा।

—पद ३६

२—अवर वेपार तुं मेहेल्य मिथ्याकरी कृष्ण नुं नाम तुं राख म्होंये।

—पद ३१

कृष्ण कीर्तन के बिना प्राणी अशुद्ध है क्योंकि सारे तीर्थों का फल इसी में है—

कृष्ण कीर्तन बिना नर सदा सूतकी विमल कीधे वपू शुद्ध न थाये।
सकल तीरथ श्रीकृष्ण कीर्तन कथा हरितणा पास जे ने हेते गाये।

—पद १९

इसीलिए उनका आश्रय एकमात्र हरिनाम ही रहा। उसी की मूर्ति में वे अनन्य भाव से लीन रहे—

मारे तो आशरे अेक हरिनाम नो छेक आव्यो हवे क्यांरे जइअे ।
भणे नरसैंयो अे नाम ने आशरे नाम ने मूर्तिमां लीन रहीअे ।

—पद ३६

भगवन्नाम का स्मरण जगत् में नाम अमर कर देता है—

हरि हरि कृष्णने तुं भज नामे, जग मां तारुं नाम रहे ।

—पद १२

नाम की तरह संत भी नाव के ही सदृश हैं । साधु-संगति पापों का नाश कर देती है आदि भाव व्यक्त करके नरसी ने सत्संग को भी वैसा ही महत्व दिया है—

भक्त ने भेंटता किल्विष नव रहे ज्ञान दीपक थकी तिमिर नासे ।
धन्य धन्य भाग्य जे साधु संगत करे कृष्ण कीर्तन थकी कृष्ण भासे ।
अेक क्षण वार जे संत संगत करे धन्य घड़ी जन्तु नी तेज जाणो ।
भणे नरसैंयो भवसागर बूड़तां हरिजन नाव निश्चे प्रमाणो ।

साधु-संत अथवा भगवद् भक्त के लिए हरिजन शब्द का प्रयोग गुजराती कवियों ने बराबर किया । आनन्दरास के रचयिता नरहरि भी हरिजनों की संगति तथा हरि रस पान का महत्व प्रदर्शित करते हैं—

१—हरषी हरषी हरिजन पूजीयें ।
संत संगत तत्व ज्ञान ते बूझीयें, गुझीयें नहीं रे संसार मां ॥७॥

२—अहरनिसि वली वली कृष्ण कृष्ण भणो ।
मांहे थकारे मोटा रीपु हणो बसेक मारग रे साधु तणो ॥१७॥

३—आपणो जनम सुफल येम कीजीयें ।
साधु समागम हरी रस पीजीयें ।
नां कीजीये संगत खल तणी ॥२१॥

केशवदास की कृति 'श्रीकृष्ण क्रीड़ा काव्य' के अंत में भी कृष्ण नाम के श्रवण गायन आदि की तथा साधु समागम की महिमा का बखान किया गया है—

कृष्ण नी भक्ति ने कृष्ण ने गाय अहनिशे कृष्ण नी बात कहेवाय ।
कृष्ण गुण श्रवणे सूण्या पछी संत ने रंग भर्ये हृदय ने का न रिझाय ।
कृष्ण ना भक्त शूं स्नेह करवी सदा साधु समागम में सुख थाय ।

—पृ० ३१०:११.

प्रेमानन्द ने भी नरसी की तरह कृष्ण-नाम को संसार-सागर से संतरण के लिए नौका सदृश माना है—

अभंग नौका श्रीकृष्ण नाम नी भवसागर ने तरवा।

—श्री० भा०, पृ० २३४

ब्रजभाषा के भी ऐसे अनेक कवि हैं जिन्होंने नाम की महत्ता का वर्णन किया है और सत्संग पर भी विशेष बल दिया है।

सूरदास कलियुग में नाम को ही एक मात्र आधार समझते हैं। वे नाम और साधु संगति को भव बंधन से मुक्ति का प्रधान साधन मानते हैं—

१—है हरि नाम को आधार।
और इहि कलिकाल मांही रह्यो विधि व्यवहार।
सूर हरि को सुयश गावत जाहि मिटि भवभार।

—सू० सा०, पृ० ४४

२—जा दिन संत पाहुने आवत
. . . .
संगति रहै साधु की अनुदिन भव दुख हरी नसावत।

—सू० सा०, पृ० ४५

हितहरिवंश ने भी एक स्थल पर सत्संग की महिमा स्वीकार की है—

तनहि राख सतसंग में मनहिं प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिवंश हित कृष्ण कल्पतरु सेव।

—श्रीहित स्फुट वाणी जी, पृ० ३३

हरिराम व्यास नाम और सत्संग दोनों को ही विशेष महत्व देते हैं—

१—कलियुग श्याम नाम अधार।

—व्यास वाणी, पृ० १७२

२—कलियुग मन दीजै हरि नामैं।

—वही, पृ० १७३

३—करौ भैया साधुनि ही सों संग।
पति गति जाय असाधु संग ते काम करत चित भंग।
हरि ते हरिदासनि की सेवा परम भक्ति को अंग।

—वही, पृ० ९४

४—साधु सरसीरुह को सो फूल।
जिनकी संगति भक्ति देति, हरि हरत सकल भ्रममूल।

—वही, पृ० ९५

निम्बार्क मतानुयायी परशुराम देव तथा रूपरसिक ने भी नाम और सत्संग को पर्याप्त महत्व दिया है—

परशुराम देव. १—ज्यों दर्पन पावक पड़े परसत ही रवि धूप।
परसुराम हरि नाम ते प्रगटे हरि निज रूप।
—नि० मा०, पृ० ७८

२—संत संगति बिनु जो भजन सो न लहै सुखसीर।
परसा मिलै न सिंधु सो नदी विहीना नीर।
—वही, पृ० ७७

रूपरसिक. १—नाम महात्म्य ऐसो सोई, याते अधिक और नहि कोई।
नामहि सो नित बांधौ नातौ, जगत मोह सो डोरा डातौ।
—नि० मा०, पृ० १२१

२—पहले श्रद्धा लक्षण जानो, ता पीछे सतसंग बखानो।
सतसंग न करि हरि को भजो, आनदेव को आश्रय तजो।
—नि० मा०, पृ० १२०

गौडीय कवि गदाधर भट्ट नाम को नामी से भी अधिक महत्व देते हैं—

है हरि ते हरिनाम बड़ेरो, ताकों मूढ़ करत कत झेरो।
—वाणी, पृ० १४

कलियुग को कराल व्याल का रूपक देकर वे नाम को महामंत्र के सदृश शक्तिवान सिद्ध करते हैं और निरंतर भगवन्नाम स्मरण पर विश्वास रखते हैं क्योंकि उसके द्वारा सभी प्रकार के पाप नष्ट हो जाते हैं—

हरि हरि हरि हरि रट रसना मम।
हेमहरन द्विजद्रोह मान मद अरु पर गुरु दारागम।
नाम प्रताप प्रबल पावक के होत जात सलभा सम।
इहि कलिकाल कराल व्याल विष, ज्वाल विषय मोये हम।
बिनु इहि मंत्र गदाधर के क्यों मिटि है मोह महातम।

—वही, पृ० १५

इस प्रकार सत्संग और नाम के विशेष महत्व को दोनों भाषाओं के भक्त कवियों ने व्यापक रूप से स्वीकार किया है।

भक्ति और वैराग्य—ज्ञानमार्गी संतों की तरह ही दोनों भाषाओं के भक्त कवियों ने संसार के प्रति विरक्ति का भाव प्रदर्शित किया। भक्ति के पथ में एक प्रकार निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों का समन्वय हो गया। प्रवृत्ति का अभाव भक्ति का लक्ष्य न होकर संसार विषयक प्रवृत्ति के स्थान पर भगवद् विषयक प्रवृत्ति का स्थापन उसका लक्ष्य रहा। इस पुनर्संस्थापन के लिए संसार से निवृत्ति की अनिवार्य आवश्यकता हुई। भक्त कवियों द्वारा लिखित सभी विरागपूर्ण पदों की मूल आधार-भूमि प्राय: यही है। माधुर्य भाव की भक्ति को अपनाने वाले हित हरिवंश, नरसी मेहता आदि कवियों में यह स्थिति एक विरोधाभास उत्पन्न कर देती है। विरक्ति का अनुरक्ति से विरोध है और ऐसे कवियों में एक ओर अनुरक्ति इस सीमा तक पहुँच जाती है कि उनके काव्य में पग पग पर स्थूल विलासात्मक शृंगारिक चित्रण उपलब्ध होते हैं और दूसरी ओर विरक्ति की तीव्रता में वे सांसारिक विषय वासना तथा स्नेह सम्बन्धों की उतनी ही तीव्रता से निंदा करते भी पाये जाते हैं। यह एक समस्या है जिस पर अन्यत्र विचार करना उचित होगा। यहाँ भक्त कवियों की विरक्ति पूर्ण काव्य रचने की प्रवृत्ति का निर्देश मात्र अभीष्ट है। डॉ० दीनदयाल गुप्त के अनुसार इस प्रकार के पद भक्ति के एक प्रकार विशेष 'शान्ता भक्ति' के अन्तर्गत आते हैं।[१]

गुजराती कवि नरसी मेहता के काव्य में विरक्ति की भावना और तत्सम्बन्धी विचार अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं। एक स्थल पर वे 'तात मात सुत भ्रात' के स्वार्थपूर्ण सम्बन्धों को दुख के समय व्यर्थ बताकर कृष्ण का आश्रय ग्रहण करने की सम्मति देते हैं—

> शा सुखे सूतो संभार श्रीनाथ ने, हाथ ते हरि बिना को न स्हाये।
> तात ने मात सुत भ्रात टोले मळ्यो, दोहली वेला ते सौ दूर जाये।
>
> —पद ४४

दूसरे स्थल पर वे विषय तृष्णा तथा मन के मोह को त्याग देने की सीख देते हैं—

> विषय तृष्णा परो मोह मन ना धरो, हुं ने महारुं जक्त ते मां बूडो।
>
> —पद ४७

भक्ति के निमित्त वे थोथे संसार और असत्य देह तथा उसके द्वारा होने वाले कामों को भी त्याज्य बताते हैं—

> भक्ति भूतल विषे नव करी ताहरी खांड्या संसारना थोथा ठालां।
> देह छे जूठडी करम छे जूठडां···
>
> —पद २१

नरसी विरक्ति पर यहाँ तक बल देते हैं कि वे संसार का माया मोह छोड़ कर ज्ञानी हो जाने का उपदेश दे डालते हैं—

माटे तमो माय तजी थाओ ने ज्ञानी।

—पद ६४

नरहरि स्पष्ट शब्दों में विवेक तथा विराग अपनाने को कहते हैं—

विवेक विचार वैराग ने मन धरो, मोह माया मद मत्सर परहरो।
अहनिस उचरो हरी हरी ।।१०।।

—आनन्दरास

भालण ने अपने दशम स्कन्ध की समाप्ति पर संसार के प्रति ऐसी ही भावना व्यक्त की है—

संसार नां सुख भोगवे, पुत्र कलत्र कहेवाय।
अंते तारे चरणे पामे, जे सुने कृष्ण कथाय।

—पृ० ४३७

व्रजभाषा में प्रायः हर सम्प्रदाय के कवियों ने संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न करने वाले विचार व्यक्त किये हैं जो उपर्युक्त विचारों से बहुत कुछ साम्य रखते हैं क्योंकि दोनों की आधार भूमि एक हैं।

सूर ने बहुसंख्यक पदों में सांसारिक संबंधों की निस्सारता प्रदर्शित की है। उनके ऐसे सभी पद आत्मनिवेदनात्मक हैं—

१. हरि हौं महा पतित द्रोही अभिमानी।
परमारथ सों पीठि विषयरस भावभगति नहि जानी।
निशि दिन दुखित मनोरथ करि, करि पीवत हू तृष्णा न बुझानी।

—सू० सा०, पृ० १८

२. इन्द्री स्वाद विवस निसिबासर आप अपुनपौ हार्‌यो।

—वही, पृ० १९

सांसारिक विषयरस का प्रपंच छोड़ने का आग्रह हित हरिवंश में भी मिलता है क्योंकि वे मनुष्य जीवन का लक्ष्य विषयासक्ति न मानकर कृष्णासक्ति मानते थे—

१. सकहि तौ सब परपंच तजि कृष्ण कृष्ण गोविन्द कहि।

—श्री हित स्फुटवाणीजी, पृ० ९

२. मानुष को तन पाय भजौ बृजनाथ को।
दर्वी लेवे मूढ़ जरावत हाथ कों।
जय श्री हित हरिवंश प्रपंच विषय रस मोह के।
हरि हां बिन कंचन क्यों चलैं पचीसा लोह के।

—श्री हित स्फुटवाणी जी, पृ० ११-१२

स्वामी हरिदास ने अपने अनुभव के आधार पर माया मद, गुन मद तथा यौवन मद सभी को मिथ्या बताया है और संसार की क्षण भंगुरता का दिग्दर्शन कराया है तथा आजीवन हरि भजन का उपदेश दिया है—

१. जगत प्रीति करि देखी नाही गटी को कोऊ।
२. जौलों जीवै तौलौं हरि भजि रे मन और बात सब बादि।
दिवस चारि के हलाभला में तू कहा लेइगो लादि।
माया मद, गुन मद, जोबनमद भूल्यो नगर बिदादि।
कहि 'श्री हरिदास' लोभ चरपट भयो काहे की लगै फिरादि।

—नि० मा०, पृ० २०४

निम्बार्क-मतानुयायी हरिव्यास देव चाहते हैं कि मनुष्य संसार के भ्रमों को छोड़कर 'श्री हरि प्रिया' का भजन अनन्यभाव से करे—

भर्म तजौ श्री हरिप्रिया भजौ सजौ अनन्यव्रत एक।
यही यही निश्चय कही सही गही उर टेक।
यही है, यही है, भूलि भर्मों न कोउ, भूलि भर्मं ते भव भटकि मरिहैं।
लाडिली लाल के नित्य सुखसार बिन कौन विधि वार ते पार परिहैं।

सांसारिक सम्बन्धों से जो मोह उत्पन्न हो जाता है उसे बेड़ी समझते हुए गौडीय सम्प्रदाय के कवि गदाधर भट्ट श्री कृष्ण से उसके काट देने की प्रार्थना करते हैं और काम लोभ आदि उन सभी विकारों को, जो विषयासक्ति उत्पन्न करते हैं, अहेरी की संज्ञा देते हैं जो भक्त की मति रूपी मृगी को घेरे हुए हैं—

कबै हरि कृपा करि हौ सुरति मेरी।
और न कोई काटन को मोह बेरी।
काम लोभ आदि जे निर्दय अहेरी।
मिलि के मन मति मृगी चहूंधा घेरी।

—ग० वाणी पृ०७

इस प्रकार के सभी कथनों का उद्देश्य वस्तुतः निंदा करके अथवा निस्सारता प्रदर्शित करके संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न करना ही है और वह भी कृष्ण के प्रति वास्तविक अनुराग एवं भक्ति उत्पन्न करने के निमित्त ।

भक्ति मार्ग में गुरु का स्थान—भारतीय परम्परा के अनुसार साधना के समस्त रूपों एवं मार्गों में गुरु की अनिवार्य आवश्यकता मानी गयी है । भक्ति में भी गुरु को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । गुजराती और व्रजभाषा दोनों में कवियों ने गुरु की महिमा को अपने काव्य में पूर्ण रूप से स्वीकार किया है । नरसी मेहता गुरु को हरिनाम के व्यापार में दलाल का स्थान देते हैं । और भवसागर से सरलतापूर्वक पार होने के लिए नाव की तरह अनिवार्य समझते हैं—

वेपार तो कीधो रे हरि नामनो रे, कीधो गुरु रूपी दलाल ।
भवसागर मां रे नावे हुं चढ्यो रे सहज मां आव्या सागर पार ।

—पद ५३

अन्य गुजराती कवियों ने गुरु को परम्परागत रूप में स्वीकार अवश्य किया है परन्तु काव्य में भक्ति की दृष्टि से गुरु के विषय में कुछ भी नहीं लिखा ।

व्रजभाषा में अष्टछाप के कवियों ने गुरु के महत्व को पूर्ण रूप से स्वीकार किया । उनके द्वारा वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथ के विषय में गुरु भाव से लिखे प्रशंसा के अनेक पद उपलब्ध होते हैं । सूरदास, जिन्होंने प्रकट रूप से गुरु के सम्बन्ध में बहुत कम लिखा है, वे भी गुरु की महिमा मुक्त हृदय से स्वीकार करते हैं—

गुरु बिनु ऐसी कौन करै ।
माला तिलक मनोहर बाना लै सिर छत्र धरै ।
भवसागर ते बूड़त राखै दीपक हाथ धरै ।
सूरस्याम गुरु ऐसो समरथ छिन में लै उधरै ।

—सू० सा०, पृ० ७१

हितहरिवंश मनुष्य के कल्याण के लिए जहाँ प्रपंच-त्याग और कृष्णनाम स्मरण को आवश्यक समझते हैं वहाँ गुरुचरणों का आश्रय ग्रहण करना भी अनिवार्य समझते हैं—

जय श्री हित हरिवंश विचारि के मनुज देह गुरु चरण गहि ।

—श्री हित स्फुट वाणी जी, पृ० ९

निम्बार्क-मत के परशुराम देव ने अपने परशुराम सागर में गुरु के सम्बन्ध में अनेक दोहे लिखे हैं। उनके 'अनुराग भक्त' के लिए गुरु के शब्दों पर ही विश्वास करना अभीष्ट है। संसार की बातों की उसे उपेक्षा करनी चाहिए क्योंकि गुरु ही भवसागर से पार कर सकता है—

> श्री गुरु समझ सनेह करि बारम्बार सम्हार।
> परशुराम भवसिन्धु को नाव उतारै पार ॥३॥
> श्री गुरु कहे सो मानिये सत्य शब्द बलि जांव।
> और झूठ सब जगत कैं सुमिरि सांच हरि नांव ॥७॥
>
> —नि० मा० पृ० ७४-७५

वल्लभ तथा गौडीय सम्प्रदाय के भक्तों ने गुरु में ही कृष्ण की भावना करके हरि गुरु की एकता को चरितार्थ किया। वल्लभाचार्य और चैतन्य के अनुयायियों ने प्रकट रूप से इस धारणा को व्यक्त किया। चौरासी वैष्णवन की वार्ता में गुरु-यश वर्णन के में सूरदास का कथन 'कछु न्यारो देखूं तो न्यारो कहूँ' तथा माधवदास आदि का 'कृष्ण सम्बन्ध रूप चैतन्य' कहना इसका प्रमाण है।

भक्ति की सार्वजनीनता—भक्ति का विकास प्रारंभ से ही सार्वजनीनता की भावना को लेकर हुआ जो भागवतादि ग्रंथों से प्रकट है। कवि नरसी ने इस सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट धारणा व्यक्त की है

> नात न जाणो ने जात न जाणो, न जाणो काई विवेक विचार।
> कर जोडी ने कहे नरसैंयो, वैष्णव तणो मने छे आधार।
>
> —पद ४

भक्ति में 'नात जात' के भेद को अस्वीकार करने के साथ ही उन्होंने स्त्री पुरुष के भेद को भी नहीं माना है—

> पुरुण रुप पुरुषोत्तम पामे धन ते नर ने नारी रे।
>
> —पद ६३

ब्रजभाषा में सूर ने इतनी ही स्पष्टता से इस सत्य को व्यक्त किया है—

१. कह्यो शुक श्री भागवत विचार।
   जाति पांति कोउ पूछत नाहीं श्रीपति के दरबार।

   —सू० सा०, पृ० २३

२. बैठत सभा सबै हरि जू की कौन बड़ो को छोट।

   —वही

३. हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोई ।
ऊंच नीच हरि गिनत न दोई ।

—सू० सा०, पृ० २४

अष्टछाप के कवियों से इतर अन्य कवियों ने भी इस प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं। हितहरिवंश भी विप्र-शूद्र का भेद तथा कुल की श्रेष्ठता-हीनता को भक्ति के प्रेमोन्माद के आगे निरर्थक मानते हैं—

जहां श्री हरिवंश प्रेम उन्माद ।
कुल बिन कहीं कौन सौ चाक ।
सहज प्रेम रस सांचे पाक ।
रंक ईश समुझत नाहीं ।
विप्र शूद्र न कौन कुल कास ।
सुनहु रसिक हरिवंश विलास ।

—श्री हित चौरासी सेवक वाणी, पृ० ५२

हरिराम व्यास के अनुसार भक्ति और जाति में वैर है—

व्यास जाति तजि भक्ति कर, कहत भागवत टेरि ।
जातिहिं भक्तिहिं ना बने, ज्यों केरा ढिग बेरि ।

—व्यास वाणी, पृ० १८६

वे निश्चित रूप से जाति और जनेऊ से व्यक्त होने वाली ऊँच-नीच तथा जाति-भेद की भावना को भक्ति मार्ग में स्थान नहीं देते थे—

भक्ति में कहा जनेऊ जाति,

—व्यास वाणी, पृ० ९९

गोपियों का आदर्श मानना तथा अन्य मान्य भक्तों के साथ गणिका का भी स्मरण करना जो कवियों ने बराबर किया है, इनसे प्रकारान्तर से स्त्रियों का भक्ति मार्ग में समानाधिकार स्वीकृत होता है ।

भक्तों की प्रशंसा तथा उनके लक्षण—भक्त के लिए नरसी मेहता ने सामान्यतः वैष्णव शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार वैष्णव का जीवन धन्य है क्योंकि वह अपना ही नहीं, अपने परिवार तथा पड़ोसी सभी का उद्धार करता है। वह मालादि बाह्य लक्षणों से युक्त होता ही है। साथ ही आन्तरिक श्रेष्ठता भी उसमें अनिवार्य रूप से होती है जिसके कारण उसकी संगति सदैव कल्याणकारी होती है। ऐसी ही अनेक बातें वैष्णव जन के विषय में नरसी ने अपने पदों में कही हैं—

धन्य जीवीत वैष्णव केरुं जे जन हरि गुण गाये रे,
सकल सभामां पहेली पूजा, नर नारी ते वैकुंठ जाये रे।
हां रे वैष्णव जननां कीयां रे लक्षण, छापा तीलक तुलसीनी माल रे।
हां रे वैष्णव जनना भेख देखी ने, जम किंकर त्रासे तत्काल रे।
हां रे जन्म मरण नो फेरो छूटे ते जनम जीव थी राखे अंग रे।
हां रे ते नर छूट्या संसार मांहे, जेने होय वैष्णव नो संग रे।
हां रे माता पिता कुल तारे वैष्णव , तारे पाडोशी परिवार रे।
हां रे भणे नरसैंयो अेटलुं मांगु, पुनरपि नहिं अवतार रे।

—पद २

भक्त को यहाँ तक महत्व दिया गया है कि भगवान को भी उसके अधीन कह दिया गया—

भक्त आधीन छे श्याम सुन्दर सदा....

—पद २०

इसीलिए नरसी का मत था कि निवास वहीं करना चाहिए जहाँ वैष्णव बसते हों—

वास नहिं ज्यां वैष्णव केरो त्यां नव वसीये वासडीया।

भक्तों के सुयश का वर्णन ब्रजभाषा के कवियों ने भी किया है। सूर सागर के प्रथम स्कंध में सूर के इस सम्बन्ध के अनेक पद मिलते हैं। लक्षण न देकर सूर ने भक्त के महत्व को ही प्रकट किया है। वे भक्त को इसलिए श्रेष्ठ मानते हैं कि वह भगवान से सम्बन्धित है। भगवान से भक्त अधिक है ऐसी धारणा उनमें नहीं मिलती—

१. हरि के जन सब ते अधिकारी।

—सू० सा०, पृ० ५

२. हरि जू के जन की अति ठकुराई।
महाराज ऋषिवर सुरनर मुनि देखत रहे लजाई।

—सू० सा०, पृ० ६

भक्त-प्रशंसा में राधावल्लभीय कवि हरिराम व्यास के भी अनेक पद मिलते हैं जिनमें परम्परागत रूप में मान्य अजामिल, ध्रुव आदि भक्तों के उल्लेख के साथ भक्तों के श्रेष्ठ गुणों का अनुकथन है। व्यास के अनुसार भक्त कभी दुखी नहीं होते और उनको कभी माया व्याप्त नहीं होती।

१. सुनियत कबहुं न भक्त दुखारो।

—व्यास वाणी, पृ० १०१

२. माया भक्त न लगतै जाई।

—वही, १०५

भक्ति प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले को भक्त का पथ पहले ग्रहण करना चाहिए और उसकी जूठन भी खाना चाहिए जो ऐसा नहीं करते वे नारकी जीव हैं क्योंकि भक्त के पीछे भगवान तथा गंगा चलती हैं। वस्तुतः साधु भक्त की चरण रज के द्वारा ही करोड़ों पतितों का उद्धार हो जाता है—

जूठन जो न भक्त की खात।
तिनके मुख सूकर कूकर के भक्षि अभक्षि पोषत गात।

....

हरि भक्तनि पाछै आछै डोलत हरि गंगा अकुलात।
साधु चरनरज मांझ व्यास से कोटिनि पतित समात।

—वही, पृ० १०३-१०४

भक्ति रस—शास्त्रीय रूप में भक्ति के लिए 'रस' शब्द का प्रयोग कदाचित ही किसी कवि ने किया हो परन्तु भावात्मक दृष्टि से 'भक्ति रस' शब्द का प्रयोग दोनों भाषाओं के कवियों द्वारा अनेक बार किया गया है। गुजराती में नरसी तथा केशवदास ने इसका प्रयोग किया है—

नरसी—भूतल **भक्ति** पदारथ मोटुं

....

ऐ **रस** नो स्वाद शंकर जाने के जाणे शुक जोगी रे।
कोई अेक जाणे व्रज नी गोपी भणे नरसैंयो भोगी रे।

—पद १

केशवदास—योग श्रृंगार अध्यात्मक ज्ञान।
केवल **भक्ति रस** भगवान।

—मथुरालीला

नरसी ने 'भक्ति रस' के ही नहीं उसी भाव के अन्य शब्द 'प्रेम रस' तथा 'लीला रस' का भी व्यवहार किया है

१. **प्रेम रस** पाने तुं मोरना पीछधर तत्व नुं टुंपण तुच्छ लागे।

....

जन्मो जन्म **लीला रस** गावतां.........

—पद २४

ब्रजभाषा में हरिराम व्यास ने भक्ति रस की उत्पत्ति के लिए भाव अनिवार्य माना है—

भाव बिना न **भक्ति रस** उपजै यह सब सन्त बतावत।

—व्यास वाणी, पृ० १५९

हितहरिवंश सहज **प्रेम रस** को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं—

१. सहज **प्रेम रस** सांचे पाक।

—श्री हित चौरासी सेवक वाणी, पृ० ५२

२. जे हरिवंश **प्रेम रस** झिले।
क्यों सोहैं लोगनि में मिले।

—वही, पृ० ५३

पादटिप्पणियाँ

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ३६८:६६

२. अष्टछाप, पृ० ४०१

३. अष्टछाप, पृ० ४०१:४०२

४. वही,

५. वही, पृ० ४०३:४०४

६. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५२१

साधनादि प्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ।
प्रेम पूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्पन्दमानाः प्रकीर्तिताः ॥१०॥

—वलभेद

७. वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनविध ।

हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, पृ० २५
पूर्व विभाग, लहरी २, श्लोक ३

८. डॉ० दीनदयालु गुप्त के निजी परमानंददास पद संग्रह से, पद नं० ३१४

९. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ६४६

४

भाव पक्ष

काव्य में अभिव्यक्त सभी भाव वास्तव में कवि द्वारा ही अनुभूत होते हैं परन्तु अभिव्यक्तीकरण में किसी बाह्य माध्यम को स्वीकार करने, न करने के कारण सामान्यत: अभिव्यक्ति के दो रूप हो जाते हैं। एक दशा में कवि अपने द्वारा अनुभूत भावों को वैयक्तिकता के आग्रह के साथ उत्तम पुरुष में ही अभिव्यक्त करता है और दूसरी दशा में अपने से इतर कल्पित अथवा यथार्थ वस्तुओं तथा व्यक्तियों के माध्यम से। शास्त्रीय शब्दावली में पहली दशा में आश्रय का स्थान वह स्वयं ही ले लेता है और कभी कभी अपने को ही आलम्बन भी बना लेता है, दूसरी दशा में आलम्बन और आश्रय दोनों उससे पृथक रहते हैं। पहली अवस्था में उसकी अभिव्यक्ति अन्तर्मुखी होती है, दूसरी अवस्था में बहिर्मुखी। अभिव्यक्ति के इसी द्विधा स्वरूप के आधार पर पहले प्रकार का काव्य **आत्मविषयात्मक** (Subjective Poetry) कहलाता है और दूसरे प्रकार का काव्य **बाह्यविषयात्मक** (Objective Poetry)।

आत्मविषयात्मक भावाभिव्यक्ति

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार आत्मविषयात्मक काव्य की कोटि में कृष्ण कवियों द्वारा लिखित वे ही पद, वे ही अंश आते हैं जिनमें उन्होंने—

(क) आत्मनिवेदन, दैन्य, दास्य, सख्यादि भावों की अभिव्यक्ति की है।

(ख) विविध कृष्ण लीलाओं में स्वयं को दर्शक या पात्र के रूप में भाग लेते हुए चित्रित किया है अथवा अपने ही किसी अनुभव को कृष्णलीला से सम्बद्ध कर दिया है।

आत्मनिष्ठ काव्य में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी दोहरे ढंग से होती है। कुछ बातों को तो वह अपनी कहकर व्यक्त करता है और कुछ को अपनी भावना में रंग कर। आत्मीयता के विस्तार की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। अतएव आत्म-भावाभिव्यक्ति का अत्यन्त व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए एक मत ऐसा भी है जो समस्त कृष्ण-काव्य को आत्मविषयात्मक काव्य की कोटि में रखता है। लेकिन सीमित अर्थ लेने पर पूर्वोक्त अंश ही वास्तव में इस कोटि में आते हैं। यहाँ इसे सीमित अर्थ में ही ग्रहण किया गया है।

आत्मविषयात्मक कथनों को काव्य की मार्मिकता प्रदान करने में विशेष कठिनाई होती है क्योंकि भावों के साधारणीकृत होने में 'अहं' की सीमाएँ बाधा बन कर आ खड़ी होती हैं। यदि अनुभूति इतनी गहरी, इतनी तीव्र न हुई कि उन्हें पार कर जाय तो इस प्रकार का सारा काव्य व्यक्ति का संकुचित प्रभावहीन परिचय मात्र बनकर रह जाता है। किन्तु सूर, नरसी, मीरां आदि जिन भक्त कवियों ने इस प्रकार के पदों का सृजन किया है उनकी स्थिति इससे भिन्न है। उनके लिए भक्ति का आवेग ही अहं की सारी सीमाओं का पर्यवसान करता हुआ हृदय को निर्मल बना कर आराध्य के चरणों में अर्पित करने का एक मात्र उपाय था। प्रायः कहीं भी उनका आत्मनिवेदन अहं की संकुचित अभिव्यक्ति नहीं बना। उनके वैयक्तिक अनुभव से संयुक्त कथन भी किसी न किसी रूप में इतने भाव संवलित हैं कि कोई भी उन्हें परिचय मात्र नहीं कह सकता। कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा लिखे गये आत्मविषयात्मक पद श्रेष्टतम काव्य की कोटि तक पहुँच जाते हैं।

सूरसागर के प्रथम स्कंध में संकलित सूरदास के अनेक पद उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ब्रजभाषा में सूर के अतिरिक्त अन्य कई अष्टछापी कवियों ने आत्मनिवेदन के पद रचे हैं, अन्य सम्प्रदायों के हरिराम व्यास, गदाधर भट्ट, श्री भट्ट तथा हरिदास आदि के पदों में ऐसे उद्‌गार मिलते हैं किन्तु सूर का भाव-जगत इतना विस्तृत है कि वे अकेले ही सबका प्रतिनिधित्व करते हैं। साथ ही उनकी जैसी मार्मिकता एवं विविधता भी अन्यत्र दुर्लभ है। गुजराती में मुख्यतः नरसी मेहता के काव्य में दैन्य और आत्मनिवेदन के भाव मिलते हैं। अन्य कवियों में इन भावों की स्थिति का आभास तो मिलता है परन्तु इनसे प्रेरित काव्य नाम मात्र को ही उपलब्ध होता है। मीरां की स्थिति इस विषय में सूर और नरसी से भी अधिक महत्वपूर्ण है। कारण यह कि उनका लगभग समस्त काव्य आत्मविषयात्मक है। मीरां ने प्रायः सब कुछ लीलागान के रूप में न लिखकर आत्मानुभूत संवेदन के रूप में लिखा है। वैयक्तिकता का स्वर उनके पदों में, मणियों में सूत्र की तरह व्याप्त है।

जिस प्रकार आराध्य एवं आराधक के बीच सम्बन्धों के कई रूप हैं उसी प्रकार उनके अनेक स्तर भी होते हैं। दास्य, दैन्य आदि भावों के एक स्तर पर एक प्रकार के उद्‌गार तथा दूसरे स्तर पर दूसरे प्रकार के उद्‌गार मिलते हैं जिनका आधार स्नेह और तन्मयता का अतिरेक है। आराध्य की ओर जिसके प्रेम में जितनी उत्कटता होगी वह कवि उतने ही उच्च स्तर से, उतनी ही मार्मिकता से आपूर्ण उद्‌गार व्यक्त करेगा। इन उद्‌गारों के और भी सूक्ष्मतर भेद होते हैं जो कवि की वैयक्तिक संवेदनशीलता, अभिव्यंजनाशक्ति तथा स्वभाव विशेष पर आधारित रहते हैं।

आत्मनिवेदन—आत्मनिवेदन की भावना सूर, मीरां और नरसी तीनों में प्राप्त होती है किन्तु तीनों की अपनी अपनी विशेषता स्पष्ट रूप से पृथक झलकती है, तीनों का आत्मनिवेदन न्यूनाधिक अंशों में दैन्य से संयुक्त और दास्य की ओर उन्मुख है। फिर भी किसी में दास्य भाव अप्रधान है किसी में प्रधान। किसी में प्रेम की कातरता है, किसी में दैन्य की विह्वलता और किसी में प्रगल्भता, हठ, खीझ तथा उसके बाद भी अडिग विश्वास।

यह आत्मनिवेदन की वृत्ति वस्तुतः विशुद्ध प्रेम से उत्पन्न होती है और उसी से पुष्ट भी होती है। प्रेम के मूल में जो भाव होगा वही आत्मनिवेदनात्मक काव्य में प्रतिबिम्बित होगा।

नरसी तथा सूर दोनों ने प्रधानतः अपने को दास या सेवक और कृष्ण को अपना स्वामी स्वीकार किया है। नाथ, प्रभु, स्वामी आदि शब्दों से आराध्य को संबोधित अथवा विशेषित करना तथा चरण-शरण प्राप्ति की कामना करना इसी का द्योतक है। नरसी ने कृष्ण का दास होकर ही अपने जीवन को कृतार्थ नहीं माना वरन् भावातिरेक में उन्होंने कृष्ण के दास की चरणरज तक को मस्तक पर धारण करने की इच्छा प्रकट कर डाली और उसी में अपना कल्याण माना—

> तारा दासनां चरणनी रेण मस्तक धरुं जेथकी कोटि कल्याण पामुं।
>
> —पद० ३२

कृष्ण के प्रति उनका निवेदन है कि तुम्हारे दास के दास की संगति के बिना मेरा मन भ्रष्ट हो रहा है। जो तुम्हारे दास नहीं हैं वे दुष्ट हैं उनके साथ से मेरी मति भी सदोष हुई जा रही है और तुम्हारा कीर्तन, नामश्रवण आदि कुछ भी नहीं हो पाता—

> तारा दासनां दासनी नित्य संगत बिना भ्रष्ट थाय भूधरा मन मारूं।
> दुष्टनी संगते, दुष्ट मति ऊपजे, श्रवण कीर्तन नव थाय तारुं।
>
> —पद० २२

एक स्थल पर वे 'दासनोदास नरसैंने कीधो' कहकर स्वयं को कृष्ण का दासानुदास मान लेते हैं। जिस प्रकार एक सेवक अपने स्वामी की कृपा के अभाव में स्थिरचित्त नहीं रह सकता उसी प्रकार उनका मन भी कृष्ण कृपा के बिना विकल रहता है—

> पूरुं ना पडे नाथ जी तमारी कृपा विना अेक आणु त्यारे अनेक खूटे,
> नरसैंयानां स्वामी तमारी कृपा विना रंक मनावुं त्यारे राय रूठे।
>
> —पद ५०

ठीक ऐसी मनस्थिति सूर की भी है। वे भी कृष्ण को अपना पति अर्थात् स्वामी कहते हुए उनसे कृपा याचना करते हैं—

मेरे तो तुमही पति तुम गति तुम समान को पावै।
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा बिनु को मों दुख बिसरावै।

—सू० सा०, पृ० ६

वस्तुतः कृष्ण का स्वामित्व लाभ करके ही सूरदास का दासत्व सार्थक सिद्ध होता है। वे भले बुरे जैसे भी हैं कृष्ण के ही हैं। उन्हें छोड़कर किसी और के द्वार पर नहीं जा सकते। वे कृष्ण के खरीदे हुए गुलाम हैं और जब कोई ऐसा कहता है तो उसे सुन कर उनका हृदय तृप्त हो जाता है। कृष्ण रुष्ट भी हो जाँय तो भी वे द्वार छोड़ने वाले नहीं। वस्तुतः भाव की दृष्टि से उनका दासत्व ही इतना समृद्ध है कि उन्हें नरसी की तरह अपने को कृष्ण का दासानुदास कहकर अपनी अधिकाधिक लघुता व्यक्त करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

आगे चलकर दासत्व का यह भाव नरसी और सूर में भिन्न-भिन्न दिशाएँ ग्रहण कर लेता है। नरसी में माधुर्य के संयोग से दास होने की कामना दासी होने की कामना में परिणत हो जाती है और वे सखी रूप से प्रिय के सान्निध्य-सुख का रसास्वादन करने लगते हैं। जो स्वामी है वही प्रियतम बन जाता है और जो सेवाभाव है वही प्रणयनिवेदन का रूप धारण कर लेता है। स्वामी और सेवक के बीच की स्वाभाविक मर्यादा तथा व्यावहारिक व्यवधान दूर हो जाता है। कुछ अंशों में दास्य और माधुर्य का यह भाव-सांकर्य दोनों की शुद्धता को सीमित कर देता है। नरसी 'हरीदासी' होने की अपनी तीव्र मनोकामना को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं—

जपतप तीरथ देहडी न दमीअे, जो महारा वहालाशुं रंग भेर रमीअे।
जनम-जनम हरीदासी थाशुं नरसैंया चा स्वामीनी लीला गाशुं।

—पद ५६

नरसी का यह दासी रूप सखी रूप से अभिन्न है क्योंकि वे स्वयं सखी बन कर कृष्ण की गोपियों के साथ की गयी श्रृंगारक्रीड़ाओं का रसास्वादन करने की साक्षी देते हैं—

ते पूर्ण पुरुषोत्तम प्रेमदाशुं रमे, भावेशुं भामनी अंक लीधो।
जे रस व्रजतणी नार विलसे सदा, सखी रूपे ते नरसैंयें पीधो।

—पद ४९

सूर में ऐसे भाव-सांकर्य की स्थिति कहीं भी नहीं मिलती। यद्यपि उन्होंने कृष्ण की श्रृंगारिक लीलाओं का वर्णन नरसी की अपेक्षा कम नहीं किया है तथापि उनमें दास्य

और माधुर्य भाव का पार्थक्य बना रहा। कारण यह है कि उन्होंने, जहाँ तक वैयक्तिक भावाभिव्यक्ति का प्रश्न है, दास्य और माधुर्य को सर्वदा पृथक् रक्खा है। एक दास को स्वामी के शृंगारिक अथवा दाम्पत्य जीवन में प्रवेश पाने का कोई अधिकार नहीं होता, वह उसकी मर्यादा के विरुद्ध है अतएव कृष्ण की शृंगारिक क्रीड़ाओं का वर्णन सूर ने सखियों के माध्यम से किया है। स्वयं सखी बनने अथवा सखी-भाव अपनाने का प्रमाण उनके काव्य में नहीं मिलता। उन्होंने नरसी की तरह भक्ति में अपने पुरुषत्व का पर्यवसान नहीं किया। उनका दास्यभाव अगर उन्मुख हो सका तो सखा-भाव की ही ओर हो सका, सखी-भाव की ओर नहीं। 'खंजन नैन प्रेम रस माते' जैसे उनके पदों के पीछे आसक्ति का सिद्धान्त है। सखी-भाव उनका कारण नहीं है।

सूर का सेवक सेव्य भाव दूसरी दिशा में विकसित हुआ। उसका संयोग दैन्य से हुआ और दैन्य एवं विनय का जितना गंभीर, विविध एवं विस्तृत रूप सूर में उपलब्ध होता है उतना कृष्ण-काव्य के अन्य किसी कवि में नहीं मिलता। नरसी में भी नहीं। भावातिरेक में विनय का भाव लुप्त हो जाता है और उसका स्थान प्रगल्भता, ओज तथा हठ ग्रहण कर लेते हैं। दास्यभाव के अन्तर्गत इस प्रकार की भाव-परिणति भी सारे कृष्ण-काव्य में दुर्लभ है। सूर के इस प्रकार के आत्मनिवेदन में भावना का स्तर क्रमश: उच्च से उच्चतर होता हुआ भाव-विकास की चरमसीमा को स्पर्श कर लेता है।

जैसा संकेत किया गया है, सूर का आत्मनिवेदन विनय से प्रारम्भ होता है किन्तु वह विनय भी साधारण कोटि के विनय भाव से भिन्न है। अपने पापों के प्रति अतिशय जागरूक होने के कारण सूर को विनती करते भी लाज लगती है। अपने को वे सब पतितों का सरताज समझते हैं और उन्हें विश्वास है कि कृष्ण जैसे उद्धारकर्ता के लिए भी उनका उद्धार सरल कार्य नहीं है—

> बिनती करत मरत हौं लाज।
> नख सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज।
> ....
> पाछे भयो न आगे ह्वै है सब पतितन सरताज।
> नरकौ भज्यो नाम सुनि मेरो पीठि दई यमराज।
> अबलौं नान्हे रून्हे तार्यो ते सब वृथा अकाज।
> सांचे बिरद सूर के तारत लोकन लोक अवाज।

—सू० सा०, पृ० ७

सब पतितों के 'सरताज' अथवा 'नायक' होने का भाव उनके हृदय में गर्व का संचार करके उन्हें अत्यन्त प्रगल्भ बना देता है। यह प्रगल्भता लाक्षणिक है और इसमें अत्यधिक दीन एवं पापी होने की ध्वनि छिपी हुई है। वस्तुतः उसी की मार्मिक व्यंजना के लिये कवि की भावना ने अभिव्यक्ति का यह रूप ग्रहण किया है। इसके पहले अनेक पदों में उन्होंने असमर्थता, दोषमयता निरीहता तथा शरण-याचना के भाव व्यक्त किये हैं। जब भावुक हृदय उनसे परितुष्ट न हो सका तो भावना ने यह रूप ग्रहण किया और सूर कह उठे—

हरि हौं सब पतितन पतितेश।

—वही, पृ० १७

अथवा

हरि हौं सब पतितन को नायक।

—वही, पृ० १८

पर इस प्रकार के लाक्षणिक गर्व से भी कृष्ण को जब वे उन्मुख होता हुआ नहीं देखते तो उन्हें आराध्य के मनोभाव पर शंका होती है और वे स्पष्ट पूछने लगते हैं।

मोसों बात सकुच तजि कहिये।
कत ब्रीड़त, कोउ और बतावहु वाही के ह्वै रहिये।
कैधौं प्रभु पावन तुम नाहीं के कछु मोमें भोलो।
तौ हौं अपनी फेरि सुधारौं वचन एक जो बोलो।

—वही, पृ० १६

सूर द्वार पर बड़ी देर प्रतीक्षा करते हैं पर जब इस आरोप का भी कोई उत्तर नहीं पाते तो कृष्ण के पतितपावन नाम की निस्सारता उन्हें प्रतिभासित होने लगती है—

पतितपावन हरि विरद तुम्हारो कौने नाम धर्यो।

—वही

और अन्त में वे हठ पूर्वक अपने उद्धार किये जाने के अधिकार के लिये लड़ने को तैयार हो जाते हैं—

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हम ही कै तुम ही माधव अपुन भरोसे लरिहौं।
हौं तौ पतित सात पीढ़िन को पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं तुम्हें विरद बिनु करिहौं।

— वही

ऐसा हठ, ऐसा आग्रह, ऐसी प्रगल्भता उसी में हो सकती है जिसे एक तो अपने आराध्य पर चरम विश्वास हो दूसरे अपनी भक्ति पर अनन्त आस्था। सूर में दोनों ही वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं इसीलिए उनकी वाणी में इस प्रकार का भाव-सौन्दर्य आ सका।

सूर को कृष्ण की कृपा प्राप्त करने की इतनी उत्कट अभिलाषा क्यों है इसका रहस्य भी उनके एक पद से ज्ञात हो जाता है। वास्तव में सूर को कृष्ण का विरह असह्य है। उनके हृदय की जलन बिना करुणा के जल से सिंचे शान्त नहीं होना चाहती इसीलिए वे हर प्रकार से अपने 'गोपाल' की कृपा प्राप्त करना चाहते हैं—

> हृदय की कबहुँ न जरनि घटी।
> बिनु गोपाल बिथा या तनु की कैसे जात कटी।
> ....
> सूर जलधि सिंचे करुणानिधि निज जन जरनि मिटी।
>
> —वही, पृ० ९

इस प्रकार सूर के काव्य में अपने आराध्य के प्रति एक ऐसी तीव्र विश्वास भावना, तथा अपनी भक्ति के प्रति एक ऐसी प्रगाढ़ आस्था मिलती है जो अन्य कृष्ण भक्त कवियों में दुर्लभ है।

नरसी और सूर की आत्म भावाभिव्यक्ति से भिन्न मीरां की भाव-धारा में एक विचित्र प्रकार की स्त्री सुलभ सुकुमारता एवं व्यापक आत्मीयता मिलती है जो समस्त कृष्ण-काव्य का शृंगार है।

पुरुष होकर स्त्री भाव की उपलब्धि के प्रयास में जो अस्वाभाविकता नरसी के काव्य में दिखाई देती है वह मीरां के पदों में सर्वथा अप्राप्य है। नरसी की 'प्रणय घेलछा' की अपेक्षा कृष्ण के प्रति मीरां का मधुर प्रणय-भाव पूर्णतया स्वाभाविक प्रतीत होता है। इस दिशा में मीरां नरसी से कहीं आगे प्रतीत होती हैं। नरसी गोपी अथवा सखी-भाव की ही प्राप्ति कर पाते हैं परन्तु मीरां कृष्ण का चिंतन विह्वल प्रणयिनी बनकर करती हैं और उन्हें प्रियतम एवं पति के रूप में स्वीकार करती हैं। साथ ही उनकी भावना में नरसी की ऐन्द्रिकतामूलक विलास-वृत्ति के स्थान पर सुकुमार स्निग्ध प्रेम-वृत्ति के दर्शन होते हैं। मीरां की सुप्रसिद्ध पंक्तियों से यह भाव स्पष्टतया प्रकट होता है—

> मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
> जाके सिर मोर मुकट मेरो पति सोई।
> ....

अंसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई ।
अब तो बेल फैल गयी आनंद फल होई ॥१५॥
—मीराबाई की पदावली, पृ० ६

'गिरधर' के प्रति मीरां का यह वैयक्तिक प्रेम-भाव उन्हें आत्म-समर्पण की उस स्थिति तक पहुँचा देता है जहाँ वे अपने सारे जीवन व्यापार को प्रिय के ही आश्रित छोड़कर अनन्त सुख का अनुभव करती हैं—

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ।
मेरी उनकी प्रीत पुराणी उण बिनि पल न रहाऊँ ।
जहाँ बैठावे तितही बैठूं, बेचै तौ बिक जाऊँ ।
—वही, पृ० ७

इन पंक्तियों में वह प्रेमातिरेक झलकता है जिसके आवेग में व्यक्ति का सारा अहं एक तिनके की तरह बह जाता है । अपने प्रिय का असीम प्रेम ही मीरां को ऐसी 'दरद दिवाणी' बना डालता जिसका दर्द संसार में कोई नहीं जान सकता । जितनी तीव्रता मीरां की पूर्वरागजन्य प्रेम की अनुभूति में है उससे भी अधिक तीव्रता उनकी विरह की अनुभूति में लक्षित होती है । विरह की नागिन ने उनकी सारी काया को विषाक्त कर दिया है और रह रह की वेदना की लहरें उठती हैं—

रमैया बिन नींद न आवै ।
कहा करुं कित जाऊं मोरी सजनी वेदन कूण बुलावै ।
विरह नागण मोरी काया डसी है, लहर लहर जिव जावै ।
—वही, पृ० २९

वियोग की यह चरम विह्वलता एक ओर तो उनको सूर की तरह प्रगल्भ बना देती है और वे उपालंभ में कृष्ण के लिये 'निरमोहिया' अथवा 'धूतारा जोगी' जैसे शब्दों तक का प्रयोग कर डालती हैं दूसरी ओर उनमें निरीहता एवं असहायता का भाव उत्पन्न होता है जिसके कारण वे नरसी की तरह कृष्ण की दासी बनने की कामना करने लगती हैं ।

डारि गयो मन मोहन पासी ।
आंबा की डाल कोयल इक बोलै मेरो मरण अरु जग केरी हांसी ।
विरह की मारी मैं बन बन डोलूं, प्रान तजूं करवत ल्यूं कासी ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, तुम मेरे ठाकुर मैं तेरी दासी ।
—वही, पृ० २६

मीरां के पदों में अधिकतर इसी प्रकार के वैयक्तिक प्रणय एवं विरह की अनुभूति व्यक्त हुई है और इस प्रकार उनके काव्य में आतमभावाभिव्यक्ति की मात्रा सबसे अधिक मिलती है। इसीलिए सूर तथा नरसी की तुलना में मीरां में लीलागान की प्रवृत्ति का प्रायः अभाव मिलता है। यत्रतत्र ब्रज की कुछ लीलाओं के वर्णनों के अपवादों को छोड़कर मीरां के समस्त पद आत्मनिष्ठ काव्य की ही कोटि में आते हैं और उनमें भी मधुर भाव की ही प्रधानता है।

मीरां ने कृष्ण को प्रणयी के ही रूप तक सीमित न रखकर पतितोद्धारक एवं भक्तवत्सल भगवान के रूप में भी स्मरण किया है और यहां वे सूर, नरसी आदि भक्त कवियों के साथ समान धरातल पर स्थित दिखायी देती हैं—

> हरि तुम हरो जन की पीर।
> ....
> बूड़तो गजराज राख्यो कियौ बाहर नीर।
> दासी मीरा लाल गिरधर चरण कंवल पै सीर।
>
> —वही, पृ० २५

परन्तु इस प्रकार के पद मीरां ने अधिक नहीं रचे। उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति कृष्ण के प्रति अपने प्रेम निवेदन के रूप में ही हुई है।

कृष्ण लीलाओं से आत्म सम्बन्ध—अनेक कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में अपने को कृष्ण लीलाओं से सम्बद्ध कर देने की एक विचित्र प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भी कवि के व्यक्तित्व का ही एक रूप है, अथवा इसे उसकी आत्माभिव्यक्ति का प्रकार विशेष कहा जा सकता है। भाव की तीव्रता में कवि की आन्तिरक इच्छा कल्पना द्वारा वास्तव का रूप धारण करके उसकी वाणी के माध्यम से प्रत्यक्ष होकर उसे एक अलौकिक संतोष प्रदान करती है कदाचित् इसी कारण भाव प्रवणकवियों ने इस प्रकार के वर्णन किये हैं। उनको यथार्थ रूप में ग्रहण करना वस्तुतः उन्हीं की भावना के साथ अन्याय करना है। नरसी मेहता में यह प्रवृत्ति सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वाधिक रूप में व्यक्त हुई है। विपत्तियों और विरोधों से घिरे हुए जीवन में उन्हें जब कभी अप्रत्याशित सहायता प्राप्त हुई तो उन्होंने उसे भावातिरेक में भगवत्प्रेरित ही नहीं वरन् स्वयं भगवद्दत्त भी माना है। हुंडी, झारी तथा हार आदि के प्रसंग संभवतः इसी मनोवृत्ति को व्यक्त करते हैं। नरसी की यही मनोवृत्ति तीव्रतर होकर उनकी उन कई रचनाओं में प्रकट हुई है जहां वे को स्वयं कृष्ण लीलाओं में भाग लेते हुए चित्रित करते हैं। गोपेश्वर महादेव की कृपा से उन्हें रास

दर्शन होता है और शिव गोलोक में कृष्ण से अपने भूतलवासी दीन भक्त को मिलाते हैं। कृष्ण उनके मस्तक पर अपना वरद कर कमल रख कर उन्हें कृतार्थ कर देते हैं—

हाथ झाल्यो मारो पारवती पते, मुक्ति दर्शन मुने सघली देखाडी।

....

भक्त हमारो भूतल लोक थी आवीयो करो तेने कृपा दीन जाणी।

....

तेज वेला श्री हरी मुजने करुणाकरी हस्तकमल मारे शीश चांप्यो।

—न० कृ० का०, पृ० ७५-७६

इतना ही नहीं कृष्ण शारदीय पूर्णिमा की रात्रि में जब वेणुनाद करते हैं तो गोपियों के बीच नरसी का पुरुषत्व लीन हो जाता है। वे सखी रूप से गीत गाने लगते हैं और मानिनी को मनाने के लिए दूती बन जाते हैं। कृष्ण उनपर पुनः प्रसन्न होते हैं और उन्हें अपना पीतपट प्रदान कर देते हैं। नरसी यह सब वर्णन करते हुए यह भी कहते हैं कि यह सब उनका अनुभव है, यह वह रस है जिसका उन्होंने आस्वादन किया है।[२]

सुरतसंग्राम में इसी प्रकार नरसी ने अपने को राधा की दूती के रूप में प्रस्तुत किया है। राधा उन्हें देखकर सहसा दूतत्त्व का कार्य सौंप देती हैं और तत्काल उन्हें कृष्ण के पास जाना पड़ता है।[३] फिर यह प्रासंगिक उल्लेख मात्र नहीं है। इसका कथा विस्तार १२ वें पद से लेकर २२ वें पद तक फैला हुआ है।

चातुरी छत्रीसी में भी नरसी उपस्थित मिलते हैं, कर्ता के रूप में न सही भोक्ता के रूप में ही सही।[४]

इस प्रकार की कल्पनाएँ नरसी की आत्माभिव्यक्ति का एक विशिष्ट प्रकार ही मानी जा सकती हैं अन्यथा कथा की दृष्टि से इनकी अस्वाभाविकता स्पष्ट ही है। भावातिरेक अस्वाभाविक वस्तु को भी गरिमामय बना देता है, कदाचित् यह इसका उदाहरण है।

सूरदास में भी यह प्रवृत्ति उपलब्ध होती है किन्तु इतने विकसित रूप में नहीं। उन्होंने अन्य लीलाओं का दर्शन तो राधा अथवा गोपियों की वृत्ति को आत्मसात् कर के किया परन्तु कृष्ण-जन्म के अवसर पर अपने को प्रत्यक्ष प्रस्तुत करने का लोभ वे भी संवरण न कर सके। उनके ढाढी के पद वस्तुतः इसी मनोवृत्ति के परिचायक हैं।[५]

नरसी तथा सूर के उद्धृत अंशों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर दोनों कवियों के स्वभाव का अन्तर प्रकट हो जाता है। नरसी की वृत्ति रास और विलास के प्रसंगों में

विशेष रमी अतः उन्होंने वैसे अवसरों पर अपनी अवतारणा की है और सूर ने, जिनकी वृत्ति कृष्ण के बालरूप में विशेष लिप्त रहती थी, कृष्ण जन्म के अवसर पर उनकी बाल क्रीड़ाओं के दर्शन के लोभ से ढाढी के रूप में अपनी भावनाओं को मूर्त किया। आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति होने के कारण ही इन कल्पनाजन्य प्रसंगों में कवि हृदय के सहज सत्य इतने सजीव होकर उतर सके हैं।

मीरां के कतिपय पदों में यही भावातिरेक वास्तव का रूप लिए बिना अपने मूल रूप में ही व्यक्त हुआ है। इसीलिए मीरां जो स्वप्न देखती हैं उसे स्वप्न ही कहती हैं परन्तु उस स्वप्न पर उन्हें किसी भी सत्य से अधिक आस्था है—

माई म्हाने सुपने में परण गया जगदीस।
सोती को सुपना आविया जी सुपना विस्वा वीस।
मीरां को गिरधर मिल्या जी, पूर्व जनम के भाग।
सुपने में म्हाने परण गया जी; होगया अचल सोहाग।

—मीरा की पदावली, पृ० १२, पद २७

स्वप्न नहीं यह उनके जीवन का चरम सत्य था—भाव सत्य, जिसके आधार पर उन्होंने 'जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई' नितान्त निर्भीकता से कह डाला और आजन्म उसी भाव का निर्वाह किया। उनका सारा काव्य इसी से ओतप्रोत है। यहाँ भी मीरां की जो अत्यन्त आन्तरिक भावना थी वही इस प्रकार व्यक्त हो सकी। यद्यपि कृष्ण-काव्य की सर्जना अनेक कवियों के द्वारा हुई परन्तु भाव की इतनी उच्च भूमि तक कदाचित् यही कवि पहुँच सके। अन्य कवियों में से किसी ने कृष्ण की लीलास्थली के प्रति अपने उद्‌गार व्यक्त करके संतोष पाया, किसी ने अभक्तों की निंदा और भक्तों की प्रशंसा करके तथा किसी ने कृष्ण के स्वरूप विशेष अथवा भाव विशेष पर अपनी वैयक्तिक आसक्ति प्रकट करके। व्यक्तिगत रुचि कुरुचि व्यक्त करने से उच्चतर धरातल व्यक्ति के हृदय के निर्वैयक्तिक आनन्द में लीन हो जाने में है। इस उच्चतर स्थिति को व्यक्त करने वाले कवियों के कथन भी वैयक्तिकता से आवृत रहते हैं परन्तु तत्वतः वे सामान्य कवियों की वैसी ही बातों से बहुत भिन्न होते हैं। सूर, मीरां तथा नरसी की भावभूमि तक अन्य कवियों की गति नहीं दिखायी देती।

बाह्यविषयात्मक भावाभिव्यक्ति

किसी भी कवि की वास्तविक महत्ता भावानुभूति की गहराई एवं व्यापकता से आँकी जाती है और उसके काव्य की सफलता भावों के सूक्ष्म, सशक्त तथा संवेदनीय निरूपण में निहित रहती है। कवि का हृदय किस वस्तु से प्रेरणा पाकर कब, कहाँ,

कितना भावुक हो उठे इसके लिए कोई विधान नहीं बनाया जा सकता। यह तो कवि विशेष की संवेदनशीलता, मनोवृत्ति और स्वभाव के आश्रित रहता है। फिर भी कुछ स्थितियाँ, कुछ स्थल ऐसे अवश्य होते हैं जहाँ भावुक कवियों का हृदय विशेष रूप से रम जाता है। ऐसे स्थलों को 'भावमय स्थल' कहा जा सकता है। बाह्यविषयात्मक काव्य में ऐसे स्थलों का विशेष महत्त्व होता है।

कृष्ण-काव्य में भावमय स्थल—कृष्ण-काव्य भावों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध काव्य है। जीवन का एक विस्तृत खंड उसकी आधार भूमि रहा है। शैशव, कैशोर्य और तारुण्य की अगणित सूक्ष्म एवं गहन अनुभूतियों का विशाल संचय उसमें अत्यन्त सहज रूप में उपलब्ध हो जाता है। वात्सल्य और शृंगार की जिन सीमाओं का स्पर्श कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसी दशा में थोड़े से भावमय स्थलों को चुन कर अलग निकालना सरल नहीं है। परन्तु तुलनात्मक विवेचन की सुविधा के लिए जो भावमय स्थल प्रधान हैं उन्हें पृथक् करना आवश्यक है। गुजराती और ब्रजभाषा दोनों के काव्यों को दृष्टि में रखते हुए निम्नलिखित भावमय स्थल प्रधान रूप में चुने जा सकते हैं—

१. कृष्ण की बाल लीलाएँ
२. नंद, वसुदेव, यशोदा और देवकी के उद्गार
३. रासलीला
४. दानलीला
५. मानलीला
६. पनघटलीला
७. संयोगावस्था की विविध मनोदशाएँ
८. कृष्ण का मथुरागमन
९. भ्रमरगीत
१०. पुनर्मिलन

आगे इनमें से क्रमशः प्रत्येक स्थल की भावानुभूति तथा भावनिरूपण की दृष्टि से तुलनात्मक काव्य-समीक्षा की गयी है।

१. **कृष्ण की बाल लीलाएँ**—कृष्ण की बाल लीलाओं से सम्बन्धित भावों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। कारण यह है कि कृष्ण का व्यक्तित्व नंद यशोदा के पारिवारिक जीवन तक ही सीमित न रहकर एक व्यापक सामाजिक रूप धारण कर लेता है। कृष्ण समस्त ब्रजमंडल की भावनाओं के केन्द्र बन जाते हैं। ब्रज के सब ग्वालबाल, गायें और गोपियाँ कृष्ण से सम्बद्ध हैं। नंद महर के घर होने वाली कृष्ण विषयक प्रत्येक बात, प्रत्येक घटना सारे ब्रज में व्याप्त हो जाती है और परस्पर भाव-सम्बन्धों और भाव-प्रतिक्रियाओं को गहनतर बनाती चलती है। कृष्ण के अपने बाल स्वभाव और बाल चेष्टाओं के अतिरिक्त, यदि बलराम और ग्वालबालों के साथ उनकी क्रीड़ाओं में भावों का एक रूप मिलता है तो गोपियों के साथ दूसरा और नंद

यशोदा के साथ तीसरा। भावों की इस विविधता की समाप्ति यहीं नहीं हो जाती। कृष्ण को लेकर यशोदा और गोपियों के बीच एक नये ही प्रकार का भाव-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जिससे कभी वे कृष्ण का पक्ष लेकर यशोदा से लड़ने आती हैं और कभी खीझ कर उलाहना देने। इस सारे भाव-विस्तार का केन्द्र एकमात्र कृष्ण की बाल लीलाएँ ही हैं जिनके आश्रय से मानवीय भावों के विविध रूपों की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति कवियों ने की है।

मानवीय भावों केसाथ कृष्ण के लोकोत्तर रूप का मिश्रण—कवियों द्वारा कृष्ण की बाललीलाओं के चित्रण में एक विशेषता और परिलक्षित होती है और वह है सामान्य मानवीय भावों के साथ लोकोत्तर एवं अलौकिक रूप का सम्मिश्रण रस की दृष्टि से देखने पर इस प्रकार के वर्णन रसास्वादन में बाधक सिद्ध होते हैं परन्तु इसके साथ ही लौकिकता को सम्बद्ध कर देने से एक ऐसी रहस्यमयता उत्पन्न हो जाती है जो आश्चर्य, विस्मय तथा कुतूहल की सृष्टि करके आलंबन के प्रति एक विचित्र आकर्षण जगा देती है जिससे उक्त दोष आवृत हो जाता है। इसीलिए कृष्ण भक्त के हृदय में ऐसे वर्णनों से जो अनुभूति जागृत होती है वह रस संचार में बाधक न होकर एक प्रकार से सहायक ही होती है। माहात्म्यज्ञान के साथ उसे कृष्ण की लीलाएँ और भी अधिक आकर्षक प्रतीत होने लगती हैं। यह सत्य 'नारदभक्तिसूत्र' के रचयिता को ज्ञात था—

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ।।२२।।

गुजराती और ब्रज दोनों के कवियों ने कृष्ण की बाललीलाओं के वर्णन में मानवीय भावों के चित्रण के साथ रहस्यात्मकता का पग पग पर मिश्रण किया है। यही नहीं इस प्रकार की रहस्यानुभूति उनके वर्णन का एक प्रधान अंग रही है जिसकी ओर इंगित करना वे कभी नहीं भूलते।

अनेक असुरों के वध की अलौकिक घटनाएँ इस भाव के साथ एक सामंजस्य उत्पन्न कर देती हैं क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि में इस प्रकार के वर्णन और भी कम अस्वाभाविक प्रतीत होते जाते हैं। प्रत्येक असुर को पराजित करने के साथ ब्रजवासियों का विश्वास कृष्ण की अलौकिक शक्ति पर दृढ़तर होता चलता है। जिस वातावरण और जिन परिस्थितियों में ब्रजवासियों का चित्रण किया गया है उसका लक्ष्य कृष्ण के लोकोत्तर रूप की स्थापना ही रही है। समस्त कृष्ण-काव्य का प्रधान उद्देश्य भी मानवीय अनुभूतियों का स्पर्श करते हुए उन्हें लोकोत्तर चेतना की उपासना में केन्द्रित कर देना ही रहा है। कृष्ण के अलौकिक चरित उनकी अपार शक्ति के स्वयं

परिचायक हैं अतएव उनके लौकिक चरित के चित्रण में अलौकिकता की व्यंजना का अपेक्षाकृत विशेष ध्यान रक्खा गया है। कृष्ण के लिए सर्वत्र प्रभु, स्वामी, पुरुषोत्तम, 'परिब्रह्म' आदि ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया गया है जो उनके माहात्म्य के द्योतक हैं।

मृत्तिका-भक्षण तथा यमालार्जुन-मोक्ष के प्रसंग में कृष्ण के विराट रूप का भागवत के अनुसार जो वर्णन दोनों भाषाओं के कवियों ने किया है उसका निर्देश वस्तु विश्लेषण के साथ किया जा चुका है। यहाँ वे प्रसंग उल्लेखनीय हैं जहाँ माखनचोरी, दधिमंथन आदि सामान्य मानवीय चेष्टाओं के साथ कवियों ने अपनी इच्छा द्वारा अलौकिकता का मिश्रण किया है। दधिमंथन के वर्णन में सूर लिखते हैं—

जब मोहन कर गही मथानी।
परसत कर दधि माट नेति चित उदधि सैल बसुधा भय मानी।
कबहुंक अहुठ परग करि बसुधा कबहुं देहरी उलंघि न जानी।
कबहुंक सुरमुनि ध्यान न पावत कबहुं खिलावत नंद की रानी।
कबहुंक अमर खीर नहि भावत कबहुं मेखला उदर समानी।
कबहुंक आर करत माखन को कबहुंक भेष दिखाइ बिनानी।
कबहुंक अखिल उदर नहि तर्पित कबहुंक दल माखन रुचि मानी।
सूरदास प्रभु की यह लीला परत न (निग) महि शेष बखानी।

—सू० सा०, पृ० १४९

नरसी मेहता ने दधिमंथन के प्रसंग में इसी प्रकार अलौकिकता का आरोप किया है। दोनों का सादृश्य दर्शनीय है—

महीडुं मथवा ने उठी जशोदा राणी।
विसामो खवडाववा उठ्या सारंगपाणी।
रत्नागर जाणे रे मुजमां रत्न न थी।
ठालोमालो कालो घेलो शुं करशे मथी।
मेरु जाणे रे हुं तो चोदश गांठ्यो।
हावे नव रवैयो करशो जाउं रे नाठो।

—न० कृ० का०, पृ० ५०२

परमानंददास भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हैं।

सिव बिरंचि मुनि देवता जाको अंत न पावैं।
सो परमानन्द ग्वालि को हँसि भलो मनावैं।

रसखान के प्रसिद्ध छंद 'ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं' में कृष्ण के लौकिक तथा अलौकिक चरित के विचित्र संयोग की ही ओर संकेत है। गुजराती कवियों में नरसी, भालण, तथा प्रेमानंद आदि ने बार बार इस प्रकार का वर्णन किया है—

नरसी— जे मुख निगमअगम करी गाये, ते मुख जशोदाओ पान करी पाये।
योगीया ध्यान धरे नहि पावे, ते अहिरडा घेर मलवे आवे।

—न० कु० का०, पृ० ५०१

भालण— ब्रह्मादिक जेने धाये, तेवो सुन्दर श्यामजी।
वृद्धपणे हुं पुत्र ज पाम्यो, भालणप्रभु श्रीराम।

दशमस्कंध, पृ० ३५

प्रेमानन्द— ब्रह्मा ने स्वप्ने नव आवे, ते गोविंद ने गोपी नचावे।

—श्रीम० भा०, पृ० २६०

रसखान से प्रेमानन्द की उक्ति का कितना साम्य है यह स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त प्रेमानन्द ने हिंडोला झुलाने के सामान्य प्रसंग में भी आध्यात्मिकता और अलौकिकता का आरोप किया है। हिंडोला को संसार का प्रतीक बना दिया है—

संसार हिंडोलो बांध्योरे ब्रह्मे,
कांई कर्मे हींचे कोटी जीवडा रे।
शंकर ब्रह्मा जागी रे झूल्या,
भूल्या भ्रमे मोहोटा मुनि रे।
आवागमन हींडोलेरे हींचे,
न प्रीछे प्राणी माया मल्या रे।
जगत झुलाव्युं सोंपी कर्मने,
ते ब्रह्म ने झूलावे व्रज सुन्दरी रे।

—श्रीम० भा०, पृ० २४८

प्रेमानन्द अन्यत्र लिखते हैं—

पालव ग्रही परब्रह्म माता कने अंन मांगे रे।
पेट देखाडी ने रोय, नीचा थई पाये लागे रे।

—वही, पृ० २५२

कृष्ण की बाललीलाओं के प्रसंग में इस प्रकार के कथन इसलिए भी विशेष रूप से मिलते हैं कि वस्तुतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, पूर्णकाम ब्रह्म का अज्ञ, अशक्त, क्षुधातुर बालक के सदृश आचरण करना सबसे अधिक विरोधपूर्ण प्रतीत होता है। वैसे कृष्ण की मानवीय शृंगार लीलाओं के प्रसंग में भी इस प्रकार का मिश्रण मिलता है परन्तु बाललीलाओं में अधिक उपलब्ध होता है।

कृष्ण-जन्म—कृष्ण को परब्रह्म स्वीकार कर लेने पर उनका जन्म अथवा प्राकट्य साधारण घटना न रह कर एक महान् भूतपूर्व आनन्दोल्लास का पर्व बन जाता है। कृष्ण काव्य में इस अपार असीम आनन्द को शब्दों में बांधने का अद्भुत प्रयास किया गया है। अन्य कवियों की अपेक्षा अष्टछाप के कवियों ने इस विषय को विशेष भावुकता एवं कौशल से चित्रित किया है क्योंकि कृष्ण का बाल रूप ही उनकी उपासना का प्रमुख केन्द्र था। सूर के लीलागान की प्रेरणा पहले पहल इसी स्थल पर मूर्तिमती हो उठी थी।

आनन्द की पहली लहर यशोदा के हृदय में आती है जब जागने पर वह अचानक 'नवनिधि' को अपने अंक में पाती हैं। उस समय की उसकी दशा के वर्णन में सूर द्वारा अनुभावों की योजना दर्शनीय है—

जागी महरि पुत्र मुख देखत पुलक अंग उर में न समाई।
गद्गद कंठ बोल नहिं आवे हर्षवंत ह्वै नंद बुलाई।

—सू० सा०, पृ० १२७

उल्लास के अतिरेक में उसे किसी के सामने व्यक्त करके सह-अनुभव की भावना मानव मनोविज्ञान का सुपरिचित सत्य है। नंद से अधिक यशोदा का और कौन हो सकता था जिसे वह अपने हृदय से फूटते हुए आनन्द स्त्रोत को दिखाती। लज्जा हर्षातिरेक में बह जाती है और वह स्वयं नंद से दौड़ आने के लिए व्यग्रता से कह उठती है।

आनन्द की दूसरी लहर नंद के हृदय को सराबोर कर जाती है—

दौरि नंद गये सुतमुख देख्यो सो शोभा सुख वरनि न जाई।

—वही

नंद अपनी वृद्धावस्था और पद को भूल कर ग्वालों के साथ नाच उठते हैं—

नाचत महर मुदित मन कीनो ग्वाल बजावत तारी।

—वही

अक्षत, चंदन, दूब, वंदनवार, आदि से पर्व खिल उठता है। बधाई दही और हल्दी छिड़क कर दी जाती है।

आनन्द की तीसरी लहर ब्रजवासियों के हृदय में उमड़ती है। काव्य की दृष्टि से यह स्थल अत्यन्त मनोरम है। ब्रजवासी प्रसन्नता से एक दूसरे से पुकार पुकार कर कहने लगते हैं—

> आजु बन कोऊ जिनि जाइ।
> सबै गाइ और बछरा समेत सब आनहु चित्र बनाइ।
> ढोटा है रे भयो महरि के कहत सुनाइ सुनाइ।
> सबहि घोष में भयो कोलाहल आनन्द उर न समाइ।
> कत ही गहर करत रे भैया वेगी चलै उठि धाइ।
> अपने अपने मन को चीत्यौ नैनानि देखो आइ।
> एक फिरत दधि दूब बँधावत एक रहत गहि पाइ।
> एक परस्पर करत बधाई एक उठत हँसि गाइ।
> तरुण किशोर वृद्ध अरु बालक बैठ चौगुने चाइ।
> सूरदास सब प्रेम मगन भये गनत न राजाराइ।

—वही

व्यक्ति के मनोभावों के चित्रण में सूर की गहरी पैठ है ही साथ साथ समूह की भावनाओं को अंकित करने में भी उनकी क्षमता अपरिसीम है।

आनन्द की चौथी लहर का वर्णन सूर ने गोपियों के भावातिरेक को अंकित करके अपने प्रसिद्ध पद 'ब्रजभयो महरि के पूत जब यह बात सुनी' में किया है। जन्म के अवसर पर होने वाले लोकाचारों और उनके पीछे उमड़ने वाले भाव-समुद्र दोनों को सूर ने अत्यन्त सूक्ष्मता से अभिव्यक्ति प्रदान की है। इतना ही नहीं ढाढी के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करने का लोभ वे संवरण न कर सके और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व को वर्ण्यवस्तु के साथ उन्होंने घुला मिला दिया। इसे आनन्द की पाँचवीं लहर कह सकते हैं—

> नंद जू मेरे मन आनंद भयो हौं गोवर्धन ते आयो।
> तुमरे पुत्र भयो मैं सुनिकै अति आतुर उठि धायो।
> ....
> जब तुम मदन मोहन करि टेरो इहि सुनिकै घर,जाऊं।
> हों तो तेरो घरको ढाढी सूरदास मेरो नाऊं।

—सू० सा०, पृ० १३१

कृष्ण जन्म पर बधाई के पद परमानंददास, नंददास आदि अन्य अनेक ब्रजभाषा के कवियों ने रचे परन्तु सूर की अनुभूति तीव्रतम लगती है।

गुजराती में नरसी मेहता ने आनन्द की इन लहरों में से कुछ का उल्लेखनीय स्पर्श किया है। सूर द्वारा परिलक्षित यशोदा और नंद की हर्षाप्लावित मनोदशा की मनोवैज्ञानिक तह तक वे भी पहुँच गये —

> प्रथम नयणे निरखुं कुंवर ने, पछे जगाडुं नंदराय रे।
> जागो प्यारा सबल सारुं, जाग्युं भाग्य तमारुं वरणाय रे।
> जग्या नंद जी आनंद पाम्या, जोया जगदाधार रे।
> कोटि रवि शशी प्रगट्या, कोटी कोटी दीवडानी हार रे।
>
> —न० कृ० का०, पृ० ४३५

आपस में कृष्ण के दर्शन को उत्सुक गोपियों के मनोभाव को भी उन्होंने शब्द बद्ध कर लिया है—

> चालो सखी आपण जइअे, नंदकुंवर ने जोवा रे।
> कंचन थाल भरी मुकताफलनी, मंगल गान करेवा रे।
>
> —वही, पृ० ४३७

यशोदा और नंद के मनोभाव को प्रेमानंद ने भी परखा परन्तु इसके आगे वे सूर के से भावातिरेक में अपने को लीन नहीं कर सके।[१] उनका वर्णन कथा की वर्णन की सामान्य भावुकता भर पा सका है। कोई विशेष अनुभूति कवि को इस स्थल पर हुई हो ऐसा नहीं लगता। किसी भी गुजराती कवि ने सूर की तरह ढाढी बनकर अपने व्यक्तित्व को जन्म समय के हर्षोल्लास में तल्लीन नहीं किया।

बाल स्वाभाव—शिशु सुलभ चेष्टाओं एवं क्रीड़ाओं के स्वाभाविक अंकन की ओर अनेक कवि प्रवृत्त हुए। कुछ आधार भागवत ही में मिल गया किन्तु कवियों ने अपनी कल्पना और भावना से उसका कई गुना अधिक विस्तार कर लिया। शिशु स्वभाव की सरलता , भोलापन, चंचलता, हठ तथा सहज प्रसन्नता सभी कुछ इतनी कुशलता से अंकित किया गया है कि उसे देख कर आश्चर्य होता है। कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण यही है कि कवियों ने लोक सामान्य मानव स्वभाव के विविध रूपों को अत्यन्त सूक्ष्मता से आत्मसात् और मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है। सूर इस क्षेत्र के सरताज हैं किन्तु ब्रजभाषा में परमानन्ददास और गुजराती में भालण ने पर्याप्त भावमयता से कृष्ण के बाल स्वभाव का अंकन किया है। प्रेमानन्द और केशवदास ने भी प्रबन्धात्मकता के बीच किंचित् अवकाश निकाल कर बालभाव के प्रति अपना आकर्षण व्यक्त किया है।

सूर के कृष्ण इतने भोले हैं कि मणिखचित आंगन में अपने प्रतिबिम्ब को दूसरा बालक समझ कर पकड़ने दौड़ते हैं और उसे 'लवनी' लेकर खिलाते हैं ।[४]

यशोदा यह कह कर कि दूध पीने से चोटी बढ़ेगी, कृष्ण को दूध पिलाती हैं। कृष्ण एक ओर दूध पीते जाते हैं दूसरी ओर बालों को टटोलते जाते हैं कि चोटी बढ़ी या नहीं—

> कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बढ़ै ।
>
> ....
>
> पुनि पीवत ही कच टकटोवै झूठै जननि रढ़ै ।

—वही, पृ० १५३

और कुछ समय बीत जाने पर भी जब चोटी बढ़ती नहीं दिखायी देती तो खीझ कर पूछ उठते हैं—

> यशोदा कबहिं बढ़ैगी चोटी ।
> किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी ।
> तू जु कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ।

—वही

सोचने पर उनकी समझ में यह आता है कि चोटी इसलिए नहीं बढ़ रही क्योंकि यशोदा 'काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी। भालण, नरसी और प्रेमानंद ने इस प्रसंग को उठाया तो है परन्तु सूर की तरह उन्होंने कृष्ण के भावों को सूक्ष्म रूप से प्रस्फुटित नहीं किया—

> भालण— क्षणु अेक बैसो मोहन जी ओलु तारी चोटी रे।
> केवडेल घाली गुंथु ज्यम त्यम थाये मोटी रे।
>
> ....
>
> मारा सम छे हो मन मोहन माखण रोटी खाओ रे।
> ऊपर दूध कूर शीरावो ज्यम त्यम मोटा थाओ रे।

—दशम स्कंध, पृ० ५०

> नरसी— कढ्या दूध साकर संगाथे अेक अेक घूंटडे पीजे रे।
> वेण वाधे वहाला जी तमारी, बलभद्र पे मोटी थाय रे।

—न० कृ० का०, पृ० ४६२

> प्रेमानंद— जो कृष्ण गुंथावे चोटली, घणु माखण आपुं रोटली ।

—श्रीम० भा०, पृ० १६०

छाया देख कर कृष्ण के मुग्ध होने का वर्णन भालण ने भी किया है परन्तु उसमें उतनी पूर्णता एवं सजीवता नहीं है जितनी सूर के वर्णन में मिलती है ।[१]

प्रेमानंद ने कृष्ण के भोलेपन का जो चित्रण किया है वह भालण से अधिक सजीव है परन्तु सूर के समकक्ष फिर भी नहीं पहुँचता । प्रेमानंद के कृष्ण यह भी नहीं जानते कि दूध में शकर पड़ती है या नमक (मीठुं)—

अवलुं चाले अविनाश, नथी सांभल्युं दीठुं रे ।
छासमां मागे खांड, दूधमां मीठुं रे ॥१४॥

—श्रीम० भा०, पृ० २५२

उन्होंने कृष्ण की चंचलता, हठ और शरारत का वर्णन भोलेपन की अपेक्षा अधिक सजीव किया है । नहलाने धुलाने का काम पूरा भी नहीं हो पाया कि कृष्ण भाग जाते हैं, एक आँख में काजल लग पाया एक वैसी ही छूट गयी । वे यशोदा के पेट में लात मारते हैं और नंद की दाढ़ी मूँछ नोच डालते हैं । नंद के मुँह का चबाया पान निकलवा कर छोड़ते हैं । अन्न पकने में देर होते देख कर कच्चा ही परसवाने पर अड़ जाते हैं । बछड़ों की पूँछ मरोड़ कर उन्हें पुदका देते हैं और अपने हाथ कीचड़ में सान लेते हैं । बंदरों को बुलाकर खिला देते हैं और कहीं लघुशंका कर जाते हैं कहीं किसी बालक को ठोकर मार कर गिरा देते हैं । माखन चुराने में तो और भी उद्दंडता दिखाते हैं ।[२]

सूर के कृष्ण में चंचलता और बाल सुलभ हठ का पूर्ण समावेश हुआ है । जहाँ यशोदा कृष्ण को नहलाने के लिए कहती है वे लोट जाते हैं । बहुत मनाने पर भी नहीं मानते —

यशुमति जबहि कह्यो अन्हवावन रोइ गये हरि लोटत री ।
लेत उबटनो लै आगे दधि कहि लालहि चोटत पोटत री ।

—सू० सा०, पृ० १५५

चंद खिलौने का वर्णन दोनों भाषाओं के कई कवियों ने किया है पर सूर ने कृष्ण की जिस भोली चतुरता का परिचय दिया है वह अन्यत्र नहीं मिलता । वस्तुतः सूर के बाल कृष्ण का व्यक्तित्व अनूठा है । वे इतने भोले हैं कि चन्द्रमा को पास ही समझते हैं और इतने चतुर भी कि जलपात्र के चन्द्रमा से बहलते नहीं ।[३]

सूर ने कृष्ण के बाल सुलभ सारल्य को अन्य समवयस्क बालकों के बीच रखकर उनके खीझने खिझाने, हारने जीतने और चिढ़ाने के स्वभाव के साथ जिस मनोवैज्ञानिक एवं कलात्मक रूप से चित्रित किया है वह अद्वितीय है ।

खेलते खेलते बलराम और ग्वाल बाल मिलकर कृष्ण को खिझाते हैं। कृष्ण रोते हुए माता के पास जाकर बलदाऊ की शिकायत कर देते हैं। सूरदास ने इस स्थल को भाव की दृष्टि से अत्यन्त मार्मिक बनाकर पूर्ण सफलता से अंकित किया है।[११]

सखाओं की बातें तो कृष्ण को याद नहीं रहतीं पर सबसे अधिक चोट उनके हृदय पर बलराम की बात से लगती है इसीलिए वे उन्हीं की शिकायत करते हैं और सारे सखाओं को बिगाड़ने का आरोप भी उन्हीं पर लगाते हैं। यही नहीं उस खीझ को माता पर उतारते हुए उसे ही पक्षपाती कह डालते हैं। उनके हृदय को वास्तविक शान्ति तब मिलती है जब माता उन्हें अपना पुत्र मान लेती हैं और बलराम को धूर्त कह देती हैं—

मैया मोंहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हो तोहि जसुमति कब जायो।
कहा कहौं यहि रिसि के मारे हौं खेलन नहि जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुमरो तातु।
गोरे नंद यशोदा गोरी तुम कत श्याम शरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर।
तू मोही को मारन सीखी दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिसि समेत लखि यशुमति सुनि सुनि रीझै।
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत।
सूर श्याम मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत।

—सू० सा०, पृ० १५९

कुछ ही पंक्तियों में कृष्ण, बलराम, सखा और यशोदा, सबके हृदयों के भावों को अकृत्रिम संश्लिष्टता और सजीवता के साथ मूर्तिमान कर दिया गया है। बालस्वभाव का ऐसा मनोग्राही वर्णन समस्त कृष्ण-काव्य में अलभ्य है।

बालस्वभाव में सूर की ही नहीं परमानंददास की भी काफी गहरी पैठ है। एक बेर बेचने वाली की आवाज़ सुनते ही कृष्ण अपनी नन्हीं सी अंजलि में आँगन में सूखते हुए धान भर कर उतावली से उसे बेरों के बदले देने ठुमक ठुमक चल पड़ते हैं। एक ही चित्र बाल स्वभाव की सूक्ष्म अनुभूति का प्रमाण है। एक बालक में अनुकरण की प्रवृत्ति तीव्रतम होती है। वह बड़ों के व्यवहार की नकल करता है जो उसके शिशु रूप के साथ और भी मनोरम लगने लगता है—

कोउ मैया बेर बेचन आई।
सुनत ही टेर नंद रावरि में लई भीतर बुलाई।

सूकत धान परे आँगन में कर अंजुलि बनाई ।
ठुमुक ही ठुमुक चलत अपने रँग गोपी जन बलि जाई ।
लीए उठाय रिझाय करि मुख चुम्बत न अघाई ।
परमानंद स्वामी आनन्दे बहुत बेरि जब पाई ।

—डॉ. दी. गुप्त के निजी पद संग्रह से, पद सं० २७

बालक की अनुकरण-वृत्ति का इससे भी अधिक मनोरम चित्र सूर ने अंकित किया है । नंद और कृष्ण एक साथ भोजन करने बैठे । जो कुछ नंद खाते हैं वही कृष्ण भी खाना चाहते हैं पर खाना आता नहीं । नंद की देखा देखी मिर्च खा लेने पर कृष्ण के आँसू भर आते हैं और वे रोते हुए बाहर उठ भागते हैं । तब रोहिणी माता मीठा कौर देकर चुपा लेती हैं ।[१२]

यही नहीं बड़े ग्वालों की देखादेखी कृष्ण अपने नन्हें हाथों से काली सफेद गायों को नाम ले ले कर बुलाने की चेष्टा भी करते हैं—

बाँह उँचाइ काजरी धौरी,
गैयन टेरि बुलावत ।

—सू० सा०, पृ० १५४

इस प्रकार के वर्णन नितान्त मौलिक हैं । कवि की अनुभूति लोक जीवन में डूब कर प्रतिदिन घटित होने वाली सामान्य से सामान्य वस्तु को चुन लाती है और कृष्ण से उसे सम्बद्ध करके एक ओर तो कृष्ण के प्रति अपने घनीभूत आकर्षण को व्यक्त करती है दूसरी ओर काव्य में लोक हृदय को रसमग्न करने की अद्भुत क्षमता उत्पन्न कर देती है । यह विशेषता न्यूनाधिक गुजराती और ब्रजभाषा दोनों के कृष्ण-काव्य में उपलब्ध होती है । एक अन्य उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी ।

बालक को 'हौआ' या 'हाऊ' कहने से डर लगता है । माताएँ इस प्रकार बालकों को डरा कर उनको अनुचित काम करने से वर्जित करती हैं । यह लोक जीवन में प्राप्त होने वाला सामान्य सत्य है । अनेक कवियों ने कृष्ण के साथ इसे सम्बद्ध करके बाल-स्वभाव के चित्रण में स्वाभाविकता एवं सजीवता उत्पन्न की है ।

केशवदास ने लिखा है कि जब कोई एक बालक 'हाऊ आ रहा है' कह कर कृष्ण को डरा देता है तो वे माता की गोद में मारे भय के छिप जाना चाहते हैं ।

अेक कहे: 'हरि ! हाऊ आवे' धूजतो माता तणां स्तन धावे ।

—श्रीकृष्ण लीला काव्य, पृ० ३९

प्रेमानंद के, हाथ से दीपक छू लेने वाले, भोले कृष्ण 'हाऊ' का नाम सुन कर रोते से चुप हो जाते हैं—

प्रगट करे अज्ञान हाथ दीप ग्रहे रे।
ओर करडवा आव्यो हाउ, रोतो टप रहे रे।

—श्रीम० भा०, पृ० २५२

सूर ने दोनों प्रकार की मनस्थितियों का वर्णन किया है। एक ओर यशोदा 'हाऊ' का नाम लेकर कृष्ण को बन में दूर जाने से वर्जित करती हैं दूसरी ओर बलराम कृष्ण को तमाशा दिखाने का बहाना करके बन में ले जाते हैं और वहाँ 'हाऊ काट खायगा' कह कर उन्हें डरा देते हैं—

१. दूरि खेलन जनि जाहु लला बन मेरे हाऊ आयो है।

—सू० सा०, पृ० १६०

२. मैया बहुत बुरो बलदाऊ।
कहन लगे बन बड़ो तमासो सब मौड़ा मिलि आऊ।
मोहू को चुचुकारि गये लै जहाँ सघन बन झाऊ।
भागि चले कहि गयो वहाँ ते काटि खाइ है हाऊ।

—वही, पृ०, २०१

दोनों भाषाओं में बाल कृष्ण के स्वभाव एवं मनोभावों को काव्य में कितनी कुशलता और भावमयता के साथ चित्रित किया गया है यह उपर्युक्त थोड़े से उदाहरणों से ही स्पष्ट हो जाता है।

वय-विकास—नंद यशोदा आदि की पूर्ण आसक्ति के केन्द्र-बिन्दु होने के कारण कृष्ण की लीलाओं की तरह उनके वय-विकास को व्यक्त करने वाली प्रत्येक स्थिति भाव कीदृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना के रूप में चित्रित मिलती है। हर चेष्टा हृदय को हिलोर देती है, हर संस्कार एक उत्सव, एवं पर्व समझ कर आमोद-प्रमोद से आपूरित कर दिया जाता है। ज़रा सी प्रतिकूल परिस्थिति महान चिन्ता का कारण बन जाती है और निवारित हो जाने पर तत्काल द्विगुणित आनन्दोल्लास के रूप में परिणत हो उठती है। इसतरह की भावाभिव्यक्ति कवियों की अनुभूति की गंभीरता और अभिव्यक्ति की कुशलता दोनों को व्यक्त करती है। वस्तु विश्लेषण से विदित हो जाता है कि भालण आदि गुजराती कवियों ने भी कृष्ण के बाल जीवन तथा वय-विकास को अपने काव्य में व्यक्त किया है। अष्टछाप के कवियों विशेषतः सूर में इस सम्बन्ध में विशेष सूक्ष्म दृष्टि परिलक्षित होती है जिसका बहुत कुछ श्रेय

पुष्टिमार्गीय उपासना के स्वरूप को दिया जा सकता है क्योंकि उसकी सारी रूपरेखा कृष्ण की दिनचर्या और वय-विकास पर आधारित है।

कृष्ण का उलट जाना, घुटनो चलना, देहली पार कर जाना, यशोदा द्वारा चलना सीखना, डगमगाकर चलना फिर दौड़ने लगना, दूध के दाँत निकलना, तुतला कर बोलना, गायों को बुलाना, 'बाबा' 'भैया' कहने लगना, आदि उनके वय-विकास के साथ घटित होने वाली अनेकानेक बातों को कवियों ने अत्यन्त स्वाभाविक एवं भावपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है और इस प्रकार कृष्ण के बाल-जीवन के चित्रण को सर्वांगीणता एवं सम्पूर्णता प्रदान करने की प्रवृत्ति प्रकट की है।

कृष्ण अभी बहुत छोटे हैं। यशोदा बहुत दुलार प्यार से यत्न पूर्वक जब लोरी गाकर सुलाती है तो सोते हैं। जब शिशु कुछ महीनों का हो जाता है तो सोते-सोते उसके होंठ फड़फकने लगते हैं या उसे हँसी आने लगती है। सूर और भालण दोनों की दृष्टि वय-विकास के इस प्रथम सोपान के सौन्दर्य पर टिक जाती है—

सूर—यशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलाराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल की आउ निदरिया काहे न आन सुवावै।
तू काहे न बेगि सी आवै तोको कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवति जानि मौन ह्वै रहि रहि करि करि सैन बतावै।
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि यशुमति मधुरे गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नंदभामिनि पावै।

—सू० सा०, पृ० १३३

भालण—सूतो सूतो अति हसे, हुं हरखे हालरुं गाऊं रे।
निद्रा करो मारा नानडिया, हुं बलिहारी जाऊं रे।

—दशमस्कंध, पृ० ३४

'मेरे लाल की आउ निदरिया' और 'मारा नानडिया' कहने में मातृहृदय की जो कोमल स्निग्धता व्यक्त होती है वह लक्षित करने योग्य है। सूर के उक्त पद में शिशु को सुलाती हुई माता की मनस्थिति, भावों एवं अनुभावों का जो शृंखलाबद्ध चित्रण है वह उनकी काव्य-शक्ति की प्रौढ़ता को व्यक्त करता है। शिशु के हँसने से उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता कितनी व्यापक भावभूमि के साथ व्यक्त की गयी है। भालण ने भी उस प्रसन्नता को भली भाँति पहचाना है।

विकास की अगली स्थिति का प्रत्यक्षीकरण सूर की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि ही कर सकी। शिशु कुछ विकसित होने पर अपनी चेष्टा से उलट जाने में सक्षम होने लगता है। पहली बार जब उसकी यह क्षमता व्यक्त होती है तो माता पिता का हर्षमग्न होना स्वाभाविक है। एक तो सूर का यह चित्रण पूर्णतया मौलिक है दूसरे वे उसके साथ उत्पन्न होने वाले भावों को चित्रित करने में भी पूर्ण सफल हुए हैं।

यशोदा कृष्ण को पालने में 'पौढ़ा' कर दही मथने चली गयी। नंद आये और उन्होंने ज्योंही कृष्ण को उलटा देखा, हर्षित हो उठे। लगे यशोदा को बुलाने। यशोदा ने कृष्ण को उलटे देखा तो वह भी झूम उठी। चूम चाट कर बलायें लेने लगी। सारे व्रज में यह समाचार फैल गया और घर-घर से व्रजनारियाँ कृष्ण को देखने आने लगीं। घर-घर आनंद बधाई होने लगी। कृष्ण साढ़े तीन महीने के हो गये—

हरखे नंद टेरत महरि।
आइ सुत मुख देखि आतुर डारिदै दधि टहरि।
मथति दधि यशुमति मथानी ध्वनि रही घर गहरि।
श्रवण सुनति न महरि बातैं जहाँ तहाँ गयीं चहरि।
यह सुनति तब मातु धाई गिरे जाने झहरि।
हँसत नंद मुख देखि धीरज तब कह्यो ज्यों ठहरि।
श्याम उलटे परे देखे बढ़ी शोभा लहरि।
सूर प्रभु कर सेज टेकत कबहुँ टेकत ढहरि।

—सू० सा०, पृ० १३७

दूध के दाँत निकलने, देहरी में देह अटकाने आदि का वर्णन भी सूर ने इसी प्रकार अद्वितीय रूप में किया है। बालचरित वर्णन में सूर की भावाभिव्यक्ति की संश्लिष्ट सरलता को गुजराती कवियों में एकमात्र भालण ने ही स्पर्श कर पाया है। उदाहरण रूप में कृष्ण को यशोदा द्वारा चलना सिखाने का वर्णन लिया जा सकता है। भालण ने इसके वर्णन में सूर की तरह ही यशोदा के मुग्ध हृदय की भी अभिव्यक्ति की है और उससे उत्पन्न होने वाले गोपीमात्र के सुख को भी व्यक्त कर दिया है—

पावलो पारे हरि गोपाल, जशोमती हूलरावे बाल।
पग ऊपर पग धरती सही, डगमग त्यां पग मांडे श्रीपति।
साहडुं दइ हरिने दृढपणे, क्षण क्षण प्रत्ये जाये भामणे।
मुख चुंबे अति स्नेह करी, अेम रमाडे जननी हरि।

—दशमस्कंध, पृ० २९-३०

बली बली पग ऊपर हरि चढ़े गोपी सहु जाये दुखडे ।
भालण प्रभुनी क्रीडा घरनी, बालक रूपे विश्वनो धणी ।

—दशमस्कंध, पृ० २९-३०

सूरदास ने जो वर्णन किया है उसका भालण के उपर्युक्त वर्णन से अद्‌भुत सादृश्य है—

सिखवत चलन जसोदा मैया । '
अरबराइ कर पाणि गहावत डगमगाइ धरणी धरै पैया ।
कबहुँक सुन्दर बदन विलोकति उर आनँदभरि लेत बलैया ।
कबहुँक बल कौ टेरि बुलावति इहि आँगन खेलो दुहु भैया ।
कबहुँक कुल देवता मनावति चिरजीवै मेरो बाल कन्हैया ।
सूरदास प्रभु सब सुखदायक अति प्रताप बालक नँदरैया ।

—सू० सा०, पृ० १४५

सूर की सूक्ष्म दृष्टि से वर्णन को स्वाभाविकता देने वाले अन्य अंश भी नहीं छूटे। नंद भी कृष्ण को चलना सिखाते हैं। कृष्ण पहले दो दो पग चलते हैं फिर डगमगाकर रह जाते हैं, फिर चलने लगते हैं। इन बातों के चित्रण से उनका वर्णन भालण की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं सूक्ष्म हो गया है जो उनकी अनुभूति की गंभीरता का परिचायक है।

जिस प्रकार यशोदा कृष्ण को चलना सिखाती हैं उसी प्रकार भालण ने बोलना सिखाने का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है—

तोतलुं बोलवुं शिखवे मात । वारणे जांउ मारा जात ।
अटपटी बोली ते बोले अधूरी । यत्न करी करे यशोदा पूरी ।

—द० स्कं०, पृ० ३०

सूर ने भी कृष्ण की तोतली बोली पर यशोदा की मुग्धता चित्रित की है, ऐसी मुग्धता जिसमें अधूरी बोली को पूरा करने का प्रश्न ही नहीं उठता—

अल्प दशन तोतरावत बोलत छवि चित हू न जात बिचारी ।

—सू० सा०, पृ० १४१

बालछवि—कवियों ने बाल कृष्ण में अलौकिक शक्ति के साथ अलौकिक एवं अपरिसीम सौन्दर्य की भी भावना की है अतएव कृष्ण की बालक्रीड़ाओं के साथ ही साथ उनकी मनोहारिणी और प्रतिक्षण नवीन आकर्षण उत्पन्न करने वाली छवि का

भी पग पग पर अंकन किया है । कृष्ण के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होने की वृत्ति प्रायः समस्त कृष्ण कवियों में पायी जाती है । कुछ में तो वह इतनी आवेगमयी एवं प्रगाढ़ है कि कृष्ण के किसी भी चरित, किसी भी लीला का वर्णन बिना उनकी अनिन्द्य छवि के वर्णन के संभव ही नहीं हो सका है । कवि की दृष्टि रह रह कर बाह्य व्यापारों से हट कर कृष्ण के मुख और शरीर-श्रृंगार पर जा टिकती है । कथावस्तु की गति रूपाकर्षण के आगे शिथिल पड़ जाती है । कवि रूप-वर्णन करके कभी तो स्वयं ही मुग्ध हो लेता है, कभी वह गोपियों के माध्यम से उन्हें रूपासक्त चित्रित करके सुखानुभूति प्राप्त करता है । कवियों द्वारा रचे गये कृष्ण के ये रूप-चित्र दो प्रकार के होते हैं, स्थिर और गतिशील । स्थिर रूप-चित्रों में शरीर के किसी अंग अथवा किसी मुद्रा का, जीवन की गतिशीलता से, एक प्रकार से पृथक् करके वर्णन किया जाता है और गतिशील रूप चित्रों में जीवन की गतिशीलता के साथ । फलतः पहले प्रकार के रूप-चित्रों में उपमा, उत्प्रेक्षादि के द्वारा सीधे ढंग से रूपालेखन और उसके प्रभाव को व्यक्त कर दिया जाता है । दूसरे प्रकार के चित्रों में गतिशीलता के साथ विविधता और अनेकरूपता भी आ जाती है जिसके कारण उनका आलेखन संश्लिष्ट एवं संगुफित रूप से ही हो पाता है । सूरसागर बाल-छवि के विविध प्रकार के वर्णनों से आपूरित है । ब्रज तथा गुजराती के अन्य अनेक काव्यों में कृष्ण की बाल-छवि का सुन्दर वर्णन मिलता है ।

हाथ में मक्खन लिये आंगन में घुटनों चलते कृष्ण की रूप-माधुरी का पान करके भालण और सूर ने प्रायः समान रूप चित्रों की सृष्टि की है । वही लट की लटकन, वही वेश ।[१३]

रूप-चित्रण में भी दोनों कवियों ने समान शैली का अनुसरण किया है । सादृश्य-मूलक अलंकारों के आश्रय से वस्तुगत सौन्दर्य को व्यक्त किया गया है । साथ ही उसके दर्शन से दर्शक में होने वाली विस्मृति, आह्लाद एवं आत्मतल्लीनता की ओर भी इंगित कर दिया गया है । जिन वस्तुओं में रूपात्मकता भी है जैसे मुख, दाँत आदि उनके सौन्दर्य के साथ अरूपात्मक वस्तुओं—जैसे तोतली वाणी और किलकन आदि—का भी सौन्दर्यांकन मिलता है । यह रूप-चित्र स्थिर हैं और अभिव्यक्ति ऋजु ।

गतिशील रूप-चित्रण उस स्थल पर मिलता है जहाँ कवियों ने बाल-कृष्ण के नृत्य आदि का वर्णन किया है । भालण, नरसी और सूर की तरह अनेक कवियों ने इस प्रकार के रूप-चित्र प्रस्तुत किये हैं । नर्तित कृष्ण के रूपांकन में उक्त कवियों की कुशलता दर्शनीय है ।[१४]

इन रूप-चित्रों में भालण और केशवदास का ध्यान नर्तित कृष्ण की आंगिक चेष्टाओं पर विशेषतया केन्द्रित हुआ है और नरसी का वेणु-वाद्य आदि की सम्मिलित ध्वनि तथा अलंकरण पर। सूर ने इन विशेषताओं के साथ बालक की अनुकरण वृत्ति तथा यशोदा की मुग्ध, शिक्षण में लीन मनोदशा का समावेश करके चित्र को और भी सजीवता एवं गतिशीलता प्रदान कर दी है। रूप-वर्णन में उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत सूक्ष्मतर है अतएव वे कृष्ण की नन्हीं नन्हीं एड़ियों में नाचने के कारण आई हुई अत्यधिक अरुणता को स्पष्ट देख लेते हैं। भालण और नरसी का ध्यान इस ओर नहीं गया।

माखनचोरी—भाव की दृष्टि से देखा जाय तो माखनचोरी शैशव से लेकर किशोरावस्था तक की समस्त कृष्णलीलाओं में प्रमुख रही है। कवियों को कृष्ण के इस रूप ने विशेष आकर्षित किया है और परिणामस्वरूप उनकी उर्वर कल्पना ने अनेकानेक नवीन परिस्थितियों एवं भावस्थितियों की उद्भावना कर डाली। मूलत: भागवत पर आधारित होकर भी यह प्रसंग बहुत सी मौलिक एवं नवीन अनुभूतियों से समृद्ध हो गया। माखनचोर कृष्ण के चोरी करने के बहाने, चतुरता, भोली मुखमुद्रा, यशोदा के प्रति गोपियों के उपालंभ, उत्तर-प्रत्युत्तर, चोरी के निमित्त दंडित किये जाने पर गोपियों में सहानुभूति का उद्रेक और दंडित करने वाली माता की खीझ एवं पश्चात्ताप इत्यादि के आलेखन और तत्सम्बन्धी भावों के सूक्ष्म एवं स्वाभाविक चित्रण के द्वारा गुजराती तथा ब्रज दोनों के कवियों ने अपनी काव्य-कुशलता का परिचय दिया है।

माखनचोरी की इतनी सरसता का कारण यह है कि कवियों द्वारा वह सामान्य चोरी से नितान्त भिन्न प्रेम और आकर्षण के भावों से संयुक्त कर दी गयी है। साधारण चोरी में चोर के प्रति न तो आकर्षण होता है, न स्वयं अपनी वस्तु के चुरा लिये जाने की लालसा होती है और न चोर को दंडित होते देख कर दया और प्रेम ही उमड़ता है। पर माखनचोर कृष्ण के प्रति गोपियों के हृदय में यह सभी भावनाएं उत्पन्न होती हैं। सूर ने तारुण्यावस्था की चेष्टाओं का भी समावेश इस किशोरलीला में ही करके सरसता को और भी परिवर्धित कर दिया है। उपालंभों में भी उन्होंने अनेकानेक मनस्थितियों का आलेखन किया है। एक ही बात के भाव-भेद से अनेक रूप प्रदर्शित किये हैं।

कृष्ण की चोरी करने की वृत्ति से खीझने वाली गोपियों के हृदय में उनके प्रति गहरी रीझ भी छिपी हुई है, इसको सूर और प्रेमानंद दोनों ने परिलक्षित किया है—

सूर—ग्वालिनि उरहन के मिस आइ।
नंदनंदन तनु मनु हरि लीनो बिनु देखे क्षण रह्यो न जाइ।
—सू० सा०, पृ० १७२

प्रेमानंद—गोपी आवी यशोदा पासे, करवा हरिनी राव जी।
वचन बोले बढवा सरखां हरि साथे हृदे भाव जी।
—श्रीम० भा०, पृ० २५३

उपालंभों में गोपियों द्वारा जिन भावनाओं की अभिव्यक्ति की गयी है वह भी बहुत समानान्तर है। जो कुछ कहती हैं और जैसे कहती हैं, दोनों में ही पर्याप्त समानता है यद्यपि ब्रजभाषा के कवियों ने उपालंभ के अन्तर्गत आने वाली भावनाओं में अधिक तीव्रता ही नहीं प्रदर्शित की है वरन् भावभूमि को भी और अधिक विस्तृत कर दिया है। वस्तुतः उपालंभ की कई स्थितियाँ हैं। पहले तो गोपियाँ कृष्ण के विविध प्रकार से माखन चुराने की शिकायत करती हैं और उनकी आदत को बिगाड़ने का दोष यशोदा पर आरोपित करती हैं। इस स्थल पर गोपियों की भावना इस सीमा तक पहुँच जाती है कि वे ब्रज ग्राम को छोड़ देने की बात भी कह डालती हैं। सूर और प्रेमानंद दोनों,के उपालंभ भाव की इस सीमा को स्पर्श कर लेते हैं—

सूर—अपनो गाँउ लेहु नँदरानी।
बड़े बाप की बेटी ताते पूतहिं भले पढ़ावति बानी।
सखा भीर लै पैठत घर में आपु खाइ तौ सहिए।
मैं जब चली सामुहे पकरन तबके गुण कह कहिए।
—सू० सा,० पृ० १७४

प्रेमानंद—गोकुल केम रहीओ, मांगो गोरस नो वेपार कहोजी क्यां जइओ।
....
अकलो होय तो आदर दीजे अमने हरि व्हालो छे हाडजी।
सह परिवारे आवे सामलियो लावे गोप मर्कटनी धाड।
—श्रीम, भा०, पृ० २५३

भालण और नरसी के उपालंभ, भाव की दृष्टि से, इस सीमा तक नहीं पहुँचते।

उपालंभ की दूसरी स्थिति वह है जहाँ गोपियों की शिकायत सुनकर यशोदा कृष्ण को दंड देती हैं। कृष्ण को रस्सी में बँधा, और यशोदा को हाथ में छड़ी लिये देखकर गोपियाँ दूसरे प्रकार से उलाहने देने लगती हैं। वे यशोदा को क्रूर और निर्दय तक कह डालती हैं क्योंकि एकलौते बेटे को वृद्धावस्था में पाने वाली कौन ऐसी

माँ होगी जो उसे खाने-पीने की बात पर मारे-डाँटे। यह भी तब जब कि घर में दूध, दही और मक्खन की खान हो। इस प्रकार की उपालंभ-भावना भालण और सूर में तीव्रतम रूप में मिलती है। यशोदा द्वारा जो उत्तर दिलाये गये हैं उनमें भी पर्याप्त भाव-साम्य है।"

इसके बाद जब एक गोपी कृष्ण के खाये हुए मक्खन को अपने घर से लाकर पूरा कर देने को कहती है तो यशोदा की सहनशक्ति अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाती है। उक्त दोनों कवियों ने इस भावस्थिति का भी चित्रण किया है। यशोदा के हृदय की मार्मिक दशा को दोनों कवियों ने अपने अपने ढंग से परखा और व्यक्त किया है —

भालण—(क) जशोदा छोडो कहान ने, हुं आपुं गोरस गोळी रे।
अेवडी रीसे घटे नहि तमने, हुं जाणुं छुं भोली रे।
—दशमस्कंध, पृ० ४०

(ख) मारो कुंवर बणसेरे तमारुं आवे ने जाये।
ढोल्यानुं दुख नथी लागतुं अे ओलंभा नव खमाय।
—वही

सूर—(क) कहौ तौ माखन ल्याऊँ घर ते।
जा कारण तू छोरति नाहीं लकुट न डारति करते।
—सू० सा०, पृ० १७९

(ख) कहन लगी अब बढ़ि बढ़ि बात।
ढोटा मेरो तुमहिं बँधायो तनकहिं माखन खात।
अब मोहिं माखन देत मँगाये मेरे घर कछु नाहीं।
—वही

विषयगत भावनाओं के पूर्ण विस्तार को देखते हुए सूर का भाव-चित्रण अद्वितीय लगता है। कृष्ण का जो रूप उन्होंने माखनचोरी के प्रसंग में व्यक्त किया है वह एक ओर तो नितान्त भोला है और उसमें शिशुता की झलक मिलती है, दूसरी ओर उसमें तारुण्य की चतुरता और रसग्राहिता भी प्रदर्शित की गयी है। किशोरावस्था के दोनों छोर सूर ने छूने की चेष्टा की है यद्यपि कहीं-कहीं असंगति भी आ गयी है उसके परिहार के लिए उन्हें अलौकिकता का आश्रय लेना पड़ा है। कृष्ण सहसा आयु में बढ़कर गोपियों के प्रेमभाव को तृप्त करते हैं और फिर चमत्कार से पाँच वर्ष के बन जाते हैं। कृष्ण के दोनों रूप सूर ने अत्यन्त आकर्षक ढंग से व्यक्त किये हैं—

मैया मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिली मेरे मुख लपटायो।
देखि तुही सीके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो।
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो।
मुख दधि पोंछि कहत नँदनंदन दोना पीठि दुरायो।

—सू० सा०, पृ० १७६

इस पद में भोले कृष्ण चतुर बनने के प्रयास में और भी भोले लगते हैं। परन्तु एक ग्वालिनी को आलिंगनादि के द्वारा तृप्त करने के बाद चतुर कृष्ण जब भोले बनने का प्रयास करते हैं तो और भी चतुर ज्ञात होते हैं—

झूंठहि मोहि लगावति ग्वारि।
खेलत मैं मोहि बोलि लियो है दोउ भुज भरि दीनी अँकवारि।
मेरे कर अपने कुच धारति आपुहिं चोली फारि।
माखन आपुहि मोहि खवायो मैं कब दीन्हों ढारि।
कहा जानै मेरो वारो भोरो झुकी महरि दै दै मुख गारि।
सूर श्याम ग्वालिनि मन मोह्यो चितै रही इकटकहिं निहारि।

—सू० सा०, पृ० १७२

यशोदा द्वारा कृष्ण को माखनचोरी न करने की सीख देने में माता की जिन भावनाओं का अंकन ब्रजभाषा में सूर और तुलसी ने किया है, वह गुजराती के काव्य में प्राप्त नहीं होता—

सूर—कन्हैया तू नहिं मोहि डेरात।
षटरस धरे छाँड़ि कत पर घर, चोरी करि करि खात।
बकति बकति तोसों पचि हारी नेकहुँ लाज न आई।
ब्रज परगन सरदार महर तू ताकी करत नन्हाई।
पूत सपूत भयो कुल मेरो अब मैं जानी बात।
सूरश्याम अबलौं तोहि बकस्यो तेरी जानी घात।

—सू० सा०, पृ० १७५

तुलसी ने इस स्थिति में सूर से अधिक सूक्ष्म भावग्रहणशीलता का परिचय दिया है जो निम्नोद्धृत पंक्तियों से स्पष्ट है—

छांडो मेरे ललित ललन लरिकाई।
ऐहैं सुत देखु बार कालि तेरे, बबै व्याह की बात चलाई।
डरिहैं सासु ससुर चोरी सुनि, हँसिहैं नई दुलहिया सुहाई।
उबटौं, न्हाहु, गुहौं चोटिया, बलि, देखि भलो बर करहिं बड़ाई।

—कृष्णगीतावली, पद १३

यशोदा के इन शब्दों के पीछे कवि के मानव मनोविज्ञान की सूक्ष्म परख व्यक्त होती है।

गोचारण—कृष्ण के गोचारी रूप के प्रति भी कवियों ने अत्यधिक आसक्ति का परिचय दिया है। वास्तव में राजसी वेश की अपेक्षा कृष्ण का सरल वन्य वेश ही कवियों को अधिक आकर्षक लगा। भागवत के 'बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारम्' के अनुरूप कृष्ण को मोर के पंखों का मुकुट धारण किये हुए नटवर वेश में निरूपित करके सूर, मीरां, भालण और नरसी आदि अनेक कवियों ने उनके इस रूप के प्रति अपनी विशेष आसक्ति व्यक्त की है।[१६]

गोचारण के प्रसंग में ग्वालवालों के बीच, छाक जीमते हुए, गायों को बुलाते, खेलते और सायंकाल धूल भरे ब्रज को लौटते कृष्ण के विविध मनोभावों एवं रूप-चित्रणों का सरस आलेखन ब्रजभाषा काव्य में उपलब्ध होता है। गुजराती में प्रेमानंद ने पहले पहल गोचारण के लिए वन जाते हुए कृष्ण के प्रति नंद-यशोदा की ममतामयी चिंता और उसी से मिलीजुली प्रसन्नता का अत्यन्त मोहक अंकन किया है। नंद उन्हें पगड़ी पहनाते हैं और यशोदा काजल लगाती हैं। सज जाने पर कृष्ण दर्पण में अपनी शोभा देखना नहीं भूलते। एक सिरे पर सीके में भोजन बांधकर, लाल लाठी कंधे पर रखकर जब वे वन को चलने लगते हैं तो यशोदा बिना चुम्बन लिये जाने नहीं देती, नंद की आँखों में आँसू आ जाते हैं।[१७]

भालण ने कृष्ण के वनचारी रूप के प्रति आसक्त गोपियों की मनोदशा का अतुलनीय भावुकता से वर्णन किया है। एक गोपी को स्त्री होने का ही दुख है क्योंकि इस कारण वह दिन भर कृष्ण के साथ वन में रह नहीं सकती। इसलिए वह सोचती है कि किसी विद्या से यदि वे दिन में पुरुष बन जाती और रात में नारी बनी रहती तो कितना अच्छा होता—

क. जो विद्या अेवी आवडे रे, थाउं दिवसे नर ने राते नार।
पगले पगले परवरुं रे, पधारे ज्यां प्राणाधार।

—दशमस्कंध, पृ० ५८

ख. नारीदेह कां सरजियां नही तो रहता जी संग।

—वही, पृ० ६८

कृष्ण से उसका मन 'साकर दूध' की तरह मिल गया है। वह कभी नंद-यशोदा के भाग्य को सराहती है जिनके ऐसा पुत्र है और कभी वन में थके हुए कृष्ण का पसीना सुखाने के लिए वायु करने की कामना करती है—

'ह्वै वनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै'

जैसी लालसा रखने वाली मतिराम की गोपी की तरह वह भी कृष्ण की बाँसुरी बन कर उनके साथ रहने और अधरामृत पाने की अभिलाषा करती है—

धन्य ते नंद जशोमती, जेने अेवो रे तन।
ब्रह्मा हर रे जाणे नहि, अे बेहु मांहे रे पुन्य।
आपण सरज्यां अभागियां, पूरी प्रीत न थाय।
स्वेद वले छे रे श्याम ने, जइने कीजे रे वाय।
शे नव सरज्यां रे वांसली, रहेतां प्रभुजी ने पाण।
अधर अमृत रस चाखतां जे रस वेद पुराण।

—दशनस्कंध, पृ० ६९

सूरदास ने एक नवीन प्रसंग का समावेश करके छाक देने के लिए कृष्ण को खोजने में लीन यशोदा द्वारा भेजी हुई ग्वालिन की आतुरता का जो अंकन किया है वह भी कम सराहनीय नहीं है—

छाक लिये शिर श्याम बुलावति।
ढूंढ़ति फिरति ग्वारि नीके करि कहूँ भेद नहिं पावति।
टेर सुनति काहू की श्रवणनि, तहीं तुरत उठि धावति।
पावति नहीं श्याम बलरामहि व्याकुल ह्वै पछितावति।
वृंदावन फिरि फिरि देखति है बोलि उठे तंह ग्वाल।
सूर श्याम बलराम इहाँ हैं, छाक लेहु किन लाल।

—सू० सा०, पृ० १९५

इसके अतिरिक्त कृष्ण के द्वार पर जाकर उन्हें गोचारण के लिए ग्वाल-बाल जो कुछ कहकर बुलाते हैं और जिस आतुरता से कृष्ण बिना मुंह धोये खाते से उठ भागते हैं उन सबका चित्रण जितनी कुशलता से सूर ने किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है—

द्वारे टेरत हैं सब ग्वाल कन्हैया आवहु बार भई।
आवहु वगि बिलम जनि लावहु गैयाँ दूरि गईं।
इह सुनतहि दोऊ उठि धाये कछु अँचयो कछु नाहीं।
कितिक दूरि सुरभी तुम छाँड़ी वनतो पहुँची आँहीं।
ग्वाल कह्यों कछु पहुँची ह्वै हैं कछु मिलिहैं मगमाँहीं।
सूर श्याम बल मोहन भैया भैयन पूछत जाँहीं।

—सू० सा०, पृ० १९४

इस प्रकार के पारस्परिक संवादों से युक्त लोक-सामान्य जीवन के सहज, सरस और पूर्णतया मौलिक प्रसंगों की उद्भावना तथा उनका भावपूर्ण अंकनसूर की ऐसी विशेषता है जो गुजराती कवियों में तो नहीं ही मिलती, साथ ही ब्रजभाषा के कवियों में भी दुष्प्राप्य है। सूरसागर में ऐसे एक नहीं अनेक प्रसंग उपलब्ध होते जिनका परिचय देना भी यहाँ संभव नहीं है।

२. **नंद, वसुदेव, यशोदा और देवकी के उद्‌गार**—कृष्ण काव्य में पुत्र-प्रेम का चरम उत्कर्ष नंद, वसुदेव, यशोदा और देवकी की मनोभावनाओं में मिलता है। नंद और यशोदा की वात्सल्यमयी भाव-वृत्ति का निरूपण तो बालकृष्ण के उपासक कवियों द्वारा प्रायः किया गया है परन्तु वसुदेव और देवकी के हृदय की भावनाओं का मर्मस्पर्शी आलेखन गुजराती कृष्ण-काव्य की एक विशेषता कहा जा सकता है। ब्रजभाषा के कवियों की तरह नंद-यशोदा के हृदय की अभिव्यक्ति तक ही अपने को सीमित रखकर गुजराती कवियों ने वसुदेव और देवकी के मनोभावों की उपेक्षा नहीं की है। ब्रजभाषा में सूरदास तक ने कृष्ण के ऐश्वर्य-ज्ञान से देवकी के हृदय के सहज मातृत्व को अभिभूत करके उसके प्रति एक प्रकार का उपेक्षा-भाव ही प्रदर्शित किया है। 'दीनदयालु भक्तभयहारी' कृष्ण के कहने मात्र से पुत्र से बरसों के लिए बिछुड़ती माता का विलाप रुक जाता है—

कहि जाको ऐसो सुत बिछुरै सो कैसे जीवै महतारी।
करि न विलाप देवकी सों कहि दीनदयालु भक्तभयहारी।

—सू० सा०, पृ० १२६

कंसवध के अनन्तर जब कृष्ण-बलराम उनसे मिलते हैं उस समय भी सूर ने उनके हर्षातिरेक की अभिव्यक्ति के साथ न्याय नहीं किया है। उनको प्रसन्नता होती है और वे उस आवेग में कंस का भंडार भी लुटा देते हैं परन्तु कृष्ण द्वारा प्रबोध पाने पर शीघ्र ही शांत भी हो जाते हैं—

क. तब वसुदेव हरषित गात।
श्याम रामहिं कंठ लाये हरषि देवै मात।
—सू० सा०, पृ० ६०१

ख. फूले मात पिता दोउ आँनद बढ़ाय कै।
कंस को भँडार सब देत हैं लुटाइ कै।
—वही

गुजराती कवियों में भालण, नरसी और प्रेमानंद ने प्रमुख रूप से देवकी की मर्मव्यथा को पहचाना है और उसे पर्याप्त भावावेग के साथ अभिव्यक्ति भी प्रदान की है। देवकी को सबसे बड़ा दुःख यह है कि पुत्र तो उसने जाया है परन्तु उत्सव और बधाई यशोदा के द्वार पर होगी। माता होकर भी उसे मातृत्व के अधिकारों एवं सुखों से वंचित रहना पड़ेगा। उसके भाग्य में कृष्ण को जन्म देना भर लिखा था। उनके पालन-पोषण करने और पास रखने के लिए उसे तरसना होगा और दूसरे यह सुख, उसके जीते जी ही, पायेंगे। यही उसकी मर्मव्यथा है और यही उसकी करुण कथा। भालण की देवकी यह सब सोचकर कृष्ण को हृदय से लगा लेती है और वसुदेव के हाथों में पुत्र को सौंपते हुए उसका कलेजा भय से काँप उठता है। कृष्ण के शिशु-जीवन के भांति-भांति के चित्र उसकी आँखों के आगे आ आकर उसे और भी कातर बना जाते हैं—

नानडियो साद देतो आवशे, अधरण अधर ते हसशे रे।
मारा भाग्य माहे नवल लिख्युं, तेने अंतर वसशे रे।
विषम चरित्र अे विधाता नां, मारे घर थी ओसरियुं रे।
पुत्रजन्म नो आनन्द ओच्छव तेने घर जइ करियें रे।
तेने घेर तोरण बंधाशे, थाशे अति दीवाली रे।
वेरण विधाताअे शुं सरज्युं जे हुं दुखे बाली रे।
पागे पागे घुघरडी ने, पगलां भरशे लटके रे।
उतावली आवी ने मलशे अेने हरि त्यां मटके रे।
ते जाण्या विना जननी थइ, मारो खोलो ठालो रे।
रूप देखाडी अभिनवुं मने मूकी किम चालो रे।
पुनरपि कहेवारे देखिशुं, सुंदर मुख रढियालुं रे।
मैं रांके कांइ नव चाले, पछे आंसुडां ढालूं रे।
अेणी पेरे देवकी टलवल्यां, हरि ने हैये चांपे रे।
पीयु तणे कर बालक आपे, भे थी हैडुं कांपे रे।
—दशमस्कंध, पृ० १३

नरसी और प्रेमानन्द ने इसी के समानान्तर देवकी की भावनाओं का चित्रण किया है—

नरसी—पुत्र धन कमाई जसोदा केरी, माता ते कहेवाशे रे।
मिथ्या माता हुं पुत्र तुं मारो, पर घेर तोरण बंधाशे रे।
पुत्र ने आपी माता आंसुडां ढाले पुत्र छेली अरज हमारी रे।
क्रोड बरस आयुष्य हजो पुत्र ने, माता लूण नांखे उतारी रे।
—न० कृ० का०, पृ० ४३२

प्रेमानंद— धन्य जसोदा, धन्य जसोदा, वण प्रसवे थई माता।
कोनु सांच्यु कोण भोगवे, लख्या लेख विधाता।
कीडी संचे ने तेतर खाओ, तेम थयु आज माहरे।
अेक रातनी हुं नहीं माता, पर घेर पुत्र पधारे।
नंदनंदिनी नाथ झुलावशे, ते थी शुं सुख थाशे।
दीठी रे भाई देवनी लीला, जसोदा घेर गीत गवाशे।
धमक घुघरी ठमक ठेकडे, सुत गोपी घेर रमशे।
हुं अपराधण हरखे ह णाई, विजोग पुत्रनो दमशे।
कालां कालां वचन वहालानां, जसोदा मात सांभलशे।
बारे मास चोमासु मारे विजोगे नयणा गलशे।
मारे बारणे बैठा रखेवाल, राक्षस जेवा मदमाता।
गोपी ने घेर गुणीजन गाशे, बारणे तारण हाथा।
मलवा आवशे भाई भोजाई जसोदा नो धन सुख दहाडो।
मारे कंस भाई धाइने आवशे करमां खड्ग उघाडो।
सगी मा ते नंद नी नारी, हुं आसरे म्हो बोली।
सामुल्यु कही पोपटी प्रसवे, सुतने हुलावे होली।
पधारो तात महियारी माता., जीवजो तमे गौचारी।
आ मनोहर मुखडे क्यारे कहेशो, मुजने माता मारी।
—श्रीम० भा०, पृ० २४१

प्रेमानंद के उक्त पद में कारावासिनी देवकी और गोकुल की रानी पुत्रवती यशोदा की परिस्थितियों की भिन्नता को अत्यन्त कलात्मक रूप से व्यक्त किया है। साथ ही भावातिरेक का भी अधिक स्वाभाविक चित्रण उपलब्ध होता है। देवकी के हृदय में कृष्ण को अपने मुँह से माता कहने-सुनने की जो अभिलाषा व्यक्त की गयी है वह अत्यन्त मानवीय है और माता की सहज मानसिक दशा को पूर्णयता व्यक्त कर देती है।

कृष्ण के मथुरा पहुंच जाने के पश्चात् देवकी के हृदय की दशा का चित्रण करने में भालण ने अतुलनीय भावुकता एवं कुशलता का परिचय दिया है। देवकी को जब यह समाचार मिलता है कि कंस के चाणूर, मुष्टिक आदि मल्लों से कृष्ण को युद्ध करना है तो उसे घनी चिंता हो जाती है। वह दासी को समाचार लेने भेजती है और उसके मन में नाना प्रकार के संकल्प उठने लगते हैं।

कृष्ण का मन मथुरा में न लगता देखकर वह बार-बार उन्हें जो कुछ जैसे यशोदा करती थी वह सब वैसे ही करने का आश्वासन देती है। जब कृष्ण चित्र में गाय देखकर वि:श्वास भरने लगते हैं तो वह कहती है—

सुरभि देखी चित्रनी, सुत कां मेलो निश्वास।
कहो तो अहीं आणवियो रे गोकुलनी सर्व वास हो।
जसोदा करती ते करूं जे कहो मुजने वीर।
संभारी नंदनारी ने कां नयणे ढालो नीर हो।

परन्तु कृष्ण मनाये से नहीं मानते। वे बार बार यशोदा के प्रेम का बखान उसी के आगे करते हैं जिससे उसका दुख और भी बढ़ जाता है। पुत्र तो उसे मिल जाता है पर उसमें जिस भाव के पाने के लिए वह आतुर थी वह नहीं मिलता। जब कृष्ण अन्त तक यही कहते रहते हैं कि मेरे बिना यशोदा जी नहीं सकेगी तो लाचार होकर वसुदेव देवकी को यशोदा के बुलाने की सलाह देते हैं जिससे परिस्थिति और भी अधिक मार्मिक हो जाती है।[१८]

यह सुनकर देवकी को यशोदा से ईर्ष्या होती है और उस भाव के आवेग में वह यशोदा के किये हुए सारे कामों में दोष खोजने लगती है। वह सोचती है कि गायें चरवा-चरवा कर तथा तनिक से माखन के लिए नन्हें से कृष्ण को मार बांध कर सचमुच यशोदा ने बहुत ही क्रूरता की है उसके सुत के साथ और तिसपर भी उसे उसके रूपरस का पान करने को मिला। न जाने कैसे वह माता कहलाई—

आपणपे अधिकेरा साधन नंद जशोदाओ कीधां रे।
गाय चारवा सरखा कारज, कोटि कर्म ने दीधां।
मही माखण काजे नीजडे बांध्यो, मांड मारवा लीधां रे।
भालण जांणे जननी थइ, अमृत आंखडी पीधां।

—वही, पृ० १७०

भालण ने जितनी मार्मिकता से देवकी की मानसिक अवस्था का चित्रण किया है उतनी ही मार्मिकता से यशोदा और नंद के मनोभावों को भी व्यक्त किया है और इस स्थल पर वे सूर के समकक्ष पहुँच जाते हैं। सूर ने कृष्ण से वियुक्त नंद और यशोदा की दशा का जितना भावपूर्ण अंकन किया है उतना अन्य किसी भी कवि ने नहीं किया। इस क्षेत्र में एकमात्र भालण ही कुछ अंशों में उनसे प्रतिस्पर्धा करते हैं। दोनों के भाव निरूपण में बहुत कुछ समानता उपलब्ध होती है परन्तु भावानुभूति के क्षेत्र में सूर से उनकी किसी प्रकार समता नहीं की जा सकती। सूर के भाव-वर्णन में उमड़ते हुए समुद्र की लहरों का आवेग है। सूरसागर में सागर शब्द की यथार्थता ऐसे ही स्थलों से सिद्ध होती है।

सूर की यशोदा किसी दशा में कृष्ण-बलराम को अक्रूर के साथ भेजने को उद्यत नहीं होतीं। अत्यन्त भोले भाव से वह अक्रूर से राजअंश का धन लेकर वयस्क महर के साथ मथुरा लौट जाने को कहती हैं। उसकी समझ ही में नहीं आता कि नगर में बालकों को क्यों ले जाया जा रहा है—

अपनो लाग लेहु लेखो करि जे कछु राजअंश के दाम।
और महर ले संग सिधारैं नगर कहा लरिकन को काम।

—सू० सा०, पृ० ५८१

पर जब कृष्ण स्वयं अपने मुँह से मथुरा जाने की बात कहते हैं तो यशोदा को वियोग प्रत्यक्ष और असह्य हो उठता है, वह तत्काल मूर्छित होकर गिर पड़ती हैं। इस दशा का वर्णन सूर ने जिन शब्दों में किया है वे अत्यधिक भावोत्पादक हैं—

जिहि मुख तात कहत ब्रजपति सों, मोहि कहत है माइ।
तिहि मुख चलन सुनत जीवति हौं विधि सों काहु बसाइ।
को कर कमल मथानी धरिहै को माखन अरि खैहै।
बर्षत मेघ बहुरि ब्रज ऊपर को गिरिवर कर लैहै।
हौं बलि बलि इन चरन कमल की इहई रहौ कन्हाई।
सूरदास अवलोकि यशोदा धरणि परी मुरझाई।

—वही, पृ० ५०२

कृष्ण की विविध क्रीडाओं का जिस रूप में यशोदा ने स्मरण किया उससे उनके प्रति उसकी गहन आसक्ति की व्यंजना होती है। कृष्ण के मथुरा चले जाने के पश्चात् यशोदा की दशा और भी अधिक चिन्त्य हो जाती है। उसके प्राण कृष्ण से

पुनर्मिलन की आशा में ही शरीर नहीं त्यागते । वह रह रह कर सोचती है कि यदि कृष्ण सचमुच न लौटे तो वह यमुना में डूबकर अवश्य अपने प्राण त्याग देगी—

मनौं हौं ऐसे ही मरि जैहौं ।
जो न सूर कान्हा अइहैं तौ जाइ यमुन धँसि लैहौं ।

—वही, पृ० ५८७

भालण ने नंद के वापस लौटने से पहले की यशोदा की मनःस्थिति के अन्तर्गत न तो इतनी गहराई से प्रवेश ही किया है और न इतना भावसंकुल चित्रण ही । कृष्ण के द्वारा नंद के प्रति कहे गये शब्दों से यशोदा के इस दुःख की ओर उन्होंने संकेत अवश्य कर दिया है ।[१]

इसी प्रकार नरसी मेहता ने कृष्ण से बिछुड़ती हुई यशोदा की मनोभावनाओं का व्यापक चित्रण तो नहीं किया है परन्तु उसकी दुःखानुभूति की तीव्रता को एक पद में अवश्य दिया है । यशोदा कृष्ण को मथुरा में जाकर उच्छृङ्खल न होने की सीख देती हुई अपने अवर्णनीय दुख को प्रकट करने की चेष्टा करती है । वह एक ओर आंसू भर कर बलराम को उनकी रक्षा करने के लिए कहती है, दूसरी ओर कृष्ण के मुख से ही लौट आने की बात भी सुन लेना चाहती है—

लाडकडा वेहेला पधारजो रे, उछंकल नव थाशों रे दयाल ।
नहि राज तहीं आपणुं रे, वहाला नव मणिये कोने गाल ।
मुख मयंक निरख्या विना रे, हुं तो घेली थईश मोरार ।
हरि वेहेला आवजो रे, मारा प्राण जीवन आधार ।
शुभ कामे जाओ हरि रे, तोय हुं ने थाय अपशकुन ।
मुज निर्धन ने एक दिकरो रे, मारुं जीवन जगजीवन ।
. . . .
जशोमती केहे बलराम ने रे, करजो कृष्ण तणुं तुं जतंन ।
अेम कही आंखडली भरे रे, जाणजो रंकतणु रतंन ।
श्यामला तुं मुखे कहे रे, क्या रे आवीश मारा प्राण ।
समय गये निश्चे मरुं रे, तुज ने वरकी वरकी जाण ।

—न० कृ० का०, पृ० ६६-६७

केशवदास कायस्थ ने भी अपने 'कृष्णक्रीडाकाव्य' में यशोदा को इसी प्रकार भाव-विह्वल चित्रित किया है । कृष्ण को बुलाने आने वाले अक्रूर के प्रति तिरस्कार से

'जा जा' कहती हुई वह कृष्ण के प्रति अपना प्रेम प्रकट करती है। उसका सारा गोधन चला जाय पर कृष्ण को वह जाने न देगी क्योंकि कृष्ण उसकी आत्मा के आधार हैं—

जा-जा भणती यशोमति महारो धरणीधर नहि धरी।
प्राणपांअे अति वाहलो रे आतम नो आधार।
. . . .
गोधन धन लीये सहु परग हरि न आपूं हंस।

—श्री कृष्णलीला, पृ० १२२

नंद के वात्सल्यपूर्ण हृदय की कोमलता और राज्यप्राप्त कृष्ण की कठोरता को भालण ने दोनों के संवाद में भली भाँति प्रकट किया है। नंद समझ नहीं पाते कि क्यों कृष्ण ब्रज लौट नहीं चलते। उनके आगे वे अपनी सफाई देते हुए हृदय खोल कर रख देते हैं और अन्त में यह भी कह देते हैं कि यदि कृष्ण नहीं ही लौटे तो वह काशी जा कर सन्यास ग्रहण कर लेंगे क्योंकि उनके लिए कृष्ण अंधे की लाठी जैसे हैं—

में तमने क्यारे कह्युं छे जे चारवा जाओ गाय जी।
रमवानी खांते जाता, घर गुंअे वारती माय।
. . . .
प्राणजीवन तुं छे माहरो, शुं कहुं बारंबार जी।
अंधाने ज्यम लाकड़ी त्यम, तुं मुज प्राणआधार।
. . . .
जो तमो आवो नहि तो; अमो जाशुं काशी जी।
गौ गृह सर्व परहरी, थइ रहेशुं सन्यासी।

—द० स्कं०, पृ० १७२

दुखी नंद की भावधारा एक नया मोड़ लेती है जब उनकी वृत्ति कृष्ण के क्रूर उत्तरों से प्रताड़ित होकर अपनी पुत्री के अभाव का अनुभव करने लगती है। वसुदेव जिन कृष्ण के बदले उनकी पुत्री मथुरा ले आये थे वे भी उनके पुत्र न निकले और पुत्री भी हाथ से गई। कृष्ण गये तो गये यदि वह पुत्री होती तो घर तो बसता—

अेम न जाण्युं रे पुत्र पीयारो थाशे।
घबरावीने हुंडे चांप्यो ते छेह दइने जाशे।
. . . .
कुंवरी मारी राये गई, अे नव आव्यो हाथ रे।

शुं कीजे जो झुंटी लीधी , दुर्बलनी ज्यम आथ ।
वसुदेवने तो घणाअे छे, अेक आपे शुं जातुं रे ।
कहानजी ने मोकलता तो, मारुं घर मंडातुं ।
अथवा मारी कुंवरी रहेती, तोअे त्यां घर वसतुं रे ।
क्यां जाउं ने क्या पोकारुं दैव दुर्बल ने मारे रे ।
तेनुं लइ माता ने आपे, बलियाने कोण वारे ।
बीजो आपशे तो नहि लेउ कदाच साटे बोल रे ।
चौद लोकमां अेवो नहि भालण प्रभु ने तोल ।

—वही, पृ० १७५

नंद में इस प्रकार का भाव प्रेमानंद ने भी प्रदर्शित किया है—

में उछार्यो आदर करीरे सांचो जाणी पुत्र ।
तुज माटे गइ दीकरी रे मारुं उजाड्युं घरसूत्र ।

—श्रीम० भा०, पृ० ३१७

भाव के क्षेत्र में अथवाका स्थान नहीं होता। नंद की जो भावना भालण तथा प्रेमानंद ने उक्त पंक्तियों में व्यक्त की है वह कृष्ण के प्रति उनके प्रेम की अनन्यता में बाधक सिद्ध होती है । ब्रजभाषा काव्य में कृष्ण के प्रति अनन्य भाव की रक्षा बराबर की गयी है । यह ठीक है कि भालण ने अन्तिम पंक्तियों में दूसरे किसी बालक के स्वीकार न करने की बात कही है जिससे इस भाव-दोष का बहुत कुछ परिहार हो जाता है परन्तु तो भी नंद की ऐसी भावना कृष्ण के प्रति उनके प्रेम को द्वितीय कोटि में ला रखती है ।. दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो ऐसे कथन में एक विचित्र स्वाभाविकता मिलती है जिसको सूर तक ने परख नहीं पाया । पुत्री देकर पुत्र पाये और जब वह पुत्र भी पराया सिद्ध हो तो एक सामान्य पिता को अपनी पुत्री का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही कहा जायेगा ।

नंद के प्रति कृष्ण अत्यन्त क्रूर होकर उनसे सीधे-सीधे गोकुल लौट जाने की बात कह डालते हैं । देवकी-वसुदेव को अपना माता पिता कह कर वे नंद से सारा नाता तोड़ लेते हैं—

नंद जी गोकुल सांचरो, सुधी कहुं अक बात रे ।
देवकी माता माहरी, वसुदेव मारो तात रे ।

—दशमस्कंध, पृ० १७५

इस क्रूर उत्तर का एक ही परिणाम होता है कि नंद कृष्ण की निर्दयता से निराश होकर, दशरथ की तरह, मर जाने की बात सोचने लगते हैं—

दया दामोदर तारी क्यां गयी रे, टलवल्यानो नहि वांक रे ।
बापनुं सगपण ते टल्युं आवो आवो जाणी मने रांक रे ।
धन्य ते जीव्युं दशरथ तणुं रामजी जातां गया प्राण रे ।
हैडुं कठिण फाटे नहि जाणे घडियुं पाषाण रे ।

—वही, पृ० १७६

नंद और दशरथ की भावस्थिति के साम्य और वैषम्य की ओर सूर का भी ध्यान गया पर उन्होंने इसका प्रयोग यशोदा द्वारा नंद को दिये गये उपालंभ में किया है । वहाँ वह इतने तीखे ढंग से प्रयुक्त हुआ है कि नंद उसे सुनते ही मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं—

कहूँ कहनि सुनी नहीं दशरथ की करनी ।
यह सुनि नँद व्याकुल ह्वै परे मुरछि धरनी ।

—सू० सा०, पृ० ६०६-७

कृष्ण से बिछुड़ते हुए नंद की मनोदशा का चित्रण सूर ने भी पर्याप्त मार्मिकता से किया है । सूर के कृष्ण भालण के कृष्ण से कम कठोर हैं । वे माता-पिता विषयक तथ्य को उतनी कटुता से नंद से नहीं कहते जितनी कटुता से भालण ने कहलाया है । एक ओर वे नंद के स्नेह को स्मरण रखने का आश्वासन देकर उसका तिरस्कार नहीं करते, दूसरी ओर मिलन-वियोग की अनिवार्यता और माया-मोह की निस्सारता का, ज्ञान द्वारा-प्रतिपादन करके समझाने की चेष्टा भी करते हैं । भावविभोर नंद के नेत्रों में यह कठोर कथन फिर भी आँसू भर लाता है ।[१]

ब्रज लौट जाने की बात सुनने पर नंद के हृदय की विह्वलता का चित्रण सूर ने भालण से कम भावमयता से नहीं किया है । कुछ पंक्तियाँ जो भाव के चरमोत्कर्ष को व्यक्त करती हैं, निश्चित रूप से अद्वितीय हैं—

गोपालराइ हौं न चरण तजि जैहौं ।
तुमहिं छांड़ि मधुबन मेरे मोहन कहा जाइ ब्रज लैहौं ।
कत हम लागि महारिपु मारे कत आपदा बिनासी ।
डारि न दियो कमल कर ते गिरि दबि मरते ब्रजवासी ।
ऊरध स्वास चरणगति थाक्यो नैन नीर न रहाइ ।
सूर नंद के बिछुरे की वेदन मो पै कही न जाइ ।

—सू० सा०, पृ० ६०५

इन पंक्तियों में भाव की तीव्रता, उक्ति वैचित्र्य और अनुभावों की सहज योजना सराहनीय है ।

कृ० का० १८

कृष्ण जब विदा देने लगते हैं तो उनके शब्दों को सुनकर नंद की जो दशा होती है उसके चित्रण में सूर ने और भी अधिक भावों-अनुभावों की संयोजना की है—

उठे कहि माधो इतनी बात ।
होहु विदा घर जाहु गुसाइं माने रहियो नात ।
ठाढ़ो थक्यो उतर नहि आवै लोचन जलन समात ।
भये बलहीन खीन तनु कंपित ज्यो बयारिवश पात ।
धकधकात मन बहुत सूर उठि चले नंद पछितात ।

—सू० सा०, पृ० ६०६

सूर की तरह प्रेमानंद ने कृष्ण को भालण के कृष्ण जैसा क्रूर न चित्रित करके कोमल-हृदय चित्रित किया है। देवकी जब उनसे गोपवेश त्याग कर राजसी वेश धारण करने तथा नंद और गोपों को विदा देने के लिए कहती हैं तो वे गहरी वेदना से भर जाते हैं। नंद को वे किस प्रकार उत्तर देंगे; प्रतिक्षण प्राण अर्पण करने वाली यशोदा का क्या होगा ? यह सोच सोच कर उनका मन मसोसने लगता है और आँखें आँसुओं से भर जाती हैं—

क. यशोदा केम जीवे मारुं सगपण जाणी फोक ।
पिताने प्रकाशी कहेतां, नंदजी जाय जमलोक ।
. . . .
जागृत स्वप्न मांहे ध्यानज मारुं पुत्रसुखमा बूडी ।
हुं विना टळवळी मरशे, जेम टळवळे टीटूंडी ।

—श्रीम० भा०, पृ० ३१५

ख. केम उत्तर आपुं पिताने, केम उत्तर आपुं ।
वचन वज्रना प्रहार करी केम कालजडुं कापुं ।
. . . .
तुं नहीं पिता हुं नहीं बालक कहेता थाय मुखश्याम ।
अेवुं कही ने आंसु ढाल्यां, प्रेमानंद प्रभु राम ।

—वही

इन शब्दों से प्रेमानंद ने कृष्ण की कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति तो की ही है, साथ ही नंद-यशोदा के प्रेम की व्यंजना भी कर दी है।

देवकी कृष्ण को पुनः नंद-यशोदा का 'सगपण' छोड़ देने की शिक्षा देती हैं परन्तु कृष्ण यशोदा की प्रीति पर सौ 'सगपण' निछावर करने को प्रस्तुत हो जाते हैं—

शुं प्रीत जाणो मा मारी रे,
यशोदानी प्रीत उपर सो सगपण नाखुं वारी रे।

—वही, पृ० ३१६

जब देवकी समझाकर हार जाती हैं तो वसुदेव समझाने लगते हैं। वे नंद को विदा देने की बात तो कहते हैं परन्तु उनकी भावना को देखते हुए नंद के प्रति विनयशील तथा कोमल रहने का आदेश भी दे देते हैं। प्रेमानंद ने वसुदेव का चित्रण एक समझदार पिता के रूप में किया है—

आपो नंदजी ने विदाय, आपो नंदजी ने विदाय।
उत्तर देजो अेवी रीते जेम डोसो नव दुखाय।

—वही

नंद और कृष्ण के संवाद को प्रेमानंद के द्वारा अत्यन्त भावमयता प्राप्त हुई है और कवि ने उसमें दोनों के भावों को सफलतापूर्वक अंकित किया है। नंद कृष्ण की प्रत्येक बाल-क्रीड़ा का स्मरण कर उठते हैं और उन्हें यह सोच कर कि कृष्ण के बिना कौन उन्हें पिता कहेगा, गहरा दुख होता है और जब कृष्ण फिर अपना स्नेह प्रकट करने लगते हैं तो उन्हें मूर्छा आ जाती है—

क—कोण रूडी शिखामण देशे रे, हवे पिता मूने कोण कहेशे रे।

—वही, पृ० ३१७

ख—धरणे ढलीया नंदजी रे थइ पड्या अचेत।

—वही, पृ०

यशोदा की भावस्थिति नंद की अपेक्षा और भी हृदयद्रावक रूप में चित्रित की गयी है। कृष्ण बलराम के बिना उसकी व्याकुलता प्रतिक्षण बढ़ती जाती है। नंद के वापस लौटने की प्रतीक्षा में अत्यन्त उत्कंठित होकर वह बार-बार मार्ग की ओर देखती रहती हैं। जब नंद को आते देखती है तो, कृष्ण के पाने की लालसा से, उन्हें सबसे आगे आकर आतुरता से भेंटती है।

और जब यशोदा को विश्वास हो जाता है कि नंद वास्तव में अकेले ही लौट आये हैं, कृष्ण-बलराम मथुरा में ही रह गये हैं तो उसकी सारी उत्कंठा, आतुरता, लालसा और व्याकुलता एक ही क्षण में तीव्रतम आक्रोश और आवेश में परिणत हो जाती है। नंद को वह एक के बाद एक उपालंभ देने लगती है जो कटु से कटुतर

हो जाते हैं। यशोदा का मातृत्व उसके अन्दर निहित पत्नीत्व से प्रधान हो उठता है और वह नंद के जीवित लौट आने पर भी व्यंग्य कर डालती है। मनोवैज्ञानिकतया सूर का यह भाव वर्णन मानव-हृदय में उनकी एक विशेष तीव्र अन्तर्दृष्टि एवं पैठ का परिचायक है—

क—उलटि पग कैसे दीन्हों नंद।
छांडे कहाँ उभय सुत मोहन धिग जीवन मंतिमंद।
कै तुम धन-यौवन-मदमाते कै तुम छूटे बंद।

—वही, पृ० ६०७

ख—यशोदा कान्ह कान्ह कै बूझै।
फूटि न गई तिहारी चारौ कैसे मारग सूझै।
इक तनु जरो जात बिन देखे अब तुम दीने फूक।
यह छतिया मेरे कुँवर कान्ह बिनु फाटे न गये द्वै टूक।
धिग तुम धिग वै चरण अहो पति अवबोलत उठि धाये।
सूर श्याम बिछुरन की हम पै देन बधाई आये।

—वही

कृष्ण के बिछुड़ने पर स्वयं नंद यशोदा को बधाई देने आये हैं, यह कथन कितना व्यंग्य-पूर्ण और कटु है। कृष्ण ने चलते समय क्या कहा इस उत्सुकतावश यशोदा नंद से प्रश्न करती है परन्तु भावावेश में प्रश्न तो भूल जाता है और मन का आक्रोश उपालंभ बन बन कर पुनः व्यक्त होने लगता है—

नंद हरि तुमसों कहा कह्यो।
सुनि सुनि निठुर बचन मोहन के क्योंकरि हृदय रह्यो।
छांडि सनेह चले मंदिर कत दौरि न चरन गह्यो।
फाटि न गयी बज्र की छाती कत यह शूल सह्यो।
सुरति करत मोहन की बातैं नैनन नीर बह्यो।
सुधि न रही अति गलित गात भयो जनु डसि गयो अह्यो।
कृष्ण छांडि गोकुल कत आये चाखन दूध-दह्यो।
तजे न प्राण सूर दशरथ लौं हुतो जन्म निबह्यो।

—सू० सा०, पृ० ६०७

नंद की सहनशक्ति व्यंग्य पर व्यंग्य सुनते सुनते समाप्त हो जाती है और वे परिस्थिति को स्पष्ट करने अथवा अपनी सफाई देने का प्रयास न करके यशोदा को ही दोषी

ठहराते हैं। पति-पत्नी के बीच आवेश के क्षणों में परस्पर दोषारोपण की वृत्ति अत्यन्त स्वाभाविक होती है। सूर ने उसे भी परखा है। नंद कहते हैं—

तब तू मारिबोई करति।
रिसनि आगे कहि जो आवत अबलै भाँड़े मरति।
रोस कै कर दाँवरी लै फिरति घर-घर धरति।
कठिन हिय करि तब जो बाँध्यो अब वृथा करि मरति।
नृपति कंस बुलाइ पठयो बहुत कै जिय डरति।
इह कछू विपरीत मो मन माँझ देखी परति।
होनहारी होइहै सोइ अब यहाँ कत अरति।
सूर तब किन फेरि राखे पाइ अब केहि परति।

—वही

आवेश दूर हो जाने के बाद दम्पति उत्तरदायित्व को परस्पर मिलकर स्वीकार करते हैं।

कोमल चरण कमल कंटक कुश हम उनपै बन गाय चराई।

—वही, पृ० ६१०

नंद के ब्रज लौटने के बाद की भावस्थिति का जो चित्रण भालण ने किया है उसमें भावों में सामान्य उद्दीप्ति ही प्रदर्शित की गई है। सूर की तरह भावना उपालंभ, व्यंग्य और कटूक्तियों तक नहीं पहुँच पाती। इससे कवि की भावानु-भूति की शिथिलता व्यक्त होती है। यशोदा की मातृत्वमयी हृदयवृत्ति के भाव-संघर्ष को भालण भी पूरी तरह परख नहीं सके। यशोदा के उद्गारों में उन्होंने माता की वास्तविक संवेदना को सम्यक् अभिव्यक्ति प्रदान नहीं की। चिंता, विह्वलता कातरता और आवेग की अपेक्षा यशोदा के शब्दों में जिज्ञासा मिलती है और उनसे उसकी दशा की अपेक्षा उसके पति की दशा का ज्ञान अधिक होता है। नंद की दशा का जो वर्णन हुआ है उसमें अनुभावों का सौन्दर्य अवश्य दर्शनीय है—

नंदजी गोकुल आव्या, हलधर श्याम न लाव्या।
पूछे जशोदा राणी, कंथजी कहो मने वाणी।
वाणी कहो मारा कंथजी मने, कहान कुंवर क्यां रह्या।
विरह अति वा ला तणो, में दिवस अति दोहेला सह्या।
वंशीवट के वृन्दावन सुत कुंजमां क्रीडा करे।
वेण शें नथी वाजती, जे चित्त सहुअेना हरे।
. . . .

चिंतातुर तमो कांय दीसो, जुहारी ज्यम हारिया।
व्यापारी वहाण बूडे, रंग अेवे आविया।
स्वेद अंगे गात्र भंगे, नीर दो नयणे झरे।
ॠणे पीड्यो अति घणुं निर्धन ज्यम चिंता करे।
उत्तर शें नथी आपता, दिग्मूढ दीसो दामणा।
साथी सघला क्यां गया, जे वा' ला विट्ठळजी तणा।

—दशमस्कंध, पृ० १८६

यशोदा स्वतन्त्र रूप से अपने भावावेग से कुछ निश्चय नहीं कर पाती है। अपने दुख की अभिव्यक्ति के रूप में भी पति की मुखापेक्षिणी बनी रहती है; एक ओर सूर की यशोदा पति के जीवन तक पर कटाक्ष कर सकती है, दूसरी ओर भालण की यशोदा उनकी सम्मति तक का निषेध नहीं कर पाती—

जशोदा कहे हुं जाउं, कहो तो निर्लज थाउं।
जइने झघडो माडुं, कहानजी क्यम छाडुं।

—दशम०, पृ० १८७

कृष्ण के न छोड़ सकने का भाव पर्याप्त विकास नहीं पा सका है। भालण ने नंद की तरह यशोदा को भी कन्या की चिन्ता करते चित्रित किया है जिससे कृष्ण के प्रति उसके प्रेम की अनन्यता पूर्वत्व बाधित हो उठती है। यही, नहीं वह कृष्ण को घूर्त और पुत्री को सुन्दर भी बताती है—

मारी कुंवरी लावो, पीयु हैडुं दाझे ताप शमावो।
ते अति रूपे रूडी नयणे जुग मोहे।
झुमी झघडो करिये ने, जेणे आंगणडे शोहे।
तेह पुत्र पर पुत्री वारुं जेइ थकी ठरिये।
तेणे धूतारे शुं कीजे जेणे दाझी मरिये।

—वही

यदि पुत्री-प्राप्ति की इच्छा को कृष्ण-प्राप्ति की निराशा से उद्भूत मान कर उसे कृष्ण के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति का रूप-विशेष कहा जाय तो कदाचित् यह भी उचित नहीं होगा; क्योंकि ऐसी दशा में पुत्री के प्रति व्यक्त ममता में आलम्बनत्व का अभाव होना चाहिए जो यशोदा के उक्त भावों में नहीं मिलता है। इन पंक्तियों के अतिरिक्त अन्यत्र भालण ने यशोदा के कृष्ण-प्रेम तथा तज्जन्य वेदना का भी चित्रण किया है। वह अपने प्राण तक त्यागना चाहती है पर विवश है—

प्राण काढ्या नव निसरे, विण छूटे नव मरिये रे।
श्यामसुन्दर दीसे नहिं तो, घरमां रही शुं करिये।

—वही, पृ० १९०

यशोदा का देवकी के प्रति ईर्ष्या करना अत्यन्त स्वाभाविक मनोभाव है जिसे भालण ने पकड़ लिया है। यशोदा सोचती है कि वह मथुरा चल कर ही रहे। कृष्ण तो देखने को मिलेंगे परन्तु दूसरे ही क्षण कृष्ण के राजवेश और देवकी के प्रति उनके मातृभाव की याद करके उसे क्षोभ और ईर्ष्या हो आती है—

हां हु केम रहुं रे अेके न दीसे पेर रे।
त्यां गये तो सुख नहिं, रह्युं न जाये घेर।
जाणुं मथुरा जइ रहूं, जाता वलता दीसे रे।
अश्व चढी ने चालता जोइ हैडुं मारुं हीसे।
दहाडी तो देखीश नहिं रे क्यां रे के तो मलशे रे।
देवकी ने माता कहेशे त्यारे हैडुं मारुं बलशे।

—वही, पृ० १९१

सूर की यशोदा भी मथुरा जाने की इच्छा व्यक्त करती हैं पर देवकी के प्रति ईर्ष्याभाव उनमें उदित नहीं होता वरन् उसके विरुद्ध दैन्य की प्रधानता हो जाती है—

हौं तौ माई मथुरा ही पैं जैहौं।
दासी ह्वै वसुदेवराइ की दरशन देखत रैहौं।

—सू० सा०, पृ० ६११

परिस्थिति की सारी विषमता को आत्मसात् कर लेने के बाद दीनता और दुख की एक गहरी छाया यशोदा के मन को छा लेती है। देवकी से अब उसे ईर्ष्या नहीं होती और वह अपनी करुणा को अपने भीतर ही सहेज समेट कर 'धाय' का पद स्वीकार कर लेती है। अब 'धाय' होने में ही उसे संतोष है, क्योंकि इसी नाते कृष्ण से अपना सम्बन्ध तो वह व्यक्त कर लेती है। इस भावस्थिति को सूर और भालण दोनों ने समान रूप से परख लिया है। सूर ने उसे देवकी के प्रति यशोदा के संदेश रूप में व्यक्त किया है, भालण ने कृष्ण के प्रति पुनरागमन की याचना के रूप में—

सूर— सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तौ धाइ तुम्हारे सुत की कृपा करत ही रहियो।
यदपि टेव तुम जानत उनकी तदपि मोहि कहि आवै।

प्रातहि उठत तुम्हारे कान्ह को माखन रोटी भावै।
तेल उबटनो अरु तातो जल ताहि देखि भजि जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती क्रम-क्रम करि करि न्हाते।
सूर पथिक सुनि मोंहि रैनि दिन बढ़्यो रहत उर सोच।
मेरो अलक लड़ैतो मोहन ह्वै है करत सँकोच।

—सू० सा०, पृ० ६१२

भालण— अेकवार आवो आंगणे रे रमवाने यादवराय रे।
मुखडुं जोवुं माहरे रे नहिं थाउं तारी माय रे।
धाव कही ने बोलावजो रे, मीठडां सुणिये वचन रे।
तारा सम छे त्रिकमा रे, नहि दुहवावुं मन रे।

—दशम०, पृ० १९२

ख— धबरावीने हृडे चांपती त्यम देवकी नहिं चांपे रे।
रोमांचित मारी देहडी थाती, त्यम तेनी नव कांपे।
माता नहि थाउं तमारी धाव कही ने जाणो रे।
में बांध्यो जे मांखण माटे तेणे रोष भराणो।

—वही, पृ० १९३

यशोदा द्वारा अपने को 'धाय' मानने की बात देवकी के प्रति कहे जाने में जो मार्मिकता है वह उसके कृष्ण के प्रति कहे जाने की मार्मिकता से कहीं अधिक तीव्र है। अपने साहचर्य और प्रेम को सूर की यशोदा अत्यन्त दैन्य और दुख के साथ व्यक्त करती है। उसका शब्द शब्द व्यंजना से पूर्ण है। भालण के भाव-निरूपण में कृष्ण-प्रेम की पर्याप्ति प्रधानता है, तज्जन्य दैन्य और दुख की व्यंजना अपेक्षाकृत उतनी तीव्र नहीं है।

उद्धव के ब्रज में आने पर नंद-यशोदा का हृदय पुनः पुत्र-वियोग से अभिभूत हो उठता है। सूरदास, भालण तथा प्रेमानन्द आदि ने भ्रमरगीत के प्रसंग में भी इनके वात्सल्यपूर्ण उद्‌गारों का इसी प्रकार निरूपण किया है। सूर ने नंद-यशोदा दोनों की भावनाओं को अंकित किया है परन्तु भालण तथा प्रेमानन्द का ध्यान यशोदा के हृदय की दशा पर विशेष केन्द्रित हुआ और इस स्थल पर निश्चय ही वे सूर को पीछे छोड़ गये हैं।

उद्धव के आने पर सूर ने नंद और यशोदा की मानसिक स्थिति का जो चित्रण किया है वह अपूर्ण प्रतीत होता है यद्यपि सामान्यतः दोनों के मनोभावों की अभिव्यक्ति कर दी गई है। वृद्ध दम्पति की पहली जिज्ञासा यह होती है कि क्या कृष्ण कभी हमारा

स्मरण करते हैं। साथ ही उन्हें वासुदेव के वास्तविक रूप को न समझने पर पश्चात्ताप भी होता है—

कबहिं सुधि करत गोपाल हमारी।
पूंछत नंद पिता ऊधो सों अरु यशुदा महतारी।
बहुतै चूक परी अनजानत कहा अबके पछिताने।
वासुदेव घर भीतर आये में अहीर कै जाने।

—सू० सा०, पृ० ६४७

उद्धव कृष्ण का भावमय संदेश यशोदा से कहते हैं परन्तु सूर ने उसकी कोई प्रतिक्रिया यशोदा के मानस में प्रदर्शित नहीं की। संदेश में कृष्ण की कोमल भावना का अत्यन्त मार्मिक अंकन है।

कृष्ण के प्रेम और ऐश्वर्य-ज्ञान से अभिभूत नंद अपनी असमर्थता, अज्ञान तथा दोषमयता पर गंभीर रूप से पछताने लगते हैं और उद्धव के आगे कृष्ण का एक बार ही दर्शन पाने के लिए विलख उठते हैं—

हमते कछु सेवा न भई।
धोखे धोखे रहे धोख ही जाने नाहिं त्रिलोकमई।
चरण पकरि करि विनती करिबो सब अपराध क्षमा कीबे।
ऐसो भाग होइगो कबहूँ, श्याम गोद में लीबे।
कहै नंद आगे ऊधो के एक बेर दरशन दीबे।
सूरदास स्वामी मिलि अबकै सबै दोष गत कीबे।

—वही

यशोदा के हृदय में उद्धव से मिलने की उत्सुकता का जो चित्रण प्रेमानंद ने किया है वह सूरसागर में नहीं मिलता। कृष्ण के सदृश कोई आ रहा है, इतना सुनते ही उतावली से बाहें पसारे उठ भागने वाली यशोदा की यह गतिशील भाव-मुद्रा अनुपमेय है—

मात उठी वेणी छूटी, घणुं हांफली हरखे भरी।
लांबा कर करी भेंटवा धाई, आव मलीअे श्रीहरी।

—श्रीम० भा०, पृ० ३२२

इसी प्रकार प्रेमानंद द्वारा यशोदा की मनस्थिति का भी अत्यन्त सूक्ष्म स्वाभाविक एवं हृदयद्रावक आलेखन हुआ है। वात्सल्य की अतिशयता में सारा ईर्ष्या-द्वेष खो

जाता है और वह उद्धव से, सूर की यशोदा की तरह, पहले पहल कृष्ण की बात न करके देवकी-वसुदेव के कल्याण की बात करती है; कृष्ण द्वारा अपने याद किये जाने के सम्बन्ध में उसकी जिज्ञासा इसके बाद प्रकट होती है—

> कहो वीरा उद्धव चतुर सुजाण, छे वसुदेव देवकी ने कल्याण।
> कहीये संभारे छे गोकुल ग्राम, मुने संभारे छे सुन्दरश्याम।
>
> —वही, पृ० ३२३

कृष्ण सम्बन्धी जिज्ञासा ही उसकी वास्तविक जिज्ञासा है, इसका प्रमाण तब मिल जाता है जब वह बार-बार कृष्ण पुष्ट है या दुर्बल, आयेंगे या नहीं, आदि प्रश्न पूछती ही चली जाती है—

> छे पुष्ट वपु के थया दूबला, प्राणनाथ थया मुजथी वेगला।
> फरी फरी उद्धव ने पूछे माय, अहि आवशे के कहावी नाय।
>
> —वही

इस जिज्ञासामयी भावाकुलता एवं विह्वलता के पश्चात् अनेक पूर्वकृत अथवा संभावित पापों की कल्पना करती हुई अंत में सबका प्रायश्चित करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। उसे कृष्ण से इतना मोह है कि वह उस कंकड़ को भी सहेज रक्खे है जिससे उन्होंने मटकी फोड़ डाली थी। चांदी के जिस कटोरे से नंद दूध पिलाते थे वह भी उसके पास है। कृष्ण से सम्बन्धित खिलौनों और वस्त्रों को उद्धव के आगे दिखा-दिखा कर वह उनका स्मरण करने लगता है—

> जेणे भांजी गोली पाषाण नाखी, ते कटका हुं रही छौं राखी।
> नंदजी ने हाथे दूध पीता लाडको, उद्धव ते आ रूपानो वाडको।
> मोर पोपट पुतलीयो गेडी दडी, ओ पेली वजाडवानी वांसली पडी।
> पाघडी टोपी ने आंगलां घणां, आ जुवो कामली पीछोडी हरितणां।
>
> —वही

प्रेमानंद की यशोदा भावनाशील होने के साथ ही कल्पनाशील भी है अतएव वह सोचने लगती है कि यदि उसकी विनती विधाता सुनले और वह देवकी के साथ ही धर्मराज के आगे जाये तो वे निश्चय ही उसका दुःख देखकर कृष्ण को देवकी से वापस दिला देंगे। कृष्ण नया अवतार धारण करके गोकुल में उसकी कोख से प्रकट होंगे और तब वह उन्हें अपना पुत्र कह कर प्यार कर सकेगी। यशोदा का इस प्रकार का प्रलाप सुनकर ज्ञानी उद्धव के भी आँसू बह चलते हैं—

अमो विधाता ने अेक विनती करीअे, हुं ने देवकी साथे मरीअे ।
धर्मराज आगलहुं जबडुं जइ, ऊभी राखुं हुं देवकी ने पालव ग्रही।
यम राढ चूकावशे खरी, मारो पुत्र अपावशे पाछो फरी ।
अवतार लइ गोकुल मां आवीश, अेनाअे पुत्रने हुं लडावीश।
अेमय शोदाजी रुअे टळवळे, उद्धव ने नयणे आंसु ढळे ।

—वही

काव्य की दृष्टि से कल्पना-मिश्रित यह भावचित्रण अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है क्योंकि समस्त कृष्णकाव्य में यह अतुलनीय है । यशोदा की कल्पना वस्तुतः उसकी गंभीर अनुभूति की ही व्यंजना करती है । यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिस वस्तु को व्यक्ति यथार्थ में नहीं प्राप्त कर पाता उसे कल्पना में पाने का प्रयास करता है और इस जन्म के अभावों की पूर्ति अगले जन्म में करना चाहता है ।

प्रेमानंद की यशोदा उद्धव से कृष्ण को देने के लिए संदेश रूप में जो कुछ कहती है वह उसकी प्रारंभ में अभिव्यक्त भावनाओं के पूर्णतया अनुकूल है । इस प्रकार यशोदा का भावविकास अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है । वह कृष्ण-बलराम के पास देवकी माता तथा वसुदेव पिता को सुखी रहने का संदेश भेजती है और अंत में यह भी कहला देती है कि मुझ अनाथ से भी ऐक बार मिल जाना । अगर अकेले देवकी न आने दे तो उसे साथ लेते आना—

ओधवजी कहेजो बंन्यो भ्रातने, सुखेणी करजो देवकी मात ने ।।
रखे छेह देता वसुदेव तातने, अेकवार मलजो अमो अनाथ ने ।
दुर्लभ जाणी गोपने को समे गोकुल आवजो ।
धीरे नहीं जो देवकी तो साथे तेडी लावजो ।

—वही, पृ० ३३१

उद्धव को विदा करते समय यशोदा के अन्तस्तल में उठने वाली भावनाओं को भालण और सूर दोनों ने व्यक्त किया है परन्तु निश्चय ही प्रेमानंद की सी मार्मिकता वे उत्पन्न नहीं कर सके ।

देवकी के प्रति संदेश कहलाते हुए भालण की यशोदा पुत्र-सुख के गत क्षणों की स्मृति में विभोर होकर कृष्ण की प्रत्येक मनोमोहक क्रीड़ा का ध्यान करने लगती है । उस सुख को पाने के लिए पुनर्जन्म धारण करने की लालसा उसके हृदय में भी उत्पन्न होती है—

उद्धव कहेजो, उद्धव कहेजो, देवकी ने अेक बात रे।
पुत्रतणां सुख अमो भोगव्यां, हवे तमो थाओ मात रे।
पुनरपि द्वापर गोकुल मांहे, कहानजी अवतरशे रे।
त्यारे भालण प्रभु रघुनंदन अमशुं अेमज करशे रे।

—दशम स्कंध, पृ० २२३

एक अन्य पद में वह कृष्ण के प्रिय व्यंजन बनाती हुई दिखाई देती है वह चाहती है कि कृष्ण एक बार ही आकर उसे कृतार्थ कर जांय। जिसे उसने हृदय से चिपकाये रक्खा उसे कैसे बिसार दे; जन्म-जन्म तक यदि वह कृष्ण की धाय ही बनती रहे तो भी उसे सुख होगा—

आज में रांध्यो ढ्ढण धोइ रे, वाटकी जोइ कृष्ण देवनी रे।
आज में रांध्यो कूर कातलीयो रे, कृष्ण ने पातलियो मारे प्रोहोणो रे।
हैडे चांप्यो क्यमकरी विसारुं रे. वायुं ने मन रहेशी पेर रे।
भव भव थाउं धाव हुं ताहरी रे, मारीने आश तमो पूरजो रे।

—वही, पृ० २२५

सूरदास की यशोदा नाना प्रकार से अपना दुख समझा कर अंत में कृष्ण को अपना आशीर्वाद कहला भेजती है। साथ ही वह घी-भरी दोहनी और मुरली आदि भी देती है जिससे उसके हृदय की गहरी वेदना की प्रीति का परिचय मिलता है।

कहियौ यशुमति की आशीस।
जहाँ रहो तहाँ नंदलाड़िलो जीवो कोटि बरीस।
मुरली दई दोहिनी घृत भरि ऊधो धरि लइ शीस।
यह घृत तौ उनही सुरभिन को जो प्यारी जगदीश।

—सू० सा० पृ० ७१४

३. रासलीला—रास को सामान्यतः कवियों ने आनंद-उल्लास, नृत्य-संगीत तथा प्रेम-मिलन के महापर्व के रूप में वर्णित किया है। कुछ कवियों ने उसकी विराटता एवं आध्यात्मिकता पर विशेष बल दिया है। बहुत कम कवि ऐसे हैं जिन्होंने अलौकिक नृत्यगीतमय आनंद की सहज स्थिति के बीच उदासी, दुख, उत्सुकता, विरह-कातरता, उद्विग्नता तथा तन्मयता आदि मानवीय भावों के लिए भी स्थान खोज निकाला हो और स्वतन्त्रता के साथ उनका विस्तार किया हो। सूरदास, नंददास तथा प्रेमानंद ने ऐसा ही किया है। नरसी मेहता का रास-वर्णन कृष्ण गोपियों के संयुक्त

नृत्य के नाद-पूरित आनंदमय वातावरण को अनेक रूपों में अनेक प्रकार से प्रस्तुत करता है। उसमें मानवीय भावों के आलेखन का आग्रह नहीं है। रास के इस पक्ष ने नरसी को इतना मुग्ध किया कि वे उसके भाव पक्ष की ओर ठीक से दृष्टिपात न कर सके। जहाँ कहीं भी रास के प्रसंग में भाव-चित्रण की ओर उनका झुकाव हुआ वहाँ वे अधिक से अधिक गोपियों की नृत्योत्सुकता, कृष्ण को रिझाने की लालसा, विलास-वासना, प्रिय की समीपता से उत्पन्न प्रसन्नता तथा मुग्धता का ही वर्णन कर सके हैं। शारदी पूर्णिमा की शुभ्र चांदनी में यमुना-तट पर होने वाले रास के नादमय एवं गतिशील दृश्य को प्रत्यक्ष करने की ओर उनका विशेष आग्रह रहा है। व्रजभाषा के भी अनेक कवियों में रास-वर्णन में दृश्य-निरूपण की अपेक्षा भाव-निरूपण की ओर कम ध्यान दिया है। फिर थोड़ा-बहुत जो भाव-निरूपण इन कवियों ने किया है वह भागवत के आश्रित और अनुकरणमूलक होने के कारण विशेष महत्त्व नहीं रखता। जैसा निर्देश किया जा चुका है सूरदास, नंद दास तथाप्रेमानंद की स्थिति इनसे भिन्न है। भागवत का आधार लेते हुए भी भाव-चित्रण में इन कवियों ने पर्याप्त स्वतन्त्रता से काम लिया है और अनुकरण करते हुए भी अपनी अनुभूति से भावों का अधिकाधिक विस्तार किया है।

रास का प्रारम्भ कृष्ण के वेणुवादन से होता है। उनकी वंशी में चराचर को विमुग्ध कर देने की शक्ति है, गोपियाँ तो योंही कृष्ण पर अनुरक्त रहीं। कात्यायनी-व्रत के द्वारा उन्होंने कृष्ण को प्राप्त करने का उपक्रम भी किया। अर्धरात्रि में ज्योत्स्ना के शत शत आवरणों को वेधती हुई जब अपार सम्मोहन लिये प्रिय की वंशी मधुर स्वर से उनका आवाहन करती है तो उन्हें एक विचित्र प्रकार का आह्लाद मिश्रित उन्माद होता है जिसमें सारा गृह-काज, सारी लोक-लाज तिरोहित हो जाती है कृष्ण के पास जा पहुँचने की उतावली वे सारे कार्य अधूरे छोड़ देती हैं अथवा उन्हें विपरीत ढंग से करने लग जाती हैं। भागवतकार ने गोपियों की इस मनःस्थिति को निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—

> दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
> पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥५॥
> परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
> शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥६॥
> लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अंजन्त्यः काश्च लोचने।
> व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः ॥७॥

—दशमस्कंध, अध्याय २९

सूरदास ने परिस्थिति को आत्मसात् करके गोपियों की आतुरता एवं व्याकुलता को जो अभिव्यक्ति प्रदान की है वह भागवत की मुखापेक्षिणी मात्र नहीं है। आभूषणों की अस्तव्यस्तता का जो संकेत भागवत में है उसे अत्यन्त स्वाभाविकता एवं मौलिकता से उन्होंने स्पष्ट किया है।

सुनि मुरली-सबद ब्रजनारि।
करति अंग श्रृंगार भूली काम गयी तनु मारि।
चरण सों गहि हार बांध्यो नैन देखत नाहिं।
कंचुकी कटि साजि लहँगा धरति हिरदय माहिं।
चतुरता हरि चोरि लीन्हीं भई भोरी बाल।
सूर प्रभु रति काम मोहन रासरुचि नंदलाल।

—सू० सा०, पृ० ४२१

यही नहीं, कृष्ण के आकर्षण के समक्ष संसार के समस्त आकर्षणों एवं सम्बन्धों के प्रति जो उपेक्षा-भाव गोपियों के हृदय में उत्पन्न होता है उसका वर्णन सूर ने भी अत्यन्त कुशलता के साथ किया है।

चली बन वेणु सुनत जब धाइ।
मात पिता बंधन इक त्रासत जाति कहाँ अकुलाइ।
सकुच नहीं, शंका हू नाहीं रैंनि कहाँ तुम जाति।
जननी कहति दई की घाली काहे को इतराति।
मानति नहीं और रिस पावति निकसी नातो तोरि।
जैसे जलप्रवाह भादौं को सो को सकै बहोरि।
ज्यों कैंचुरी भुजंगम त्यागत मात पिता यों त्यागे।
सूर श्याम के हाथ बिकानी अलि अंबुज अनुरागे।

—वही

जाती हुई गोपी की जननी के भावावेगमय शब्दों को अत्यन्त स्वाभाविक रूप में व्यक्त करके परिस्थिति को सजीवता प्रदान की गयी है तथा अनेक सटीक उपमाओं से भाव को विशेष बल मिला है।

प्रेमानंद ने प्रेमजन्य उत्सुकता के अतिरेक को व्यक्त करने वाले विभ्रम को अधिक विस्तार प्रदान किया है। आभूषणों की अस्तव्यस्तता के अभिनव उदाहरण तो दिये ही हैं, साथ ही अनेक नवीन परिस्थितियों का सृजन करके कल्पना-वैभव तथा भावाभिव्यक्ति की विशेष क्षमता का परिचय भी दिया गया है। साथ ही स्वाभाविकता की सर्वत्र रक्षा की गयी है—

कोइक नहातां नाद सांभल्यो मन थयुं हरिमां मग्न रे।
ते जळे निगलती उठी चाली वस्त्र वहोणी नग्न।
अबलां आभरण भूषण पहेर्‌यां मनडुं रह्यु जुगदीश रे।
ओढणी पहेरी कटि संगाथे चरणां ओढ्‌या शीश।
अेक बांहे पेहेरी चोलीनी , माहे अबळो आप्यो हाथ रे।
अेक स्तन उघाडुं दीसे जेम देहेरां विना उमयानाथ।
को काजले करी ने सेंथो पूरे को नयणे आंजे सीन्दुर रे।
को कोई ने प्रीछे नहीं बाला प्रेम उदधीनुं पूर।
करमुद्रिका पग अंगुलिये, विछुवा कर अंगुली मांये रे।
चरणना झांझर काने पेहेर्‌यां कर कंकण पेहेर्‌यां पाये।
कटि मेखला कंठे पेहेरी कटि विठ्‌या मोती हार रे।
गलुबंध पावलीये बांध्यो पग घूघरी कंठ घमकार।
गोफणे बाजुबंध ने स्थानक पहोंचे बांध्या शिशफूल रे।
आभूषण मारगमां पडतां जेनां मोंघां मूल।

—श्रीम० भा,० पृ० २८८

यहाँ प्रेमानंद ने इतने उदाहरण एक के बाद एक प्रस्तुत किये हैं कि उनमें एकरसता का आभास आने लगता है परन्तु उनकी कल्पनाशक्ति की स्वतन्त्रता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। एकस्वरता से भावाभिव्यक्ति को जो आघात पहुँचता है उसका परिहार परिस्थितियों की नवीनता के द्वारा हो जाता है। अपूर्ण रूप से बद्ध आभूषणों के मार्ग में गिर जाने का उल्लेख कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। इस प्रकार अस्तव्यस्त गोपियां जब कृष्ण के समीप पहुँचीं तो उन्होंने प्रेम की परीक्षा लेने के उद्देश्य से घर वापस लौट जाने के लिए कहा। जिसके लिए गोपियों ने माता, पिता, पति, पुत्र सभी को त्याग कर निशीथ में निर्जन वन के बीच आना स्वीकार किया उसी के मुख से इस प्रकार के कठोर शब्द सुनकर उनका सारा उल्लास शिथिल हो गया और वे दुःख से कातर हो उठीं। कवियों ने गोपियों की इस मर्म वेदना को परखा। सूरदास ने उनके हृदय की अनन्य प्रीति को भावविह्वल उद्‌गारों के द्वारा व्यक्त किया। प्रेमानंद ने दुख की दशा को चित्रित करने वाली अनेक भावमुद्राओं की संयोजना की जिसकी प्रेरणा उन्हें भागवत के 'चरणेन भुवं लिखन्त्यः' से मिली। इस आकस्मिक प्रहार से आहत गोपियों के स्तंभित एवं शिथिल शरीर की अवस्था को अभिव्यक्ति प्रदान करने में नंददास ने भी पर्याप्त तन्मयता प्रदर्शित की है। उनके वर्णन में भावमुद्राओं के साथ अनुभावों तथा उपमाओं का विचित्र संगुंफन मिलता है—

सूर—क. श्याम उर प्रीति मुख कपट बानी।
युवती व्याकुल भईं धरणि सब गिरि गईं
आश गई टूटि नहिं भेद जानी।

—सू० सा०, पृ० ४३३

ख. तुम पावत हम घोष न जाहिं।
कहा जाइ लैहें हम ब्रज में, हम यह दरशन त्रिभुवन में नाहिं।
तुमहू ते ब्रज हित कोऊ नहिं कोटि कहौ नहि मानैं।
काके पिता मात हैं काके काहू हम नहिं जानैं।
काके पति सुत मोह कौन को घर हैं कहा पठावत।
कैसो धर्म, पाप है कैसो, आश निराश करावत।
हम जानैं केवल तुमही को और वृथा संसार।
सूर श्याम निठुराई तजिये तजिये वचन विसार।

—सू० सा०, पृ० ४३४

ग. सुनहु श्याम अब करहु चतुरई क्यों तुम वेणु बजाइ बुलाई।
विधि-मरजाद लोक की लज्जा सबै त्यागि हम धाई आई।

—वही

प्रेमानंद—उत्तर आप्यो अविनाश मर्मनी वात कही।
हतो उत्साह सहु नार रुपे झांखी थई।
करें मांहोमांही अवलोकन, कर्मनी वात कहे।
ऊंडा मूके निश्वास ललाटे हाथ दीओ।
को मुख ऊपर दे हाथ, वडवा दोडती।
को नयणां चढावी जोय, नथी दृष्ट चोरती।
को करी हस्तनां चिन्ह हरि कने आवती।
को अधर डसी ने जोय, हरिने विह्वडावती।
को कर पर देइ कपोल, बेसे शिथिल थई।
कोइ अेक मागे मर्ण, विधि कने ऊभी रही।
को निंदे कात्यायनी व्रत, सुकृत वृथा थयुं।
अेणे जोयां नग्न शरीर, आज ब्रह्मचर्य गयुं।
को झटके लांबा केश, अंबोडो फरी वाले।
को ले अंगुली मुखमांहे नयणे जल ढाले।

को नमी करे नमस्कार, हरिना गुण जणंती ।
को अलबेली करे आल, अंगुठे धरा खणती ।

—श्रीम० भा०, पृ० २५९

उक्त पंक्तियों में प्रेमानंद ने भावमुद्राओं के साथ हृदय के उद्‌गारों का भी वर्णन किया है परन्तु उनमें सूर जैसी विह्वलता के दर्शन नहीं होते। प्रेमानंद की तरह सूर ने गोपियों को अपने किये का पश्चात्ताप करते नहीं दिखाया। उनकी गोपियां अंत तक कृष्ण को अपने प्रेम का विश्वास दिलाना चाहती हैं। पश्चात्ताप की भावना प्रेम को चरमोत्कर्ष तक नहीं पहुँचने देती, यद्यपि वह भी एक मानवीय वृत्ति ही है और मनोहर भी। यों प्रेमानंद ने गोपियों के उद्‌गारों में अनन्यता तथा प्रेमातिरेक का भी वर्णन किया है—

अमो मेली पतिकुल लाज, बालक परहर्यां ।
अमो अमारां शीष तारे चरण धर्यां ।
तुंने मलतां थाशे अधर्म तो थावा द्यो सुखे ।
शुं अधिकुं करशे यमराय, नाखशे नरक विखे ।

—वही

नंददास ने इस अवसर पर कृष्ण के शब्दों की गोपियों पर होने वाली प्रतिक्रिया का अनुभावों द्वारा चित्रण किया है—

नंददास— जब पिय कह्यो घर जाहु, अधिक चित चिंता बाढ़ी ।
पुतरिन की सी पाँति रहि गई इक-टक ठाढ़ी ।
दुख के बोझ छवि सींव ग्रीव, नैं चली नाल सी ।
अलक अलिन के भार नमित मनु कमल माल सी ।
हिय भरि बिरह हुतास, उसासनि संग आवत झर ।
चले कछू मुरझाई मधुभरे अधर बिंब बर ।
तब बोली ब्रज-बाल, लाल मोहन अनुरागी ।
सुन्दर गदगद गिरा गिरिधरहिं मधुरी लागी ।

—नंददास, पृ० १६३

गोपियों की उदासी एवं दुख का परिहार तब होता है जब कृष्ण उनके साथ रास करना स्वीकार कर लेते हैं। सूर ने इस अवसर पर गोपियों की प्रसन्नता का जैसा अंकन किया है वैसा अन्य किसी कवि ने नहीं किया। कृष्ण और गोपियों के मन की मुख्य अभिलाषा मूर्त होने जा रही थी अतएव भाव के साथ अनभाव और अनुभाव के साथ चेष्टाएँ स्वतः प्रकट हो उठीं—

हरि मुख देखि भूले नैन।
हृदय हरषित प्रेम गदगद मुख न आवत बैन।
काम आतुर भजी गोपी हरि मिले तेहि भाइ।
प्रेमवश्य कृपालु केशव जानि लेत सुभाइ।
परस्पर मिलि हँसत रहसत हरषि करत विलास।
उमंगि आनंदसिंधु उछल्यो श्याम के अभिलाष।
मिलति इक इक भुजनि भरि भरि रास रुचि जिय आनि।
तेहि समय सुख श्याम-श्यामा सूर क्यों कहै गानि।

—सू० सा०, पृ० ४३६

जैसा निरूपित किया जा चुका है, उत्सुकता तथा आतुरता के भाव के कारण आभूषणों एवं वस्त्रों की विपर्यस्तता का वर्णन तो अनेक कवियों ने किया है, परन्तु विपर्यस्त वस्त्राभूषणों के कारण उत्पन्न एक नवीन भावस्थिति का वर्णन सूर के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने नहीं किया है—

रास रुचि जबहिं श्याम मन आनी।
करहु शृंगार सँवारि सुन्दरी हँसत कहत हरि बानी।
जो देखे अँग उलटे भूषण तब तरुनिन मुसुकानी।
बारंबार देखि पिय को मुख पुनि पुनि युवति लजानी।

—सू०, सा० पृ० ४३६

वस्तुतः परिस्थिति के अनुकूल भावों की योजना तथा भावों के अनुकूल परिस्थिति की योजना अपनी मौलिक कल्पना एवं अन्तर्दृष्टि के आधार पर करते जाना सूर का स्वभाव है। जितनी पूर्णता से भाव और स्थिति को वे आत्मसात् कर पाते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। गुजराती तथा ब्रजभाषा का कोई कवि इस दिशा में उनकी समानता नहीं कर पाता। उक्त प्रसंग इसका एक उदाहरण है। सारे सूरसागर में ऐसे अगणित उदाहरण मिलते हैं। रास के प्रसंग में ही कई कवियों ने राधाकृष्ण के ब्याह का वर्णन किया है परन्तु सूर की तरह इस अवसर पर कंकण खोलने के साथ व्यंग्य परिहास एवं आनंद के मनोभावों का संयोजन किसी ने नहीं किया है—

नहिं छूटे मोहन डोरना हो।
बड़े हो बहुत बछोरियो हो ये गोकुल के राइ।
की कर जोरि करौ विनती कै छुवौ श्री राधाजी के पाइं।
यह न होइ गिरि को धरिबो हो सुनहुँ कुँवर गोपीनाथ।

आपन को तुम बड़े कहावत काँपन लागे हैं दोउ हाथ।
बहुरि सिमिटि ब्रज सुन्दरी मिलि दीन्ही गांठि बनाइ।
छोरहु वेगि कि आनहु अपनी यशुमति माइ बुलाइ।

—सू० सा०, पृ० ४४२-४३

रास के बीच जब कृष्ण अन्तर्ध्यान हो जाते हैं उस समय गोपियाँ पुनः विरह-वेदना तथा दुख से कातर हो उठती हैं। उनकी यह कातरता इस सीमा पर पहुँच जाती है कि वे लत, द्रुम, पशु-पक्षी आदि सभी चेतन, अचेतन पदार्थों से कृष्ण का पता पूछने लगती हैं। भागवत में दशम स्कंध के तीसवें अध्याय में इस प्रकार का वर्णन है जिसका निर्देश वर्ण्य वस्तु के प्रसंग में किया जा चुका है। अनेक कवियों ने भागवत का अनुकरण करते हुए गोपियों की इस मनःस्थिति का चित्रण किया है परन्तु इसमें नंददास को अद्वितीय सफलता मिली है। कृष्ण को खोजती हुई गोपियों के हृदय के साथ जितनी तन्मयता उनके हृदय की हो सकी है उतनी अन्य किसी कवि में नहीं मिलती। नंददास की रासपंचाध्यायी का यह स्थल भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से श्रेष्ठतम काव्य की कोटि में रक्खा जा सकता है। उनका वर्णन किसी प्रकार अनुकरण मूलक प्रतीत नहीं होता—

ह्वै गई विरह विकल मन, बूझत द्रुम बेली बन।
को जड़ को चैतन्य कछु न जानत विरही जन।
हे मालति! हे जाति! जूथिके! सुनि हित दै चित।
मानहरन, मनहरन लाल गिरिधरन लहे इत।
हे केतकि, इत तैं चितये, कितहूं पिय रूसे।
किधौं नँद नंदन मंद मुसकि तुम्हरे मन मूसे।
हे मुक्ताफल बेलि धरे मुक्ताफल माला।
देखे हैं नैन विसाल, मोहना नंद के लाला।
हे मंदार उदार, बीर करबीर महामति।
देखे कहुँ बलबीर धीर, मनहरन, धीरगति।
हे चंदन, दुखकंदन सब की जरनि जुड़ावहु।
नँदनंदन, जगवंदन, चंदन हमहिं बतावहु।
पूछहु री इन लतनि फूलि रही फूलन जोई।
सुन्दर पिय कर परस बिना अस फूल न होई।
हे सखि, हे मृगबधू, इनहि किन पूछहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबै कहुँ देखे हैं हरि।

—नंददास, पृ० १६७-६८

उद्धरण की दूसरी पंक्ति कालिदास के मेघदूत की उक्ति **'कामर्ता हि प्रकृति कृपणा-श्चेतनाचेतनेषु'** से स्पर्धा करती है। फूलों से लदी हुई लता को देख कर कहना कि बिना प्रिय के स्पर्श के ऐसी प्रफुल्लता हो ही नहीं सकती, प्रेमी के भावविभोर हृदय के भोले विश्वास का परिचायक है। इसी तरह मृगवधू के डहडहे नेत्रों ने अवश्य प्रिय को देखा होगा, इसी कारण उनमें डहडहापन है, जैसी भावनाएँ भी अत्यन्त सरल एवं निश्छल प्रेम को ही व्यक्त करती हैं। गुजराती कवि नरसी मेहता ने अपने रास-वर्णन के एक पद में इस स्थिति का जो वर्णन किया है वह नंददास के उक्त उद्धरण के आगे बहुत फीका लगता है। नंददास की तरह इस स्थल पर वे तन्मय न हो सके—

> पुछती हिंडे कल्पद्रुम वेली, तरुवर ताल तमाल रे।
> हरि हरि करती नयणे जल भरती, कोणे दीठडो नंदजी नो लाल।
>
> —न० कृ० का०, पृ० १९५

रासलीला के अन्तर्गत भावाभिव्यक्ति के प्रधान स्थल यही हैं।

४. **दानलीला**—दही बेचने मथुरा जाती हुई गोपियों से कर रूप में कृष्ण का दधि-दान मांगना दानलीला की मुख्य घटना है जिसका विस्तार करके कवियों ने भावाभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त क्षेत्र खोज लिया। वाह्यतः दान के औचित्य को लेकर वाद-विवाद का सूत्रपात होता है जो भावातिरेक की सीमा पर पहुंच कर मुक्त संघर्ष का रूप धारण कर लेता है; परन्तु सारे वाद-विवाद, सारे संघर्ष के अन्तर्गत विशुद्ध एवं प्रगाढ़ प्रेम की एक विचित्र अन्तस्सलिला प्रवाहित होती रहती है जिसको रसमय अभिव्यक्ति कहना ही प्रायः कवियों का लक्ष्य रहा है। सूर ने अपनी दानलीलाओं में शृंगारमयी भावभूमि को स्पष्ट आध्यात्मिक संकेतों से संयुक्त करके उच्चतर बनाने का सफल प्रयास किया है और साथ ही भावनाओं की सूक्ष्मतम अनुभूतियों को अनेका-नेक रूपों में प्रकट करते हुए उन्हें चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। गुजराती तथा ब्रजभाषा के सभी कवि इस क्षेत्र में उनसे बहुत पीछे छूट गये हैं यद्यपि भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से सूर तथा अन्य कवियों में पर्याप्त समानता है और भाववस्तु भी प्रायः एक-सी ही है।

कृष्ण की ओर से दान मांगे जाने पर गोपियों को आश्चर्य होता है, क्योंकि उनके ब्रज में ऐसा कभी हुआ ही नहीं। वे कृष्ण के अधिकार प्रदर्शन पर तीव्रतम व्यंग्य कर उठती हैं। कृष्ण की पिछली सारी करतूतें उन्हें याद आती हैं। भावावेग में वे विविध प्रकार से कृष्ण की आलोचना करने लगती हैं। उनके व्यंग्य वचनों तथा उपालंभों

के पीछे से उनके हृदय का वास्तविक सत्य झलकता रहता है। कवियों ने गोपियों की इस मनोदशा को परखने और व्यक्त करने की पूरी चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में जो वाद-विवाद कवियों ने कराया है उसकी वचन-वक्रता तथा भाव-भंगिमा दर्शनीय है।

सूर की 'ग्वालि' ज्योंही यह जान पाती कि दान की याचना कृष्ण ने की त्योंही उसकी भावमुद्रा व्यंग्यात्मक हो जाती है—

तब हँसि बोली ग्वालि नाम जब कान्ह सुनायो।
चोरी भरचो न पेट आनि अब दान लगायो।
कालिहि घर घर डोलते खाते दही चुराइ।
राति कछू सपनो भयो प्रात भई ठकुराइ।
हमहि कहत हौ चोरटी आपु भयो हौ साहु।
चोरी करत बड़े भये मही छाक लै खाहु।

—सू० सा०, पृ० २९७-९८

निषेध के पीछे स्वीकृति, 'नाहीं' के पीछे 'हाँ' छिपाये रखना स्त्री-स्वभाव की प्रसिद्ध विशेषता है। बाहर बाहर कृष्ण के दान माँगने से खीझने वाली ग्वालिन भीतर भीतर उन पर कितनी अनुरक्त है, इसे सूर ने निम्न पद में अत्यन्त कुशलता से व्यक्त किया है—

भोरहिं ते कान्ह करत मोसों झगरो।
औरन छाँड़ि परे हठ हमसों दिन प्रति कलह करत नहिं डगरो।
अनबोहिनी तनक नहिं दैहौं ऐसेहि छीनि लेहु बरु सगरो।
सब कोउ जात मधुपुरी बेचन कौने दियो दिखावहु कगरो।
अंचल ऐंचि ऐंचि राखत हौ जान देहु अब होत है दगरो।
मुख चूमति हंसि कंठ लगावति आपुहिं कहति न लाल अचगरो।
सूर सनेह ग्वारि मन अटक्यो छाँडहु दियो परत नहिं पगरो।
परम मगन ह्वै रही चितै मुख सबते भाग याहि को अगरो।

—सू० सा,० पृ० २९९

'ऐसेहि छीनि लेहु बरु सगरो' कहने से दही के छीने जाने से उत्पन्न होने वाली सुखानुभूति और तदर्थ स्वीकृति की पूर्ण व्यंजना होती है जिसे कवि ने अन्तिम पंक्तियों में बहुत स्पष्ट कर दिया है।

इसी प्रकार भालण की भी एक गोपी उत्तर देते समय व्यंग्यात्मक शब्दों के साथ आत्मश्लाघा करती जाती है परन्तु वस्तुत: उसका हृदय कृष्ण पर आसक्त है—

गाय चारो नंदनी तो दाणी तुं कोने कर्यो।
चोरी ने दूध दहि खातो पीयारे तुं उछर्यो।
बीहावो ते बीजी ने भोली होये भामिनी।
तम थकी हुं अधिकुं छुं रे कुटिल विद्या कामिनी।
बीहे ते तो बले आपे, बीक मारे छे कशी।
भालण प्रभु रघुनाथ ने कह प्रीति रीते मन वशी।

—द० स्कं० पृ० १००-१०१

एक अन्य परकीया गोपी कृष्ण से अपना हाथ छुड़ाती हुई जो कुछ कहती है उससे उसकी मधुर अनुरक्ति पूरी तरह व्यंजित होती है। एक ओर तो वह कृष्ण को सीख देती जाती है, दूसरी ओर अपनी परवशता तथा स्नेहविभोरता को भी छिपाना नहीं चाहती। पहले कहती है कि हाथ छोड़ दो, मेरी कोमल उंगली मत मरोड़ो, अब कभी नहीं आऊंगी। फिर कहती है कि कल नंद तुम्हारा ब्याह कर देंगे, सुन्दर स्त्री आयेगी, कहीं परस्त्री से घर बसता है।

बहुत कुछ उसके इतने कथन से ही प्रकट हो जाता है। इसके पश्चात् जब वह चतुराई की दुहाई देकर कृष्ण से घर जाने के लिए कहती है और वहां बातें करने योग्य एकान्त का अभाव तथा सखियों के आने का भय बताती है तो जो कुछ रहा सहा है वह भी स्पष्ट हो जाता है।[२१]

नरसी और प्रेमानंद ने भी अपनी-अपनी रीति से गोपी के हृदय की गुप्त प्रीति को प्रकट किया है। नरसी ने आंगिक चेष्टाओं के माध्यम से भावमुद्रा को अत्यन्त मनोहारी रूप में चित्रित किया है—

मुख आडो, पालव ग्रही, ताण्यां भवानां बाण।
नयन कटाक्षे निहाली ने बोली, 'प्रभु शानां मागो छो दाण'।

—न० कृ० का०, पृ० १५६

अपने सौन्दर्य को प्रदर्शित करके गोपी का यह पूछना कि किसका दान मांगते हो, एक गूढ़ अर्थ की प्रतीति कराता है।

प्रेमानंद ने भी गोपी की रीझ-खीझ-भरी मनोदशा को सफलता से अंकित किया है।[२२]

पर राधा-कृष्ण का व्यंग्य-प्रेमयुक्त वाद-विवाद प्रेमानंद के द्वारा जिस रूप में वर्णित किया गया है वह अधिक प्रशंसनीय है। राधा और कृष्ण दोनों के उत्तर एक दूसरे से अधिक सचोट सिद्ध होते हैं। दोनों एक दूसरे के द्वारा लगाये गये आरोपों का प्रत्युत्तर नये-नये आरोप लगाकर देते हैं तथा अधिकाधिक उत्तेजक शब्दों का प्रयोग करके अपनी-अपनी अप्रतिहत क्षमता का प्रदर्शन करते हैं। संवाद का एक ही अंश उदाहरण के लिए पर्याप्त है जिसमें दोनों एक दूसरे के बाप तक पहुंच जाते हैं—

राधिका—पाधरी वाटे ते लडे रे, जेने होये बे बाप।
दाणनी शुं ते महोर करावी, कंसे कीधी शुं छाप।

श्रीकृष्ण—छाप तो तारो बाप करावे, रांकडो वृषभान।
अमो कुंवर नंदजीतणा, कोनी नव मानुं आण।

परस्पर अहंकार का प्रदर्शन एवं संघर्ष दान के प्रसंग की लीलात्मकता को निखार देता है।

नरसी की पूर्वोद्धृत पंक्तियों में जिस गूढ़ार्थ को केवल व्यंजित करके छोड़ दिया गया है उसका आधार लेकर सूर ने अद्भुत भाव विस्तार किया है। दूध-दही का दान मांगने के पीछे कृष्ण का जो वास्तविक भाव था वह प्रकट हो जाता है। वे दधिदान के स्थान पर यौवनदान लेने का संकल्प करते हैं और प्रगल्भ ग्वालिनों को पूरी तरह अपने वश में करना चाहते हैं—

जोबनदान लेउँगो तुमसों।
जाके बल तुम बदति न काहुहि कहा दुरावति हमसों।
ऐसो धन तुम लिये फिरति हो दान देत सतराति।
अतिहि गर्व ते कह्यो न मोसों नित प्रति आवत जात।
कंचन कलश महारसभारे हमहूँ तनक चखावहु।
सूर सुनहु करि भार मरति कत हमहि न मोल दिवावहु।
—सू० सा०, पृ० २९९

यहाँ अभिधा के द्वारा सीधे-सीधे अभिप्राय प्रकट किये जाने से काव्य-सौन्दर्य में जो हानि हुई है, अन्यत्र इसी अभिप्राय को व्यंजना द्वारा अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रस्तुत करके सूर ने एक प्रकार से उसका परिहार कर दिया है।

कृष्ण 'जोबनदान' अथवा 'अंग अंगनि को दान' स्पष्टतया न माँग कर कनक-कलश, हंस-केहरि आदि उपमानों के द्वारा अंग-प्रत्यंग के दान लेने की व्यंजना करते हैं,[२१]

गोपियाँ कृष्ण के इस पहेली जैसे कथन को समझ नहीं पातीं। वे चकित हो उठती हैं, क्योंकि दूध-दही को छोड़कर इन वस्तुओं का न कभी उन्होंने व्यापार किया, न वे आसपास कहीं दिखाई ही दे रही हैं।

जब वह पूरी तरह असमर्थ हो जाती हैं तब कृष्ण उन्हें प्रत्येक उपमान का उपमेय बताकर वास्तविक अभिप्राय समझाते हैं। ज्यों ही गोपियों की समझ में कृष्ण का अभिप्राय आता है त्योंही वे पुनः खीझ कर व्यंग्य करने लगती हैं—

मांगत ऐसे दान कन्हाई।
अब समुझी हम बात तुम्हारी प्रगट भई कछु धौं तरुनाई।
यहि लालच अँकवारि भरत हौ हार तोरि चोली झटकाई।
अपनी ओर देखि धौं लीजै ता पाछे कीजै बरिआई।
सखा लिये तुम घेरत पुनि पुनि बन भीतर सब नारि पराई।
सूर स्याम ऐसी न बूझिये इनि बातनि मर्यादा जाई।

—सू० सा०, पृ० ३११

फिर तकरार बढ़ जाती है। गोपियाँ यशोदा के पास उलाहना देने जाती हैं और यशोदा 'मेरो हरि कँह दसहि बरष को तुम यौवन मद उदमानी' कह कर सारा दोष गोपियों के ही सिर मढ़ देती हैं। इन उपालंभों में सूर ने भावों का अंकन अत्यन्त कौशल से किया है। कल्पना द्वारा सारा प्रसंग रचकर विविध मानवीय भावों को उसमें ग्रथित कर देने की उनमें जो क्षमता है उसका पूरा परिचय उनकी दान-लीलाओं से मिल जाता है।

उपालंभ देने वाली इन गोपियों के बीच सूर ने एक ऐसी भाव भरी गोपी को खोज लिया जो यौवनदान की बात सुनकर संकोच और लाज से मरी जा रही है। वैसे ही लोग उसका उपहास करते थे, जब यह सुनेंगे तो वे सचमुच कृष्ण से उसके प्रेम-संबंध को समझ जायेंगे। उसकी अनुनय पूर्ण मनोदशा दर्शनीय है—

स्यामहि बोलि लियो ढिग प्यारी।
ऐसी बात प्रगट कहुँ कहिये सखनि मांझ कत लाजनि मारी।
एक ऐसेहि उपहास करत सब तापर तुम यह बात पसारी।
जातिपाँति के लोग हँसहिंगे प्रगट जानिहैं स्याम भतारी।
लाजनि मारत हौ कत हमको हाहा करति जाति बलिहारी।
सूर स्याम सर्वज्ञ कहावत मात पिता सों दयावत गारी।

—सू० सा०, पृ० ३१२

कुछ ऐसा ही भाव एक स्थल पर नरसी ने भी दिखाया है—

फजेत थवानीं आ वातडी रे कान जी मांडी ते आज।
व्रज मां ते जाणशे नंद जी कहो केम रहशे लाज।

—न० कृ० का०, पृ० ३१६

दान के प्रसंग में कृष्ण और गोपियों का झगड़ा बातों तक ही सीमित नहीं रहता। उसमें आलिंगन, स्पर्श, चुंबन तथा हाथापायी तक की स्थिति आ जाती है। नरसी ने दान के कारण होने वाले संघर्ष को 'सुरतसंग्राम' में पूरी तरह संग्राम का रूप दे दिया है। जिस प्रकार उपर्युक्त पदों से सूर की असाधारण कल्पनाशक्ति का परिचय मिलता है उसी प्रकार 'सुरतसंग्राम' में नरसी की अद्भुत कल्पना के दर्शन होते हैं। रति के साथ उत्साह का सम्मिश्रण रतिवर्णन में अनेक कवियों ने किया है परन्तु दान के साथ उसे सम्बद्ध करके शृंगार के अन्तर्गत वीर रस का पूरा वातावरण प्रस्तुत कर देना वस्तुतः एक विचित्र भाव-योजना है। नरसी ने रूपक के आधार पर दोनों का निर्वाह करना चाहा है जिसमें अधिकतर उन्हें सफलता मिली है परन्तु कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ रूपक एकांगी होकर टूट जाता है और जिन वस्तुओं का उल्लेख वातावरण को पूरा करने के लिये किया गया है वे वीभत्सता का आभास कराकर शृंगार रस के आस्वादन में व्याघात उत्पन्न करती हैं। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

क. निर्बलो भागिया, मलमूत्र त्यागिया, कोपि सुणो शब्द नहीं गोपी जेवो।

—न० कृ० का०, पृ० १०१

ख. शान्ति गई वस्तिनी, वृष्टि थई अस्थिनी, वायु भयंकर त्यारे वातो।

—वही, पृ० १०३

ग. अशुद्धना चक्ष ने, गीध करे भक्षने, दक्षने जोइ करे कईक लें' के।

—वही, पृ० ११७

जिस युद्ध में कटाक्ष ही बाण हों, भौंहें ही धनुष हों तथा आलिंगन-चुंबनादि ही प्रहार एवं आघात हों वहाँ मलमूत्र-त्याग, अस्थिवर्षा तथा गीधों द्वारा नेत्र-भक्षण का क्या प्रश्न उठता है। ऐसे वर्णन संग्राम के यथार्थ वातावरण को प्रस्तुत करने के लिए किये गये हैं परन्तु कवि को यह नहीं भूलना था कि यह संग्राम मात्र का वर्णन न होकर 'सुरत संग्राम' का वर्णन है। ऐसे स्थल अस्वाभाविक इसलिए लगते हैं कि जुगुप्सा शृंगार रस का संचारी भाव नहीं है। इन स्थलों को छोड़कर अन्यत्र रति उत्साह

के सम्मिलित चित्रण में नरसी को पर्याप्त सफलता मिली है। कहीं-कहीं भावों का विकास अपनी चरमसीमा तक पहुंच गया है। बलराम के साथ विशाखा और कृष्ण के साथ राधा के युद्ध के दो ऐसे दृश्य नीचे दिये जा रहे हैं जिनमें भावावेश का अत्यन्त ओजपूर्ण चित्रण हुआ है—

क. पिंड द्वय पीसतां, मन मां हीसतां, त्राहे त्राहे करती विशाखा।
चुंबने चोलता, सप्त विधि घोलता, अष्ट आलिंगने चोली नाख्यां।
अष्टादश हाव मां, वलि पंच भाव मां, पकडतां दाव मां दाग पाय।
नव हवां चूकिये, कोइदि नव मूकिये, भ्रात नरसैंनो बहु पीडाय।

—न० कृ० का० पृ० १०८

ख. मर्यादने लोपी ने, दुःखी करी गोपी ने, धोपी ने धाइ रण बीच राधे।
दृग-असि सज करी, ढाल उरनी धरी, भुव शरासन विच शर ने सांधे।

—वही

दान के प्रसंग में राधा-कृष्ण का प्रेम और रोषपूर्ण संघर्ष सूरदास ने भी चित्रित किया है परन्तु उसमें ओज के स्थान पर कोमलता की तथा रोष के स्थान पर प्रेम की प्रधानता मिलती है।[२४]

जिन कवियों ने युद्ध और संघर्ष को दान के मूल भाव के बहुत अनुकूल नहीं समझा उन्होंने कृष्ण में इतनी विनम्रता प्रदर्शित की है कि वे याचक बनकर प्रिया के चरणों में अपना शीश तक रख देते हैं। भालण और ध्रुवदास ने कृष्ण की मनोदशा का इसी रूप में चित्रण किया है—

भालण—श्याम सुन्दर हस्या त्यारे वचन श्यामाना सुणी।
केशवजी कर जोडिया ने प्रीति वाधी अति घणी।

—द० स्कं०, पृ० १०३

ध्रुवदास—प्रिय प्रवीन रस प्रेम में कह्यो सहचरी कीन।
दान मान रस छाँड़ि कै सीस पगन तर दीन ॥१७॥

गौडीय कवि माधवदास ने राधा को इतना स्नेह-विभोर चित्रित किया है कि संघर्ष की स्थिति आने ही नहीं पाती। कृष्ण के हाथ का स्पर्श होते ही वह पूर्णतया प्रेमविह्वल हो जाती हैं और अनेकानेक अनुभाव प्रकट होने लगते हैं।[२५]

दधिदान और यौवनदान देने के अनन्तर ग्वालिनों में जो प्रेमोन्माद उत्पन्न होता है और जो विसुधि उनके मन पर छा जाती है उसका वर्णन सूर ने अत्यन्त स्वाभाविक

रूप से किया है। दही बेचनेवाली ग्वालिन प्रेमजन्य विस्मृति की अवस्था में कभी वृक्षों के हाथ दही बेचने लगती है, कभी दही का नाम ही भूल जाती है और 'दही लो, दही लो' न कह कर 'कृष्ण लो, गोपाल लो' आदि कहने लगती है—

क. तरुणी श्याम रस मतवारि।
प्रथम जोवन रस चढ़ायो अतिहि भई खुमारि।
दूध नहिं, दधि नहीं, माखन नहीं, रीतो माट।
महारस अँग अँग पूर्‌यो कहाँ घर कहाँ घाट।

—सू० सा०, पृ० ३२४

ख. या घर में कोउ है कि नांहीं।
बार बार बूझति वृक्षन को गोरस लैहौ कि नांही।
आपुहि कहति लेहु नाहीं दधि और द्रुमन तर जाती।
मिलति परस्पर बिवश देखि तेहि कहति कहा इतराती।
ताको कहति आपु सुधि नाहीं सो पुनि जानत नाहीं।
सूर श्याम रस भरी गोपिका बनते यों बितताहीं।

—वही

ग. कोऊ माई लैहै री गोपालहिं।
दधि को नाम श्यामसुन्दर रस बिसरि गई ब्रजबालहिं।
मटुकी शीश फिरत ब्रजबीथिन बोलत बचन रसालहिं।
उफनत तक्र चहूँदिशि चितवति चित लाग्यो नँदलालहिं।
हँसति रिसाति बोलावति बरजति देखहु उलटी चालहिं।
सूर श्याम बिनु और न भावै या बिरहिनि बेहालहिं।

—वही, पृ० ३२६

कृष्ण-प्रेम से उत्पन्न बिस्मृति की उस मनोदशा का जिसमें ग्वालिन दही का नाम भूल कर उसके स्थान पर कृष्ण का नाम लेने लगती है, ब्रजभाषा के अन्य कवियों—चतुर्भुजदास तथा मीरां—ने भी किया है।[२६]

गुजराती कवि नरसी में भी यह भाव मिलता है। ग्वालिन के द्वारा मटकी में दही के स्थान पर कृष्ण बताये जाने पर नरसी के कृष्ण सचमुच उसकी मटकी में समा जाते हैं—

धरणीधरसु लागुं मारुं ध्यान रे।
लोक कहेशे गोपी घेली रे थइ छे।
माथे छे महि कहे छे कान रे।

बेचंती बेचंती चाली नगर मुझार रे।
मटुकी मांहे आवी रह्या देव मोरार रे।
चौद लोक अेना मुखमां समाय रे।
अेवो वैकुंठनाथ केम मटकी मां माय रे।
नरसैंया चो स्वामी भक्त आधीन रे।
आप सरीखडा कीधा आहीर रे।

—न० कृ० का०, पृ० ५३६ तथा पृ० २८८

इस पद में नरसी ने मूल-भाव विस्मृति का विकास न करके अन्तिम पंक्तियों में कृष्ण के ऐश्वर्यमय रूप का तथा उनकी सर्वव्यापकता का जो परिचय दिया है, काव्य की दृष्टि से उसकी कोई उपयोगिता नहीं दिखाई देती। दानलीला के अन्तर्गत सूर ने भी कृष्ण के ऐश्वर्य की ओर कई बार संकेत किया है। ऐसा करके उन्होंने दान की सामान्य भावभूमि को आध्यात्मिक संकेत देकर उच्चतर बनाना चाहा है जिसकी ओर इंगित किया जा चुका है परन्तु संकेतात्मकता के स्थान पर जहाँ उपदेशात्मकता आ गयी है वहाँ उनका काव्य भी शिथिल प्रतीत होने लगता है।

जब गोपियाँ खीझ कर गाँव छोड़ जाने की बात कहती हैं तो कृष्ण उन्हें विचित्र उत्तर देते हैं—

गाउँ हमारो छाँडि जाइ बसिहौ केहि केरे।
तीन लोक में कौन जीव नाहिन वश मेरे।

—सू० सा०, पृ० २९७

इसी प्रकार गोपियाँ जब कृष्ण को 'लरिका' कहती हैं, उनकी 'कमरी' पर व्यंग्य करती या उनके माता-पिता की बात उठाती हैं तो भी वे ऐसे ही विचित्र उत्तर देते हैं जिनसे लीला का आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट हो जाता है।[२७]

गहरी भावधारा के बीच-बीच सूर ने इस प्रकार के कथनों को गूँथ दिया है। निश्चय ही इनसे मूल भाव को बल नहीं मिलता वरन् एक प्रकार का व्याघात ही होता है परन्तु जैसा कि बाल-लीलाओं के प्रसंग में लिखा जा चुका है, भक्तों के हृदय में वे अद्भुत रस का संचार भी करते हैं जिससे रस दोष का बहुत कुछ परिहार हो जाता है।

५. मानलीला—स्नेह व्यक्ति में अन्तर्निहित अहं की तीव्रतम अभिव्यक्ति है। परन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें अहं की सारी तीव्रता विगलित होकर परस्पर

समर्पण का रूप धारण कर लेती है। प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों के हृदय एकीभूत होकर, शारीरिक द्वैत के रहते हुए भी, एक अद्भुत मानसिक अद्वैत की सृष्टि करते हैं जिसके कारण प्रत्येक अपने स्थान पर दूसरे को अपने जीवन का केन्द्र एवं आधार मानने लगता है। दोनों के बीच किसी तीसरे का प्रवेश दोनों को असह्य हो उठता है। समर्पण के साथ अधिकार भावना का भी विकास होता जाता है। मान अथवा रोष तभी उत्पन्न होता है जब काम्य वस्तु पर रहने वाले एकाधिकार में बाधा पड़ती है। **'कामात्क्रोधोभिजायते'** के द्वारा गीताकार ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्पष्टतया व्यक्त किया है। वस्तुतः रोष, क्रोध अथवा मान काम का ही परिवर्तित रूप है। मानलीला द्वारा इसी भाव सत्य को व्यक्त किया गया है। दाम्पत्य प्रेम में उदारता की अपेक्षा ईर्ष्या ही अधिक स्वाभाविक है। पहली प्रतिक्रिया उत्तेजना के रूप में ही होती है। परन्तु यह उत्तेजना 'रीति' स्थायी की उद्दीपक बनी रहती है। उसमें बाधक नहीं बनती, मान प्रेम भाव को निखार देता है, राधा कृष्ण को अन्य स्त्री में अनुरक्त समझ कर रुष्ट हो जाती है। इसी मूल प्रसंग को लेकर कवियों ने पर्याप्त भाव विस्तार किया है। मान करनेवाली राधा की मनोदशा, उसके मान के कारण उत्पन्न होने वाली कृष्ण की व्याकुलता तथा मनानेवाली दूती की भावनाएँ, सभी का अंकन कवियों ने पर्याप्त तन्मयता और कुशलता के साथ किया है।

राधा के हृदय में ज्योंही संदेह उत्पन्न होता है, वह व्यंग्यपूर्वक कटु शब्द कहती हुई कृष्ण से अपना हाथ छुड़ा लेती है; एकांत में जाकर सारे आभूषण उतार डालती है और मारे क्रोध के निश्वास भर-भर कर आँसू बहाने लगती है। नरसी ने मानिनी राधा का इसी रूप में अंकन किया है जो अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ा है—

क. लंपट मेली देने मुजने नीर्लज साथ शुं नेह।
भुजथी वहाली वा'लमा, उर विषे राखी छे तेह।
कर मुकाव्या पाणथी रमा भराणी रोष।

—न० कृ० का०, पृ० १४०

ख. विनता ते वन जोती गई ज्या कामिनी नुं भूवंन।
शोकसागर अंगे आतूर, रही रही करे रुदंन।
हार चीर शणगार भूषण, कांकण कंकण जेह।
शणगार सर्व अंग थकी अबलाये उतार्या तेह।
ते सोल कलाओ शोभती त्रैलोक्य तारुणी सुन्दरी।

शोक सागरे पडी श्यामा, ललिताअे दीठी अणमणी।
कमल सरखां नयन दीठां, निश्वास महेले नार।

—वही, पृ० १४१

'मयणछंद' के रचयितामयण कवि ने राधा की मनोदशा को नरसी की तरह रोष की अवस्था में नहीं अंकित किया है। बसंत आने पर जब राधा का रोष उद्दीपन के कारण आप ही दूर हो जाता है उस समय कृष्ण का विरह उसे अत्यन्त विह्वल कर देता है। कवि ने इसी का वर्णन किया है—

विलवइ विरहणि नारि वारि विण नलिनी सूकइ।
वसति दर्घ जाइ जाय रमणि नीसासह मूकइ।
गिरि नीझरण जिम नीर नयण जलि कंचू भिन्नउ।
मच्छी विलवइ जिम्म अंबु, अंबु विण जीवह सुन्नउ।
सखी ए वसंत प्रिया रडु माननि मान धमुक्कीउ।
रे रहसि मयण नियतणु दहण काम बाण शिरि ढुक्कीउ ॥२६॥

ब्रजभाषा में सूर ने मानिनी राधा की मनोदशा का सूक्ष्मतर अंकन किया है। उसकी भाव-मुद्रा को अधिक कुशलता के साथ प्रस्तुत करते हुए रोष और विरह दोनों को एक साथ अभिव्यक्त किया है—

आज हठि बैठी मान किये।
महाक्रोध रस अंश तपत मिलि मनु विष विषम पिये।
अधमुख रहति विरह व्याकुल सिख मूरि मंत्र नहि मानै।
मूक न तजै सुनि जाति ज्यों सुधि आये तनु जानै।
कबहुंक बकति धरनि श्रम जलभरि महाशरद रवि सास।
इकटक भई चित्र पूतरि ज्यों जीवन की नहि आस।

—सू० सा० पृ० ४८७-८८

क्रुद्ध व्यक्ति, जिसके प्रति क्रोध है उसको, कटु शब्द कहने के साथ साथ समझाने वाले का भी तिरस्कार करता है क्योंकि वह समझाने वाले को अपराधी का समर्थक मान लेता है। इस मनोभाव की ओर गुजराती कवि भालण ने दो पंक्तियों में संकेत भर किया है परन्तु सूर के द्वारा इसको पूरी तरह विकसित रूप में अभिव्यक्ति मिली है—

भालण—दूती ने त्यां गाल दे छे, तुं तो धूतारी।
मने शाने तेडी आवी, अे तो व्यभिचारी।

—दशमस्कंध, पृ० १०६

सूर—वादि बकति काहे को तू कत आई मेरे घर।
वे अति चतुर कहा कहिये जिन तोसी मूरख
तनु बेधत लैन पठाई बचनन शर।

उतकी इत इतकी उत मिलवति समुझति नाहिन
को ही प्रीति रीति तू को है गिरिवरधर।

सूरदास प्रभु आनि मिलेंगे छैं हैं पग अपने कर।
—सू० सा० पृ० ४८७

राधा जिस दूती की इस प्रकार भर्त्सना करती है उसके मनोभावों को भी सूरदास ने व्यक्त किया है—

ज्यों ज्यों मैं निहोरे करौं त्यों त्यों यों बोलति है री अनोखी रूसनिहारी।
बहियाँ गहत सतराति कौन पर, मग धरी उंगरी कौन पै होत पीरी कारी।
कौन करत मान तोसी और न त्रिय आन हठ दूरि करि धरि मेरे कहे आरी।
सूरदास प्रभु तेरो पथ जोवत तोहि रट लागी मदन दहत तनु भारी।
—वही

दूती चतुर है अतएव भर्त्स्नाँ का प्रतिशोध करती हुई भी अपने उद्देश्य की पूर्ति का ध्यान रखती है और मनाने के निमित्त अंत तक कृष्ण की व्याकुलता का उल्लेख कर ही डालती है।

कवियों ने दूतियों द्वारा जो कुछ जिस ढंग से कहलाया है वह मनोवैज्ञानिकतया अत्यन्त उपयुक्त है। रूठी हुई राधा को मनाने के लिए वे कभी कृष्ण की एकनिष्ठा, व्याकुलता तथा निर्दोषिता का बखान करती हैं, कभी ऋतु के उद्दीपक स्वरूप का वर्णन करके क्रोध के कारण सुप्त कामभाव को जगाने का प्रयास करती हैं, और जब यह सब सफल नहीं होता तो वे यौवन की क्षणभंगुरता पर बार बार बल देकर जीवन के आनन्द को शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण रूप में पा लेने की इच्छा उत्पन्न करने की चेष्टा करती हैं। इस दृष्टि से भालण, नरसी तथा सूरदास की दूतियों के कथनों की समानता विशेष रूप से दर्शनीय है।[२८]

गुजराती कवियों की अपेक्षा सूरदास के कथनों में कुछ विशेषताएँ अधिक हैं। एक तो दूती का राधा के रूप-गुण की प्रशंसा करने का प्रयास अत्यन्त स्वाभाविक है, दूसरे उद्दीपन के लिए प्रकृति का जो चित्र रक्खा गया है वह पूर्णतया उपयुक्त है। समस्त प्रकृति में तीव्र एवं व्यापक मिलन भावना दिखा कर राधा के मन में मिलनेच्छा

उत्पन्न कराने का भाव सूर की मौलिक काव्यशक्ति का परिचायक है। इसी शक्ति के आधार पर सूर यौवन की क्षणिकता की तुलना 'अंजुरी' के 'जल' और 'बदरी की छांही' से कर सके।

राधा को मनाने के लिए उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त कवियों ने कृष्ण के द्वारा अपने ऐश्वर्य का स्वयं वर्णन कराया है जो सारी भावस्थिति को अलौकिक धरातल पर ला देता है। मानलीला में नरसीं और सूर ने कृष्ण के लोकोत्तर स्वरूप को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकट किया है।[११]

राधा के मान करने से कृष्ण की जो दशा होती है, उसका संकेत मात्र गुजराती कवियों ने यत्रतत्र कर दिया है परन्तु ब्रजभाषा में सूर, ध्रुवदास तथा माधवदास ने उसका पूरा चित्रण किया है। सूर के कृष्ण इतने दुखी होते हैं कि उनकी चेतना ही कुछ काल के लिए विलीन हो जाती है। मुकुट, पीताम्बर आदि का भी उन्हें ध्यान नहीं रहता—

यह सुनि श्याम विरह भरे।
कहुँ मुकुट कहुँ कटि पिताम्बर मुरछि धरणि परे।

—सू० सा०, पृ० ४८५

कृष्ण को राधा की कुंज में प्रतीक्षा करनी होती है। जब तक राधा आ नहीं जाती तब तक एक एक क्षण का विलम्ब उनके लिए असह्य हो उठता है—

श्याम बन धाम मग बाम जोवैं।
कबहुँ रचि सेज अनुमान जिय जिय करत लता संकेत तर कबहुँ सोवैं।
एक छिन इक घरी, घरी इक याम सम, याम बासरहु ते होत भारी।
मनहिं मन साध पुरवत अंग भाव करि धन्य भुज धनि हृदय मिले प्यारी।
कबहिं आवै साँझ, सोच अति जिय माँझ, नैन खग इंदु ह्वै रहे दोऊ।
सूर प्रभु भामिनी बदन पूरणचन्द्र रस परस मनहि अकुलात वोऊ।

—सू० सा०, पृ० ४८८-८९

ध्रुवदास ने भी सूर की ही तरह अत्यन्त मार्मिकता एवं स्वाभाविकता से कृष्ण की भावदशा का अंकन किया है। उनकी प्रतीक्षाकुलता को कवि ने अन्यतम अभिव्यक्ति प्रदान की है—

लुठत धरनि अँसुवनि भरनि बाढ़ी नदी अपार।
गहि रहे गुन एक नेह को राधा नाम अधार॥१२॥

मुकुट कहूँ बंसी कहूँ, भूषन कहुँ पटपीत।
मैन सैन लिये घेरिके ताते भये अति भीत ॥१३॥
सेज कुंज भूषन बसन अरु फूलनि के हार।
देखि सबै अनखात हैं पावक की सी झार ॥१४॥
तुव मग जोवत छिनहि छिन और न कछू सोहात।
पत्र पवन खरकत जबहिं उठि धावत अकुलात ॥१७॥
—मानविनोदलीला

माधवदास ने कृष्ण की उस मन:स्थिति को सूक्ष्मता से आँका है जब वे मानिनी राधा को मनाने का प्रयास भी करते जाते हैं और शरीर छूते हुए डरते भी जाते हैं।

आये सनमुख लाल लोचन सज़ल कीने, माला एक मल्ली की नवल कर लीने हैं।
आगे लै लै धरत करत मनुहार अति पाइन परत कर कैसे डारि दीने हैं।
मोहन मनावत उठावति चिबुक गहि, जतन बनावत न सौंहे दृग कीने हैं।
छुउ न सकत पै न रह्यो पुनि जात जिय अति अकुलात जैसे मीन जलहीने हैं।
—श्री माधुरी वाणी, पृ० ८०

६. **पनघटलीला**—पनघटलीला की भाव-भूमि दानलीला की भाव-भूमि से बहुत समानता रखती है। दोनों में भाव-विकास भी प्राय: एक ही क्रम से होता है। जिस प्रकार दधि-दूध बेचने जाती हुई गोपियों को कृष्ण दान के बहाने से उसमें उलझाते खिझाते हैं उसी प्रकार इसमें भी यमुना-जल भरने आने वाली गोपियों की कभी गागर फोड़ देते हैं, कभी बाँह मरोड़ देते हैं; और भी अनेक प्रकार से वे गोपियों को मुग्ध कर लेते हैं। गोपियाँ भी कभी खीझ कर यशोदा के पास तक उपालंभ ले जाती हैं और कभी रीझ कर फिर उसी घाट पर जल भरने आती हैं या जल भरना ही भूल जाती हैं। पारस्परिक स्नेह की अभिव्यक्ति इसमें भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप में की गई है। गुजराती तथा ब्रजभाषा के अनेक कवियों ने राधाकृष्ण और गोपियों की पारस्परिक प्रीति का विकास चित्रित करने के लिए इस पनघट के प्रसंग को उपयुक्त पृष्ठभूमि समझ कर चुना है। सूर ने इसको अतिशय भाव-सम्पन्न बनाकर अन्य लीलाओं की सी पूर्णता प्रदान की है।

सूर के कृष्ण मथुरा के मार्ग की तरह पनघट को भी रोक रखते हैं। गोपियाँ बेचारी उन्हें देखते ही लौट जाती हैं। एक गोपी अनजाने जल भरने आ ही गई। ज्योंही जल हिलोर कर उसने गागर भरी और सिर पर रखकर घर चली कि कृष्ण

ने आकर ढरका दिया। उसने भी कृष्ण की 'कनक लकुटिया' छीन ली और 'समसरि' करते हुए कहा कि जब तक तुम मेरी गागर नहीं भरोगे तब तक लकुटिया नहीं मिलेगी। चतुर कृष्ण ने चीरहरण के प्रसंग की स्मृति दिला कर उसे इतना भाव-विभोर कर दिया कि उसे तन-बदन की सुध भूल गई, सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दीखने लगे। इस प्रकार उसकी तन्मयता चरम कोटि तक पहुँच जाती है।[१०]

सूर ने जिस प्रकार मौलिक कल्पना से इस भावमय गोपी की सृष्टि की उसी प्रकार उसकी एक सखी को उससे भी अधिक भावमयता प्रदान करके चित्रित किया है। कृष्ण की खोज में वह भी पनघट आती है और जल भर चुकने पर जब उसकी विकलता सीमा पर पहुँच जाती है तो अन्तर्यामी कृष्ण प्रकट हो कर उसे आलिंगन में भर लेते हैं। इस रूप में कृष्ण का स्नेह पाकर वह उन्मादिनी बन जाती है।[११]

वह ग्वालिन अपने मनोभावों को स्वयं प्रकट करती है। सूर ने उसके आत्म-कथन के द्वारा उसकी तन्मय अवस्था का और भी उत्कृष्ट निरूपण किया है—

आवत ही यमुना भरे पानी।
श्याम बरन काहू को ढोटा निरखि बदन घर गई भुलानी।
उन मो तन मैं उन तन चितयो तबहीं ते उन हाथ बिकानी।
उर धकधकी टकटकी लागी तनु व्याकुल मुख फुरत न बानी।
कह्यो मोहन मोहनी तू कहि या ब्रज में नहिं मैं पहिचानी।
सूरदास प्रभु मोहन देखत जनु वारिधि जल बूंद हेरानी।

—सू० सा० पृ० २५८

नरसी और मीरां के गुजराती पदों में पनघट के सम्मोहन से आत्मविभोर गोपी की दशा का चित्रण प्रायः इसी रूप में मिलता है परन्तु उन्होंने सूर की तरह परिस्थितियों की विविधता के साथ स्नेह-विकास को चित्रित न करके केवल विकसित स्नेह तथा तज्जन्य विह्वलता को ही चित्रित किया है। नरसी की गोपी पनघट की घटना को अपनी सखी से भावमग्न होकर इस प्रकार बताती है—

सांभल बहेनी वातलडी, मीठामां अति मीठी रे।
जमनां पाणी हुं गई ती, तहां नंदने कुंवरे दीठी रे।
आगल आवी ऊभो रह्यो हुं ने घाली पग मांहे आंटी रे।
मारा वाहला अेम जोर न आणो अमे अबला तमो माटी रे।

अधर अमृत रस गृही ने दाबी, मारी नवल पटोली फाटी रे।
आलिंगन लीधुं अति प्रेम केशर लइ लइ छांटी रे।
जादवराय शुं स्नेह सबलो, पीठ धरु उपर न मेली छाती रे।
नरसैंयाच्यो स्वामी भले मल्यो, हुं ने आपी हाथे वींटी रे।
—न० कृ० का०, पृ० २७५

अन्त तक इतनी सुधि तो उसे रहती ही है कि वह अपनी सखी को कृष्ण के आकर्षित होने की बात बता देती है परन्तु प्रेम की कटारी से बिद्ध मीरा की गोपी कच्चे धागे से बंधी केवल खिंचना ही जानती है, प्रिय को अपनी ओर खींचने की स्मृति उसे कहाँ—

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे मने लागी कटारी प्रेमनी।
जल जमुना मां भरवा गयांतां हती गागर माथे हेमनी रे।
काचे ते तातणे हरि जीए बांधी जेम खींचे तेम तेमनी रे।
मीरां कहे प्रभु गिरधर नागर शामली सुरत शुभ एमनी रे।
—मीरांबाई की पदावली, पृ० ६०

इस प्रसंग में यशोदा को दिये गये उपालंभों के रूप में गोपियों की भावनाओं का चित्रण कदाचित् सूर के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने नहीं किया है। सूर उपालंभ के रूप में भावों के व्यक्त करने में विशेष पटु हैं और उनकी यह पटुता पनघटलीला के अन्तर्गत किये गये भाव-निरूपण में भी परिलक्षित होती है।[१२]

यशोदा आवेश में उन्हें कृष्ण को दंडित करने का वचन दे देती है और उसी आवेश में जो कुछ उलाहने में गोपियाँ नहीं भी कह जातीं उसे भी कल्पित कर लेती हैं। यही नहीं, रोहिणी को सुनाये बिना उसका आवेश उसे चैन नहीं लेने देता—

× × × × ×

यशुमति यह कहिकै रिस पावति।
रोहिणि करति रसोई भीतर कहि कहि ताहि सुनावति।
गारी देत बहू बेटिन को वै धाई ह्यां आवति।
हा हा करति सबनि सों मैं ही कैसेहु खूँट छँडावति।
जाति पांति सों कहा अचगरी यह कहि सुतहि घिरावति।
सूर श्याम को सिखवत हारी मारेहु लाज न आवति।
—वही, पृ० २६०

उपालंभ सुनकर अपने कृष्ण पर खीझना भी उसके वात्सल्य का ही एक रूप है और सामने आ जाने पर क्षण भर में अपने पुत्र के शब्दों पर विश्वास कर लेना और उसे

चूमचाट कर सब कुछ भूल जाना भी उसी भाव का दूसरा रूप है। पीछे छिपे कृष्ण अचानक सामने आकर गगरी फूट जाने का कारण ग्वालिनों का सर मटकाना बताते हैं और यशोदा का रोष कृष्ण से उलट कर ग्वालिनों पर ही जा केन्द्रित होता है।[11] भाव की यह परिणति पूर्णतया स्वाभाविक है, क्योंकि जिसके प्रति सहज स्नेह होता है उसकी बात पर सहज विश्वास भी आ जाता है और उसे दोष देने वाले पर सहज रोष भी।

यशोदा अन्त में कृष्ण को ग्वालिनों से उलझने के लिए वर्जित करती है, क्योंकि अब उसे कृष्ण की निश्च्छलता पर पूरा विश्वास हो गया है। परन्तु कृष्ण कृष्ण ही बने रहते हैं। वे फिर पनघट पर जा पहुँचते हैं और कभी राधा की छाँह से अपनी छाँह छुवाकर सुख लेते हैं कभी उसकी गागर में कांकरी मार कर। सूर ने इस रूप में प्रसंग विस्तार करके भावों की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त क्षेत्र पनघटलीला में भी खोज लिया।

राधा-कृष्ण की पारस्परिक प्रेमभावना तथा तज्जन्य आत्मविस्मृति का एक अनुपम भाव-चित्र रसखान ने प्रस्तुत किया है—

भूल्यो गृहकाज लोक-लाज मनमोहिनी की, भूल्यो मनमोहन को मुरली बजाइबो।
कहै रसखानि दिन द्वै में बात फैलि जैहै सजनी कहाँ लौं चंद हाथन दुराइबो।
कालि ही कलिंदीतीर चितयो अचानक ही दोउन सों दोउन को मुरि मुसुकाइबो।
दोऊ परैं पैंयां दोऊ लेत हैं बलैयां उन्हें भूलि गयीं गैयां उन्हें गागरि उठाइबो।

—सुजान रसखान, छन्द ६०

इसी प्रकार ब्रजभाषा के अन्य अनेक कवियों ने पनघटलीला के प्रसंग में भावों का निरूपण पर्याप्त उत्कृष्टता से किया है। हरिराम व्यास की एक ग्वालिन इतनी प्रगल्भ है कि वह कृष्ण से उनका पीतपट 'इंडुरी' बनाने के लिए माँग बैठती है। सर पर गागर रखवा देने के बहाने वह एकान्त का संकेत करके स्वयं-दूतिका का कार्य भी करती है, फिर जब कृष्ण उसकी मनोकामना पूरी कर देते हैं तो सारी परिस्थिति को स्वयं स्मरण करके रह रह कर सुखी होती है—

कान्ह मेरे शिर धरि गगरी।
यह भारी, पनिहारिन कोऊ मनसा पुजवत सगरी।
राति परी घरु दूरि डरु बाढ़्यो मेरी सासु जनगरी।
देहु पीत पट करहुं इंडुरी छांडहु छैल अचगरी।

अंचल गहि चंचल बने झगरत नगरत लट बगरी।
विहरत व्यासदास के प्रभु सौं ग्वालिनि सुख लै डगरी।
—व्यासवाणी, पृ० ५०९

पनघटलीला के भावचित्रण में इस प्रकार की विविधता गुजराती काव्य में नहीं मिलती।

७. **संयोगावस्था की विविध मनोदशाएँ**—राधाकृष्ण तथा गोपियों की संयोग-लीलाओं का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। पूर्वोक्त रास, दान, तथा पनघट के प्रसंग भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। शास्त्रीय मान्यता के अनुसार मान वियोग की एक अवस्था है परन्तु उसके भी प्रारंभ और अंत में संयोग का ही चित्रण मिलता है। इन प्रधान प्रसंगों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रसंग हैं जिनके माध्यम से कवियों ने संयोगावस्था की विविध मनोदशाओं की अभिव्यक्ति की है। यहाँ उन्हीं पर विचार किया गया है। कवियों का लक्ष्य राधाकृष्ण के प्रेम का चित्रण करना रहा है अतएव पृष्ठ-भूमि को बहुधा गौण रक्खा गया है। कृष्ण किस गोपी से कहाँ, कैसे, कब, मिले इसको स्पष्ट न करके मिलने की उत्सुकता, मिलन-समय के मनोभावों, आंगिक चेष्टाओं तथा मिलनोपरान्त की विह्वलता आदि का चित्रण करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। मनोभावों के चित्रण के साथ साथ कहीं कहीं परिस्थिति की व्यंजना भी मिलती है। बहुत सी परिस्थितियाँ मनोभावों के कारण ही उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी परिस्थितियों में गोपियों की मानसिक अवस्था का चित्रण कवियों ने विशेष जागरूकता से किया है। ब्रजभाषा में सूर तथा गुजराती में नरसी ने संयोग से सम्बद्ध अनेकानेक मनोदशाओं का अपने अपने ढंग से मार्मिक निरूपण किया है।

गोदोहन के प्रसंग को लेकर सूर ने राधाकृष्ण के किशोर हृदयों में उत्पन्न होने वाले प्रथम स्नेहाकर्षण तथा स्वाभाविक स्नेह-विकास को जितनी कुशलता से अंकित किया है, वह सारे कृष्ण-काव्य में अद्वितीय है। सूर की भावयोजना संश्लिष्ट रूप में चलती है अतएव इस स्थल पर भी सूर ने राधाकृष्ण के मनोभावों का ही वर्णन नहीं किया है वरन् उनके साथ यशोदा, वृषभानुपत्नी तथा अन्य ब्रजवासियों की भावनाओं को भी व्यक्त किया है जिससे परिस्थिति-विशेष की भावाभिव्यक्ति में पूर्णता आ जाती है तथा परस्पर के भावसंघात से नवीन नवीन भावों की सृष्टि होती चलती है। एक ही घटना विभिन्न व्यक्तियों के हृदय में विभिन्न भाव उत्पन्न करती है। सूर प्रत्येक के हृदय में पैठ कर प्रायः उसी के मुख से उसके भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करते जाते हैं। इस प्रकार की भावयोजना तथा ऐसा भाव-निरूपण गुजराती कृष्ण-काव्य में

अलभ्य है। इसे वर्णन-शैली की विशेषता मात्र कह कर उपेक्षित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसका मूलभूत संबंध कवि की भावानुभूति से है। भावविस्तार की क्षमता वास्तव में भावानुभूति की गहराई का एक परिणाम होती है।

भोली चंचल राधा यशोदा के यहाँ खरिक में गाय दुहाने आई। कृष्ण से उसका प्रथम परिचय खेलने में हुआ। कृष्ण ने ही आँखों के इंगित से उसे खरिक में गाय दुहाने के छल से आने के लिए कहा। अनुरक्ता राधा कृष्ण के अनुराग की मिलनेच्छा के रूप में पहली पहली अनुभूति करके ही उन्मत्त हो जाती है। उसके किशोर हृदय में माता-पिता का भय भी व्याप्त है और तरुणाई के आगमन से पूर्व की मुग्ध प्रीति का उद्रेक भी। फलतः उसकी मनोदशा अत्यधिक उलझ जाती है—

> नागरि मनहिं गई अरुझाइ।
> अति विरह तनु भई व्याकुल घर न नेक सुहाइ।
> स्यामसुन्दर मदनमोहन मोहनी सी लाइ।
> चित्त चंचल कुँवरि राधा खान पान भुलाइ।
> कबहुँ बिलपति कबहुँ बिहँसति सकुचि बहुरि लजाइ।
> मानु पितु को त्रास मानति मन बिना भई बाइ।
> जननि सों दोहनी माँगति वेगि दे री माइ।
> सूर प्रभु को खरिक मिलिहौं गये मोहिं बुलाइ।
>
> —सू० सा०, पृ० २०५

इन कुछ ही पंक्तियों में सूर ने वय-संधि में उदय होने वाली अनेक भावसंधियों को सजीव बना कर प्रस्तुत कर दिया है। इतनी उत्कंठा लिये राधा जब खरिक में आकर भी कृष्ण को नहीं पाती तो चकित भी होती है और विह्वल भी। उसके मन को तभी विश्राम मिलता है जब कृष्ण को आते देखती है। उसमें चतुरता का भी उदय होने लगता है। घर से चलते समय उसका कारण भी कल्पना से दे देती है, साथ ही शीघ्र आने का आश्वासन भी देती जाती है जिससे माता मना न कर दे। माता को खोजने आने के लिए वह बहाने से वर्जित करती आती है। गन्तव्य स्थान के छिपाने का साहस उसमें अभी नहीं है।

कृष्ण नागर हैं अतः पूरी तरह चतुर हैं। राधा के साथ प्रेम-क्रीड़ा करते समय जब यशोदा उन्हें देख लेती हैं तो क्षणमात्र में वे एक झूठ गढ़ लेते हैं। माता विश्वास कर लेती है कि वह शृंगार-क्रीड़ा न होकर बाल-विनोद था—

नीवी ललित गही यदुराई ।
जबहि सरोज धरो श्रीफल पर तब यशुमति गइ आई ।
तत्क्षण रुदन करत मनमोहन मन में बुधि उपजाई ।
देखो डीठि देति नहिं माता राखी गेंद चुराई ।
काहे को झकझोरत नोखे चलहु न देउँ बताई ।
देखि विनोद बालसुत को तब महरि चली मुसुकाई ।
सूरदास के प्रभु की लीला को जानै इहि भाई ।

—वही, पृ० २०५-६

ऐसे चतुर कृष्ण भी राधा की प्रीति के कारण इतने बिसुध हो जाते हैं कि गाय के स्थान पर बैल को दुहने लगते हैं और सखाओं की बातों पर ध्यान नहीं दे पाते—

दुहत श्याम गैयाँ बिसराई ।
नोआ लै पग बाँधि वृषभ के दोहनी माँगत कुँवर कन्हाई ।

—सू० सा०, पृ० २४३

जब सुधि आने पर वे राधा की गाय दुहते हैं तो प्रेमातिरेक के कारण एक धार दोहनी में छोड़ते हैं और दूसरी राधा के मुख पर। वयस्क सखियाँ इस अन्यतम प्रेम की अभिव्यक्ति को देखते ही कामपीड़ित हो उठती हैं और उन्हें भी गृहकाज भूल जाता है—

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी ।
एक धार दोहनि पहुँचावत एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी ।
मोहन करते धार चलत पय मोहनी मुख अतिहि छवि गाढ़ी ।
मनो जलधर जलधार वृष्टि लघु पुनि पुनि प्रेम चंद पर बाढ़ी ।
सखी संग की निरखति यह छवि भई व्याकुल मन्मथ की डाढ़ी ।
सूरदास प्रभु के बस भई सब भवनकाज ते भई उचाढ़ी ।

—वही, पृ० २४५

ज्यों त्यों दूध दुहना समाप्त होता है । राधा अपनी दोहनी माँगती है पर कृष्ण देते नहीं । प्रेमविभोर कृष्ण के हृदय में एक ओर अधिक से अधिक समय तक रोक रखने की लालसा है, दूसरे राधा को खिझाने में उन्हें और भी आनन्द आता है।[15]

राधा के हृदय में भी जाने की तिलमात्र इच्छा नहीं है क्योंकि दोनों का प्रेम उभय पक्षी रूप में चित्रित किया गया है । सूर ने जितनी विह्वलता कृष्ण में दिखाई है

उतनी ही राधा में, बरन् स्त्री होने के कारण राधा की विह्वलता को चरमसीमा तक पहुँचा दिया है। कृष्ण से बिछुड़ कर स्वयं जाना उसके लिए असह्य है। पैर घर की ओर नहीं उठते। दो-चार पग चलती है तो फिर मुड़ कर कृष्ण को देख लेती है—

क—चलन चहति पग चलत न घर को।
छांड़त बनत नहीं कैसेहू मोहन सुन्दर वर को।

—वही

ख—मुरि चितवत नंदगली।
डग न परत ब्रजनाथ साथ बिनु विरह व्यथा मचली।

—वही

इस प्रकार राधा कृष्ण के बीच इतनी समीपता बढ़ जाती है कि उन्हें हार का व्यवधान भी असह्य हो उठता है। जो वस्तु उन दोनों के हृदय में अंतर बनाये रक्खे उसे कब तक धारण किया जा सकता है—

उतारत हैं कंठनिते हार।
हरि हर मिलत होत है अंतर यह मन कियो विचार।

—सू० सा०, पृ० २०६

नरसी मेहता की राधा के हृदय में कृष्ण की समीपता पाने की भावना तीव्रतर है। मिलन के समय हार समीपता में बाधक होता है अतएव वह उसे धारण नहीं करती। कुछ काल के लिए हार को उतार देने से कभी धारण न कर देने की बात निश्चय ही अधिक भावुकता प्रदर्शित करती है—

पीयु मारी सेजडी नो शणगार।
जोबन सींचणहार।

पीयुजी कारण हुं तो हार न धरती जाणुं रखे अंतर थाये।

—न० कृ० का०, पृ० ५२८

आभूषणों के प्रति किसी स्त्री का आकर्षण वास्तविक प्रेम को पाकर ही पराजित होता है क्योंकि उस आकर्षण के मूल में प्रिय को प्रसन्न करने की ही भावना निहित रहती है। सूर और नरसी के उपर्युक्त उद्धरण राधा-कृष्ण के अनिर्वचनीय प्रेम की व्यंजना करते हैं। उनमें देव कवि की सामान्या नायिका के कथन 'देव हमें तुम्हें अंतर पारत हार उतारि उतै धरि राखौ' के पीछे छिपी स्वार्थमयी भावना का लेश भी नहीं है। यह सभी उक्तियाँ **'हारो नारोपितः कंठे मया विश्लेष भीरुणा'** की परम्परा में आती हैं।

इसी तरह गोपियों के हृदय को नरसी ने अत्यन्त तीव्र अनुभूति से आसिक्त करके अभिव्यक्त किया है। उनके हृदय का मूल भाव ही गोपीभाव रहा है। गोपियों की भावनाओं के रूप में उनकी अपनी भावनाएँ मूर्त हो उठी हैं। अन्य कवियों की अपेक्षा उन्होंने कृष्ण के प्रेम में अनुरक्त गोपियों की मनोदशा को अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखा है। उनकी कोई गोपी, कृष्ण की वंशीध्वनि से विह्वल होकर, नाम जाने बिना ही श्यामछवि पर अपना हृदय निछावर कर डालती है—

> नाम न जाणुं पण छे कालो।
> ओ जाये ओ जाये कोई पाछो, वालो।
> छेलपणे छमकलो वहालो, शामलीये साइडुं लीधुं रे।
> मारगमां वांसलडी वाहतां चित हरी ने लीधुं रे।
> आलंगिन आप्युं वहाला अलवे, नाथ मन मान्युं तमशुं रे।
> नरसैंयाचा स्वामी आपण रमिये अंतर टालो अमशुं रे।

—न० कु० का०, पृ० २८३

कोई कृष्ण की मुसकान से विद्ध और अंगभंगिमा से लुब्ध हो जाती है। वह नाना प्रकार के मंगलमय उपायों से उनका स्वागत करना चाहती है—

> बाइ हुं तो मरकलडे वेधाणी रे।
> शामळियो आव्यो मंदिरमां लटके त्यां लोभाणी रे।
> मोतीअे चोक पुरावुं प्रेमना, कुमकुमनी रोल करावुं रे।
> सैंयर मारी मानती मीठुं मंगल गान करावुं रे।
> सोव्रणपाट बेसारी वहालानी आरती उतरावुं रे।
> नारसैंयांचो स्वामी रुदीया भीडो फूली अंगनमावुं रे।

—वही, पृ० ३८०

धीरे धीरे गोपियाँ कृष्ण को सुख देने और स्वयं सुख पाने के लिए नाना प्रकार की इच्छाएँ करने लगती हैं। उनकी इच्छाएँ क्रिया का रूप धारण कर लेती हैं। एक गोपी कृष्ण को एक छोटी सी बात कहने के लिए एकान्त में बुलाकर अंगभंगियों से अपने मनोभाव को स्वयं व्यक्त करती है। नरसी ने उसकी मुद्रा और उसके भावों का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है—

> ओरा आव अलगो, अेक बात नानी कहुं तुजने जम हैडा माहे हर्ष पामे।
> कामनी काम अभिलाष करी बोलती भुर गोवालि या मांहे शुं रे रमे।

नेण नीशान, सनकारती सुन्दरी, नेण कटाक्ष गुण बाधुरी।
नवनवा रंग करी दाखवुं आपुं अपूरव तेडती तारुणी प्रेमे करी।

—वही, पृ० ३१८

एक अन्य गोपी की जिस दिन कृष्ण से दिनभर बात नहीं हो पाती है उस दिन काम-काज में उसका जी नहीं लगता और घर भी आकर्षणहीन प्रतीत होने लगता है। वह मुग्धा नहीं है कि स्नेह के भाव को समझ न सके परन्तु इतना साहस भी नहीं है कि संसार के आगे अपने स्नेह को प्रकट कर दे। अभी लोक-लाज और मर्यादा का भय बना है—

अेकवार आखा दीन मांहे वाहाला तमशुं वात न थाय।
कामकाज मारे चित ना आवे मंदीर मां न सोहाय रे।
जाहेर तमशुं प्रीत बंधाणी ते कहे ते सोहाय।
छानो स्नेह ते मीठो लागे, प्रगट थये पत जाये रे।

—वही, पृ० ३०२

कभी प्रतीक्षा करते करते रात हो जाती है और उसकी आँखों को नींद घेर लेती है। कृष्ण आकर लौट गये, यह जान कर गोपी को गहरा पश्चात्ताप होने लगता है। सखियाँ सुनेंगी, कृष्ण भी उसपर हँसेंगे, यह सोच कर वह पैर पड़कर क्षमा माँगने का निश्चय करती है तब तक एक सखी आकर सूचना देती है कि कृष्ण तो आँगन में खड़े प्रतीक्षा कर रहे हैं। अभी तुझे घर गाय दुहाने जाना है—

पाछली रातना नाथ पाछा वह्या, शुं करुं रे सखी हुं न जागी।
निर्खतां निर्खतां निद्रा आवी घणी, बोल दीयोनी वहाला बर्द थापी।
सोलडी सुणसे कृष्णजी हांसशे, अेहने जइने पाय लागुं।
सरल छे शामलो मेलशे आंमलो, माहावजी कने खमा जइने मांगु।
उठ आलस तजी नथी गया नाथ हजी, ते आंगणे उभा हेत जोवा।
नारसैयाचो स्वामी भले मळीयो, घेर जइअे हवे धन दोहोवा।

—वही, पृ० ३७३

गोदोहन के प्रसंग को लेकर नरसी ने सूर की तरह भाव-विकास तो नहीं किया परन्तु पृष्ठ-भूमि में उसे स्थान देकर भावों में तथा वातावरण में स्वाभाविकता लाने का प्रयास अवश्य किया है। संयोग की प्रत्येक स्थिति पारस्परिक प्रीति के विकास में सहायक होती है। राह चलते कृष्ण कभी बाँह मरोड़ देते हैं, कभी एकांत में मिलने का संकेत करते हैं, कभी मुस्करा भर देते हैं और कभी उपेक्षा का अभिनय करते हुए

किनारे से निकल जाते हैं। हर दशा में गोपियों का मन झकझोर उठता है। कभी हर्ष से, कभी विषाद से। कृष्ण को अपने हाथ से जिमाने के लिए नरसी की गोपियाँ प्रायः उत्सुक रहती हैं—

पेर पेरनां पकवान करीने मेहेल्या वहाला काजे रे।

—वही, पृ० २७३

कृष्ण गोपियों के लिए कंठहार बनजाते हैं। वे उनसे कभी पृथक् नहीं होना चाहतीं उन्हें देखते ही एकांत में आलिंगन में भर लेने के लिए लालायित हो उठती हैं—

क—कंठडाचो भूषण सजनी, अलगो न मेलुं दिवस ने रजनी।
हरि विलोकतां अधररस चाखुं, हृदया सरसो भीडी ने राखुं।

—न० कृ० का०, पृ० २९३

ख—कहान अेकलडा मळजो वृंदावन, ते वारे करीश हुं उरहार।

—वही, पृ० २८७

भिन्न मनःस्थिति में यही गोपियाँ आलिंगन करते हुए कृष्ण का निवारण करने लगती हैं। इस निषेध के द्वारा मिलन की इच्छा का रूप और भी निखर जाता है। शब्दों में वक्रता आ जाती है। निषेध के जो कारण दिये जाते हैं उनसे इच्छा ही प्रकट होती है और निवारण उस इच्छा की पूर्ति का साधन बन कर सामने आता है—

जावा देनी जादव, मेल मारो पालव मोडीश ना मारुं अंग दुःखे।
भीड न भूधरा, राखडी तूटशे, चोली कंचुआकेरा बंध छूटशे।

—वही

कोई गोपी कृष्ण को अपना आन्तरिक आत्मसमर्पण करके अनन्य भाव से उन्हें अपना वर स्वीकार कर लेती है। भाव की इतनी तीव्रता सास-ननंद के भय, तथा लोक-लाज सभी को अपने में लीन कर लेती है। मन का सत्य संसार के झूठे बन्धनों, मर्यादाओं तथा नियमों से ऊपर उठकर स्वयं अपने को प्रशस्त करने लगता है—

वरियो में कृष्ण वर वरीशे, बीजो तो हुँ नव जाणुं रे।
सासरिया मां साद पडावुं, नणदीनो भे न आणुं रे।

—वही, पृ० २६८

ऐसी ही एक अन्य गोपी कृष्ण से मिलने के लिए आतुर पति और परिवार की भी परवाह नहीं करती, क्योंकि उसके अंग-अंग में कृष्ण व्याप्त हो गये हैं। उनके सिवा किसी दूसरे की गति उसके हृदय तक संभव नहीं—

ते जतन करे बहु आपनु, तेनु धीर तम दीठे टले ।
मळवा कारण मावजी तुजने पति परिवार थी ते चले ।
सकल अंगे तमो व्याप्या, अवर बीजे नव गमे ।
तेह तणां मनोरथ पूर्या, अवर मन कहीं नव भमे ।

—वही, पृ० १३०

भालण के एक पद में गोपी के हृदय में कृष्ण के प्रति उठने वाली कोमल भावनाओं का शृंखलाबद्ध वर्णन है—

रात दिवस हुं टलवलुं पण स्वप्न माहे नव देखुं जी ।
आंगणडे उभी रहुं जाणुं आणीवाटे हरि आवेजी ।
गौ दोहता अेम जाणुं आ दूध हरिने पाउं जी ।
दही रूडुं जम्युं देखी इच्छा अेवी कीजे जी ।
भोग लागे भूधरजीने, सासु नणदर खीजे ।

—दशमस्कंध, पृ० १३५

व्रजभाषा के अनेक कवियों ने राधा तथा अन्य गोपियों में आत्मसमर्पण, निषेधात्मक स्वीकृति, तीव्रमिलनेच्छा, कृष्ण के प्रति अनन्य अनुरक्ति, लोकलाज, परिवार के भय तथा सास-ननंद के प्रति खीझ अथवा उपेक्षा भाव का अनेक रूपों में अनेक प्रकार से वर्णन किया है। विशेष कर रीति-परम्परा के कवियों द्वारा दिये गये उदाहरणों में प्रायः ऐसे ही भावों का चित्रण मिलता है। इन कवियों ने एक ओर भावों के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद दिखाकर उन्हें क्रमबद्ध करते हुए शास्त्रीयता प्रदान की, दूसरी ओर विविध गुणों, अलंकारों तथा उक्तियों से सजाकर कलात्मक भी बना दिया जिससे सौन्दर्यवृद्धि होने के साथ प्रायः कृत्रिमता भी आ गई है।

इस सब को प्रमाणित करने के लिए कुछ उदाहरण आवश्यक है। नरसी की गोपी कृष्ण को कंठहार बनाने तक की कामना करती है परन्तु देव की गर्विता नायिका ने अपने प्रिय को हृदय का हार बना कर तो सुख दिया ही, साथ ही आँखों में पुतली बना कर भी बसा लिया। यही नहीं, वह उसके अंग-प्रत्यंग में अंगराग की तरह रम चुका है ठीक नरसी के 'सकल अंगे तमो व्याप्या' के सदृश—

आँखिन में पुतरी ह्वै रहैं, हियरा में हरा ह्वै सबै सुख लूटैं ।
अंगनि संग बसैं अंगराग ह्वै, जीवते जीवनमूरि न फूटैं ।

—भवानीविलास

अंगों को छूने से कृष्ण का निवारण करती हुई गोपियों की जैसी आन्तरिक स्वीकृति नरसी ने प्रदर्शित की है वैसी ही बाह्य निषेध से युक्त आन्तरिक स्वीकृति मतिराम की नायिका में, कुट्टमितहाव के रूप में, अधिक स्पष्टता से मिलती है—

नेकु नीरे जाय करि बातन बनाय करि,
कछु मन पाय हरि वाकी गही बहियाँ।
बैनन चरचि लई सैनन थकित भई,
नैनन में चाह करै बैनन में नहियाँ ॥३६९॥

—रसराज

अनन्य आत्मसमर्पण के भाव को भी देव के द्वारा कहीं अधिक तीव्र अभिव्यक्ति मिली है—

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कोऊ,
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो नरलोक परलोक वरलोकनि में,
कीन्ही हौं अलीक लोक लीकन ते न्यारी हौं।
तन जाउ मन जाउ 'देव' गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ टेक टरत न टारी हौं।
वृंदावनवारी बनवारी के मुकुटवारी,
पीतपटवारी वाहि मूरति पै वारी हौं।

भक्त कवियों ने इस प्रकार के भाव अपने पदों में प्रचुरता से व्यक्त किये हैं। रीति काव्य की भाव सम्पत्ति बहुधा अपने पूर्ववर्ती भक्तिकाव्य पर आधारित है।

जिस प्रकार रमण से पूर्व की मनोदशाओं का सूक्ष्म वर्णन कवियों ने किया है उसी प्रकार रमण के समय की और उसके बाद की मानसिक स्थितियों को भी अंकित किया है। गुजराती में भालण और नरसी ने इनसे सम्बद्ध भावों को विशेष मनोयोग और रसात्मकता के साथ अभिव्यक्ति प्रदान की है। नरसी मेहता का तो यह सर्वाधिक प्रिय विषय है। राधा के सुरतोल्लास, सुरतान्त-सुख और सुरत-संगोपन का विविध चेष्टाओं एवं अनुभावों से युक्त वर्णन उक्त दोनों कवियों ने पर्याप्त विस्तार से किया है। ब्रजभाषा काव्य में भी इस प्रकार के भाव उपलब्ध होते हैं और दोनों में साम्य भी कम नहीं है। गुजराती में इस तरह के भावों की अभिव्यक्ति प्रायः राधा के स्वानुभव के रूप में ही कराई गई है।

राधा की शिथिल और अस्तव्यस्त दशा को देख कर एक अन्तरंग सखी उसका कारण पूछती है। राधा पहले उससे छिपाने का प्रयास करती है और जिस जिस चिह्न की ओर सखी संकेत करके प्रश्न करती है उस उस चिह्न के लिए वह काल्पनिक कारण देती जाती है। भालण ने इस भाव का एक विस्तृत पद लिखा है जिसमें से कुछ प्रारंभिक पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं—

कहे रे मने कामिनी, तुं कां श्वास भराणी जी।
परसेवो तने कां वल्यो, भमर बहु मींजाणी।
सांचुं बोलोजी

राधा कहे हुं भूली पड़ी, वाट में नव जाणी जी,
वनमां बीहनी अेकली, अतिशे त्यां उजाणी।
सांभल सुन्दरी

अतलसनी नवीं शिवडावी, सहियरे वखाणी जी।
ते चोलीनी कस क्यमत्रूटी, आवडुं क्यां चोलाणी।
मारुं हैडुं आव्यु फाटवा, वाअे करीने कांप्युं जी।
पीडा टालवाने में चोल्युं करे करीने आप्युं।

—दशमस्कंध, पृ० १३२

संगोपन के भाव को सूर ने अत्यन्त मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। राधाकृष्ण रमण करके जब अपने-अपने घर जाते हैं तो दोनों की माताएँ प्रश्न कर उठती हैं और दोनों ही सत्य को अपने-अपने ढंग से छिपाने का प्रयास करते हैं—

क. पीत उढ़नियाँ कहाँ बिसारी ?
यह तो लाल ढिगनि की औरैं है काहू की सारी।
हौं गोधन लै गयो यमुनतट तहाँ हुती पनिहारी।
भीर भई सुरभी सब बिडरीं मुरली भली सँभारी।
हौं लै गयो और काहू की सो लै गयी हमारी।

—सू०, सा० पृ० २०७

ख. जननी कहति कहा भयो प्यारी ?
एक बिटिनियाँ सँग मेरे थी कारे खाई ताहि तहाँ री।
मों देखत वह परी धरनि पर मैं डरपी अपने जिय भारी।

—वही

सूरदास के अतिरिक्त व्रजभाषा में नायिकाभेद लिखने वाले कवियों ने इसी भाव को गुप्ता, लक्षिता, सुरतसंगोपना जैसी नायिकाओं में प्रदर्शित किया है। पर उनके उदाहरणों में वह सरसता नहीं आ पायी है जो भालण के वर्णन में मिलती है। प्रश्नोत्तर के रूप में व्यक्त करके सूर और भालण ने मूल भाव को अधिक सजीव बना दिया है। नरसी की राधा संगोपन का प्रयास नहीं करती। वह भालण की राधा जैसी चतुर नहीं दीखती। ललिता के पूछने पर वह जब स्वानुभव बताने चलती है तो उसे लाज आने लगती है। संगोपन का प्रयास और कथन में लज्जा दोनों ही मनोभाव स्वाभाविक एवं परिस्थिति के अनुकूल हैं। भालण ने भी लाज का प्रदर्शन किया है परन्तु अंत में इस प्रकार उन्होंने उसे नरसी की अपेक्षा कहीं अधिक अर्थपूर्ण बना दिया है। नरसी की राधा लाज करते हुए भी काफी निर्लज्जता से सुरत सुख का वर्णन करती है। भालण ने ऐसे स्थल पर संकेत से काम लिया है।[१६]

रमण के कारण कृष्ण के अंग दुखने लगते हैं। राधा उनकी पीड़ा अमृत से अधिक मधुर रस देकर दूर करती हैं—

अबला ते मारुं अंग दुःखे, भीडीश मां रे भामिनी।
कठण पयोधर ताहरां, भुजने ते खुंचे कामिनी।
अमृत पें अदकुं हतुं, मुज कने फल जेह।
पछे पीयुना मुखमांही, प्रेमशुं मूक्युं तेह।

—न० कु० का०, पृ० १५०

निश्चय ही भालण के वर्णन में कोमल भावों की पर्याप्त रक्षा की गयी है जबकि नरसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। उनके वर्णन में स्थूलता अधिक है। इस तरह के वर्णन व्रजभाषा में भी उपलब्ध होते हैं। गुजराती और व्रजभाषा के संभोग वर्णन में कहीं-कहीं आश्चर्यजनक भाव-सादृश्य मिल जाता है। एक ही उदाहरण इस सत्य को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है। भालण के कृष्ण सीधे राधा के अंगों का स्पर्श न करके बहाने से छूने का प्रयास करते हैं। राधा को प्रसन्न बनाने और मुग्ध करने के लिए ही कृष्ण की यह चेष्टाएँ होती हैं। राधावल्लभीय कवि ध्रुवदास ने भी इस भाव का वर्णन किया है। उनके कृष्ण भी वैसी ही चेष्टाएँ करके अंग स्पर्श करना चाहते हैं—

भालण—पगरंगु हुं पद्मिणी जो पडयो लगार जी।
पछे तमे पधारजो, क्षण नहि लागे वार जी।
अेवुं कहीने चरण तलासे, मुख सामुं निहाले जी।

जाणे कोये देवता ते नयण निमेख न वाले।
हार जुअे ने उर उघाडे गलगलियाँ करे प्रीते जी।
गाले त्यां चुंबन करे रमवातणी रसरीते।
बेसरनुं मोती जुअे ने हाथ फेरवे गाल जी।

—दशमस्कंध, पृ० १३८-३९

ध्रुवदास—अलक सँवारन व्याज मैं परस्यो चहत कपोल।
मृदुल करन डारति झटकि रसमय कलह कलोल ॥५॥

—रसरत्नावली

राधा के द्वारा कृष्ण के हाथ झटक दिये जाने की बात लिख कर ध्रुवदास ने मूल भाव को और भी अधिक रसमय बना दिया है क्योंकि निषेध स्वीकार से अधिक आकर्षण उत्पन्न करता है। भालण ने भी अपने पद की एक पंक्ति में 'नाना मा मा रहो रहो करता' लिख कर रसमय निषेध का प्रदर्शन किया है। ध्रुवदास की राधा कृष्ण को नेत्रों तक से अपने अंग नहीं छूने देती। दोनों भाव-विभोर होकर एक दूसरे की चतुरता समझते और मुस्कराते हैं—

जो अंग चाहत रसिक प्रिय इन नैननि सौं छ्वाइ।
सो ठां सुन्दरि पहिले ही राखति बसन दुराइ ॥४०॥
कांपत कर, थरकत हियौ बनत न मन की बात।
कुसल जुगल कलकोक मैं समुझि समुझि मुसुकात ॥५१॥

—वही

इसके अतिरिक्त उन्होंने एक ऐसी आभ्यंतरिक सूक्ष्म अनुभूति को पकड़ लिया है जिस तक किसी गुजराती कवि की पहुँच नहीं हुई। घनीभूत स्नेह होने पर दो स्नेहियों का मिलन कितना भी प्रगाढ़ क्यों न हो, उसमें विरह की अनुभूति बनी ही रहती है। वे दो हैं इसलिए विरह बना रहता है और एक होना चाहते हैं इसलिए मिलन भी अखंड रहता है। इस सूक्ष्म मानसिक स्थिति को कवि ने केवल दो पंक्तियों में बाँध दिया है।

बिरह सँजोग छिनहिं छिन माँही।
जद्यपि ग्रीवन मेले बाहीं ॥४२॥

—नेहमंजरी

खंडिता गोपियों के भाव—जहाँ एक ओर कृष्ण राधा की ओर विशेष रूप से आकृष्ट दिखाये गये हैं वहाँ दूसरी ओर कवियों ने उनमें बहुनायकत्व अथवा अनेक

गोपियों को सन्तुष्ट करने की भावना का भी प्रदर्शन किया है। तब तरुणी गोपियाँ उनको पाने के लिए व्याकुल रहती हैं। कृष्ण कभी इसके साथ रमण करते हैं, कभी उसके साथ। उनमें परस्पर ईर्ष्या अथवा सपत्नी-भाव उत्पन्न हो जाता है। एक को वचन देकर जब वे दूसरी के यहाँ रात बिताते हैं और प्रभात में अनेक रतिचिह्न लिये उसके पास लौटते हैं तो उसका खंडित प्रेम कटु एवं व्यंग्यपूर्ण शब्दों से उनका स्वागत करता है। एक एक रतिचिह्न उसकी ईर्ष्याविष्ट कल्पना को जागृत करने लगता है और उन कृष्ण को, जिनके लिए स्वयं सेज रचकर वह सारी रात प्रतीक्षा करती रही, तत्काल वहीं वापस लौटा देने के लिए उद्यत हो जाती है। परन्तु इतने आवेश के बाद भी जब कृष्ण क्षमा याचना के लिए एक कातर दृष्टि उसकी ओर डालते हैं तो वह क्षणमात्र में क्षमा ही नहीं कर देती वरन् उनके रतिश्रमनिवारण के लिए अनेक उपक्रम भी करती है। कुछ गोपियाँ अंत तक कृष्ण को क्षमा नहीं करतीं और एक के बाद एक कटु से कटुतर व्यंग्य-वाक्य कहती जाती हैं। कुछ अत्यन्त स्निग्ध शब्दों के द्वारा अपना रोष प्रकट करती हैं और कुछ स्पष्टतया उग्र शब्दों का प्रयोग करते हुए कृष्ण की भर्त्सना करती हैं। इस प्रकार खंडिता गोपियों की मनोदशा की अभिव्यक्ति कवियों ने पर्याप्त सूक्ष्मता से की है यद्यपि वर्णन में रूढ़िगत एकस्वरता भी बराबर मिलती है। गुजराती और ब्रजभाषा दोनों में खंडिता के मनोभावों का वर्णन प्रायः समान ढंग से किया गया है। वही रतिचिह्न, वही उपालंभ, वैसे ही व्यंग्य और वैसा ही चित्रण। भावों के अंकन में अन्य स्थलों की तरह सूर की विशेष क्षमता यहाँ भी परिलक्षित होती है। कृष्ण की एक ही कातर दृष्टि से अभिभूत होकर क्षमा कर देने वाली जिस खंडिता गोपी की ओर ऊपर संकेत किया गया है वह राधा की सुपरिचित सखी ललिता, सूर की भावमयी वाणी के द्वारा, नवीन रूप में सामने आती है। शाम से ही कृष्ण के लिए वह अतिशय प्रतीक्षाकुल है और सारी रात वैसी ही विह्वलता से बिता देती है—

> साँझहि ते हरिपंथ निहारै।
> ललिता रुचि करि धाम आपने सुमन सुगंधनि सेज सँवारै।
> कबहुँक होत वारने ठाढ़ी कबहुँक गनति गगन के तारे।
> कबहुँक आइ गली मग जोवति अजहुँ न आये स्याम पियारे।
> वै बहुनायक अनत लुभाने और बाम के धाम सिधारे।
> सूर स्याम बिनु बिलपति बाला तमचुर शब्द जहँ तहाँ पुकारे।
>
> —सू० सा०, पृ० ४७२

उसकी यह विकलता स्वाभाविक है, क्योंकि कृष्ण उसे स्वयं वचन दे गये हैं। जब कृष्ण सवेरे रतिचिह्न लिये पधारते हैं तो वह और कुछ न कह कर दर्पण भर देख लेने का आग्रह करती है परन्तु जब वे संकोच के मारे उधर नहीं देखते तो ललिता ललित शब्दों में व्यंग्य करती है—

क.—क्यों मोहन दर्पण नहिं देखत।
क्यों धरणी पग नखन करोवत क्यों हम तन नहिं पेखत।
क्यों ठाढ़े, बैठत क्यों नाहीं कहा परी हम चूक।
पीताम्बर गहि कह्यो बैठिये रहे कहा ह्वै मूक।
उघरि गयो उर ते उपरैना नखछत बिनगुन माल।
सूर देखि लटपटी पाग पर जावक की छबि लाल।

—वही, पृ० ४७३

ख.—ऐसी कहौ रँगीले लाल।
जावक सों कहाँ पाग रँगाई रँगरेजिन मिलि है को बाल।
वंदन रंग कपोलन दीन्हों अधर अरुण भये श्याम रसाल।
माला कहाँ मिली बिन गुन की उर छत देखि भई बेहाल।
सूर श्याम छवि सवै बिराजी इहैं देखि मोको जंजाल।

—वही

उसके प्रश्न भरे सीधे-सादे वाक्य व्यंग्य को तीक्ष्णतर बना देते हैं। बिना कृष्ण की क्षमायाचना भरी दृष्टि पाये उनका क्रम समाप्त नहीं होता।

काहे को कहि गये आइहैं काहे झूठी सौंहें खाए।
ऐसे मैं जाने नहिं तुमको जे गुण करि तुम प्रगट देखाए।
भली करी दरशन हरि दीन्हें जन्म जन्म के ताप नशाए।
तब चितए हरि नेक त्रिया तन इतनेहि सब अपराध क्षमाए।
सूरदास सुन्दरी सयानी हँसि लीन्हे पिय अंकम लाए।

—वही

उसके लिए इतना ही बहुत है क्योंकि उसका प्रेम प्रेम का याचक है, बासना न मिली न सही। वह स्वयं कृष्ण का श्रम दूर करने के लिए नाना प्रकार के उपचार करती है। परस्त्रीरमण के चिह्नों का निवारण करके वह एक प्रकार से उस पर अपनी विजय घोषित करती है। घायल प्रेम एवं आहत अहंभाव अपनी क्षतिपूर्ति के लिए कितना जागरूक रहता है, इस तथ्य तक सूर की सूक्ष्म दृष्टि कितनी सरलता से पहुँच गयी है—

नैनकोर हरि हेरिकै प्यारी वश कीन्ही।
भाव कह्यो आधीन को ललिता लखि लीन्ही।
तुरत गयो रिस दूर ह्वै हँसि कंठ लगाए।
भली करी मनभावते ऐसेहु में पाए।
भवन गई गहि बाँह लै जागे निशि जाने।
अंग शिथिल निशि श्रम भयो मनही मन जाने।
अंग सुगंध मर्दन कियो तुरतहिं अन्हवाये।
अपने कर अंग पोंछिके मनसाध पुराये।
चीर अभूषण अंग दै बैठे गिरिधारी।
रुचि भोजन प्रिय को दियो सूरज बलिहारी।

—वही

एक खंडिता गोपी के भाव का विकास करके सूर ने एक पूरे प्रसंग की सृष्टि कर दी। साथ ही खंडिता के हृदय में रूढ़िगत आवेश का ही वर्णन न करके उस स्नेहातिरेक को भी प्रदर्शित किया है जिसकी गहराई में सारी ईर्ष्या, सारा मान और सारा निषेध खो जाता है।

ठीक इसी प्रकार के कोमल मनोभावों वाली एक खंडिता गोपी का चित्रण नरसी मेहता ने किया है। नरसी की गोपी भी कृष्ण से वचन पाकर सारी रात प्रतीक्षाकुल रही और प्रभात में शिथिल-देह कृष्ण को पाकर सब कुछ समझती हुई भी वह अपने रुष्ट न होने की बात कहती जाती है। कृष्ण यहाँ भी संकोच से गड़े जा रहे हैं। वे निद्रा का बहाना करते हैं पर विश्वास नहीं दिला पाते। जिस तरह सूर के कृष्ण क्षमा-याचनामयी दृष्टि से ललिता को प्रसन्न कर लेते हैं उसी प्रकार नरसी के कृष्ण प्रीति-युक्त हास्य से गोपी को आनंद प्रदान करते हैं—

व्रजविहारी सांभलो, साची कहुं अेक बात।
मुज संगाथे दृष्ट करीने आवीया प्रभात।
रजनी सुख माने गमी, जोइ रही छुं वाट।
मुख वचन दीधुं वीठला, कोई शुं कीधो ठाठ।
साचुं बोलो प्रसन्न छुं, मन रीस नहीं लगार।
कांहा सुख पाम्या श्यामजी ते कहोने प्राणाधार।
नीचुं ढाली नें नंदसुत, तव वदे मुखथी वाण।
निद्रा आवी नव लहुं, ने अे ते तुं सत्य मान।

आ चिन्ह् निद्रा तणा न होय, अने शीथल दीसे गात्र ।
प्रकट जो जो पारखुं, पाग ठरे नहीं पल मात्र ।
हस्या हरजी प्रीत आणी, अने भीडी भामिनि अंग ।
दुःख सर्वे वीसर्यु ने रम्या वेहु जण रंग ।
सकल मनोरथ पूरण कीधा, पोहोंती मननी आश ।
निकट उभो नरसैंयो ते, जूए कौतुक हास ।

—न० कृ० का०, पृ० १२८

नरसी ने सारा वर्णन प्रत्यक्षदर्शी की भाँति किया है जो उनकी श्रृंगारप्रियता से व्यक्त करता है। उनके कृष्ण ने निद्रा का बहाना किया। अतएव झूठ के परिहार के लिए परिहास की आवश्यकता हुई, केवल क्षमा-याचनामयी दृष्टि यहाँ अपर्याप्त होती। रतिश्रम-निवारण की चेष्टा के स्थान पर नरसी ने रमण का उल्लेख किया है। इस स्थान पर सूर भाव की अधिक रक्षा करते हुए प्रतीत होते हैं।

नरसी के उपर्युक्त पद में रूढ़िगत रतिचिह्नों का उल्लेख नहीं है किन्तु अन्यत्र उन्होंने उनका उल्लेख करते हुए राधा की मनोदशा का चित्रण किया है। कपोल पर काजल, भाल पर महावर, पीताम्बर के स्थान पर नीलांबर, अटपटी पाग, शरीर में गड़े हुए कंकण तथा नखक्षत आदि से विभूषित कृष्ण की विचित्र अवस्था राधा के शब्दों में दर्शनीय है।

कृष्ण प्रत्ये रंगे रमीया ते क्यां रेणजी, अरुण उजागरा रातां नेण जी।
अधर भर्यो रंग तंबोलजी, काजल रेखा तारे कपोल जी।
काजल रेखा कपोल सोहे, तीलक खंडीत ताहेरुं।
विभिचारी बोल मा बालमा तो मन माने माहेरुं।
अटपटी शीर पाघ लटके, केसर ने फुले भरी।
अबील गुलाल ने चुवा चंदन, शोभे नाभी श्री हरी।
कंकण कोमल अंग खुंच्यां रेखा दीसे नख तणी।
जेशुं रंगे रम्या रजनी, वेगे पधारो ते भणी।
आ नीलांबर कोइ नारनुं, तमो साचुं कहोने सम तेहना।
आधीन थया प्रभु तेहने वहाला, लाव्या ने क्यांथी रेणमां।
कौस्तुभ मणि आ क्यां वीशारी, नवसेरो पहेर्यो कही नारनो।
रीश मा आणो मन विषे, मुने कहोने सुख विहारनो।
कइ भामनीओ भोगव्या, रजनी ते चारे जाम।
कोमल अंग केम खम्यां, रतिपति रणसंग्राम।

वेगे पधारो भुवन तेने हुं आवुं तमारे संग ।
श्रीहरी सुख देखाड तारुं रमीआ ते जेशुं रंग ।
हावे तेने प्रसंन थइने, हुं आपीश उरनो हार ।
नरसैंयां नाथजी मारी, बीनतडी वारंवार ।

—वही, पृ० १५२-५३

कृष्ण से राधा सारी बात का उसकी सौगंध खाकर, पूछना जिसके साथ कृष्ण ने रमण किया है अत्यन्त कठोर व्यंग्य है साथ ही अंत में जब वह अत्यन्त विनय से उनके संग चलकर अपना हार उसे भेंट करने की बात कहती है तो व्यंग्य की मार्मिकता और भी अधिक बढ़ जाती है । पद के प्रत्येक शब्द से राधा के मनोभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति हो रही है ।

नरसी अन्यत्र एक दूसरी गोपी का अंकन करते हैं जो कृष्ण के माथे में लगा महावर दिखाकर अपने रोष को व्यंग्यपूर्ण ढंग से प्रकट करती है—

जो जो रे जो जो रे, माथे महावर लाग्यो ।
नेण निद्रालुवां सोहे, अंग सुगंधी वागो ।
उलट जायो जांहां वस्या हुता रात ।
नरसैंयाचो स्वामी चुक्या, जो न लाव्या साथ ।

—न० कृ० का०,पृ० ५९१

ब्रजभाषा में खंडिता के इस प्रकार के मनोभावों की अभिव्यक्ति प्रायः श्रृंगार रस के सभी कवियों ने की है । सूर और हरिराम व्यास के निम्नोक्त उद्धरण इसके प्रमाण हैं—

सूर—जावक रंग लग्यो भाल, वंदन भुज पर बिशाल,
पीक पलक अधर झलक वाम प्रीति गाढ़ी ।
क्यों आये कौन काज, नाना करि अंग साज,
उलटे भूषण श्रृंगार निरखत हौं जाने ।
ताही के जाहु श्याम जाके निशि बसे धाम,
मेरे गृह कहा काम, सूरदास गाने ।

—सू० सा०, पृ० ४७५

व्यास—आजु पिय राति न तुम कछु सोये ।
कौन भामिनि के भवन जगे हरि जाके रस बस मोये ।

रति रस उमगि चले नखशिख अँग नीरस अधर निचोये ।
खंडित गंड पीक मुख की छवि अरुन अलस अति पोये ।
जावक पीक मषी रस कुमकुम स्वाद वासना भोये ।
लटकति सिर पगिया, लट बिगलत सुन्दर स्वाँग सँजोये ।
तन मन कारे हौंहि न गोरे कोटि वारि जो धोये ।
खोटी टेव न तजत व्यास प्रभु मैं कै बार बिगोये ।

—व्यासवाणी, पृ० ५२३

सूरदास ने खंडिताओं की ही मनःस्थिति को व्यक्त नहीं किया वरन् कृष्ण के मनोभावों को भी स्पष्टता से अभिव्यक्ति प्रदान की है । सारे प्रसंग को उन्होंने लीला-रूप में ग्रहण किया है अतएव सारी भावनाओं की अन्तिम परिणति आनन्द में होती है । कृष्ण बाह्यतः तो संकोच प्रकट करते हैं परन्तु अन्तर से गोपी के व्यंग्य वचन, उसका रोष, उसकी खीझ उनके मन में क्षोभ के स्थान पर एक विचित्र सुख की अनुभूति जगाते हैं जिसकी पुलक से उनका सारा शरीर सिहर उठता है—

श्याम त्रिया सन्मुख नहिं जोवत ।
कबहुँ नैन की कोर निहारत कबहुँ बदन पुनि गोवत ।
मन मन हँसत त्रसत तनु परगट सुनत भावती बात ।
खंडित बचन सुनत प्यारी के पुलक होत सब गात ।
इह सुख सूरदास कछु जाने प्रभु अपने को भाव ।
श्रीराधा रिस करति निरखि मुख सो छवि पर ललचाव ।

—सू० सा०, पृ० ४८१

कृष्ण के मनोभावों से सम्बद्ध इस तरह का कोई उदाहरण गुजराती में नहीं मिलता ।

८. **कृष्ण का मथुरा-गमन**—कृष्ण-काव्य की प्रधान भावना प्रेम है और प्रेम की जितनी तीव्र अनुभूति मिलन में होती है उससे कहीं अधिक विरह में । विरह एक प्रकार से मिलनकाल में विकसित होने वाले प्रेम की गहनता एवं स्थिरता का प्रमाण है । कृष्ण के ब्रज से मथुरा जाने की बात उनके प्रेम में उन्मत्त रहने वाले ब्रजवासियों के लिए कितनी मर्मान्तिक पीड़ा का कारण हो सकती है, इसको सूर और नरसी

के अनुभूतिशील हृदयों ने पूरी तरह पहचाना। दोनों कवियों ने अपने अपने स्वभाव के अनुसार समस्त कृष्ण-काव्य की संयोग वियोगमयी भावभूमि के बीच संधिस्थल जैसे इस प्रसंग को विशेष भाव-संकुल बना कर प्रस्तुत किया है। सूर का भाव-निरूपण नरसी की अपेक्षा अधिक विस्तृत और अधिक गंभीर संवेदना उत्पन्न करने वाला है। कृष्ण को मथुरा ले जाने वाले अक्रूर के मनोभावों का सूक्ष्म आलेखन सूर ने पर्याप्त कुशलता से किया है। अक्रूर के हृदय में कृष्ण के चरणों का दर्शन पाने की अभिलाषा एवं उत्कंठा तथा उनके ऐश्वर्य-ज्ञान से उत्पन्न विनम्र भक्ति भाव भागवतकार ने भी प्रदर्शित किया है परन्तु सूर ने उसे और भी अधिक संवेद्य और संपूर्ण बना दिया है। गुजराती में नरसी के अतिरिक्त अन्य किसी महत्त्वपूर्ण कवि ने अक्रूर की मनःस्थिति का स्पर्श तक नहीं किया; भालण एक दो पंक्तियों में संकेत मात्र करके रह गये हैं। यथा—

> अक्रूर जी ते वेगे जाये, मनमांहे आनंद न माये।
> आज मारा पूर्वज मूकाशे, दामोदरनुं दर्शन थाशे॥
>
> —दशमस्कंध, पृ० १५५

सूर ने कृष्ण-चरण-स्पर्श करने की कल्पना में विभोर अक्रूर के मनोभावों का सानुभाव वर्णन किया है—

> जब शिर चरण धरिहौं जाइ।
> कृपा करि मोहिं टेकि लैहैं करन हृदय लगाइ।
> अंग पुलकित वचन गदगद मनहिं मन सुख पाइ।
> प्रेमघट उच्छलत ह्वै हैं नैन अंशु बहाइ।
> कुसल बूझत कहि न सकिहौं बार बार सुनाइ।
> सूर प्रभु गुण ध्यान अटक्यो गयो पंथ भुलाइ।
>
> —सू० सा०, पृ० ५८७

एक भावुक-हृदय व्यक्ति भाव-विभोर होकर किस प्रकार कल्पनाशील बन जाता है और क्या सोचता है, यह सूर को भली भाँति विदित है। सूर का उक्त पद भाव की दृष्टि से भागवत पर आधारित है परन्तु कृष्ण को रथ में बिठाकर मथुरा की ओर जाते समय अक्रूर के मन में होने वाले जिस अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण सूर ने किया है वह उनकी नितान्त मौलिक भावानुभूति का प्रमाण है। ब्रजवासियों को दुखी करके क्रूर कंस के पास कृष्ण को ले जाना उन्हें पाप कर्म लगता है, साथ ही उन्हें कंस का भय भी है। इस अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित होकर उनका मन आत्मग्लानि से भर जाता है।

मनहिं मन अक्रूर सोच भारी ।
जननि दुखित करी इनहि मैं लै चल्यो भई व्याकुल सबै घोष नारी ।
अतिहि ए बाल भोजन नवनीत के जानि तिन्हैं लीन्हे जात दनुज पासा ।
कुबलयामल्ल मुष्टिक चाणूर से कियो मैं कर्म यह अति उदासा ।
फेरि लै जाउँ व्रज श्याम बलराम को कंस लै मोंहि तब जीव मारै ।
सूर पूरण ब्रह्म निगम नाहीं गम्य तिनहिं अक्रूर मन यह विचारै ।

—सू० सा०, पृ० ५८७

किन्तु जहाँ सूर ने अक्रूर के मन में उठने वाली इन मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए स्थल खोज लिया वहाँ कृष्ण के ब्रह्मत्व का निरूपण करना ही उनका प्रधान लक्ष्य रहा है । यह भक्त कवियों की एक सहज प्रवृत्ति रही है ।

नरसी में भी यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है परन्तु अक्रूर की आर्त दशा उन्होंने सूर की तरह किसी आभ्यंतरिक अन्तर्द्वन्द्व के कारण न दिखा कर एक ऐसे कारण से दिखायी है जो पूर्णतया बाह्य तथा स्थूल है । कृष्ण से मिलने के लिए उतावली गोपियाँ अक्रूर को ही कृष्ण समझ लेती हैं और 'स्पर्शसुख' पाने की झोंक में उनकी दुर्दशा बना देती हैं । अक्रूर घबराहट में अपना नाम तक ठीक से नहीं बता पाते—

गोपी कहे हरि आव्या दावे रे, लीजीओ रस हवे भरपूर ।
अेम बोली मनमां डोली रे, अक्रूर पकडिया तेणि वार ।
स्पर्शसुख माटे झाल्या रे, हाथ, पग, शीर, केश अपार ।
ज्यम कीडीयो कीटने पकडे रे, त्यम अक्रूर वींटी लीधा ।
कुंजमां लइ जइअे चालो रे हवे मनोरथ सीध्या ।
अक्रूर केहे नोय नोय कृष्ण रे, अ अ क्रू क्रू रररररे बोलाय ।

—न० कृ० का०, पृ० ६२

चींटियों द्वारा पकड़े गये कीड़े की तरह अक्रूर की एक बात भी गोपियाँ नहीं सुनतीं हैं तब वे त्राहि त्राहि करके कृष्ण से सहायता की प्रार्थना करते हैं—

अक्रूर बोले घणुं, नव को सुणे ते तणुं, वण्युं दीन रूप हरि भक्त केरुं ।
स्हाय माहरी करो, नहितो निश्चे मरुं हुं ने उगारो तमे थइने हेरुं ।

—वही, पृ० ६३

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो अक्रूर की स्थिति कारुणिक होने के स्थान पर हास्यास्पद हो गयी है जो प्रस्तुत प्रसंग में वियोग के पूर्व के गहन दुःखमय वातावरण के अनुकूल

प्रतीत नहीं होती। रसास्वादन में सहायक होने के स्थान पर वह एक प्रकार से उसमें बाधक सिद्ध होती है। गोपियों में भी विछोह के अवसर पर 'स्पर्शसुख' को पाने की जो अंध उतावली प्रदर्शित की गयी है वह प्रेम के सूक्ष्म रूप को व्यक्त करने के स्थान पर स्थूल रूप को ही अधिक व्यक्त करती है। कृष्ण 'कुंजररूप' होकर गोपियों को 'कदली' की तरह मर्दित करके परिश्रान्त करते हैं। इस सादृश से भी प्रेम के स्थूल रूप की ही व्यंजना होती है।

इस तरह के वासनापूर्ण प्रेम का चित्रण करना नरसी का स्वभाव है किन्तु इसके साथ 'गोविंदगमन' में उन्होंने गोपियों की मानसिक व्यथा, तथा कृष्ण के प्रति तीव्र आसक्ति का भी चित्रण किया है।

नरसी के कृष्ण सारे व्रज में इतने लोकप्रिय रहे कि सारे गोप-गोपी सोते-जागते, बैठते-उठते उन्हीं का नाम लेते रहते। जब कृष्ण के गमन का समाचार उन्हें मिलता है तो गोपियाँ दुख से दग्ध होकर पति, परिवार की चिंता भूल जाती हैं और गोप उत्तेजित होकर अक्रूर को मारने का विचार करने लगते हैं—

क—सूतां वेसतां उठतां रमतां जमतां करे कृष्ण।
बाल रुओ कृष्ण कृष्ण कही, न मटे कोनी तृष्ण ॥

—न० कृ० का०, पृ० ५६

ख—कृष्ण जवानुं सांभल्युं गोपियोओ ज्यारे जी।
बाघ देखी अजा जेवी तेम थई स्त्रियो त्यारे जी।
कोना ससरा स्वामी पिता भ्राता हुता जी।
माटे 'गले झलाइ' गई त्यांथी सौको दुहिता जी।
वली त्यां गोप सखाओ सुण्युं गमन जी।
तिणे तो अक्रूर मारवानुं कीधुं मंन जी।

—वही, पृ० २७

सूरदास ने भी कृष्ण के मथुरा-गमन का समाचार सुनकर उदास गोप-गोपियों का चित्रण किया है पर उन्होंने गोपों में वैसी उत्तेजना प्रदर्शित नहीं की जैसी नरसी ने की है—

सब मुरझानी री चलिबे की सुनत भनक।
गोपी ग्वाल नैन जल ढारत गोकुल ह्वै रह्यो मूँदचनक।
यह अक्रूर कहाँ ते आयो दाहन लाग्यो देह दनक।
सूरदास स्वामी के बिछुरत घट नहिं रहैं प्राण तनक!

—सू० सा०, पृ० ५८०

इसके अतिरिक्त सूर ने एक ऐसी गोपी की दशा का वर्णन किया है जिससे स्वयं कृष्ण ने अपने जाने की बात कही। जिसके केवल चलने की भनक सुनते ही गोपियाँ मुरझा जाती हों उसके स्वयं कहने पर कितनी गंभीर वेदना उस गोपी की हुई होगी, यह सूर की वाणी से ही व्यक्त हो सकता है। 'जल ज्यों जात बही' कह कर सूर ने उसकी अश्रुबिगलित दशा की व्यंजना की है—

हरि मोसों गौन की कथा कही।
मन गह्वर मोंहि उतर न आयो हौं सुनि सोचि रही।
सुनि सखि सत्य भाव की बातैं बिरह बेलि उलही।
करवत चिन्ह कहे हरि हमको ते अब होत सही।
आजु सखी सपने मैं देख्यो सागर पालि ढही।
सूरदास प्रभु तुम्हरो गवन सुनि जल ज्यों जाति बही॥

—सू० सा०, पृ० ५८०

कृष्ण के प्रवास से खिन्न होकर विगत। स्नेह-स्मृतियों से आपूरित नरसी की राधा अतिशय स्मरणशील हो उठती है। कृष्ण ने एक बार उसे मिलन का वचन दिया और नहीं आये। उसने उनके आलस भरे शरीर को देखकर सब कुछ समझ लिया। वह कृष्ण से झगड़ पड़ी, रूठ गयी। कृष्ण ने मनाने के सौ यत्न किये पर नहीं मानी। कृष्ण ने उसे एक दिन कुंजगली में मटकी ले जाते हुए देख लिया और 'अलि अलि सर्प' कह कर डरा दिया। फिर जब सर्प के भय से राधा काँपने लगी और सारा मान भूल कर 'कृष्ण कृष्ण' पुकार उठी तो अचानक आकर आलिंगन में भर लिया—

केवडा ऊपर काली जशो सर्प अे 'अलि अलि सर्प' अेम शब्द सुनियो।
अंग ध्रूजी गयुं केश विखरइ गया, शरीर सारे परस्वेद वळियो।
नासतां नासतां हुं पडुं आखडुं, त्रास पामी घणुं मन मांही।
वडाई ने विसरी, हे कृष्ण! कृष्ण! ऊचरी, गोपीनो नाथ मैं निरख्यों त्यांहीं।
वा' लो दडबड धोडियो, मुजने आलिंगियो 'डर नहीं, डर नहीं' अेम भाख्युं।
नरसंइना नाथनुं कपट कळी गई तोय वाई हेत अेनुं अेज राख्युं।

—न० कृ० का०, पृ० ६०

सूरदास ने भी एक स्थल पर कृष्ण के वियोग में राधा को ठीक ऐसी ही पूर्व स्मृति-संकुल मनःस्थिति में चित्रित किया है। उसे भी मान करने का घना पश्चात्ताप हो रहा है—

मेरे मन इतनी शूल सही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखी जे नँदलाल कही।
एक दिवस मेरे गृह आये हौं ही मथत दही।
रति माँगत मैं मान कियो सखि सो हरि गुसा गही।
सोचति अति पछिताति राधिका मूछित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे ते व्यथा न जाति सही।

—सू० सा०, पृ० ६३८

कृष्ण से अपने सुकुमार सम्बन्ध की सरस स्मृतियों में डूबी नरसी की विरहिणी राधा आधी रात, प्रभात किसी भी समय गा उठती, कृष्ण कृष्ण रटने लगती। राधा के वेदनासिक्त स्वर का वाह्य जगत् पर व्यापक एवं मार्मिक प्रभाव अंकित करके नरसी ने राधा की विरहव्यथा को सूफियों की तरह रहस्यात्मक बना दिया है। उसके स्वर को सुन कर पशु पक्षी जाग उठते हैं, यमुना डोलने लगती है, सूर्य उग आता है, कमल खिल जाते हैं और कुमुदिनी के मन में त्रास उत्पन्न हो जाता है—

आ विधे कृष्णचरित्रना, गाय मधराते प्रभात।
विरह कृष्ण कृष्ण उचरती. जुओ व्हाणुं वायानीवाट।
पंखीमात्र नहीं पण पशु जागियां, सुणी स्वामिनी मुख वाण।
त्यां स्थिर जमना लागी डोलवा, स्वर थयो जळचर ने जाण।
स्वर सुणियो सूरज देवता, पाळा धाय करवा प्रकाश।
स्वर सुणि रे कमळ खीलियां, उपन्यो पोयणी ने त्रास।

—वही

असह्य वेदना से उबरने का अन्य कोई उपाय न देखकर राधा नरसी के द्वारा कृष्ण के पास पत्र भेजती है जिसे लिखते समय वह इतनी विभोर एवं शिथिल हो जाती है कि 'मुआ हाथ' काम ही नहीं करता। यहाँ 'मुआ' शब्द भावव्यंजना की अद्भुत शक्ति रखता है। कमलपत्र पर राधा जो कुछ लिख पाती है उससे उसके दैन्यविगलित हृदय की पूरी झलक मिलती है—

अमो अबुध अबला शुं लखुं छो सर्वज्ञ घनश्याम।
करगरी लखीओ किंकरी, जाउं जमडाने धाम।
वळी निश्चे मनमां कर्यु, आवुं जाओ ते गाम।
बुध लखुं शुं रे विट्ठला, मुआ हाथ न करे काम।

—वही, पृ० ६५

कवियों द्वारा नंद और यशोदा आदि की मनोदशा का जो चित्रण किया गया है उसका परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है ।

नरसी ने कृष्ण के ब्रज से बिछुड़ते समय धेनु- प्रेम को जिस रूप में व्यक्त किया है वह गुजराती काव्य में अद्वितीय है । जिस समय गायें कृष्ण के मथुरागमन का आभास पाती हैं, तत्काल 'हिंसारव' करती, बंधन तोड़ती, गौशाला फोड़ती निकल पड़ती हैं । कृष्ण भी उन्हें देखने के लिए अक्रूर के साथ गौशाला में जाते हैं । कृष्ण को देखते ही गायें चारों ओर से उन्हें घेर लेती हैं और प्रिय के हाथ का स्पर्श पाकर उनकी आँखों से आँसू बहने लगते हैं । वे यशोदा को बुलाकर गायों और बछड़ों की दीन दशा दिखलाते हैं । गायें इस प्रकार कातर दृष्टि से कृष्ण को देखती हैं जैसे उन्हें रोकना चाहती हों । पीठ पर हाथ फेरते हुए आश्वासन देकर जब कृष्ण जाने लगते हैं तो वे बड़ी देर तक गर्दन उठा उठा कर उन्हें देखती रहती हैं और अंत में निराश होकर पड़ रहती हैं—

गायोअे जावानुं जाण्युं ज्यारे रे, मोटा हिंसारव कीधा तारे रे ।
तोडी वरेडुं गौशाला फोडी रे, नीकली गायोनी घणी जोडी रे ।
धेनु प्रेम निरखियो नाथे रे, पेठा गौशाळा मां अक्रूर साथे रे ।
आवी गायोअे गोविंद घेर्या रे, हरिये वारा फरती कर फेर्या रे ।
चक्षुथी चोधारे अश्रु खरतां रे, वां वां शब्द वाछरुं करतां रे ।
जाणी गायो तेमज भणती रे, लेइ जावाना शब्दो सुणती रे ।
न जावा देवा अेवुं दीसे रे, हिंसारव करी मांहे मांहे हींसे रे ।
हरिअे जननी ने त्यां बोलावी रे, जशोमती व्हेली व्हेली आवी रे ।
बोलिया हरि मुखथी हसी रे, आवी जोइ लेअो गायो जशी रे ।
काळी कावरी खोडी बोडी रे, धोळी पीलीनी रुडी जोडी रे ।
हंसली बगली पोषणी राती रे, गोमती टिळवी रखे कंइ जाती रे ।
तेना वाछरुं सघलां जो जो रे, गायने केहे काळे न आवुं तो रोजो रे ।
कमळ कर पीठ ऊपर धरी रे, गायो रीझवी नीकळ्या हरि रे ।
ऊँची डोक करी करी भाले रे, हरि ने जोतां गायो न्याले रे ।
अदर्श थया ज्यारे दयाळ रे, निराशी पडी गायो ततकाल रे ।

—वही, पृ० ६७

ब्रजभाषा में सूर ने गायों की वेदना को तो व्यक्त किया ही है, साथ ही उनके स्वभाव का अधिक सूक्ष्म निरूपण किया है । उन्होंने कृष्ण से बिछुड़ती हुई गायों की दशा अंकित न करके बिछुड़ने के बाद उनकी जैसी कारुणिक अवस्था हो जाती है उसका

अंकन किया है। प्रसंग-भेद अवश्य है परंतु यहाँ तुलना की दृष्टि से सूर का एक पद उद्धृत कर देना अनुचित न होगा—

मधुकर इतनी कहियहु जाइ।
अति कृशगात भई ए तुम बिनु परम दुखारी गाइ।
जलसमूह बरषति दोउ आँखें, हूँकति लीने नाँउ।
जहाँ जहाँ गोदोहन कीनो सूँघति सोई ठाँउ।
परति पछार खाइ छिनही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु सूर काढ़ि डारी है वारि मध्य ते मीन।

—सू० सा०, पृ० ७११

नरसी के 'उँची डोक करी करी भाले रे' में जितनी स्वाभाविकता है उससे अधिक स्वाभाविकता नाम सुनते ही हूंकने और गोदोहन के स्थानों को जा जा कर सूंघने में है परन्तु जहाँ तक संवेदना का प्रश्न है, नरसी और सूर दोनों के वर्णनों में वह समान रूप से उपलब्ध होती है।

नरसी ने जिस प्रकार गायों की कातरता एवं उत्सुकता का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है उसी प्रकार कृष्ण से बिछुड़ती हुई गोपियों की मनस्थिति को भी पूरी तरह अभिव्यक्त किया है। सारी गोपियाँ कृष्ण से मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। घर की बड़ी-बूढ़ी मना करती ही रह जाती हैं और वे भरे जल को ढलका कर सुनी-अनसुनी करती हुई जल भरने के बहाने घर से निकल ही पड़ती हैं—

आ आवी कही चाली गोपियो, जोई सासुं लडवा धाती रे।
भर्यु पाणी वृथा ढोळी बहुवर, सुण्युं न सुण्युं करी जाती रे।

—न० कृ० का०, पृ० ६४

कृष्ण का रथ जब मथुरा की ओर चल पड़ता है तो वे राह में जा खड़ी होती हैं। कृष्ण की आज्ञा से अक्रूर रथ हाँकने में अपना पूरा कौशल प्रदर्शित करते हैं परन्तु गोपियाँ आगे-पीछे गिरती-पड़ती, उड़ती हुई धूल में भी रथ को पकड़ लेती हैं। चतुर राधा पहिये की कील निकाल कर रथारोहियों को पराजित कर देती हैं। भावावेश में वे अक्रूर को मारने और कृष्ण-बलराम को कुंज में उठा ले जाने के लिए उद्यत हो जाती हैं—

अक्रूर ने मारो बाँधो पछाडो, बे वीर कुंजे लीजे।
अबलाअे बलवता पकड्या नरसंहियो घणु रीझे।

—वही, पृ० ६९

कुंज तक जाने के लिए कृष्ण जब हाथी माँगते हैं तो वे तत्काल मिलजुल कर नारी कुंजर का रूप बना लेती हैं और कुंज में जाकर रास-विलास में मग्न हो जाती हैं। गोपियाँ कृष्ण को किसी प्रकार छोड़ने को राजी नहीं होतीं-जब वे पिता की सौगन्ध खाकर शीघ्र आने को कहते हैं तब कहीं मुक्ति पाते हैं। अंत में लाख प्रयत्न करने पर भी जब विदा की वेला आ ही जाती है तो वे कृष्ण के अगणित आश्वासनों पर संदेह करती हुई बार बार शीघ्र आने का आग्रह करती हैं। कृष्ण चल देते हैं तो वे प्रेमाभिभूत होकर उनके डग गिनती रह जाती हैं—

वेहेला आवजो, वेहेला आवजो, अेम गोपी भणती जी।
नरसंइयानो स्वामी तो चाल्यो गोपीयो डगलां गणती जी।

—वही, पृ० ७३

इसी तरह जब कृष्ण का रथ बजता हुआ चल पड़ता है तो वे उसे टकटकी बाँध कर देखती रहती हैं। ज्यों ज्यों रथ दूर जाने लगता है त्यों त्यों उनकी उत्सुकता बढ़ती जाती है और वे उच्च से उच्चतर वृक्ष पर चढ़ कर उसे देखने का प्रयास करती हैं। पहले रथ में कृष्ण दीखते रहते हैं, फिर रथ ही दिखाई पड़ता है और अंत में जब उसकी ध्वजा भी छिप जाती है तो सारी गोपियाँ दुख के अतिरेक में चेतनाहीन होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती हैं। यहाँ परिस्थिति के अनुकूल नरसी ने गोपियों की स्नेहाकर्षणजन्य उत्सुकता का जो क्रमिक विकास चित्रित किया है वह काव्य की दृष्टि से सराहनीय है—

रथ वेगे वाजे घणो रे, ते गोपी टकटक जोय।
अरे सखि हरि तो गया रे, शी वले आपणी होय।
जेवा तेवा हरि दीसशे रे, चालो चड़िये ऊंची डाल।
जेम जेम हरि जाय छे रे, तेम तेम ऊंची चढ़ती बाल।
पछे हरि दिखता रह्या रे, एक रथ देखे सहुको नार।
ओ रथ दिसतो रह्यो रे टकटक धज जोई रही निरधार।
धज पण छूपी गयो रे, तहीं रज जोती ते काल।
ते जब नव लही रे, ताड चढी कीर्तिनी बाल।
ताडथी दीसता रह्या रे, के वृक्षथी पडी गइ निराश।
श्वास श्वास वरतइ रह्यो रे, राधा जीव्यानी मूकी आश।
लोथ्यो पड़ी अेक अेक परी रे, कोइ नव लीजे तपास।
माधव ने शुं कहीये रे, प्रभुअे घणो कर्यो विनाश।

—वही

नरसी की गोपियाँ भावुक होने के साथ ही क्रियाशील भी बनी रहती हैं। उनकी भावना उन्हें मिलन और दर्शन के लिए प्रयत्नरत रहने की प्रेरणा देती हैं। इसके विरुद्ध सूर की गोपियों का भावातिरेक उन्हें सारी परिस्थिति के प्रति विचित्र प्रकार से निश्चेष्ट, निष्क्रिय तथा जड़ बना देता है। वे केवल पश्चात्ताप, रुदन एवं क्रंदन करती रह जाती हैं। उनकी सारी चतुरता विरहानुभूति की गंभीर अश्रुधारा में बह जाती है। वे लाज त्याग कर कृष्ण को मथुरा जाने से रोकने की बात सोचती हैं पर जब अवसर आता है तो उनसे प्रेम के कारण बोला तक नहीं जाता, सारा शरीर रोमांच से भर जाता है—

> गोपालहिं राखहु मधुबन जात।
> लाज गहे कछु काज न सरिहैं बिछुरत नंद के तात।
> रथ आरूढ़ होत बलि बलि गई होइ आयो परभात।
> सूरदास प्रभु बोलि न आयो प्रेमपुलकि सब गात॥
>
> —सू० सा० पृ० ५८४

कृष्ण रथ पर चढ़ कर चल भी देते हैं फिर भी उनसे गंभीर दुःखानुभूति के कारण कुछ करते ही नहीं बनता, जहाँ की तहाँ चित्रवत् खड़ी रह जाती हैं—

> रहीं जहाँ सो तहाँ सब ठाढ़ी।
> हरि के चलत देखियत ऐसी मनहु चित्त लिखि काढ़ी।
> सूखे वदन स्रवत नैनन ते जलधारा उर बाढ़ी।
> कंधनि बाँह धरे चितवति द्रुम मनहु बेलि दव डाढ़ी।
> नीरस करि छाँड़ी सुफलक सुत जैसे दूध बिन साढ़ी।
> सूरदास अक्रूर कृपा ते सही बिपति तनु गाढ़ी।
>
> —वही, पृ० ५८५

कृष्ण से उनकी चेतना पूर्णतया आबद्ध रहती है। बिसुधि एवं निष्क्रियता उसी का एक परिणाम है, उसकी न्यूनता अथवा अभाव का प्रमाण नहीं। बिछोह के अवसर पर उनके प्रेम में वासना की उष्णता तथा चपलता की गंध भी नहीं रह जाती। न तो वे नरसी की गोपियों की तरह मार्ग में व्यूह बना कर उन्हें रोकने का प्रयास करती हैं और न कुंज में ले जाकर रास-विलास में निमग्न होती हैं। जब उनके प्रेम का बल कृष्ण को नहीं रोक पाया तो बौद्धिक और शारीरिक बल का प्रयोग वे क्यों करें। स्थूल चेष्टाएँ उनकी सुकुमार भावना के अनुकूल नहीं पड़तीं। परन्तु सुकुमार हो कर भी उनकी भावना हृदय के गंभीरतर स्तरों तक व्याप्त दीखती है। रथ को

देखने की लालसा, कृष्ण के प्रति अनुरक्ति एवं उनके साथ रहने की इच्छा उनमें किसी प्रकार भी नरसी की गोपियों से कम प्रतीत नहीं होती। रथ कितनी दूर गया इसकी जिज्ञासा, रथ उनके कृष्ण को लेकर जा रहा है इसकी अनुभूति, रथ के साथ साथ धूल, पताका पवन आदि होकर मथुरा तक जाने की लालसा तथा रथ के चले जाने पर मूर्छित होकर गिर पड़ना इसका प्रमाण है—

क—केतिक दूरि गयो रथ माई ?
नँद-नंदन के चलत सखी री तिनको मिलन न पाई।
एक दिवस हौं द्वार नंद के नहीं रहति बिनु आई।
आजु विधाता मति मेरी गई भौन काज बिरमाई।

—सू० सा०, पृ० ५८५

ख—सखी री वह देखौ रथ जात।
कमलनैन काँधे पर न्यारो पीत वसन फहरात।

—वही

ग—पाछे ही चितवत मेरे लोचन आगे परत न पाँइ।
मन लै चली माधुरी मूरति कहा करौं ब्रज जाइ।
पवन न भई, पताका अंबर भई न रथ के अंग।
धूरि न भई चरण लपटाती जाती वहँ लौं संग।
ठाढ़ी कहा करौं मेरी सजनी जिहि विधि मिलहि गोपाल।
सूरदास प्रभु पठै मधुपुरी मुरझि परी ब्रजबाल।

—वही

भाव-विकास की अन्तिम सीमा सूर और नरसी में समान है परन्तु मध्य की भाव-स्थिति में पर्याप्त अन्तर है। बचपन का प्रेम और रथ की धूल के कारण कृष्ण को भर आँख न देख पाने की विवशता उन्हें बहुत समय तक कचोटती रहती है—

अब तो हैं हम निपट अनाथ।
जैसे मधु तोरे की माखी त्यों हम बिनु ब्रजनाथ।
अधर अमृत की पीर मुई हम बाल दशा ते जोरि।
सो छिड़ाय सुफलक-सुत लै गयो अनायास ही तोरि।
जौंलगि पानि पलक मींड़त रही तौ लगि चलि गये दूरि।
करि निरंध निबहे दै माई आँखिन रथ पद धूरि।

—सू० सा०, पृ० ६१०

बलराम और कृष्ण को अवश्य सूर ने नितान्त निस्पृह एवं निर्लिप्त रूप में चित्रित किया है। बिछोह का ऐसा अवसर भी उनके मन में किसी प्रकार के भाव उत्पन्न नहीं कर पाता—

> व्याकुल भये ब्रज के लोग।
> श्याम मन नहिं नेक आनत ब्रह्म पूरण योग।
> कौन माता पिता को है, कौन पति को नारि ?
> हँसत दोउ अक्रूर के सँग नवल नेह बिसारि।
>
> —वही, पृ० ५८०।

नरसी के कृष्ण ऐसे नहीं हैं। वे 'प्रेमांकुश' पकड़ कर नारीकुंजर का आरोहण करते हुए कुंज में क्रीड़ा करने जाते हैं और जाते जाते फिर आने का वचन भी देते जाते हैं पर भावुकता उनमें भी उत्पन्न नहीं होती।

९. **भ्रमरगीत**—कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत का प्रसंग ब्रजवासियों, विशेषकर गोपियों की मनोदशा की अभिव्यक्ति का अत्यन्त प्रधान केन्द्र रहा है। क्रमशः इसमें सैद्धान्तिकता का समावेश हो गया परन्तु उससे भावाभिव्यक्ति की क्षति न होकर कुछ उत्कर्ष ही हुआ है। गोपियाँ भक्ति एवं प्रेम का प्रतीक बन गई। ज्ञान और योग के समर्थनकर्ता उद्धव को वे प्रायः अपनी गम्भीर प्रणयानुभूति और निश्चल आसक्ति से पराजित कर देती हैं। बौद्धिक तर्क की अपेक्षा वे अश्रु और उच्छ्वास का आश्रय लेती हैं जो उनके विरहविदीर्ण हृदय की सहज अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसे कवि कम हैं जिन्होंने गोपियों के भावों के साथ कृष्ण के भावों का भी अंकन इस प्रसंग में किया हो। सूरदास और भालण ने कृष्ण के ब्रज-प्रेम का अंकन किया है परन्तु दोनों में मौलिक अंतर है। सूर के कृष्ण ब्रज और ब्रजवासियों के प्रति जो ममता व्यक्त करते हैं वह 'छल' के रूप में प्रकट की गई है। निर्लिप्त कृष्ण उद्धव का ज्ञानगर्व नष्ट करने के निमित्त वैसे भाव प्रदर्शित करते हैं परन्तु भालण ने अपने कृष्ण में ब्रज के प्रेम का जो चित्रण किया है वह वास्तविक है। उनके भाव छलमय होकर पूर्णतया निश्छल रूप में व्यक्त किये गये हैं,।[३७] किसी निमित्त से भावों को व्यक्त करना भावों के असत्य होने का आवश्यक प्रमाण नहीं है, फिर भी सूर की अपेक्षा भालण के कृष्ण की स्थिति मानवीयता की दृष्टि से अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है। गुजराती के अन्य कवि प्रेमानंद ने भी इस स्थल पर अपने पूर्ववर्ती भालण की ही तरह कृष्ण को मानवीय दुर्बलताओं से आपूर्ण चित्रित किया है।[३८]

यही नहीं, प्रेमानंद ने उद्धव में ज्ञानगर्व की अपेक्षा गोपियों के प्रेम के प्रति आदर तथा कोमलता का भाव आदि से ही चित्रित किया है—

जड़ लोचने जोउं ब्रजवधू, मारो थम पिंड पवित्र ।

—श्रीम० भा० पृ० ३२५

भालण ने कृष्ण की उन ममतापूर्ण ब्रज-स्मृतियों का विस्तार से आलेखन किया है जिनमें वे मथुरा के राजवैभव की अपेक्षा ब्रज के वन्य वातावरण और सहज सुख को अधिक प्रिय स्वीकार करते हैं। गोपियों और यशोदा के साथ बीती हुई अनेक सुकुमार घटनाओं का स्मरण करके वे उद्धव को अपना अभिन्न मित्र समझकर ब्रजवासियों का दुख दूर करने भेजते हैं। उद्धव कृष्ण का संदेश ब्रज में लाते हैं इस वस्तु को तो कवियों ने सामान्यतः स्वीकार किया है परन्तु उसकी भावभूमि को कुछ ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तित एवं विस्तृत कर लिया है। भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में सूर की विशेषता यहाँ भी परिलक्षित होती है। उद्धव के मथुरा लौट आने पर गोपियों की दशा सुन कर कृष्ण के हृदय में वास्तविक उद्वेलन होता है। दुखी गोपियों के पास योग का संदेश भेज कर वे पछताते हैं—

सुनु उधो मोहिं नेक न बिसरत वे ब्रजवासी लोग।
तुम उनको कछु भली न कीनी निशिदिन दियो वियोग।
यद्यपि वसुदेव देवकी मथुरा सकल राज-सुख भोग।
तदपि मनहि बसत बंसीबट ब्रज यमुना संयोग।
वे उत रहत प्रेम अवलंबन इतते पठयो योग।
सूर उसांस छाँड़ि भरि लोचन बढ़्यो विरह ज्वर शोग।

—सू० सा०, पृ० ७२५

कृष्ण की मनःस्थिति पूर्ववर्णित मनःस्थिति से विरोध उपस्थित करती है परन्तु विचारकरने पर विरोध विरोध न रहकर विरोधाभास सिद्ध होता है क्योंकि कृष्ण उद्धव को गोपियों के पास ब्रज-प्रेम की महिमा समझाने के लिए ही तो भेजते हैं। यह उद्देश्य उनके हृदय में अन्तर्निहित ब्रजप्रेम को व्यंजित करता है। सूर ने इसको उक्त पद में अभिव्यक्त किया है। यों सूर ने कृष्ण को कभी निर्लिप्त, निष्काम तथा निर्विकार रूप में चित्रित किया है और कभी उनमें भावों, अकामनाओं तथा मनोविकारों का भी प्रदर्शन किया है, इसमें संदेह नहीं।

संदेश पाने से पूर्व ब्रजवासियों की मनोदशा—संदेश पाने से पहले ब्रजवासियों में जो आशामयी उत्सुकता उत्पन्न होती है उसको सूर ने पूरी तरह प्रत्यक्ष करके व्यक्त किया है। गोपियों की वृत्ति कृष्ण में इतनी रमी हुई है कि उन्हें उद्धव के आने का आभास अपने आप हो जाता है; सुख-दुख का मिश्रित अनुभव होने लगता

हैं और वे प्रिय के आगम को जताने वाले काग को खीर और पाग देने की कामना करने लगती हैं ।[11]

भावमुग्ध अवस्था में गोपियाँ वेश-साम्य देख कर उद्धव को ही कृष्ण समझ लेती हैं । यह भ्रान्ति सारे ब्रजवासियों के हृदयों को आन्दोलित कर देती है। नंद, यशोदा, ब्रजललनाएँ तथा गोवृंद सभी प्रेम जन्य अनुभावों से आपूरित हो जाते हैं । उनमें वितर्क का भी संचार होने लगता है—

घर घर इहैं शब्द पर्‌यो ।
सुनत यशुमति धाइ निकसीं हर्षि हियो भर्‌यो ।
नंद हर्षित चले आगे सखा हर्षत अंग ।
झुंड झुंडन नारि हर्षित चली उदधितरंग ।
गाइ हर्षत पय स्रवत थन हुंकरत गउ वाल ।
उमँगि अंग न मात कोऊ वृष तरुन अरु बाल ।
कोउ कहत बलराम नाहीं श्याम रथ पर एक ।
कोउ कहत प्रभु सूर दोऊ रचित बात अनेक ।

—सू० सा० पृ० ६४६

इतनी आशान्वित उत्सुकता के बाद जब उन्हें ज्ञात होता है कि वस्तुतः कृष्ण नहीं हैं, उद्धव हैं तो वे तत्काल मूर्छित हो जाती हैं । यह मूर्छा कृष्ण के प्रति उनकी गहरी आसक्ति की परिचायक है । उन्हें लगा जैसे स्वप्न में पाया साम्राज्य छिन गया हो ।

जबहिं कह्यो ए श्याम नहीं ।
परी मुरझि धरणी ब्रजबाला जो जहँ रहीं सु तहीं ।
सपने की रजधानी ह्वै गई जो जागी कछु नाहीं ।
बारबार रथ ओर निहारहिं श्याम बिना अकुलाहीं ।

—वही

कृष्ण की कुशल पूछते हुए भी उनका कलेजा काँपता रहता है । हर्ष के साथ ही आशंका उन्हें व्याप्त हो जाती है—

पूंछत कुशल नारि नर हरषत आये सब ब्रजवास ।
सकसकात तन धकधकात उर अकबकात सब ठाढ़े ।

—वही, पृ० ६४८

इस स्थल पर किसी भी गुजराती कवि नें इतनी कुशलता से भावांकन नहीं किया है। प्रेमानंद ने नंद-यशोदा में तो आशामयी उत्सुकता प्रदर्शित की है परन्तु गोपियों की मानसिक प्रतिक्रिया भिन्न रूप में चित्रित की है। वे नंद के द्वार पर रथ देख कर अक्रूर के आने की भ्रान्त कल्पना कर लेती हैं और इसी भ्रान्ति के वशीभूत होकर भावावेश में सारथी को मारने लगती हैं—

सारथि लीधो मारवा, क्रोधे गोपिका उन्मत्त ।
शुं पुनरपि पापी आवियो, अक्रूर नंद ने गेह ।
—श्रीम० भा०, पृ० ३२५

निश्चय ही इस कठोर भावाभिव्यक्ति की तुलना सूर के कोमल भावनिरूपण तथा सूक्ष्म अनुभूति से नहीं की जा सकती। यों सूर की कुछ गोपियों को भी उद्धव के रथ से अक्रूर के पुनरागमन का आभास होता है—

आजु ब्रज कोऊ आयो है ।
कैधौं बहुरि अक्रूर क्रूर है जियत जानि उठि धायो है ।

पर इसे केवल आभास तक सीमित रखकर सूर ने भाव के सौन्दर्य की पूरी तरह रक्षा की है।

सूर की गोपियों में अप्रतिहत अबाध कृष्ण-प्रेम परिलक्षित होता है। कृष्ण के न आने की बात जान कर जो गहरी निराशा उन्हें होती है उसी के भीतर से कृष्ण की पाती में कुछ पा जाने की आशा फूट पड़ती है। आगन्तुक के प्रति जो आशामयी उत्सुकता उनमें उत्पन्न हुई थी वह पाती को देखकर पुनः जग उठती है। कृष्ण के हाथ के लिखे हुए अक्षर पाकर वे इतनी अधिक भावविह्वल हो जाती हैं कि आँसू बहाने के अतिरिक्त प्रिय के संदेश को पढ़ने की भी चेतना नहीं रहती। वे उसे बार बार हृदय से लगाकर आत्मविभोर हो जाती हैं—

निरखत अंक स्याम सुन्दर के बार बार लावत लै छाती ।
लोचन जल कागद मसि मिलिकै ह्वै गई स्याम जू की पाती ।
—सू० सा०, पृ० ६४९

संदेश की प्रतिक्रिया—उद्धव के द्वारा कृष्ण का ज्ञान, योग, तपस्या और निर्गुण ब्रह्म की उपासना का क्रूर संदेश पाकर गोपियों के स्नेहाप्लावित हृदय में जो प्रतिक्रिया होती है उसे कवियों ने कहीं स्वाभाविकता के साथ कहीं अतिरंजना के साथ,

पूरा विस्तार देकर चित्रित किया है । एक तो यह प्रतिक्रिया अनेकमुखी होती है-दूसरे उतनी ही गंभीर जितनी गंभीर गोपियों की प्रीति है ।दोनों ही बातें मानव-मनोविज्ञान के अनुकूल हैं । गोपियों का आक्रोश पहले पहल उन कृष्ण पर होता है जिन्होंने प्रीति करके धोखा दिया और ऐसा संदेश भेजा । भ्रमर को आधार बना कर वे अपना सारा आक्रोश कृष्ण की जैसी लंपटता, चंचलता, स्वार्थपरता, अस्थिर प्रीति तथा क्षणिक रसलुब्धता का बखान करती हुई प्रकारान्तर से व्यक्त कर डालती हैं । फिर वे उन उद्धव पर रुष्ट होती हैं जो ज्ञान का संदेश लाद कर ब्रज लाये । इसके बाद जब वे कृष्ण की इस आकस्मिक विरति का कारण खोजती हैं तो उनकी वाग्धारा कुब्जा की ओर मुड़ जाती है और वे कृष्ण और कुब्जा के अवैध एवं अशोभन संबंध की कल्पना करके तीव्र से तीव्र व्यंग्य करने लगती हैं ।

संदेश में कही हुई प्रत्येक बात का उन्हें भिन्न ही अर्थ प्रतिभासित होने लगता है । वे एक के बाद एक प्रहार करके उस संदेश की धज्जियाँ उड़ाने लगती हैं । जिस पाती में संदेश लिख कर भेजा गया और जिसे प्रेम की पाती समझ कर उनका हृदय लहरा उठा था उसे वे पढ़ती तक नहीं । कुछ कवियों ने इस तीव्र भावात्मक प्रतिक्रिया को उसकी गंभीरता के साथ आत्मसात् न करके बौद्धिक रूप दे दिया है परन्तु अधिकतर काव्य में इसका भावात्मक रूप ही प्रकट किया गया है । सूर ने प्रतिक्रिया की गंभीरता तथा उसके बहुमुखी प्रसार को पूरी तरह अभिव्यक्त किया है । अन्य कवियों में इसकी आंशिक अभिव्यक्ति मिलती है । गुजराती तथा ब्रजभाषा के समस्त कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत सम्बन्धी भावनाओं के आलेखन में सूर का स्थान सर्वोपरि है ।

सूर की गोपियों का प्रत्येक उद्‌गार सीधा हृदय से मिश्रित हुआ लगता है । इन उद्‌गारों में कवि ने सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदन को तीव्र से तीव्र अभिव्यक्ति प्रदान की है । वे कृष्ण के संदेश और संदेशवाहक का जी भर कर परिहास करती हैं, उनपर कठोर से कठोर व्यंग्य कसती हैं परन्तु इस सबके पीछे से उनके हृदय में रह रह कर लहराता हुआ गहरा भाव-समुद्र झलकता रहता है । कवि ने कदाचितन् अपने हृदय की तीव्रतम अनुभूति से भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों का निर्माण किया है । भाव में डूब कर उसीकी कल्पना भावाभिव्यक्ति के अनगिनत प्रकार रचती जाती है जो अन्य कवियों के काव्य में नहीं मिलते ।

कृष्ण के प्रति गोपियों का उपालंभ, व्यंग्य और अनन्य प्रेम—'यह पाती लै जाहु मधुपुरी जहाँ बसैं स्याम सुजाती' कह कर सूर की गोपियाँ संदेश की व्यंग्यपूर्ण उपेक्षा करती हैं । इस भाव को प्रेमानंद ने भी प्रदर्शित किया है—

जे संदेशो श्रीकृष्णे कहाव्यो ते तमो फरी लेता जाओ।

—श्रीम० भा०, पृ० ३२७

'कृष्ण के संदेश को वापस लेते जाओ' कहने की अपेक्षा 'इसे उस मथुरा में ले जाओ जहाँ कृष्ण रहते हैं' कहना व्यंग्य को अधिक मार्मिक बना देता है। कृष्ण के संदेश पर व्यंग्य करने के साथ ही सूर की गोपियाँ अपने भेजे संदेशों का स्मरण करने लगती हैं। उनका यह सोचना कि हो न हो क्रूर-हृदय कृष्ण ने उनके संदेशवाहक पथिकों को उलटा-सीधा समझा दिया होगा, अत्यन्त स्वाभाविक लगता है।

सँदेसन मधुबन कूप भरे।
अपने तौं पठवत नँदनंदन हमरे फिरि न फिरे।
जेइ जेइ पथिक हुते ब्रज पुर के बहुरिन शोध करे।
कै वह श्याम सिखाय प्रबोधै कै वह बीच बरे।

—सू० सा०, पृ० ६५०

भ्रमर के माध्यम से कृष्ण पर आक्षेप करती हुई गोपियाँ सभी काली वस्तुओं को सदोष एवं निकृष्ट घोषित कर देती हैं। इस भाव को गुजराती तथा ब्रजभाषा दोनों में समान रूप से अभिव्यक्ति मिली है क्योंकि इसका मूल सूत्र भागवत की गोपियों के 'तद-लमसितसख्यैः' में निहित है। कवियों ने सूत्रनिहित भाव को अधिक तीव्र एवं स्पष्ट करके व्यक्त किया है—

गुजराती

भालण—काळा सघला धूतारा, कोणे कल्या नव जाय जी।
मन वाल्युं वले नहिं तो, कीजे कशो उपाय रे।

—द० स्कं०, पृ० २१४

प्रेमानंद—जेटला काळा ते सहु कपटी, विश्वासकोनो नव करीओ।
काळा सर्पनी संगत करतां, कोइक दहाडो मरीओ।

—श्रीम० भा०, पृ० ३२८

ब्रेहेदेव—काळां सरखा होय कूडे भर्‍या।
चंपक सरखा काळे परहर्‍या।

—बृ० का० दो० भाग १, पृ० ६६७

ब्रजभाषा

सूर—क. मधुकर यह कारे की रीति।
मन दै हरत परायो सरवस करै कपट की प्रीति।
ज्यों षटपद अंबुज के दल में बसत निशा रति मानि।

दिनकर उए अनत उड़ि बैठे फिरि न करत पहिचानि।
भवन भुजंग पिटारे पाल्यो ज्यों जननी जिय तात।
कुल करतूति जाति नहि कबहूँ सहज सुउसि भजि जाति।
कोकिल काग कुरंग श्यामघन हमहि न देखे भावैं।
सूरदास अनुहारि श्याम की छिनु छिनु सुरति करावैं।

—सू० सा०, पृ० ६७७

ख. बिलग मति मानहु ऊधो प्यारे।
वह मथुरा काजर की उबरी जे आवैं ते कारे।
तुम कारे, सुफलक-सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।

—वही

काले के अन्य अनेक दोष तो उक्त सभी कवियों ने दिखाये हैं परन्तु वे प्रतिक्षण कृष्ण की स्मृति दिलाते हैं, इस रसमय दोष को सूर की ही अन्तर्दृष्टि ने देखा। साथ ही सारी मथुरा को 'काजर की उबरी' कह कर अक्रूर, उद्धव, कृष्ण सब के प्रति व्यंग्य करना भाव की और भी व्यापक अनुभूति का परिचायक है।

इसी प्रकार कुब्जा के साथ कृष्ण के अनुचित एवं अनुपयुक्त संबंध की परिकल्पना करके गोपियों का हृदय आहत और विदीर्ण हो उठता है। आहत स्नेह व्यक्ति के उद्‌गारों का जो रूप होता है वह कुब्जा को लेकर लिखे गये पदों में पूर्णतया व्यक्त हुआ है। सूर ने इस भावस्थिति को कुब्जा के मनोभावों का चित्रण करके और भी अधिक सजीव बना दिया है। अपने संदेश में राधा और गोपियों के प्रति वह मृदु कटु दोनों प्रकार से व्यंग्य करके कृष्ण पर अपना स्वत्व प्रदर्शित करती हैं और कृष्ण के ब्रज से विमुख होने का सारा दोष उन्हीं पर मढ़ देती हैं।"

इस प्रकार की भाव-योजना करके सूर ने एक ओर तो कुब्जा को प्राणवत्ता प्रदान की, दूसरी ओर गोपियों के व्यंग्यपूर्ण उद्‌गारों के लिए अधिक उपयुक्त आधार प्रस्तुत किया जिसकी पृष्ठभूमि में गोपियों की सारी ईर्ष्या, सारा आक्रोश अधिक स्वाभाविक तथा मार्मिक प्रतीत होने लगता है। कृष्णकाव्य के किसी अन्य कवि ने भावयोजना के क्षेत्र में ऐसी कुशलता प्रदर्शित नहीं की। कुब्जा के प्रति व्यंग्यपूर्ण उद्‌गार व्यक्त करती हुई गोपियों की भाव-विह्वल दशा का चित्रण दोनों भाषाओं के अनेक कवियों ने किया है। नरसी के भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों का प्रधान भाव कुब्जा पर ही केन्द्रित है—

कंसरायनी दासी कुब्जा, खुंधी ने वळी खोडी रे।
काळो काहनो काळी कुबजा, सरखी मळी छे जोडी रे।

—न० कृ० का०, पृ० २८२

कुब्जा-कृष्ण के संबंध की असंगति का परिहास करती हुई एक गोपी कुब्जा को वे बातें भी कहला भेजती है जिनके द्वारा वह कृष्ण को सुखी रख सके। इस प्रकार के उद्‌गारों में प्रिय की कल्याण-कामना ईर्ष्या को पराजित करके प्रमुख हो उठती है अथवा रति के साथ वात्सल्य का उदय हो जाता है—

कुबजा ने कहेजो रे, ओधव अेटलुं रे, हरी हीरो आव्यो ताहारे हाथ।
मान करीने रे, अेहेने तुं लजावेरे, कहुं छुं शीखामणनी बात।
प्राते उठीने प्रथम पूछजे रे, जे मागे ते आपजे ततखेव।
बीजुं कांइरे, भुधर ने भावे नहीं रे, माहावाने छे महिमाखननी टेव।

—वही, पृ० ३१२

भालण की गोपियों का व्यंग्य कुब्जा से अधिक कृष्ण के प्रति उन्मुख है। वे कहती हैं कि कृष्ण ने कदाचित् इसीलिए विवाद नहीं किया कि जब दासी से ही कार्य सिद्ध होता है तो बंधन में कौन पड़े—

हजी शुं परण्या नथी, धणी बधारी लाज जी।
बंधन मां शाने पडे, जो दासीअे सरे काज।

—द० स्कं०, पृ० २१२

और इसीलिए कृष्ण गोकुल नहीं आते कि अगर कुब्जा खो गयी तो कोटि उपाय करने पर भी नहीं मिलेगी—

गोकुल क्यम आवे हरि ने प्रीत जडी।
कोटि उपाय कीजे जो आपण क्यांहि मके कुबड़ी।

—वही, पृ० २१९

'हरिअधरामृत' पीने वाली प्रेमानंद की गोपियों को ज्ञानसुधा विष के तुल्य प्रतीत होती है और वे उद्धव से कुब्जा को ब्रह्मविद्या देने के लिए कहती हैं, क्योंकि वे उसे ही उसके परम उपयुक्त समझती हैं—

ब्रह्‌मविद्या कुब्जा ने आपो, शीखी जाशे वहेली रे उद्धवजी।
अमो आहिरडी महीडां वेचुं, ओढुं धावल मेळी रे उद्धवजी।

—श्रीम० भा०, पृ० ३३०

इस कथन में भी जो वक्रता है वह भाव से सीधे सम्बद्ध है। व्यंग्य यों तो कुब्जा पर प्रतीत होता है परन्तु वह ब्रह्मविद्या शीघ्र ही सीख जायेगी, इस कथन में संदेश भेजने

वाले कृष्ण के प्रति गहरी ध्वनि है। प्रेमानंद ने यशोदा तक को कुब्जा के प्रति व्यंग्य करते हुए चित्रित किया है यद्यपि वह व्यंग्य स्वतन्त्र न होकर एक दूसरे व्यंग्य के आश्रित रूप में व्यक्त हुआ है—

अेटलुं कहेजो देवकी ने, जे पुत्रनुं सुख लीधुं अमो।
पागे लागशे कुलवंत कुब्जा, बहुना सुख लेजो तमो।

—वही, पृ० ३३१

सूर की गोपियाँ कृष्ण के प्रति भावातिरेक में तीव्रतम व्यंग्य करती जाती हैं जिनमें कुब्जा, उद्धव तथा उनका योग और निर्गुण सभी आ जाता है परन्तु उसके बाद ही वे अत्यधिक खिन्न तथा शिथिल होकर कभी अपनी त्रुटि खोजने लगती हैं, कभी सीधे सीधे कृष्ण को कुब्जा के परित्याग की सलाह देने लगती हैं। इस प्रकार सूर ने गोपियों की भावाकुलता के अनेक स्तरों का स्पर्श किया है।[१]

सूर के काव्य में वे स्थल और भी अधिक मार्मिक हैं जहाँ उन्होंने गोपियों की गंभीर अनन्य अनुरक्ति को अत्यन्त सहज भाव से व्यक्त कर दिया है। गोपियों के सरल तर्क प्रेम की जटिल गति को पूरी तरह प्रकट कर देते हैं—

क—ऊधो मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग, को अवराधे ईस ?

—सू० सा०, पृ० ६७४

ख—मन में रह्यो नाहिन ठौर।
नंद नंदन अछत कैसे आनिये उर और।

—वही

ऐसी भावाभिव्यक्ति एक स्थल पर प्रेमानंद में भी मिलती है—

अमृतनो घट मुख लगी भरीओ, ऊपर भरीअे ते वही जाय।
श्री कृष्ण भर्या छे कंठ प्रमाणे, तो केम जोग समाय।

—श्री म० भा०, पृ० ३२८

सूर ने गोपियों की एक अन्य सुकुमार भावना का चित्रण किया है कृष्ण को देखने वाली आंखों से उन्हें देखनेवाले उद्धव को पाकर वे अपने को कृतार्थ मानती हैं। एक क्षण को उन्हें लगता है कि जैसे कृष्ण ही मिल गये।

ऊधो हम आजु भई बड़ भागी।
जिन आँखिन तुम स्याम विलोके ते अँखियाँ हम लागी।

जैसे सुमन वास लै आवत पवन मधुप अनुरागी।
ज्यों दर्पन में दर्शन देखत दृष्टि परम रुचि लागी।
तैसे सूर मिले हरि हमको विरह व्यथा तनु त्यागी।

—सू० सा०, पृ० ६४५

इतने सरल सहज ढंग से गंभीरतम स्नेहानुभूति को कृष्णकाव्य में किसी भी अन्य कवि ने शब्दबद्ध नहीं किया।

नंददास की गोपियों में हृदय की अभिव्यक्ति इतनी स्वाभाविक नहीं हो पाई है, फिर भी एक स्थल पर उनके तर्कों का भोलापन दर्शनीय है—

जो मुख नाहिन हुतौ, कहौ किन माखन खायो ?
पाइन बिन गोसंग कहौ को बन बन धायो ?

—नंददास, पृ० १२५

गुजराती में भालण की कतिपय पंक्तियों में भी इस तरह की सरल भावाभिव्यक्ति उपलब्ध होती है—

ते मन पाछुं क्यम वले जेणे मुरली नो रस चाख्यो जी।
ते वा' लो क्यम विसरे जे हैडे चांपी राख्यो।
कुब्जा सरखी कोटिक करजो तमो अमारे अेक जी।

—द० स्कं०, पृ० २१५

सूर और भालण ने राधा की मनोदशा को और भी अधिक सुकुमारता से चित्रित किया है। सूर की राधा इतनी भावुक है कि कृष्ण की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए वह अपनी सारी तक नहीं धुलाती—

अति मलीन बृषभानु-दुलारी।
हरि श्रमजल अंतर तनु भीजे ता लालच न धुवावति सारी।

—सू० सा० पृ० ७१२

भालण की राधा के हृदय में एक नंदकुमार के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए स्थान नहीं। वह क्या उपालंभ दे ? एक जिज्ञासा उसे अवश्य होती है और वह यह कि क्या कुब्जा सचमुच उससे अधिक सुन्दरी और चतुर है जो कृष्ण देखते ही मुग्ध हो गये।

उद्धव सांचुं कहो निरधार।
कुब्जा अमथी रूपे रूडी चतुराई अपार ।

जेने देखीने मोहपाम्या तत्क्षण देवमुरार।
मैं तो बीजो कोय न दीठो अेकज नंदकुमार।
पुनरपि मन मां तेने वांच्छुं वृंदावन अवतार।

—द० स्कं०, पृ० २१७

इसी के साथ दोनों ने उद्धव के मन पर राधा की परम प्रेममयी मूर्ति का अपूर्व प्रभाव भी अंकित किया है। विरहिणी राधा की दशा से उद्धव अभिभूत हो जाते हैं। भालण और सूर ने उनके मुख से राधा की दशा का जो वर्णन करता है वह गंभीर विरह की पूर्ण व्यंजना करता है।

भालण—उद्धव करे कहुं बात खरी,
राधा नथी को चौद लोक मा (तुज समी) सुन्दरी।
अेवी प्रीत नहि करे कोये, जेती तमो करी।
तनमन धन समर्प्यां सहुअे, निश्चल ध्यान धरी।

—वही,

सूर—चित दै सुनहु श्याम प्रवीन।
हरि तुम्हारे विरह राधा मैं जु देखी छीन।
कंठ बचन न बोलि आवइ हृदय परिहस भीन।
नैन जलभरि रोइ दीनो ग्रसित आपद दीन।

—सू० सा०, पृ० ७१९

१०. **पुर्नमिलन**—सुदीर्घ वियोग के पश्चात् कुरुक्षेत्र में ब्रजवासियों का कृष्ण से मिलन, भाव की दृष्टि से, अन्यतम घटना है परन्तु सूर और भालण के अतिरिक्त दोनों भाषाओं में कदाचित् ही किसी कवि ने इस स्थिति की मार्मिकता का अनुभव किया हो। उसकी सफल अभिव्यक्ति का प्रश्न तो अनुभूति के बाद उठता है। उक्त दोनों कवियों ने भी पुर्नमिलन की विविध भाव-संकुल परिस्थिति का व्यापक चित्रण नहीं किया है। सूर ने राधा और रुक्मिणी के मनोभावों को विशेष अभिव्यक्ति प्रदान की है और भालण ने यशोदा के।

सूर ने रुक्मिणी के हृदय में राधा तथा अन्य ब्रजवासियों के प्रति एक सुकुमार जिज्ञासा-भाव का अंकन किया। अपने प्रिय कृष्ण के बिगत जीवन और पूर्वपरिचित ब्रज की गोपियों के संबंध में उसे ममतापूर्ण उत्सुकता होती है। कृष्ण ब्रजवासियों की बात उठते ही भावाकुल हो जाते हैं और उनकी आँखों में जल भर आता है—

रुक्मिणि बूझति हैं गोपालहिं ।
कहैं बात अपने गोकुल की, कतिक प्रीति ब्रजबालहिं ।
कहा देखि रीझे राधा सों चंचल नैन विशालहिं ।
तब तुम गाय चरावन जाते उर धरते बनमालहिं ।
इतनी सुनी नैन भरि आये प्रेम नंद के लालहिं ।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै घोष बात जनि चालहिं ।

—सू० सा०, पृ० ७५३-५४

'रुक्मिणि मोंहि ब्रज बिसरत नाहीं' कह कर वे रुक्मिणी के आगे भावविभोर होकर अपनी जन्मभूमि ब्रज के जीवन की अनेक बातों का गुणगान करने लगते हैं। ब्रज-वासियों से मिलने का आकर्षण उन्हें नंदयशोदा के पास एक दूत भेजने के लिए प्रेरित करता है। कृष्ण की भावना राधा के हृदय में प्रतिध्वनित होती है और उसके अंग अंग फड़क उठते हैं, मन पुलक से भर जाता है और अंचल लहराने लगता है। राधा-कृष्ण की अभिन्न प्रीति इससे पूर्णतया व्यंजित होती है—

माधवजी आवनहार भये ।
अंचल उड़त, मन होत गहगह्यो फरकत नैन खये ।

—वही, पृ० ७५४

कृष्ण का भेजा हुआ दूत सब कुछ यशोदा के प्रति ही कहता है। राधा के लिए कृष्ण ने एक शब्द भी नहीं भेजा, फिर भी भावविह्वल होकर राधा ही आँसू बहाती है। उसी के हृदय में सूर ने मिलन की उत्कंठा का चित्रण किया है—

राधा नैन नीर भरि आई ।
कबधौं श्याम मिलैं सुन्दर सखि यद्यपि निकट हैं आई ।
कहा करौं केहि भाँति जाउँ अब पेखहि नहि तिन पाई ।
सूर श्याम सुन्दर घन दरसे तन की ताप बुझाई ।

—वही, पृ० ७५५

इस स्थल पर सूर द्वारा यशोदा के मनोभावों की उपेक्षा अवश्य कुछ विचित्र सी लगती है। ब्रजवासियों की मिलनोत्सुकता का जहाँ सामूहिक रूप से चित्रण किया गया है वहाँ यशोदा का भी उल्लेख कर दिया गया है—

नंद यशोदा सब ब्रजवासी ।
अपने अपने शकट साजिकै मिलन चले अविनाशी ।

—वही,

उपेक्षा के स्थान पर यह भी संभव है कि सूर ने यशोदा की अनुभूति की चरम गंभीरता को उसके मौन द्वारा ही व्यंजित करना चाहा हो। यह अनुमान इसलिए होता है कि कृष्ण से मिलने के बाद भी यशोदा सारी घटना के प्रति अचेत एवं विसुध बनी रहती है। उसे अपनी सुध तब आती है जब स्वयं कृष्ण स्मरण दिलाते हैं। यह स्थिति कदाचित् उस जड़ता को ध्वनित करती है जो वियोग की चरम स्थिति है और जिसके आगे मरण ही शेष रह जाता है—

तेरी जीवनमूरि मिलहि किन माई।
महाराज यदुनाथ कहावत तबहिं हुते शिशुकुँवर कन्हाई।
पानि परे भुज धरे कमल मुख पेखत पूरब कथा चलाई।
परम उदार पानि अवलोकत हीन जानि कछु कहत न जाई।
फिरि फिरि अब सन्मुख ही चितवति प्रीति सकुच जानी न दुराई।
अब हँसि भेंटहु कहि मोंहि निजजन बाल तिहारो हो नंद दोहाई।
रोम पुलकि गदगद तनु तिहि छिन जलधारा नैनन बरषाई।

—वही,

भालण ने यशोदा के दुख की इस प्रकार मौन अभिव्यक्ति न करके मुखर अभिव्यक्ति की है।

भालण की यशोदा को कृष्ण द्वारा विसार दिये जाने का गहरा क्षोभ है। देवकी को मातृत्व का पद देकर स्वयं को धाय स्वीकार कर लेने पर भी अपनी इतनी उपेक्षा उसे असह्य है। वह बिलख बिलख कर अपना दुख सुनाने लगती है—

हुं दुखणी मात, शी कहुं बात, वेहुअे भ्रात त्यजी ने गया द्वारकां।
तारे देवकी मात, वसुदेव तात, बलभद्रभ्रात धाव हुं कां विसारी।

—दशमस्कंध, पृ० ४०८

देवकी यशोदा को अपनी बहन कह कर आत्मीयता प्रदर्शित करती है। यह सुन कर यशोदा की आँखों में जल भर आता है। वह उसके आगे और भी भावविभोर होकर अपना हृदय दिखाने लगती है। देवकी ज्यों ज्यों उससे सहानुभूति व्यक्त करती जाती है, यशोदा का हृदय उतना ही भावाकुल होता जाता है। निश्चय ही भालण द्वारा वर्णित देवकी-यशोदा-मिलन काव्य की दृष्टि से अत्यन्त मार्मिक स्थल कहा जायगा।

देवकी कहे सुणो जशोदा, तमे भगिनी छो मारी जी।
कृष्ण हलधर उछेरिया, शी सेवा करूं तारी।

ज्यम पांपण नेत्र (ने) राखे, त्यम तें राख्या तन जी।
अेवा वचन सुणी जशोदा, जळ भरे . लोचन।
जशोदा कहे देवकी सुणो में पीयारो नव जाण्यो जी।
निश्चे तमो शुं कहो छो मारो, प्राणाधार अहीं आण्यो।
मारे स्वप्नवत् थयुं, वरस अगीयार त्यां जेह जी।
कृष्ण दीपक उत्सव वही गयो, मारे हुताशनी रही अेह।
तमो पाळ्या मुजने शुं कहो छो, अे तो प्राण आधार जी।
दुष्ट हृदय तो न थी फाटतुं, मारुं आणे ठार।
अेम कही जशोदा रड्यां गदगद कंठे तेह जी।
त्यारे देवकी प्रतिबोध दे, तमो शुं दुख आणो अेह।
देवकी कहे अेने पोतानुं को नथी त्यां तेह जी।
भालण प्रभु रघुनाथ ने, घणो छे तमशुं नेह।

—वही, पृ० ४०९

यशोदा की तरह भालण ने गोपियों की मनोदशा का भी चित्रण किया है। वे सबकी-सब कृष्ण को देख कर चित्र की तरह जड़ होकर रह जाती हैं। जब स्वयं कृष्ण बोलते हैं तो उनको चेतना आती है। यह जड़ता सूर द्वारा वर्णित यशोदा की जड़ता के समान है परन्तु भालण आगे इसका निर्वाह नहीं कर सके, क्योंकि इतनी भावलीन गोपियों के लिए यह स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता कि जड़ता से मुक्त होते ही वे कृष्ण के साथ एकान्त में रमण और आलिंगन के लिए प्रस्तुत हो जायँ पर भालण ने वर्णन इसी प्रकार किया है। प्रकार साथ रमण और आलिंगन करने के बाद कृष्ण का स्वयं गोपियों को ज्ञान देने लगना भी कम अस्वाभाविक नहीं लगता—

कृष्णजी हस्या त्यारे सही जो, गोपी ग्रही सर्वदेवमुरार जो।
अेकांते प्रभु चालिया जो, तेशुं रमिया आप जो।
आलिंघन सर्व कोने कर्युं जो, विरह संबंधी ताप जो।
पछे कृष्णजीअे विचारियुं जो, अेने ज्ञान हवुं हवे आप जो।

—वही, पृ० ४१०

भालण ने जितनी मार्मिकता से यशोदा-देवकी का मिलन चित्रित किया है, राधा-रुक्मिणी के मिलन में सूर ने भी उतनी ही मार्मिकता उत्पन्न की है। एक अन्तर है वह यह कि रुक्मिणी में राधा से मिलने की अतीव उत्सुकता दिखाई देती है जब कि देवकी में यशोदा के प्रति वैसा कोई भाव नहीं मिलता। रुक्मिणी की यह उत्सु-कता द्वारका से ही प्रकट होने लगती है और जब वह ब्रजगोपियों के समूह को प्रत्यक्ष

देखती हूँ तो वह सब से प्रधान भाव के रूप में व्यक्त हो उठती है । कृष्ण एक नीलवसन वाली गोरी भावमूर्ति की ओर इंगित कर देते हैं ।

बूझति हैं रुक्मिणि पिय इनमें को वृषभानुकिशोरी ।
नैंक हमैं देखरावहु अपनी बालापन की जोरी ।
परम चतुर जिन कीन्हे मोहन अलप वैस ही थोरी ।
वारे ते जिहि यहैं पढ़ायो बुधि बल कल विधि चोरी ।
जाके गुण गनि गुथति माल कबहूँ डरते नहिं छोरी ।
सुमिरन सदा वसत ही रसना दृष्टि न इत उत मोरी ।
वह देखो युवतिवृंद में ठाढ़ी नीलवसन तनु गोरी ।
सूरजदास मेरो मन वाकी चितवन देखि हर्‌योरी ।

—सू० सा०, पृ० ७५६

राधा और रुक्मिणी में सहसा गहरी सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है । दोनों का प्रेम अधिकार भावना से ऊपर उठकर आत्मसमर्पण के क्षेत्र में पहुँच चुका है इसलिए ईर्ष्या के स्थान पर सहानुभूति का चित्रण ही उपयुक्त है और सूर ने वही किया भी है—

रुक्मिणि राधा ऐसे बैठी ।
जैसे बहुत दिनन की बिछुरी एक बाप की बेटी ।
एक सुभाव एकलै दोऊ, दोऊ हरिकी प्यारी ।
एक प्राण मन एक दुहुन को तनु करि देखियत न्यारी ।
निज मंदिर लै गई रुक्मिणी पहुनाई विधि ठानी ।
सूरदास प्रभु तहँ पग धारे जहाँ दोऊ ठकुरानी ।

—वही, पृ० ७५६ ।

इसके अनन्तर सूर ने रुक्मिणी के भवन में राधा-कृष्ण की भेंट का वर्णन करना चाहा परन्तु उनकी रसना उस चरम सुख की अभिव्यक्ति में असमर्थ हो गई किन्तु जितनी पंक्तियाँ उन्होंने लिखी हैं वे व्यंजना की पूर्ण शक्ति रखती हैं—

राधा माधव भेंट भई ।
राधा माधव, माधव राधा, कीटभृंग-गति होइ जो गई ।
माधव राधा के रँग राचे माधव राधा रंग रई ।

माधो राधा प्रीति निरंतन रसना कहि न गई ।
बिहँसि कह्यो हम-तुम नहि अंतर यह कहि ब्रज पठई ।
सूरदास प्रभु राधा माधव ब्रज विहार नित नई नई ।

—वही

राधा-कृष्ण-मिलन की अनिर्वचनीयता का आभास देकर भी सूर ने उसका निरूपण कर ही दिया और यही नहीं, मिलन के क्षणों में संकोच के कारण अधूरी तुष्टि की जो कचोट राधा के हृदय में रह गई, उसकी भी अभिव्यक्ति करना वे नहीं भूले। कृष्ण-मिलन के बाद राधा अपनी सखी से इस मनोदशा को व्यक्त करती है--

करत कछु नाहीं आजु बनी।
हरि आये हौं रही ठगीसी जैसे चित्त धनी।
आसन हर्षि हृदय नहि दीन्हों कमल कुटी अपनी ।
न्यवछावर उर अरघ न अंचल जलधारा जो बनी ।
कंचुकी ते कुचकलश प्रगट ह्वै टूटि न तरक तनी ।
अब उपजी अति लाज मनहिं मन समुझत निजकरनी।
मुख देखत न्यारे सी रहिहौं बिनु बुधि मति सजनी ।
तदपि सूर मेरी यह जड़ता मंगल मांझ गनी ।

—वही, पृ० ७५७

नरसी ने एक पद में राधा-रुक्मिणी और कृष्ण के साथ होने का उल्लेख तो किया है परन्तु उनके मिलन के क्षणों का सूर की तरह भावमय निरूपण नहीं किया—

राधीकानो हार हरिखे रुक्मिणि ने दीधो रे।

—न० कृ० का०, पृ० ४२६

पादटिप्पणियाँ

१. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, पृ० ६६४
२. न० कृ० का०, पृ० ७६
३. वही, पृ० ६७
४. वही, पृ० १२३
५. सू० सा०, पृ० १३१
६. श्रीम० भा०, पृ० २४०
७. सू० सा०, पृ० १४४, १४५
८. द० स्कं०, पृ० ३६
९. श्रीम० भा०, पृ० २५२, २५३
१०. सू० सा०, पृ० १५६
११. वही, पृ० १५९
१२. वही, पृ० १६१
१३. द० स्कं०, पृ० ३५, ३६; सू० सा०, पृ० १४७, १४८
१४. द० स्कं०; पृ० ४०, ४१; सू० सा०, पृ० १७५, १७८
१५. सू० सा०, पृ० १९८; मी० पदा० द्वितीय भाग, पृ० ४; न० कृ० का०, पृ० ४६८
१६. श्रीम० भा०, पृ० २६०
१७. द० स्कं०, पृ० १६२
१८. वही, पृ० १६८, १६९
१९. वहीं, पृ० १७१
२०. सू० सा०, पृ० ६०५
२१. द० स्कं०, पृ० ९५, ९६
२२. कृ० का० दो० भाग १, पृ० ११०, १११
२३. सू० सा०, पृ० ३११
२४. वही, पृ० ३०८
२५. मा० सा०, पृ० ७४, ७५
२६. कांकरौली के पदसंग्रह से, २ : १ : १८; मी० पदा०, पृ० ६१
२७. सू० सा०, पृ० २९८, ३०६, ३०७
२८. भालण : द० स्कं०, पृ० १००, १०८; नरसी : न० कृ० का०, पृ० ५८७; सूरदास : सू० सा०, पृ० ४८७, ५०९
२९. नरसी : न० कृ० का०, पृ० ३०४; सूरदास : सू० सा०, पृ० ५१८

३०. सू० सा०, पृ० २५७

३१. वही, पृ० २५७-५८

३२. वही, पृ० २५६

३३. वही, पृ० २६०

३४. वही, पृ० २०५

३५. वही, पृ० २४५

३६. द० स्कं०, पृ० १३९; न० कृ० का०, पृ० १४८

३७. सूरदास : सू० सा०, पृ० ६४०; भालण : द० स्कं०, पृ० २०७-८

३८. श्रीम० भा०, पृ० ३२१

३९. सू० सा०, पृ० ६४५

४०. वही, पृ० ६४३

४१. वही, पृ० ६६५-६६६

५

कला पक्ष

कला का व्यवहार व्यापक और संकीर्ण दोनों अर्थों में होता है। व्यापक अर्थ में वह मनुष्य की अन्तश्चेतना से गंभीर रूप में संबद्ध एक सत्य है और उसके सौन्दर्य-प्रिय स्वभाव की सहज अभिव्यक्ति है। संकीर्ण अर्थ में उसे कुतूहल एवं आश्चर्य उत्पन्न करने की एक प्रक्रिया मात्र कहा जा सकता है जिसकी मौलिक प्रेरणा अपेक्षाकृत बाह्य है और जिसका सम्बन्ध बुद्धि-कौशल से अधिक है। काव्य में जहाँ भावपक्ष की प्रधानता है वहाँ उसके कलापक्ष की भी कम महत्ता नहीं है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र का जितना भी विस्तार है उस सब में कला की गति है। अनुभूति की सीमा से जहाँ भी कोई भाव अभिव्यक्ति की सीमा में पहुँचा वहीं उसे कला की अपेक्षा होती है, भले ही कवि असजग होकर उसका प्रयोग करे अथवा सजग होकर। अभिव्यक्तिपरक अतिशय सजगता कभी-कभी कवि को भाव से विच्छिन्न कर देती है और श्रेष्ठ कला के लिए अनुभूति और अभिव्यक्ति का जो सामंजस्य अपेक्षित है वह नष्ट हो जाता है। ऐसी दशा में कला विकृत होने लगती है और काव्य का प्रभाव भी समुचित रूप में नहीं हो पाता। अन्ततः कला भावाभिव्यक्ति का साधन ही है, साध्य नहीं। यों एक मत उसे साध्य भी मानता है और इस धारणा के अनुरूप काव्य रचने की परम्परा भी रही है।

भावों के आलेखन, चित्रण एवं अभिव्यंजन में कला की जो सूक्ष्म गति है उसका निदर्शन आवश्यकतानुसार भावपक्ष के निरूपण के साथ ही कर दिया गया है परंतु दृश्य-चित्रण, स्वभाव-चित्रण, प्रकृति-चित्रण और प्रबन्ध-निर्वाह आदि में तथा उक्ति-वैचित्र्य और अलंकार-विधान में कला का जो रूप गुजराती और ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत मिलता है उसका निरूपण यहाँ किया गया है।

दृश्य-चित्रण

किसी पुराण अथवा काव्य ग्रंथ का आधार लेकर काव्य रचने वाले कवि बहुधा जो दृश्य चित्रण करते हैं उसमें अनुकरणात्मकता तथा परम्परा परि-पालन का इतना आग्रह रहता है कि उसका समुचित प्रभाव उत्पन्न नहीं हो पाता। बहुत कम कवि ऐसे मिलते हैं जो दृश्यों को कल्पना द्वारा पूर्णतया प्रत्यक्ष करके उनका स्वानुभूत रूप में चित्रण करते हैं। प्रत्यक्षीकरण भौतिक रूप में ही न होकर काल्पनिक रूप में भी होता है इसलिए कल्पनाशील कवि भौतिकतया अनुभूत रूप-चित्रों, छायाओं

अथवा दृश्यों को भी इस प्रकार प्रस्तुत कर देते हैं जैसे उन्होंने उनका बहुत काल तक उसी रूप में गहन अनुभव किया हो। यह सत्य है कि काल्पनिक प्रत्यक्षीकरण मूलतः यथार्थ जगत् के प्रत्यक्ष अनुभवों पर ही आधारित होता है। भावना कल्पना-शक्ति के द्वारा उसका विकास एवं विस्तार भर कर देती है। दोनों भाषाओं के अधिकांश काव्यों में दृश्यचित्रण के जो स्थल मिलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि सामान्यतः कवियों ने परम्परा का पालन और आधारभूत ग्रंथ का अनुकरण दोनों ही काम किये हैं। उनकी यह प्रवृत्ति अत्यन्त व्यापक है। परतन्त्र कल्पना तथा अनुकरण की प्रवृत्ति को स्पष्ट करने लिए रास का उदाहरण लिया जा सकता है। समस्त कृष्णकाव्य में रास अतुलनीय महत्त्व का विषय रहा है। चाँदनी रात में कृष्ण के साथ असंख्य गोपियों के सामूहिक नर्तन का जिस रूप में भागवतकार ने वर्णन किया वह कवियों की भावना और कल्पना दोनों का केंद्र बना। अनेक रूपधारी श्याम वर्ण कृष्ण और असीम सौन्दर्यवती गौरवर्णा गोपियों के अविरल, अविराम नृत्य की अलौकिक शोभा का उन्होंने जहाँ वर्णन करना चाहा वहीं भागवतकार की कल्पना उनकी कल्पना पर छा गई। यह कल्पना-पारतन्त्र्य असमर्थता का ही द्योतक नहीं है। कहीं कहीं भागवत में वर्णित दृश्यों एवं रूप-चित्रों के सौन्दर्य का आकर्षण भी इसका कारण प्रतीत होता है। किन्तु यह सत्य है कि दृश्य चित्रण करते समय प्रायः कवियों ने उप-मानों तक के चयन में भागवत का आधार लिया है। 'गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः' में जो रूपचित्र मिलता है वह अनेक कवियों की कल्पना का अंग बन कर व्यक्त हुआ है। निम्न पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं —

ब्रजभाषा

सूर— मानो माई घन घन अंतर दामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर शोभित हरि ब्रजभामिनि।
—सू० सा० पृ० ४३७

नंददास— सांवरे पिय सँग निर्त्तत, चंचल ब्रज की बाला।
जनु घनमंडल मंजुल, खेलति दामिनिमाला।
—नंद० पृ० १७७

हरिवंश— रास में रसिक मोहन बने भामिनी'
उभै कल हंस हरिवंश घन दामिनी।

—श्रीहित० पृ० ३४

गुजराती

-नरसी-- अलवे अंग मोडती वहाला संग द्रोडती,
जाणे घन दामिनी चमके भारी।
—न० कृ० का०, पृ० २१७

इसी प्रकार '**मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा**' के रूपचित्र के आधार पर भी कवियों ने रास का दृश्यांकन किया है।[1] विविध आंगिक चेष्टाओं, नृत्यमुद्राओं तथा आभूषणों के अनुरणन से उत्पन्न ध्वनियों के सामंजस्य से वैसी ही पूर्णता लाने का प्रयास किया गया है जैसी भागवत के रास-वर्णन में मिलती है।

सूर, नंददास तथा नरसी जैसे कवियों, जिन्होंने रास के दृश्य को पूर्ण तन्मयता के साथ अंकित किया है, के आगे भी भागवत का रास आदर्श रूप में प्रस्तुत रहा है। यद्यपि इन कवियों के रास-वर्णन में स्वतन्त्र उद्भावनाएँ पर्याप्त रूप में मिलती हैं तथापि उपर्युक्त सत्य भी स्पष्ट रूप से झलकता है।

कवियों की स्वतन्त्र उद्भावनाशक्ति तथा कल्पनाशक्ति का परिचय उन स्थलों पर विशेष रूप से प्राप्त होता है जो भागवत आदि आधार ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होते अथवा जिन्हें भिन्नता देकर चित्रित किया गया है। इन स्थलों पर समर्थ कवियों में एक दूसरी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं और वह प्रवृत्ति मौलिकता-प्रदर्शन, अननुकरण तथा स्वानुभव के द्वारा आधारभूत वस्तु के अभिनवीकरण की है।

भिन्नता देकर जिन स्थलों पर दृश्य-विधान किया गया है वहाँ इस प्रवृत्ति का पूर्ण प्रस्फुटन तो नहीं ही पाया जाता परन्तु उसका जो भी रूप मिलता है वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

सूर ने भागवतोक्त दावानल के भयानक तथा उग्र रूप के विस्तार का जो दृश्य अंकित किया है वह उनकी अपनी कल्पना से विकसित हुआ है। वन में अग्नि के प्रचंड रूप धारण करने के समय किस प्रकार की परिस्थिति हो जाती है, इसका सूर ने सूक्ष्म एवं सजीव चित्रण किया है। इस चित्रण में अनुकरणात्मकता के स्थान पर मौलिकता का आग्रह अधिक है —

भहरात झहरात दावानल आयो।
घेरि चहुँ ओर करि शोर अंदोर वन धरणि आकाश चहुँ पास छायो।
बरत बन बाँस, थरहरत कुसकाँस, जरि उड़त हैं बाँस अति प्रबल धायो।

झपटि झपटत लपट, पटकि फूल फूटत फटि चटकि लट लटकि द्रुम नवायो।
अति अगिनि झार भार धुंधार करि उचटि अंगार झंझार छायो।
बरत बन पात भहरात झहरात अररात तरु महा धरणी गिरायो।

—सू० सा०, पृ० २३१

इसी प्रकार प्रेमानंद ने दावानल से दग्ध वन के दृश्यांकन में मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है यद्यपि सूर का सा नादसौन्दर्य वे न उत्पन्न कर सके। उन्होंने दावानल के स्वरूप को आलिखित करने की अपेक्षा उसके कारण गायों तथा अन्य पशुपक्षियों की दुर्दशा का सूक्ष्म चित्रण किया है—

अनल प्रबल वायु छे घणों, थयो तीव्र ताप दावानल तणो,
तपित तन सुरभिनां थयां, प्रस्वेदनां जलबिंदु वह्यां।
त्रासे गाय नासे अरी परी, न शके अग्नि आगल नीसरी।
मां शब्द सुरभि भाखे, अेकेक पर जइ कोट नांखे।
धाई धाई सहु टोले थाय, काढी जीभ पड़े भूमि मांय।
श्रीकृष्णध्यान सुरभि सहु धरे, उकली अकलाई आंसु भरे।
आकाश सर्व धूम्रे आवर्यूं, आच्छाद्यो भानु अंधारुं कर्यूं।
फाटे वाँस वृक्ष चडचडे, बले पाँख पंखी तरफडे।
मशक शशक मृग पामे त्रास, फाटे फणा सर्प मूके श्वास।
कीट पतंग दह्य कई कोट, उडे धूम्रना गोटेगोट।
ते ज्वाला जइ पहोंती आकाश,......................।

—श्रीम० भा०, पृ० २७५

ब्रजभाषा के कवि गदाधर भट्ट द्वारा कृष्ण के कालीदह में कूदने तथा नाग-नाथने का जो दृश्य अंकित हुआ है वह भी इसी कोटि में आता है। गति और रूप का सम्यक् आभास देने के लिए कवि ने स्वतन्त्र रूप से अप्रस्तुत योजना की है जिससे प्रस्तुत दृश्य की छवि निखर आयी है—

नचत गोपाल फणि फणा रंगे।
मनहु मनिनील के खंभ ऊपर सिखी नृत्य आरंभ किय अति उतंगे।
प्रथम तरु तुंग चढ़ि झंप यमुना लई, सुभग पटपीत कटि तट लपेटे।
एक घन ते निकसि और घन को चल्यौ श्याम घन मनहुँ चपलाहिं भेंटे।
बहुरि फिरि झगरि चढ़ि सीस तंडव रच्यो परसि पदतलनिमनिरँगु सोहायो।
चरण पट तार विष झार झरहत जतु तैलतप ते कहूँ नीर नायो।

दुसह हरि भार ते कंठ आयो लटकि परसि क़रै कवि सकल उपमा विचारा।
मनहुँ नखचंद्र की चंद्रिका त्रास ते डरपि नीची धँसी तिमिरधारा।

—वाणी० गदा०, पृ० ३२

इस एक ही दृश्य के अन्तर्गत अनेक दृश्यों की शृंखला सी प्रतिभासित होती है। कवि का ध्यान नाग-दमन के संघर्ष, संघात से आपूरित ओजमय पक्ष पर उतना नहीं है जितना सौन्दर्य-पक्ष पर। इसीलिए उसने सम्पूर्ण दृश्य को कुछ गहरी रेखाओं द्वारा अंकित सौन्दर्यमय रूपचित्रों में परिवर्तित कर दिया है। प्रत्येक रूप चित्र उसकी कल्पना की उर्वरता तथा सौन्दर्यप्रियता का परिचायक है। ऐसा दृश्यांकन कवि के उस स्वभाव की भी व्यंजना करता है जिसके कारण वह किसी दृश्य-विशेष को भाव का केन्द्र बना कर स्वयं रम जाता है और उसके द्वारा किया हुआ सारा वर्णन अपूर्व आत्मप्रत्यक्षता का बोध कराता है। सूर, नंददास आदि में इस प्रकार का दृश्य-विधान प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। उक्त उदाहरण इस बात का द्योतक है कि ब्रजभाषा में यह सामान्य प्रवृत्ति है। गुजराती में इतनी समृद्ध सौन्दर्यवृत्ति से किया गया दृश्यांकन कम उपलब्ध होता है। वहाँ सूक्ष्म किन्तु सहज भाव से दृश्यांकन का आग्रह अधिक है। नरसी द्वारा अंकित दधिमंथन करती हुई गोपी का चित्र दर्शनीय है—

महीं वलोवे रे गोपी, मही वलोवे रे गोपी।
परवश थइने प्रेमे भराणी, तनमन हरि ने सोंपी।
भरजोबन महि कामनी घेली, नादे नूपुर वाजे।
वलोणुं अति वाये भराणुं, मेघ पे रही रही गाजे।
हैया ऊपर हार हुलावे, पाछल कुमकु फरके।
कामा कृष्ण तणे रंग राती, शीश राखलडी झलके।
कटी माहे तो घुघरी घमके, झाझरीया झमझमके।
गाये गुण गोविंद तणा रे विछीडाने ठमके।
मगन थइ गोरस भूली, कृष्ण कृष्ण मुख बोले।
शीशफुल वेणी लट लटके, जाणे मणीधर डोले।

—न० कृ० का०, पृ० ३९६

इस चित्र में कवि ने हिलते हुए हार, अलक, शीशफूल आदि की रूप-छायाओं को उनकी गतिशीलता के साथ अत्यन्त सहज रूप में प्रस्तुत किया है और मेघ तथा मणिधर के द्वारा अप्रस्तुत की भी सौन्दर्यमय योजना की है। परन्तु रूप-सौन्दर्य की अपेक्षा नाद सौन्दर्य पर उसका अधिक ध्यान है। विविध आभूषणों की अनुरणन-ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए कवि ने विविध अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। ध्वनि-सौंदर्य की ओर नरसी का विशेष आकर्षण है। उनके दृश्य-चित्र प्राय: नादपूर्ण

होते हैं। रास सहस्रपदी में यह विशेषता और भी अधिक परिलक्षित होती है। कवि ने रूप और ध्वनि के साथ भावों का समास करके चित्र को अद्‌भुत सजीवता प्रदान करदी है तन्मयता विस्मृति और प्रेमजन्य विवशता की भावना दधि मन्थन के इस चित्र को गोपी के आत्ममंथन की अभिव्यक्ति के साथ और भी अधिक मोहक बना देती है। इसकी प्रेरणा संभव है भागवत में वर्णित १०:९:३ दधिमंथन करती हुई यशोदा के चित्र से ग्रहण की गई हो परन्तु दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। सूर ने भी इस प्रकार का चित्र प्रस्तुत किया है परन्तु उनका ध्यान नरसी की तरह नाद-सौन्दर्य पर विशेष रूप से केन्द्रित न होकर अंगसंचालन एवं गति पर केन्द्रित हुआ है। भावों के सामंजस्य से सूर का वर्णन भी सजीव हो उठा है—

> देख्यो हरि मथति ग्वालि दधि भेद सों ठाढ़ी।
> यौवनमदमाती इतराती बेनी ढुरत कटि पर छवि बाढ़ी।
> दिन थोरी भोरी अति कोरी देखत ही जु श्याम भये चाढ़ी।
> कर्षति है दुहुँ करन मथानी शोभाराशि भुजा गहि गाढ़ी।
> इत उत अंग मुरति झकझोरति अँगिया बनी कुचनसो माढ़ी।
> सूरदास प्रभु रीझि थकित भये मनहुँ काम सांचे भरि काढ़ी।

—सू० सा०, पृ० १७१

पनघट का दृश्य प्रस्तुत करते हुए सूर ने इससे भी अधिक कुशलता से गागर सिर पर रक्खे सखियों के साथ आती हुई एक गोपी की छवि अंकित की है। अप्रस्तुत विधान अत्यन्त समृद्ध है। गज के सादृश से गति और उन्माद तथा रूप-सज्जा की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है—

> नागरि नागरि लिये पनिघट ते चली घरहि आवै।
> ग्रीवा डोलत लोचन लोलत हरि के चितहि चुरावै।
> ठिठकत चलै, मटकि मुँह मोरै बंकट भौंह चलावै।
> मनहुँ कामसेना अँगसोभा अंचल ध्वज फहरावै।
> गतिगयंद कुचकुंभ किंकिनी मनहुँ घंट झहनावै।
> मोतिनहार जलाजल मानौं खुभी दंत झलकावै।
> मानहुँ चंद महावत मुख पर अंकुश बेसरि लावै।
> रोमावली सूँड़ि तिरनीलौं नाभि सरोवर आवै।
> पग जेहरि जंजीरन जकर्‌यो यह उपमा कछु पावै।

घट जल छलकि कपोलनि किनुका मानहुँ मदहि चुवावै।
बेनी डोलति दुहुँ नितंब पर मानहुँ पूछ हलावै।
गज सरदार सूर स्वामी को देखि देखि सुख पावै।

—सू०सा०, पृ० २६१

ऐसे स्फुट चित्र अपने में पूर्ण होते हुए भी दृश्य को खंड रूप में ही व्यक्त करते हैं। सम्पूर्णता के साथ विविध अंगोपांगों का संश्लिष्ट वर्णन करते हुए दृश्य अंकित करने की प्रवृत्ति पदकारों की अपेक्षा प्रबन्धकारों में अधिक पाई जाती है। इस दृष्टि से ब्रज-भाषा में नंददास तथा गुजराती में प्रेमानंद का विशेष स्थान है। इन कवियों ने अपने प्रबन्धात्मक काव्यों में दृश्यांकन करते हुए सूक्ष्म निरीक्षण तथा वर्णन-कौशल का पर्याप्त परिचय दिया है।

स्वभाव-चित्रण

मानव-प्रकृति की सूक्ष्म विशेषताओं को लक्षित करते हुए कुछ कवियों ने अपने काव्य में मानव स्वभाव का भी चित्रण किया है। इस क्षेत्र में सूर और प्रेमानंद की विशेष गति है। प्रेमानंद के प्रबन्धों का तो यह असाधारण गुण है जो उनकी लोकोन्मुखी काव्य-चेतना की एक सहज प्रवृत्ति को व्यक्त करता है। रूढ़ि अथवा परम्परा के अनुरूप स्वभाव-चित्रण एक वस्तु है और स्वानुभव के आधार पर जीवन्त रूप में मानव-स्वभाव को चित्रित करना दूसरी। प्रेमानंद और सूर दोनों ही की प्रतिभा दूसरी दिशा में जागरूक रही पर सूर ने स्वभाव की अपेक्षा भाव को अधिक आत्मीयता से व्यक्त किया है और प्रेमानंद ने भाव की अपेक्षा स्वभाव को।

कृष्ण-जन्म के अनन्तर अपने बालक को पर घर भेजने वाली देवकी की भावनाओं को प्रेमानंद ने लोकानुरूप अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया है। 'मळवा आवशे भाई भोजाई जशोदानो घन सुख दहाडो' में लोकसामान्य स्त्री की चिंता अनुस्यूत है। यशोदा का कुंडी खटका कर, घुंघरू बजाकर और ऐसे ही अन्य प्रयत्नों से अधिकाधिक रोते हुए कृष्ण को चुपाने का प्रयास माता के स्वभाव को मूर्त कर देता है। इसे क्रिया की स्वाभाविकता कहा जा सकता है—

खखडावे कडां द्वार सांकळी, वजाडे घुघरो मा थई आकळी।
सुघांडे पुष्प, देखाडे गाय, तेम तेम बमणो रोतो जाय।

—श्रीम० भा०, पृ० २४९

प्रेमानंद के काव्य से ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे स्वाभाविकता के पर्यवेक्षण में उनकी सहज प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। निम्नलिखित कुछ अंश विशेष दर्शनीय हैं—

क—कांइ आपी पाछुं लीये झोंटी रे, गोपी खणे गालमां चोंटी रे।

—वही, पृ० २५४

ख—वृषभ वच्छ मही षी बहुगाय, भां शब्द मार्ग मां थाय।
हींसारव करे गौ पाछी फरे, पोताना वच्छने आवी मले।
लीधी वस्तु जे जे कार्जनी, उरवल मुशल सम्मार्जनी।
काढ्या गौना खीला खेंची खेंची, लीधां सुप टोप चक्की मांची।
शकट घन धान्यना भर्या, जुवो घरमां कांइ विसर्या।
धातु पात्र वस्त्र गांसडी, लइ गोपिका शकटे चडी।
थाओ चालतां सासु भणे, घरमा जई दाटी थापण खणे।
ठालुं गोकुल उदवस्त थयुं, मांजार श्वान सौ सागे गयुं।
श्रीकृष्ण कहे केम रहेशे रांकडां, सौ सान करी तेड्या माकडां।
रमकडां लीधां जशोमती, नवे घेर अेवां मळता नथी।

—वही, पृ० २५९

ग—हाथना कडां चडावेरे, मारे दोट पाधरी फावे रे।

—वही, पृ० २७०

घ—कोई कहे हाउ आव्यो विकाळ, देखाडो रोतां रहेशे बाळ।
पुंठे बाळक कांकरा नाखे, ऋषि जी रामकृष्ण मुखथी भाखे।

—वृ० का० दो०, भा० १, पृ० २४६

प्यार से गाल में चिकोटी काट लेना, खेलते समय हाथ के कड़ों को ऊपर चढ़ा लेन, बृद्ध व्यक्ति के ऊपर कंकड़ फेक कर खिझाना आदि यह सब ऐसे बिंदु हैं जिनका उल्लेख वही कवि कर सकता है जिसने जीवन को उसके व्यापक और सहज रूप में सूक्ष्म दृष्टि से देखा हो। बृंदावनगमन से सम्बद्ध जो दूसरा उद्धरण है उसमें पशुस्वभाव का यथार्थ अंकन है, साथ ही गाँव और घर को छोड़ कर जाने वालों की, व्यवहार में आने वाली छोटी से छोटी वस्तु के प्रति गहरी ममता का जो शृंखलाबद्ध सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन प्रेमानंद ने किया है वह उनके लोक-जीवन से घनीभूत परिचय का स्पष्ट प्रमाण है। मनुष्य की ममता वस्तुओं तक ही सीमित नहीं रहती वरन् कुत्ते-बिल्ली आदि तक व्याप्त हो जाती है। कुछ घर में छूटा तो नहीं, यह सोच कर घर को फिर फिर देखना-भालना कितना स्वाभाविक है। माता अपने बालक के खिलौने तक रख लेती है क्योंकि नये घर में इस प्रकार के कहाँ मिल सकेंगे। वस्तुतः यह एक ही उदाहरण प्रेमानंद की स्वभाव-चित्रण-पटुता को पूरी तरह प्रकट कर देता है।

बाल-स्वभाव, स्त्री-स्वभाव, लोक-स्वभाव, पशु-स्वभाव जैसे स्वभाव-चित्रण के अनेक रूपों में सूर ने भी अपनी सहज गति प्रदर्शित की है। बालस्वभाव की बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख बाललीलाओं के प्रसंग में किया जा चुका है। बालकृष्ण के स्वरूप-विकास और लीलालेखन में सूर ने बाल-स्वभाव में अपनी पैठ का अभूतपूर्व एवं आश्चर्यजनक परिचय दिया है। साथ के ग्वाल-बालों का खेलते-खेलते कृष्ण को अनेक प्रकार से खिझाना और उनका अपनी माता से बलराम आदि की शिकायत करना बालकों के लोकसामान्य सहज स्वभाव को ही प्रकट करता है। कृष्ण के संस्कारों का जो बर्णन सूर ने किया है वह स्पष्ट ही सामान्य लोक जीवन के अनुरूप है।

स्त्रियों के स्वभाव का भी सूर ने कम परिचय नहीं दिया है। गोपियों का बात बात पर उलाहना लेकर यशोदा के घर जाना स्त्रियों की स्वाभाविक वृत्ति को प्रदर्शित करने के लिए ही सूर ने वर्णित किया है। यशोदा और गोपियों के पारस्परिक संवादों में स्वाभाविकता को और भी निखार मिला है—

प्रेमानंद की तरह सूक्ष्म पर्यवेक्षण की शक्ति भी सूर में दिखाई देती है। जल भरने की क्रिया की स्वाभाविकता लक्षित करते हुए सूर लिखते हैं—

जल हलोरि गागरि भरि नागरि जबही शीश उठायो।

—सू० सा०, पृ० २५७

इस वर्णन में जल भरने से पहले उसे हिलोरने की बात कवि की पर्यवेक्षणशक्ति की सूक्ष्मता व्यक्त करती है।

पशुस्वभाव का चित्रण सूरसागर में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। इस दिशा में सूर प्रेमानंद से अधिक सूक्ष्मदर्शी प्रतीत होते हैं। चरवाहों के नियन्त्रण में तनिक भी शिथिलता आई कि पशुओं का समूह इधर उधर भटक जाता है। ग्वालबाल कृष्ण को पुकारने के निमित्त नंद के द्वार पर थोड़ा सा रुके कि गायें आगे निकल गईं। एक ग्वाल यह देख कर अपने सखाओं को पुकार उठता है—

आवहु वेगि विलम जनि लावहु गैयाँ दूरि गईं।

—सू० सा०, पृ० १९४

'गैयन घेरि सखा सब लाये' लिख कर सूर ने गायों को घेर घेर कर इकट्ठा करने की विधि का भी संकेत कर दिया है। कभी कभी यह काम एक समस्या बन जाता है क्योंकि पशु भी अपने साथ ममता दिखाने वाले की इच्छा का ही अनुसरण करते हैं। सूर ने

निम्न पद में गायों के स्वभाव की एक बहुत ही सूक्ष्म बात की ओर लक्ष्य किया है। पराये घर से आये हुए पशु सदा ही पूर्व स्मृति के कारण भाग जाने को उत्सुक देखे जाते हैं। इसी आधार पर सूर वृषभानु की दी हुई गायों में भाग जाने की विशेष उतावली प्रदर्शित करते हैं—

द्रुम चढ़ि काहे न टेरहु कान्हा गइयाँ दूरि गईं।
धाई जात सबनि के आगे जे वृषभान दईं।
घेरे न घिरत तुम बिन माधवजू मिलत नहीं बगदईं।
बिडरत फिरत सकल बन महियाँ एकइ एक भईं।
छाँड़ि खेलि सब दूरि जात हैं बोलौ जोसके थोक कईं।
सूरदास प्रभु प्रेम समुझि कै मुरली सुनत सब आइ गईं।

—वही, पृ० २३४

नरसी मेहता ने भी गोविंदगमन में कृष्ण से बिछुड़ती हुई गायों के स्नेह-स्वभाव का अत्यन्त मार्मिक अंकन किया है जिसका उल्लेख भाव-चित्रण के प्रसंग में किया जा चुका है।

प्रकृति-चित्रण

कोई भी जीवन्त काव्य प्रकृति से पूर्णतया विरत नहीं हो सकता। कृष्णकाव्य तो और भी नहीं, क्योंकि कृष्ण का वह जीवन जो प्रधानतः काव्य का विषय बना, यमुना के तटवर्ती वनों, पशु, पक्षियों के मधुर रव से मुखरित सघन कुंजों और मुक्त आकाश के नीचे कभी हरियाली बिखेरती हुई, कभी चाँदनी से धोई हुई गोकुल और ब्रज की धरती से निकटता से सम्बद्ध रहा है कि कृष्णलीलाओं का स्मरण आते ही वृंदावन की कल्पना अपने अलौकिक प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ प्रत्यक्ष हो उठती है। गुजराती तथा ब्रज दोनों के कृष्णकाव्य में कृष्ण-लीलाओं से अभिन्न इस नैसर्गिक सौन्दर्य को अभिव्यक्ति मिली है। कृष्णभक्त कवियों द्वारा किये गये प्रकृति चित्रण को सामान्यतः उद्दीपन की कोटि में रक्खा जाता है जो बहुत दूर तक उचित भी है, क्योंकि उनके लिए कृष्ण और उनकी लीलाओं से इतर और कुछ आलम्बन हो ही नहीं सकता था। दार्शनिक दृष्टि से सभी कुछ कृष्णमय तथा कृष्ण के ही स्वरूप का विस्तार माना गया अतएव प्रकृति को स्वतन्त्र आलंबन के रूप में स्वीकार करना उस भावभूमि पर संभव नहीं था जिसमें प्रायः समस्त कृष्णोपासक कवि विचरण करते थे। सूर ने राधा को आदि प्रकृति मान कर प्रकृति को कृष्ण ब्रह्म से अभिन्न स्वीकार किया। पुरुष और प्रकृति की तरह राधा कृष्ण को स्वीकार करने वाले कवियों ने प्रकृति को आध्यात्मिकता के आरोप के साथ कृष्ण से सम्बन्ध करके देखा। यह स्थिति भी प्रकृति को महत्त्वपूर्ण तो बनाती है पर आलंबन कोटि में नहीं प्रस्तुत करती, दूसरे

आदि प्रकृति राधा में प्रयुक्त 'प्रकृति' वन वृक्ष लता रूप में व्यक्त 'प्रकृति' से अर्थ में बहुत कुछ भिन्न है। राधा का समस्त वर्णन प्रकृति-वर्णन की कोटि में नहीं आ सकता। इतना सब होते हुए भी प्रकृति के आलंबन तथा उद्दीपन रूपों के बीच कोई स्पष्ट सीमा-रेखा निर्धारित नहीं की जा सकती। वस्तुतः इनसे भिन्न बीच की एक अन्य स्थिति भी संभव है और जो सगुण भक्ति काव्य में उपलब्ध भी होती है। इस विषय में 'प्रकृति और काव्य' के एक विशेषज्ञ का मत उल्लेखनीय है—

"हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में प्रकृति के स्वतन्त्र आलंबन रूप को स्थान नहीं मिल सका। ....परन्तु यह भी देखा गया है कि प्रमुखता न मिलने पर भी प्रकृति मानवीय भावों से सम स्थापित कर सकी है। वस्तुतः जब प्रकृति मानवीय भावों के समानान्तर भावात्मक व्यंजना अथवा सहचरण के आधार पर प्रस्तुत की जाती है, उस समय उसको विशुद्ध उद्दीपन के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। वैसे प्रकृति को लेकर भावप्रक्रिया का आधार मानव है। आलंबन की स्थिति में, व्यक्ति अपनी मनःस्थिति का आरोप प्रकृति पर करके उसे इस रूप में स्वीकार करता है, जब कि उद्दीपन में आलंबन प्रत्यक्ष रूप से दूसरा व्यक्ति रहता है। ऊपर की स्थिति मध्य में मानी जा सकती है। आश्रय का आलंबन परोक्ष में है और प्रकृति के माध्यम से भाव-व्यंजना की जाती है। इस सीमा पर भी प्रकृति पर आश्रय की भावस्थिति का आरोप होता है पर वह किसी अन्य आलंबन की संभावना को लेकर।"[१]

कृष्णकाव्य के अन्तर्गत प्रकृति-चित्रण व्यापक एवं विविध रूप में हुआ है और इस सारी व्यापकता एवं विविधता के साथ मानवीय भावों का अद्भुत सामंजस्य मिलता है। आलंबन रूप में प्रकृति को न स्वीकार करने पर भी एक विचित्र आत्मीयता से उसका चित्रण किया गया है। उद्दीपन के अन्तर्गत प्रकृति के साथ मानवीय भावनाओं के सम्बन्ध की इतनी अनेकरूपता उपलब्ध होती है कि उसको संकुचित शास्त्रीय परिभाषाओं में बाँधना कठिन है। कभी कवियों ने भाव को आधार मानकर प्रकृति को उसी के अनुरूप चित्रित किया है और कभी प्रकृति को आधार मानकर भाव-जगत् में उसकी प्रतिक्रिया का संवेदनात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। कभी मानवीयता अथवा-मानव संबंधों का आरोप उस पर किया गया है और कभी उपमानों के रूप में प्राकृतिक सौन्दर्य के अगणित उपादानों को ग्रहण किया गया है। कल्पना का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। कहीं कहीं तो प्रकृति के वास्तविक रूप की नितान्त उपेक्षा करके कल्पना के सहारे अलौकिक रूप-विधान अत्यन्त मोहक रूप में रच डाला गया है और भक्तहृदय के सहज विश्वास ने उसे यथार्थ समझ कर कल्पना के आनन्द से भिन्न अलौकिक आनन्द की उपलब्धि भी की।

वृन्दावन का वर्णन गुजराती और ब्रजभाषा दोनों के कवियों ने प्रायः इसी प्रकार किया है। ब्रजभाषा के कवियों में अलौकिक वातावरण प्रस्तुत करने का आग्रह अपेक्षाकृत अधिक है। कृष्ण की लीलाभूमि होने के कारण वृन्दावन की प्राकृतिक शोभा का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया जाना ही स्वाभाविक है। यथार्थ जगत् में प्रकृति परिवर्तनशील है, रमणीय के साथ उसका भयानक तथा कष्टकर रूप भी अनुभव में आता है परन्तु कवियों ने वृन्दावन के लिए इन सब दोषों से मुक्त एक आदर्श प्राकृतिक सौन्दर्य का विधान स्वीकार किया है। गौडीय तथा राधावल्लभीय कवियों की भावना के अनुसार वृन्दावन में सदा वसंत ऋतु बनी रहती है। वहाँ की प्रत्येक लता कल्पतरु है और प्रत्येक फूल पारिजात है। वहाँ की भूँमि विविध वर्ण वाले रत्नों से खचित सुवर्णमयी है। अगणित कुंजों में सप्तवर्णी प्रकाश छाया रहता है। प्रत्येक कुंज के प्रवेश द्वार पर सहचरियाँ नियुक्त हैं जिनकी संख्या कल्पनातीत है—

इसी सम्प्रदाय के कवि गदाधर भट्ट की दृष्टि में वह 'योगपीठ' है।

श्री वृन्दावन योगपीठ गोविंद-निवासा।
तहाँ श्री गदाधर चरन-सरन सेवा की आसा।

—गदा० वाणी०, पृ० ६

नरसी को भी वृन्दावन के लताद्रुम अनेक वर्णों में प्रतिभासित होते हैं। वस्तुतः उनके लिए वृन्दावन वैकुंठ से भी अधिक सुन्दरतर है—

मारुं वृन्दावन छे रूडुंरे वैकुंठ नहि आवुं।

—न० कृ० का०, पृ० ५३७

कृष्ण की लीलाभूमि वृन्दावन नंददास के लिए चिद्घन है। वहाँ निरंतर शरद् ऋतु रहती है और प्रत्येक रात्रि पूर्ण चंद्र से आलोकित रहती है। सूर और नरसी ने किसी एक ऋतु को नित्य न मान कर वर्षा, शरद् और बसंत आदि सभी ऋतुओं में वृन्दावन का अलौकिक सौन्दर्य से युक्त चित्रित किया है। सारी प्रकृति कृष्ण के रास-नृत्य के साथ उल्लास से नाच उठती है। चन्द्रमा थक जाता है, यमुना का प्रवाह उलट कर बहने लगता, रात्रि असाधारण रूप से षट् मास की हो जाती है।

आराध्य की लीलास्थली के इस अलौकिक वातावरण के साथ कवियों की भावना का इतना तादात्म्य हुआ कि उनके हृदय में वृन्दावन की रज, लता, गुल्म और तृण-तरु सभी के प्रति एक विचित्र आत्मीयता एवं मुग्धता का भाव जाग उठा। ब्रजभाषा के अनेक कवियों में इसकी अभिव्यक्ति मिलती है—

सूर—माधव मोहि करौ वृन्दावन रेनु ।

—सू० सा०, पृ० २०३

हरिराम व्यास—क. वृन्दावन के रूख हमारे मात-पिता सुत-बंधु ।
ख. मैंदामिश्री मुँह रे मेरे वृन्दावन की धूरि ।

व्यास वाणी, पृ०

रसखान—कोटिन के कलाधौत के धाम, करील के कुंजन ऊपर वारौं ।

गुजराती कवियों में वृन्दावन के प्रति इतनी तन्मयता का भाव विकसित नहीं हुआ ।

प्रकृति के साथ मानवीय सुख-दुख की भावना का समीकरण गोपियों की संयोग और वियोगमयी मनोदशा के चित्रण में विशेष रूप से उपलब्ध होता है । पशुपक्षी और लता-वृक्ष सभी उनकी अनुभूतियों के प्रति सहानुभूति रखते हुए दिखाई देते हैं । गोपियों को कुछ कहना-सुनना होता है तो वे ही उनके सबसे अधिक आत्मीय सिद्ध होते हैं । उन्हीं के माध्यम से वे हृदय की गंभीरतम भावनाओं को अभिव्यक्त करती हैं । दोनों भाषाओं के कवियों ने ऐसे स्थलों पर प्रकृति को विशेष संवेदनीय प्रदर्शित किया है ।

नरसी की विरहिणी राधा के स्वर का प्रभाव इतना व्यापक है कि अर्धरात्रि में पक्षी उसे सुन कर जाग उठते हैं और यमुना भी डोल उठती है, सूर्य देवता प्रकाश करने लगते हैं, कमल खिल जाते हैं और पद्मिनी भयभीत हो जाती है—

पंखीमात्र नहि पण पशु जागियां, सुणी स्वामिनी मुख वाण ।
त्यां स्थिर जमना लागी डोलवा, स्वर थयो जलचर ने जाण ।
स्वर सुणियो सूरज देवता, पाला थाय करवा प्रकाश ।
स्वर सुणि रे कमल खीलियां, उपन्यो पोयणी ने त्रास ।।

—न० कृ० का०, पृ० ६०

नरसी ने पक्षियों पर राधा के स्वर के प्रभाव को व्यक्त करने के साथ साथ राधा पर उनके स्वर का प्रभाव भी व्यक्त किया है । विरह की दशा में राधा को उनका स्वर नहीं भाता—

चकचक करती चकलियुं आवे, जाणे वियोग तो भागे रे ।
खुश खुश खुश खीशकोली कहे छे, राधा ने रुडुं न लागे रे ।

—न० कृ० का०, पृ० ६१

अन्य क्षणों में यही प्रकृति राधा के मन में कृष्ण के साथ रमण करने की उल्लासमयी भावना जागृत करती है—

केसुडां फुल्यां रे, आव्यो फागण मास।
रंगभरी रमशुं नरहरि साथे, आणी मन उल्लास।

—वही, पृ० २२४

वर्षाकाल में बरसते हुए मेघों के बीच ज्यों-ज्यों पक्षीरव बढ़ता है त्यों त्यों राधा के हृदय में प्रेम उमड़ता है—

श्रावण मास सदा सुखकारी झरमर वरसे मेह रे।
दादुर मोर बपैया बोले, तंम तंम उपजे नेह रे।

—वही

भालण की गोपी का मान मेघों में तड़पती हुई बिजली को देखकर तथा पपीहे की पुकार सुनते ही विलुप्त हो जाता है। बादल के गरजने के साथ उसका हृदय विदीर्ण हो उठता है—

सामुं जोरे सुन्दरी, विजलडी (शी) जबुकेरे।
मेघ अंधारी आवियो, हलवे हलवे टपके, रीसाव्यो रहिये नहि रे।

बपैयो पीयु पीयु कहीने, धाडे सादे पुकारे (रे)।
मान करे (जे) मित्रशुं, ते स्त्री ने (अेवारे)।
घणा रे दिवसनां रुसणा (ते) भादरवे भाजे।
हैडुं फाटे विरहिणी, जे वारे वन गाजे।

—दशमस्कंध, पृ० १०७

इस प्रकार गुजराती के अनेक कवियों ने प्रकृति के उद्दीपक वातावरण की अनुकूलता और प्रतिकूलता के अनुरूप मानव-हृदय की विविध दशाओं का आलेखन किया है। १५वीं शती के नर्षि की रचना फागु में प्रकृति के उद्दीपक रूप का अत्यन्त निखरा हुआ चित्रण है। कवि लिखता है—

वसंत तणा गुण गहगह्या, महमह्या सवि सहकार।
त्रिभुवन जयजयकार, पिकारवु करहि अपार ।।३।।
जिमि विहसई वणसई, वणसई मानिनि मानु।
यौवन मदि हिं तु दंपती, दंपती थांहि युवानु ।।४।।

पिक के स्वर को त्रिभुवन पर वसंत की विजय के जयजयकार के रूप में ग्रहण करना तथा वनस्पतियों के मानिनियों के मान नष्ट करने के लिए विहंसने की कल्पना वास्तव

में सुन्दर हैं । वसंत ऋतु को विलास की ऋतु के रूप में गुजराती काव्य में बहुधा निरूपित किया गया है । नरसी के 'वसंतनां पद' इसके प्रमाण हैं । यह सब होते हुए भी संयोग और वियोग दोनों पक्षों में जितनी व्यापकता एवं विविधता से सूर ने प्रकृति का चित्रण किया है वह समस्त कृष्ण-काव्य में दुर्लभ है ।

सूरदास की गोपियाँ अपनी विरह-विगलित दशा की अभिव्यक्ति के लिए यमुना को माध्यम बनाती हैं परन्तु वे इतने से ही संतुष्ट नहीं होतीं । यमुना को वे अपनी तरह सजीव और विरह-कातर देखती हैं । जिस प्रकार कृष्ण के वियोग ने उन्हें म्लान-मना बना दिया है उसी प्रकार यमुना भी उनके विरह-ज्वर से दग्ध होकर और भी काली पड़ गयी है—

> दिखियत कालिंदी अति कारी ।
> अहो पथिक कहियो उन हरिसों भई विरह-जुर जारी ।
> मन पर्यंक ते परी धरणि धुकि तरँग तलफ नित भारी ।
> तट बारू उपचार चूर जल परी प्रसेद पनारी ।
> विगलित कच कुच कास पुलिन पर पंक जु काजल सारी ।
> मन में भ्रमर ते भ्रमत फिरत हैं दिशि दिशि दीन दुखारी ।
> निशि दिन चकई बादि बकत हैं प्रेम मनोहर हारी ।
> सूरदास प्रभु जोई यमुन-गति सोइ गति भई हमारी ।
>
> —सू० सा०, पृ० ६१५

पद के मध्य की पंक्तियों में भावावेग आरोप का रूप ग्रहण कर लेता है । बालू, कास, पंक आदि सब एक भिन्न रूप में प्रतिभासित होने लगते हैं । प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के साथ साथ भाव-जगत् की सूक्ष्म अनुभूति का ऐसा साहचर्य सूर के ही पदों में मिलता है । इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन को केवल उद्दीपन विभाव तक सीमित नहीं रक्खा जा सकता—

सूर ने उद्दीपन रूप में भी प्रकृति में अद्भुत प्राण-प्रतिष्ठा की है ।

प्रकृति के प्रति व्यक्त होने वाली रागात्मिका वृत्ति तीव्रता की सीमा पर पहुँच कर उपालंभ से युक्त भावात्मक अनुकथनों के रूप में प्रकट होने लगती है । 'मधुबन तुम कत रहत हरे' तथा 'माई मेरे मोरउ वैर परे' से प्रारम्भ होने वाले पदों में इसी प्रकार की तीव्र अनुभूति मिलती है ।

नरसी मेहता के काव्य में भी उपालंभ की ऐसी तीव्र भावना कहीं कहीं उपलब्ध हो जाती है । पपीहे के बोल एक गोपी को बाण के सदृश लग रहे हैं । वह उसे पापी और वैरी कह-कह कर कोसने लगती है—

बपैया पीउने शे रे संभारे ।
अबलाना हैडा होयरे सकोमल, वेणने वाणे अेम कां मारे ।
अघोजली जल नयण भराणां, शब्द सुणी सुणी तारो ।
तोय रे बपैया तुं अरे पापीडो, जनमनो वेरी मारो ।

—न० कृ० का०, पृ० ३००

रास के प्रसंग में भाव-विभोर होकर गोपियाँ वृक्ष वेलियों, पशु-पक्षियों तक से कृष्ण का पता पूछने लगती हैं। प्रकृति के प्रति ऐसी आत्मतल्लीनता का चित्रण भागवत का आधार लेकर गुजराती तथा ब्रज दोनों के कवियों ने किया है । चन्द्रमा आदि को दूत बनाकर भावाभिव्यक्ति का रूप भी मानवीयकरण की इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। वसंत ऋतु के बाद जिस ऋतु का अत्यंत तल्लीनता के साथ कृष्णकाव्य में वर्णन मिलता है वह है वर्षा। उमड़ते-घुमड़ते काले काले बादलों को देखकर सूर की गोपियाँ कभी उन्हें कामदेव के बंधनमुक्त हाथी समझने लगती हैं और कभी उनमें कृष्ण की प्रतिच्छाया देखने लगती हैं—

क. देखियत चहुँ दिसि ते घन घोरे ।
मानहु मत्त मदन के हथियन बल करि बंधन तोरे।

—सू० सा० पृ० ६२७

ख. आजु घनश्याम की अनुहारि ।
उनइ आये साँवरे ते सजनी देखि रूप की आरि ।
इन्द्रधनुष मानो पीत वसन छवि दामिनि दशन विचारि ।
जनु वगपाँति माल मोतिन की चितवत हितहि निहारि ।
गर्जत गगन गिरा गोविन्द मिसु सुनत नयन भरे बारि ।
सूरदास गुण सुमिरि श्याम के विकल भयीं ब्रजनारि ।

—सू० सा०, पृ० ६२९

पहले पद में मेघ केवल उद्दीपन की सामग्री है, दूसरे में वे गोपियों की कृष्ण-विषयक आसक्ति के सजीव रूप बन कर कृष्ण के ही सदृश प्रतिभासित होने लगते हैं ।

संयोग पक्ष में वर्षा का वर्णन कम मनोरम नहीं हुआ है। बरसते हुए मेघों और तड़पती हुई बिजलियों के बीच कभी हिंडोलों पर राधाकृष्ण को झूलते देखकर, कभी कुंजों में से भीगते हुए आते देखकर कवियों ने एक विचित्र प्रकार के आह्लाद का अनुभव किया जिसकी अभिव्यक्ति दोनों भाषाओं के कृष्ण-काव्य में मिलती है;

ब्रजभाषा में विशेष रूप से। हिंडोला झूलने के चित्र सूर और नरसी ने प्रायः समान भावात्मकता से अंकित किये हैं परन्तु कुंजविहार के समय रिमझिम बूँदों के आघात से जो स्नेह संबंध में नवोन्मेष आ जाता है उसकी अभिव्यक्ति ब्रजभाषा के काव्य में अनुपम रूप से हुई है। श्रीभट्ट द्वारा निम्नलिखित पद में अंकित राधाकृष्ण का भावमय चित्र वस्तुतः अद्वितीय है—

भीजत कुंजन ते दोउ आवत।
ज्यों ज्यों बूंद परत चूनरि पर त्यों त्यों हरि उर लावत।
अति गँभीर झीने मेघनि की द्रुम तर छिन विरमावति।
जय 'श्रीभट्ट' रसिक रस लंपट हिलिमिलि हिय सचुपावत।

—नि० मा०, पृ० १९

इसी चित्र को नरसी ने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है।[1]

षड्ऋतुवर्णन प्रकृति-वर्णन का रूढ़ स्वरूप रहा है। इस विषय में जितनी सूक्ष्मता सेनापति के काव्य में उपलब्ध होती है वैसी गुजराती के किसी कवि की कृति में नहीं मिलती। परन्तु बारहमासा में जितना जीवन्त वर्णन प्रेमानन्द ने प्रस्तुत किया है वह ब्रजभाषा में दुर्लभ है।

उपमान रूप में तृण, तरु, पर्वत, लता, कमल, भ्रमर, हंस, चकोर आदि प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं का उपयोग साहित्य में सदा से होता आया है। न गुजराती का काव्य इसका अपवाद है, न ब्रजभाषा का। कृष्ण का गोपाल रूप आराध्य रूप में मान्य होने से कृष्णभक्त कवियों ने रूढ़ उपमानों के अतिरिक्त नवीन नवीन उपमान प्रकृति से चुने हैं। ब्रजभाषा में सूर तथा गुजराती में प्रेमानंद ने इस क्षेत्र में विशेष मौलिकता प्रदर्शित की है।

प्रबन्ध-निर्वाह

प्रबन्धकाव्य की सर्जना पदरचना से भिन्न प्रकार की कला की अपेक्षा रखती है। वस्तु-संयोजन, कथा-कथन तथा भाव-निरूपण सबका सम्यक् रूप से सामंजस्य स्थापित करने के साथ साथ प्रवाह को अक्षुण्ण रखना आवश्यक होता है। पदकार केवल भावमय अथवा रमणीय स्थलों का चयन करके उन्हीं की अभिव्यक्ति तक अपने को सीमित रख सकता है, पुनरावृत्ति उसके लिए क्षम्य है, परन्तु प्रबन्धकार एक तो भावमय स्थलों के बीच आने वाले इतिवृत्तात्मक नीरस स्थलों की उपेक्षा नहीं कर सकता, दूसरे किसी प्रकार की पुनरावृत्ति प्रबन्ध को सदोष बना देती है। एक ही पात्र की मनस्थिति के आलेखन से उसका दायित्व समाप्त नहीं होता वरन्

उसे अनेक पात्रों की मानसिक अवस्था का संश्लिष्ट चित्रण करना होता है। कथा को विकसित करने के लिए एक जीवन्त वातावरण की सृष्टि करना अनिवार्य है जिसके लिए उसे लोक-जीवन के विविध पक्षों तथा लोकस्वभाव के विविध रूपों से परिचित होना भी आवश्यक है। यह बात नहीं है कि पदकारों को उक्त वस्तुओं के परिज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, फिर भी उनका प्रधान उद्देश्य गेय भावाभिव्यक्ति ही होता है। अन्य सब कुछ उसकी पृष्ठभूमि में गौण रूप से स्थित रहता है। परन्तु प्रबन्धकारों को भावनिरूपण के साथ लोकजीवन और लोकचेतना से सम्बद्ध सभी वस्तुओं को पर्याप्त महत्त्व देना होता है।

व्रजभाषा में नंददास तथा गुजराती में प्रेमानंद और भालण में प्रबन्ध-विधान की पटुता विशेष रूप से परिलक्षित होती है। कथा-प्रवाह का उक्त कवियों ने सम्यक् निर्वाह किया है और वस्तु-संयोजना में भी अपने अपने स्वभाव के अनुसार पर्याप्त कुशलता प्रदर्शित की है।

नंददास की अनेक रचनाओं में प्रबन्धात्मकता के दर्शन होते हैं परन्तु आख्यान शैली का पूर्ण निर्वाह और वास्तविक प्रबन्ध योजना 'रुक्मिनीमंगल' तथा 'रूपमंजरी' में ही संभव हो सकी है। 'विरहमंजरी' में कथा का अभाव है। 'भँवरगीत' में संवादात्मकता की प्रधानता के कारण प्रबन्ध के अन्य अंगों का विकास नहीं हुआ है। 'श्याम सगाई' और 'सुदामाचरित' अत्यन्त संक्षिप्त रचनाएँ हैं जिनमें कथा की तीव्रता ने कवि को वातावरण और भावों के विकास के लिए अवसर नहीं दिया। 'रासपंचाध्यायी' में अवश्य कथा का पर्याप्त विस्तार एवं स्थिरता है जिससे भावों और दृश्यों का समुचित आलेखन हो सका है। उसमें आने वाले भावपूर्ण स्थलों की समीक्षा भावपक्ष के अन्तर्गत 'रासलीला' के प्रसंग में की जा चुकी है। प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से इन सभी रचनाओं से पूर्वप्रोक्त दोनों रचनाएँ श्रेष्ठ हैं। 'रूपमंजरी' कवि की नितान्त मौलिक कल्पना-सृष्टि है। प्रारंभ में सैद्धान्तिक आधार और वैयक्तिक निवेदन देकर कवि ने आत्मीयता और आध्यात्मिकता का वातावरण रच दिया है जिससे आगे की प्रेम-कथा में अर्थगांभीर्य के साथ ही रुचिरता भी उत्पन्न हो गयी है। संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के अभाव की पूर्ति एक प्रकार से नायिका के यौवमनागम, श्रवण और स्वप्नदर्शन से उत्पन्न पूर्वानुराग तथा षट्ऋतु के साथ मानसिक दशा के संश्लिष्ट निरूपण से हो जाती है, क्योंकि इसमें जिस आलंकारिक शैली का प्रयोग किया गया है वह अत्यन्त आकर्षक है। वर्णन प्राचीन काव्य-परम्परा के अनुकूल है अतएव गुजराती आख्यान काव्यों से कहीं कहीं आश्चर्यजनक साम्य उपलब्ध होता है। नगर-शोभा, प्रेम-विरह तथा यौवनागम के रूढ़िगत वर्णन इसके प्रमाण हैं।[१]

कथा की समाप्ति संयोग,-सुख सन्तोष की स्थिति का चित्रण करके की गयी है। दोनों भाषाओं के रुक्मिणी और सुदामा सम्बन्धी काव्य इसको चरितार्थ करते हैं। नंददास के 'रुक्मिणीमंगल' में प्रयुक्त 'मंगल' शब्द सुखान्त की इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। नंददास ने इस काव्य का प्रारम्भ बिना किसी भूमिका के ही कर दिया है किन्तु भावों की योजना प्रारम्भ से ही परिपक्वता धारण करती गयी है। रुक्मिणी की विरह-विह्वल अवस्था का जैसा चित्रण नंददास ने किया है वैसा गुजराती के रुक्मिणी-संबन्धी किसी काव्य में नहीं मिलता। रुक्मिणी-हरण से पूर्व संघर्ष की स्थिति के चित्रण में प्रेमानंद ने सर्वाधिक पटुता प्रदर्शित की है। परिस्थिति और तदनुरूप मनोभावों के अंकन में उन्होंने पर्याप्त मौलिकता का प्रमाण दिया है। नारद का समावेश करके प्रेमानंद तथा अन्य गुजराती कवियों ने कथा में विशेष रोचकता उत्पन्न कर दी है। अन्त में विवाह का लोकानुरूप सजीव वर्णन करके सूर, भालण, प्रेमानंद आदि ने स्थिति को पूर्णता तक पहुंचा दिया और उसके द्वारा उनको विविध मनोभावों के वर्णन का अवसर भी मिल गया। प्रबन्ध-विधान सुरक्षित रखते हुए कवियों ने परिस्थिति और मनोदशाओं के आलेखन में विशेष कौशल प्रदर्शित किया है। सुदामाचरित के अन्तर्गत सुदामा की दरिद्रता और कृष्ण से उनकी भेंट के चित्रण उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ब्रज-भाषा में इस सम्बन्ध में नरोत्तमदास का स्थान अद्वितीय है। सुदामा की दरिद्रता की पूरी व्यंजना कवि ने सुदामा की स्त्री के वाक्यों से सफलतापूर्वक करा दी है। 'या घरते न गयो कबहूं पिय टूटो तयो अरु फूटी कठौती' में निर्धनता के अभिशाप से अभिशप्त एक गृहिणी के हृदय की मर्मवेदना समाई हुई है। सुदामा की जीर्ण वस्त्रों से आवृत्त दुर्बल काया का परिचय जब द्वारपाल कृष्ण को देता है उस अवसर पर भी कवि ने दरिद्रता का यथार्थ अंकन किया है—

> सीस पगा न झगा तन में प्रभु जाने को आहि बसै केहि ग्रामा।
> धोती फटती सी लटी दुपटी अरु पाँय उपाहन की नहिं सामा।
> द्वार खड़्यो दुज दुर्बल एक रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
> पूँछत दीन दयाल को धाम बतावत आपन नाम सुदामा।

—सुदामाचरित्र

गुजराती आख्यानकार प्रेमानंद ने सुदामा की दरिद्रता का अधिक विस्तार से वर्णन किया है और उनके वर्णन में यथार्थता की मात्रा अधिक ही है—

धातुपात्र नहीं कर सहावा, साजुं वस्त्र नथी सम खावा ।
जेम जल विण वाडी झाडुवां, तेम अन्न विण बालक बाहुवां ।
नीचां घर भीतडियो पडी, श्वान मांजर आवे छे चडी ।
अतिथि फरी निर्मुख जाय, भवांनक नव पामे गाय ।
अन्न बिना पुत्र मारे वागलां, तो क्यां थी टोपी आंगलां ।
बाध्या नख ने बाधी जटा, मांहि उडे रक्षानी घटा ।
दर्भ तणी तूटी सादडी, नाथ जी ते पर रहो छो पडी ।
बीजे त्रीजे पामो छो आहार, ते मुजने दहे छे अंगार ।
हुंतो दरिद्रसमुद्र मां बूड़ी, हेवातणमां अकेकी चूडी ।
सौभाग्य ना नथी शणगार, नहि काजल नहि किडियां हार ।
नहि ललाटे देवा कुंकुं, अन्न बिना शरीर रह्युं सुकुं ।

—बृ० का० दो०, भाग १, पृ० २४०-२४१

सुदामा के पुत्रों का चित्रण करके प्रेमानंद ने कथा को अधिक मार्मिक बना दिया है। द्वारका जाते हुए अपने पिता से जब वे अपनी भूख मिटाने योग्य कुछ लाने की दीनताभरी प्रार्थना करने लगते हैं तो सारा वातावरण दुख से भर जाता है—

ऋषि सुदामा ने कहे बालकडां, करी ने रोतां मुख ।
पिताजी अेवुं लावजो, जेने जाय आपणी भूख ।

—वही, पृ० २४५

इस तरह की मौलिक भावस्थिति का निर्माण करके प्रबन्ध को सजीव बना देना प्रेमानंद का स्वभाव है। सुदामा से कृष्ण अन्तःपुर में भेंट करते हैं अतएव प्रेमानंद ने प्रतिहार के साथ दासी का भी उल्लेख किया है। इस तरह की व्यावहारिक तथा राजसमाजोचित बातों के चित्रण की ओर उन जैसे पटु प्रबंधकार का ही ध्यान जा सकता है। कृष्ण को सुदामा के आगमन का समाचार देने वाली दासी की संशयग्रस्त मनोदशा का आलेखन करने के साथ ही उन्होंने नरोत्तमदास की तरह आगंतुक के दारिद्रय की भी व्यंजना कर दी है—

न होय नारद अवश्यमेव रे, नहीं वशिष्ठ ने वामदेव रे।
न होय दुर्वासा न अगस्त्य रे, मैं तो ऋषि जोया छे समस्त रे।
नहीं विश्वामित्र के अत्री रे, नथी लाव्यो चिट्ठी के पत्री रे।
दुःखी दरिद्र सरखो भासे रे, अेक तुंबीपात्र छे पासे रे ।
पिंगल जटा भस्मे भरीयो रे, सुधारूपी नारीअे वरियो रे ।

—वही, पृ० २४८

कृष्ण-सुदामा-मिलन के अवसर पर प्रेमानंद और नरोत्तम दोनों ने स्थिति की मार्मिकता को पूरी तरह परखते हुए कृष्ण के मनोभावों का उचित अंकन किया है परन्तु नरोत्तम को अधिक सफलता मिली है। कृष्ण के हृदय को उन्होंने अधिक भावुकता से अभिव्यक्त किया है—

प्रेमानंद—षोडशोपचार पूजा कीधी, अगर धूप धूमाय।
करजोडी प्रदक्षिणा कीधी, हरि ने हरख आंसु थाय।
पोताने ओढवानी पीत पछेडीओ, लोह्या ऋषिना पाय।
ऊभा रही कर विंजणो ग्रही ने, विट्ठल ढोले वाय।

—वही, पृ० २५०

नरोत्तम—कैसे बिहाल बिवांइन सौं भये, कंटक जाल गये पग जोये।
हाय सखा तुम पाये महा दुख, आये इतै न किते दिन खोये?
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिके करुनानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सौं पग धोये।

—सुदामाचरित्र

नरोत्तम के काव्य में प्रबन्धात्मकता के साथ मुक्तक काव्य का सौंदर्य भी उपलब्ध होता है। ऐसी दशा में कवि का ध्यान कथाप्रवाह की ओर से हट कर कथाक्रम का अनुसरण करने वाले मुक्तकों को सँवारने में लग जाता है। नंददास का सुदामाचरित प्रबन्ध की दृष्टि से अत्यन्त साधारण काव्य है अतएव उसमें उक्त स्थलों का विकास नहीं मिलता।

उक्तिवैचित्र्य और अलंकार-विधान

दोनों भाषाओं में जिन कवियों ने अनुवादात्मकता से ऊपर उठ कर मौलिक कल्पना के योग के साथ काव्यसर्जना की है उनकी रचनाओं में बहुधा कला के वैचित्र्यमूलक अथवा चमत्कारवादी स्वरूप के भी दर्शन होते हैं। सामान्य रूप से कुछ न कुछ अलंकार किसी के भी काव्य में खोजे जा सकते हैं क्योंकि अलंकार कथन-शैली के ही विविध प्रकार हैं परन्तु कुछ कवियों में उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार-प्रदर्शन की मनोवृत्ति अन्तर्निहित होती है जो उनकी तद्विषयक जागरूकता से प्रमाणित होती है। ऐसे कवियों के काव्य में चमत्कारबहुल कलात्मकता का आग्रह अपवाद-स्वरूप न प्राप्त होकर नियमतः मिलता है। व्रजभाषा में रीति कालीन प्रेरणा से लिखा गया कृष्णकाव्य प्रधानतः इसी मनोवृत्ति का परिचायक है। भाव प्रायः उक्ति और चमत्कार-प्रदर्शन का आधार मात्र होकर आये हैं। केशवदास, मतिराम, बिहारी और देव जैसे कवियों का वर्ग का वर्ग लगभग इसी कोटि में

आता है। कतिपय भावशील कवियों ने भावपक्ष और कलापक्ष के बीच सामंजस्य स्थापित किया परन्तु ऐसे उदाहरण कम उपलब्ध होते हैं। भक्त तथा आख्यानकार कवियों के द्वारा जो चमत्कारिकता का प्रदर्शन यत्र तत्र मिलता है वह एक गौण प्रवृत्ति के रूप में ही है। इनकी उक्तियाँ तथा इनके अलंकार काव्य-वैभव के सहज अंग होकर आये हैं। जागरूकता का निषेध तो सर्वथा नहीं किया जा सकता किन्तु आग्रह अवश्य नहीं मिलता। मौलिकता पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

उक्ति-वैचित्र्य—उक्ति की विचित्रता, अथवा वक्रता बहुत से अलंकारों के मूल में निहित रहती है अतएव उक्ति-वैचित्र्य प्रायः उपमादि अलंकारों के सुनिश्चित रूप में सन्मुख आता है। इस प्रकार की सामग्री 'अलंकार-विधान' के अन्तर्गत आगे प्रस्तुत की गयी है। यहाँ केवल उन्हीं उदाहरणों को लिया गया है जिनमें उक्ति का सहज एवं व्यापक स्वरूप अक्षुण्ण रहा है। कवि की अपनी कल्पना से उद्भूत उक्तियों के अतिरिक्त कुछ रूढ़ उक्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। दोनों भाषाओं के काव्य में दोनों प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य मिल जाता है।

भालण और नंददास की यौवनवर्णन सम्बन्धी निम्न उक्तियाँ परम्परागत और रूढ़ प्रकार की ही हैं—

भालण—यौवन ने पगनी चंचलता लइ मेली लोचन जी।
कटि कीधी अति पातली, उरज कर्या अति घन।

—द० स्कं०, पृ० १३४

नंददास—क. जुवन राउ जब उर पुर लयौ, सैसव राउ जघन बन गयौ।
अरन लगे जब दोउ नरेसा, छीन पर्‌यौ तब तिय मधि देसा।

—नंद०, पृ० ५

ख, बालपने पग चंचलताई, अब चलि छबिले नैनन आई।

—वही, पृ० ६

इस प्रकार की रूढ़िमयी उक्तियों का प्रयोग बिहारी आदि रीतिपरम्परा के कवियों द्वारा प्रायः किया गया है।

विरह-व्यथा सम्बन्धी भालण की एक दूसरी उक्ति दर्शनीय है। वियोग की अग्नि हृदय में बराबर जलती रहती है तो भी शरीर भस्म नहीं होता क्योंकि वह नेत्रों से प्रतिक्षण ढलकने वाले आँसुओं से भीगा रहता है—

हैडे पावक प्रजले रे, नयणे नीर न माय।
भस्म न थाये ते भणी रे, आँसुडे ओलाय।

—द० स्कं०, पृ० २१९

भ्रमरगीत के पाती-प्रसंग में सूर ने विरहाग्नि और अश्रुओं के गुणों को दूसरे प्रकार की उक्ति में संगुफित कर दिया है—

> नैन सजल कागज अति कोमल कर अँगुरी अति ताती।
> परसे जरै बिलोके भीजै दुहूँ भाँति दुख भाती।
>
> —सू० सा०, पृ० ६४९

सूर में भाव को तीव्रतर बना देने वाली उक्तियों की सृष्टि करने की अद्‌भुत क्षमता है। काली रात को नागिन कहने के साथ कृष्णपक्ष के बाद शुक्लपक्ष के आने की बात को उक्ति-चमत्कार प्रदर्शित करते हुए जब वे नागिन का डसकर उलट जाना कहते हैं तो कथन में एक विचित्र मार्मिकता आ जाती है—

> पिया बिनु नागिन कारी राति।
> कबहुँक जामिनि उवति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति।

इसी तरह वंशी सम्बन्धी पदों में सूर ने गोपियों के भावों को अनुपम उक्ति-सौन्दर्य से विभूषित किया है। उनकी उक्तियाँ बाँस की बाँसुरी में प्राण डाल देती हैं—

> मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
> सुनि री सखी जदपि नँदनंदहि नाना भाँति नचावति।
> राखति एक पाँय ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति।
> कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु कटि टेढ़ी ह्वै आवति।
> अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नार नवावति।
> आपुन पौढ़ि अधर सेज्या पर कर-पल्लव सन पद पलुटावति।
> भृकुटी कुटिल कोप नासा पुट हम पै कोपि कोपावति।
> सूर प्रसन्न जानि एकौ पल अधर सु शीश डोलावति।
>
> —सू० सा०, पृ० २४०

गुजराती कवि प्रेमानंद में भी उक्ति-वैचित्र्य की अद्‌भुत् क्षमता मिलती है। गोपियाँ भ्रमर को अनेकानेक उपालंभ देती हैं। इसी क्रम में प्रेमानंद ने भ्रमर के पर्याय 'षट्पद' को आधार बनाकर एक मौलिक उक्ति का निर्माण कर डाला। चार चरणोंवाला पशु होता है, इस तर्क से भ्रमर ड्योढ़ा पशु हुआ—

> छे षट चर्ण तारे विषे, सुण्य भमरा रे।
> माटे दोढ पशु तुं केहेवाय, भोगी भमरा रे।
>
> —श्रीम० भा०, पृ० ३२९

ठीक इसी प्रकार की उक्ति नंददास के भँवरगीत में मिलती है जिसमें ड्योढ़े पशु की बात तो नहीं है परन्तु पशु कह कर उसके अन्य लक्षणों का विस्तार किया गया है —

कोउ कहै रे मधुप प्रेम षटपद पसु देख्यौ।
अब लौं इहि ब्रज देस माँहि कोउ नाहिं बिसेख्यौ।
दोइ सिंग मुख पर जमे, कारी पीरी गात।

—नंद०, पृ० १३६

प्रेमानंद की दो एक अन्य उक्तियाँ भी दर्शनीय हैं। गोपियाँ कृष्ण के पास सँदेसा भेजती हैं कि मृगया के बहाने ही ब्रज में आ जाना, क्योंकि यहाँ सभी स्त्रियाँ मृगनयनी हैं—

तेना तमे कहावो राजकुमार।
मृगयाने रमवा रे, वन पधारजो रे,
अहीं अमे मृगनेणी सहु नार।

—श्रीम० भा० पृ० ३३१

आँसुओं को वर्षा के रूप में ग्रहण करके शारदीय रास के प्रसंग में वे एक सुन्दर उक्ति रच डालते हैं—

शरद समे आव्युं चोमासुं, लागी आंसुनी झेली।

—वही, पृ० २९०

सूरदास ने भी आँसू और वर्षा के सादृश्य को लेकर भिन्न प्रकार की उक्ति का निर्माण किया है—

निशिदिन बरषतु नैन हमारे।
सदा रहति वर्षा ऋतु हम पर जबते श्याम सिधारे।

—सू० सा०, पृ० ६२०

यह थोड़े से उदाहरण ही दोनों भाषाओं के कवियों की उर्वर कल्पना-शक्ति तथा उक्ति-वैचित्र्य की क्षमता के प्रमाण हैं।

अलंकार-विधान—ब्रजभाषा के रीतिकवियों को छोड़कर कृष्ण-काव्य के अधिकांश रचयिताओं की वृत्ति भाव-निरूपण में अलंकरण की अपेक्षा गौण रही है पर जहाँ भी अलंकृति मिलती है वहाँ शब्दालंकारों की तुलना में अर्थालंकारों का प्रयोग व्यापक और सहज रूप में किया गया है। गुजराती में श्लेष, यमकादि शब्दालंकारों का प्रयोग तो अपवाद रूप में ही मिलता है। फागु काव्य के रचयिता नयर्षि ने आन्तरप्रास के रूप में अभंग और सभंग दोनों प्रकार के यमक का प्रयोग किया है। कहीं कहीं

स्वतन्त्र यमक भी उपलब्ध होता है। अनुप्रास का आग्रह फागु में आद्योपान्त मिलता है। नयर्षि की शब्दयोजना बहुत कुछ केशव, मतिराम, बिहारी और देव के समानान्तर है। निम्नलिखित कतिपय उद्धरण इसके प्रमाण हैं—

बन्निसु फागि नरायण, राय णमइ जसु पाइ।
तसगुण अणुदिण खेलत, हेल तजाइ अपाइ ॥२॥
आविय मास वसंतक, संत करइ उत्साह।
मलयानिल महि वायउ, आयउ कामगिदाह ॥१७॥
बणवरि आदिय प्रभु वीनविउ, नवि दसइ दिसारि रे।
माधव माधव भेटण आविन देव मुरारि रे ॥२८॥
थणमरि नमती तरुणी करुणी वरुणी चरण संचारि रे।
चालइ चमकत झमकत नेउर केउर कटक विशाल रे ॥३०॥

किन्तु भालण और नरसी जैसे प्रमुख कवियों में यमक के दो ही चार उदाहरण मिल पाते हैं, वह भी बहुत खोजने पर—

भालण—क. श्रीकृष्ण वर थाये अमारे, अेह वर आपो तमे।

—द० स्कं०, पृ० ७९

ख. शी कहुं वातडी, दुखे गइ रातडी, आँख अति रातडी थइरे मारी।

—वही, पृ० १९४

नरसी—क. पंथनुं जेम पशु पूठल वलग्युं फरे नरसैंना नाथजी नाथ तोडी।

—न० कृ० का० पृ० ४७८

ख. श्वासनो शो विश्वास, नहि निमिषनो, आश अधुरी अने अेम भरखुं।

—वही, पृ० ४८०

पुनरुक्तिप्रकाश का जैसा सुन्दर प्रयोग गुजराती में नरसी ने किया है वैसा ब्रज-भाषा में नहीं मिलता—

क. चालंती गजनी चाल चाल।
लट छूटी ने आवे भाल भाल।

—वही, पृ० २६०

ख. फूली फूली फूली हुं तो हरिमुख जोइफूली रे।
भूली भूली भूली मारा घरनो धंधो भूली रे।

—वही, पृ० ५०४

भालण और सूर ने भी इसका सफल प्रयोग किया है ।[1]

वर्णावृत्तिमूलक अनुप्रास गुजराती कवियों द्वारा प्रयुक्त अवश्य हुआ है परन्तु अत्यन्त सहज रूप में । आग्रहपूर्वक शब्दों को अनुप्रास के क्रम से नियोजित करने की ओर उनका ध्यान उतना नहीं है जितना ब्रजभाषा के अनेक कवियों का रहा है । नंददास की तरह शब्दों को जड़ जड़ कर चमकाने की प्रवृत्ति उनमें कम मिलती है । भालण, नरसी, प्रेमानंद की अनुप्रास-योजना के कुछ विशिष्ट उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये गये हैं—

भालण—हरिने हिंदोलुं प्रीते हालरीयुं गाउं ।
पोढे परमानंद, वारणे हुं जाउं ।

—द० स्कं०, पृ० १८

नरसी—क. नाचतां नाचतां नयणे नयणां मल्या, मदभर्या नाथ ने बाथ भरतां ।
झमकते झांझरें ताली दे तारुणी, कामिनी कृष्णसुं केल करतां ।

—न० कृ० का०, पृ० २१८

ख. कर्मकूडां करी, खाण चारे भरी, नासवा नीसर्यो नाम बारी ।
कृष्ण कीर्तन विना, जाम जाये वृथा, जेम रहे जूगटे सिद्धि हारी ।

—वही, पृ० ४८०

ग. अंग उमंग लई रंग बेरंग थई उचरे व्यंग उछरंग आगे ।
नाद करी पाद ने, वाद धरि मादने साद उल्लाद विखवाद मागे ।

—वही, पृ० १०९

प्रेमानंद—क. तरणीतनयानां तरंगमां कीधां संध्यातर्पण ।

—श्रीम० भा०, पृ० ३२६

ख. केसर बोली चोली रे चोसर चंपकहार ।
चतुरां चाले चमकती, झाझरनो झमकार ॥५१॥

—मास

ऐसे उदाहरण अधिक नहीं मिलते । इन्हें एक प्रकार से अपवाद कहा जा सकता है क्योंकि इनमें अनुप्रास के प्रति सजगता का आभास है । ब्रजभाषा के पदकारों में गुजराती कवियों की तरह ही वर्ण-मैत्री का आग्रह प्रायः नहीं मिलता । सहज नाद-सौन्दर्य, अकृत्रिम माधुर्यमयी पदयोजना, भाव के अनुरूप शब्द-विधान पद साहित्य के स्वाभाविक गुण हैं । सायास लाये हुए अनुप्रास तथा अलंकार रूप में मिलने वाले श्लेष और यमक के उदाहरण अधिक नहीं हैं ।

नंददास की स्थिति पदकारों से भिन्न है । सानुप्रास वर्णमैत्री से युक्त शब्दयोजना उनका स्वभाव रहा है । उनके काव्य में शब्दों के अलंकरण की यह प्रवृत्ति प्रायः सर्वत्र

मिलती है । निम्नलिखित कुछ पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं—

क. द्विज न गयौ फिरि भवन, गवन कियौ धरि जु पवन गति ।

—नंद०, पृ० १४४

ख. बगर बगर सब नगर, उड़ी नभ गुड़ी बनी छवि ।

—वही, पृ० १४५

ग. तब रुक्मिनि कौ कागर, नागर नेह नवीनौ ।
वसनछोर तैं छोरि विप्र श्रीधर कर दीनौ ।

—वही, पृ० १४६

घ. हरी हरी यौं दुलहिनि कहि सब लोग पुकारे ।

—वही, पृ० १५३

वल्लभरसिक ने भी वर्णमैत्री का विशेष आग्रह प्रदर्शित किया है परन्तु उनकी अनुप्रास-प्रियता निरर्थकता की सीमा तक पहुँच गयी है ।

इस प्रवृत्ति का चरम रूप ब्रजभाषा के रीतिकालीन कवियों में उपलब्ध होता है । कहीं कहीं उनमें शब्दालंकारों का आग्रह भावाभिव्यक्ति से भी प्रधान हो गया है, समानान्तर तो वह रहा ही है । इस चमत्कार-प्रियता पर कुछ कवियों ने गर्व प्रकट किया है । सेनापति अपनी कविता की श्लेषमयता का उद्घोष करते हुए लिखते हैं—

कोई है अभंग कोई पद है सभंग, सोधि,
देखे सब अंग सम सुधा के प्रवाह की ।
सेवक सियापति को सेनापति कवि सोई,
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की ॥६॥

—कवित्तरत्नाकर, तरंग १

उनके 'कवित्तरत्नाकर' की पहली तरंग 'श्लेष तरंग' ही है जिसमें श्लेष के आधार पर ऐसे ऐसे सादृश्य उपस्थित किये गये हैं जिनका भाव से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है । सादृश्य का आधार रूप और मनोभाव न होकर चमत्कार-भावना ही है । विहारी ने भी श्लेष का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया है ।

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर ॥६७७॥

—बिहारीरत्नाकर, पृ० २७८

ऐसा एक भी उदाहरण समस्त गुजराती कृष्णकाव्य में खोजने पर भी न मिलेगा । 'कृष्णक्रीड़ाकाव्य' में केशवदास ने अवश्य श्लेष का प्रयोग किया है परन्तु वक्रोक्ति से

मिश्रित करके। फिर जिस पद में श्लेषवक्रोक्ति का यह प्रयोग मिलता है वह शुद्ध गुजराती का पद नहीं है। उसमें ब्रजभाषा का सम्मिश्रण है। यथा—

'जो वनमाली तो फूल वेंचजे, चुंबे बेल गुलालां।'
'सुण्य चतुरी! हुं चक्री' 'तूं काण कवण कुलालां।'
'अरे अरे अनंग हूं अबला।' 'नाग तमे हम नारी।'
'हूं हरि, हेलां हश महिरखणी!' 'तूं मांकड वन मुझारी।'

—श्रीकृ०ली० का० पृ० १०९

वर्णमैत्री का आग्रह और श्रृंखलाबद्ध वृत्यनुप्रास-विधान भी गुजराती में दुर्लभ है। देव के निम्न छंद की शब्दयोजना का कोई सादृश्य उसमें उपलब्ध नहीं होता—

जब ते कुँअर कान्ह, रावरी कलानिधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी।
तबही ते 'देव' देखी देवता सी, हँसति सी,
खीझति सी रीझति सी रूसति रिसानी सी।
छोही सी छली सी छीनि लीनी सी छकी सी छीन,
जकी सी टकी सी लागी थकी थहरानी सी।
बीधी सी बधी सी बिसबूड़ी सी बिमोहित सी,
बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी सी।

—भवानीविलास

केशवदास और मतिराम में भी शब्दालंकारों के प्रति पर्याप्त आकर्षण मिलता है। यही नहीं रसखान, ध्रुवदास और माधवदास जैसे सम्प्रदाय-सम्बद्ध कवियों तक में यह अलंकरण-प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है—

रसखान—सेस महेस दिनेस गनेस सुरेसहु जाहि निरंतर ध्यावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं।
ध्रुवदास—पिकबैनी प्रेमावली प्रेमारस में लीन।
परिमल पुन्या पावनी पदमावती प्रवीन ॥७०॥

—मंडलसभासिंगार

माधवदास—सरस सुढार सार हार गजमोतिन के,
किये हैं सिंगार तन वरन वरन को।

चंचल चपल चपला के भ्रम चौंकि परै,
चाहि चकचौंधी लागे मोहन के मन को।
—मा० बा०, पृ० ७०

यद्यपि कूटत्व को अलंकरण नहीं कहा जा सकता तथापि प्रधानतः शब्द चमत्कार पर ही आश्रित होने के कारण 'सूरसागर' तथा 'साहित्यलहरी' में उपलब्ध कूट पदों की ओर निर्देश कर देना यहाँ आवश्यक है। सूरदास के अनेक कूट सारंग आदि अनेकार्थी शब्दों पर ही आश्रित हैं—

सारंग सारंगधरहि मिलावौ।
सारंग विनय करत सारंग सों सारंग दुख बिसरावहु।
—सू० सा०, पृ० ३८८

कहीं कहीं शब्द के रूप को विकृत करके उसे समानार्थी बनाते हुए दुरूह कल्पना से कूटत्व उत्पन्न किया गया है जैसे निम्नलिखित पद में 'मांस' और 'मास' तथा 'बीस' और 'विष' को एक अर्थ में ग्रहण किया गया है—

कहत कत परदेसी की बात।
मंदिर अरध अवधि बदी हमसों हरि अहार चलिजात।
शशिरिपु बरष सूररिपु युगवर हररिपु किए फिरै घात।
नखत वेद ग्रह जोरि अरध करि बनि आवै सोइ खात।
सूरदास प्रभु तुमहि मिलन को कर मीडत पछितात।
—सू० सा०, पृ० ७०१-२

सूर ने कूटों की रचना में यमक आदि के अतिरिक्त संख्या तथा सम्बन्धवाची शब्दों और रूपकातिशयोक्ति जैसे अर्थालंकारों का सम्यक् प्रयोग किया है।[1] साहित्य-लहरी में यह कूट-शैली और भी अधिक व्यापक रूप में मिलती है।

गुजराती कवियों ने कूट-शैली में पद-रचना नहीं की और किसी अन्य प्रकार से ही काव्य को दुरूह बनाया है।

अर्थ को अलंकृत करने में कवियों ने सादृश्यमूलक अलंकारों का सर्वाधिक प्रयोग किया है, विशेष रूप से उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक का। इन अलंकारों में जो अप्रस्तुत योजना की गयी है वह एक ओर परम्परागत कमल, चंद्र, हंस, मीन, गज, केहरि, व्याल आदि उपमानों से समृद्ध है, दूसरी ओर उसमें कवियों द्वारा स्वप्रत्यक्ष सादृश्य को व्यक्त करने वाले अभिनव एवं अपूर्व उपमानों का भी सम्यक् योग है। दोनों

भाषाओं के अनेक कवियों ने अलंकार-विधान में मौलिक प्रतिभा का पर्याप्त परिचय दिया है। उदाहरणस्वरूप नीचे कुछ उपमाएँ प्रस्तुत की जाती हैं जिनकी स्वाभाविकता एवं मौलिकता ने उन्हें विशेष आकर्षक बना दिया है—

गुजराती

नर्षि :— तारा माहि जिम चन्द, गोपिय माहि मुकुंद ।। ४८ ।।

—फागु

भालण—: १. मन तो पोतानु राखिये रे, नालिकेर ज्यम नीर ।

—द०स्कं०,पृ० ९१

२. तेने प्रीत कोण शु आवे, दिन प्रत्ये नवा फल चाखे ।
चांच अडाडी ने जेम सूडो, जइने बेसे बीजी शाखे ।

—वही, पृ० १११

३. ज्यम पांपण नेत्र ने राखे त्यम ते राख्या तन जी ।

—वही, पृ० ४०९

नरसी :— १. बासना तारी घटघटमां, जेम बालमां पड्युं तेल ।
तारी वासना नो मने पास लाग्यो, जेम बेहके फूलेल् ।
तारे मारे प्रीत बंधाणी, जेम सूतरनी फेल ।

—न०कृ०का०, पृ० ३१५

२. प्रीतडी मायली शामला साथे, जडी कुंदन हीरले रे ।

—वही, पृ० ३४८

प्रेमानन्द :— १. मूलरूप धरियुं माया तजी, बाथी जोजन दोढ ।
जेम पर्वत ऊपर पोपटो तेम वीराजे रणछोड ।

—श्रीम० भा०, पृ० २४७

२. जेम समुद्रमां पडे वीजळी तेम अग्नि ज्वाळ गोविंदे गळी ।

—वही, पृ० २७६

३. सर्पफणावत श्रवण उभा,

—वही, पृ० २९९

४. हुं विना वलवली मरशे जेम टळवळे टीटूंडी ।

—वही,पृ० ३१५

ब्रजभाषा

सूर—

१. कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा एक राजत।
कर कर प्रति पद प्रतिमणि वसुधा कमल बैठकी साजत ॥
—सू० सा०, पृ० १४४

२. अब अंबर ऐसो लागत है जैसो झूठो थारु।
—वही, पृ० ३४७

३. जोवन रूप दिवस दसही को ज्यों अँजुरी को पानी।
—वही, पृ० ४८६

४. सूरदास प्रभु तुम्हरो गवन सुनि जल ज्यों जात बही।
—वही, पृ०. ५८०

५. अब यह शशि ऐसो लागत ज्यों बिनु माखनहि मह्यो।
—वही, पृ० ५८४

६. नीरस करि छाँड़ी सुफलक सुत जैसे दूध बिनु साढ़ी।
—वही, पृ० ५८५

७. सूरदास वा भाइ फिरत हौं ज्यों मधु तोरे माखी।
—वही, पृ० ६११

८. देखी माधो की मित्राई।
आई उघरि कनक कलई सी दै निज गये दगाई।
—वही, पृ० ६१४

९. सुनत लोग लागत हमैं ऐसे ज्यों करुई ककरी।
—वही, पृ० ७०३

१०. बिनु गोविंद सकल सुख सुंदरि भुस पर की सी भीति।
—वही, पृ० ७५०

नन्ददास—

१. पानी पर पराग परी ऐसी । बीर फुटक भरी आरसि जैसी।
—नन्द,पृ० ३

२. लै चले नागर नगधर नवल तिया कौं ऐसे।
माँखिन आँखिन धूरि पूरि, मधुहा मधु जैसे ॥
—वही,पृ० १५२

३. कहुँ देखियत कहुं नाहि, बधू बन बीच बनी यौं।
बिजुरिन के से टूक, सघन बन माँझ चलत ज्यौं ॥
—वही, पृ० १६१

माधवदास— बैठि कंहा कविता सी करौ सुधि है कछु साँवर के तन की।

—मा० वा०, पृ० ७९

ध्रुवदास— ज्यों ज्यों सर में जल बढ़ै, कमल बढ़ै तिहि भाँति।
ऐसे प्रिय की रुचि बढ़ै निरखि प्रिया तन कौंति॥२५॥

—रतिमंजरी

सेनापति— मान उड़ि जात ज्यों कपूर उड़ि जात है॥३६॥

—कवित्तरत्नाकर, तरंग १

बिहारी— छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोवन अंग।
दीपति देह दुहूनु मिलि, दिपति ताफता-रंग॥७०॥

—बिहारीरत्नाकर, पृ० ३४

उपर्युक्त उपमाओं में विविधता है, अनेकरूपता है। उन्हें किसी एक वर्ग के अन्तर्गत नहीं रक्खा जा सकता। अधिकतर उपमाएँ रूप-सादृश्य पर आधारित होती हैं जैसे प्रेमानंद और नंददास की कई उपमाएँ उद्धृत की गयी हैं परन्तु रूप के अतिरिक्त गुण, भाव और स्वभाव के अनुरूप भी औपम्य की कल्पना की जाती है। नरसी और सूरदास की उक्त उपमाओं में यही बात परिलक्षित होती है। वस्तुतः धर्म, जो उपमा का आधार होता है और उपमेय उपमान को एक सूत्र में आबद्ध करता है, अपने में अत्यन्त व्यापक है। कवियों ने उसकी व्यापकता का पूरा लाभ उठाते हुए अपनी अपनी अनुभूति और कल्पना के अनुरूप वस्तु तथा वातावरण की प्रकृति को ध्यान में रखकर उपमानों का कुशलता पूर्वक चयन किया है। सादृश्य को विविध प्रकार से व्यक्त करने तथा अधिक स्पष्ट बनाने के लिए कहीं कहीं उपमाओं की शृंखलाएँ भी रच दी गयी हैं जिन्हें शास्त्रीय शब्दावली में मालोपमा की संज्ञा दी गयी है। गुजराती कवियों की कुछ मालोपमाएँ विशेष दर्शनीय हैं—

भालण—चितातुर तमो कांय दीखो, जुहारी ज्यम हारिया।
व्यापारी वहाण बूडे, रंग अेवे आविया।
स्वेद अंगे गात्र भंगे, नीर दो नयणे झरे।
ऋणे पीड्यो अति घणुं, निर्धन ज्यम चिंताकरे।

—द० स्कं०, पृ० १८६

नरसी—चंद्र विंट्यो जेम चांदरणीअे, तरुवर विंट्यो जेम वेली रे।
गोविंद विंट्यो गोवालणीअे, हंसागवनी हेली रे।

—न० कृ० का०, पृ० ३०७

प्रेमानंद—क. जेम वर्षाकाळना तृणने, उपाडे नहानुं बाल रे।
जेम उन्मत्त गज ले शुंढमां, सुकोमळ कमळ नो नाळरे।
तेम पर्वत लीधो ऊंचळी, लीलाअे लक्ष्मी नाथ रे।
श्रम कांई पहोंतो नथी, जेम को मुद्रिका धरे हाथ रे।

—श्रीम० भा०, पृ० २८४

ख. जेम गुप्त खड्गकोश मध्ये, भस्मे ढांक्यो हुताश।
जेम अभ्रमां आदित्य घेर्यो गुप्त रूप कीधुं अविनाश।

—वही, पृ० २४६

अन्य स्थलों पर भी नरसी मेहता और प्रेमानंद ने रूप वर्णन में उपमा का ही अधिक प्रयोग किया है। अनेक उपमेय तथा अनेक उपमान होने से उनकी निम्न पंक्तियों में मालोपमा अलंकार तो नहीं है परन्तु विभिन्न उपमाओं की माला अवश्य है—)

नरसी—नेत्रांबुज नाशा कीर जेवी, छे दशन पंक्ति दाड़िम बीज तेवी।
आम्रकातलीशा अधर सोहंता, लाल लाल स्त्रीना मन मोहंता।

—न० कृ० का०, पृ० ४५३

प्रेमानंद—कदली पत्र बांसो विराजे, पेट पोयण पान।
भर्या परिमल नाभि निर्मल रोमावली पंकज तंत।
कंबु जेवी ग्रीवा शोभा कंठ कोकिला नाद।

—श्रीम० भा०, पृ० २४६

ब्रजभाषा के सूरदास नंददास आदि कवियों ने उत्प्रेक्षा का सर्वाधिक प्रयोग किया है। कहीं वस्तु, कहीं हेतु और कहीं फल की कल्पना करके उत्प्रेक्षा के प्रायः सभी रूपों का व्यवहार किया गया है। उपमा की तरह उत्प्रेक्षाओं की भी श्रृंखलाएँ रच दी गयीं हैं। रीति परम्परा के कवियों ने नखशिख वर्णन में उत्प्रेक्षा का प्रचुर प्रयोग किया है। गुजराती कवियों ने अपेक्षाकृत इस अलंकार को बहुत कम व्यवहृत किया है। नीचे दोनों भाषाओं के काव्य से कतिपय उत्प्रेक्षाओं के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं जिनसे कवियों की कल्पना-शक्ति और वर्णन-वैचित्र्य का सम्यक् परिचय मिलता है—

गुजराती

भालण—सुन्दर वदन सोहामणुं रे, नानडिया शा दंत।
जाणे कलममां प्रगटी रे, कुंदकली विकसंत।
कंठे हरिनख लटकतो रे, कौस्तुभनो आकार।
मुक्तामाळ सोहामणी रे, जाणिये गंगावार।

—द० स्कं०, पृ० ३६

नरसी—१. मुखनी शोभा शी कहुं जाणे पूनमचंद वीराजे रे।

—न० कृ० का०, पृ० ४६१

२. वेणीनां कुसुम लटकतां दीसे जाणे मणीधर डोले रे।

—वही, पृ० ५८४

प्रमानंद—१. जिह्वा जाणे सर्पिणी रे, मुख गुफानु द्वार।

—श्रीम० भा०, पृ० २४७

२. रुक्मिणी हींडे ब्रह्मा मळती रे, जाणे तेजमाथी तारुणी प्रगटीरे।

—रुक्मिणी हरण

ब्रजभाषा

सूर—१. सूरश्याम किलकत द्विज देख्यो, मानो कमल पर बीजु जमाइ।

—सू० सा०, पृ० १३९

२. भाल विशाल ललित लटकनमनि बालदशा के चिकुर सुहाए।
मानो गुरु शनि कुज आगे करि शशिहि मिलन तम के गण भाए।
उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पटपीत उढ़ाए।
नील जलद पर उडगन निरखत तजि सुभाउ मनौ तडित छपाए।

—वही, पृ० १४३

३. सूरश्याम लोचन जल बरसत जनु मुकुता हिमकर ते।

—वही, पृ० १७९

४. नैनमीन मकराकृत कुंडल भुजबल सुभग भुजंग।
मुकुतमाल मिलि मानो सुरसरि द्वै सरिता लिए संग।
मोर मुकुट मणिगण आभूषण, कटि किंकिनि नखचंद।
मनु अडोल वारिधि मैं विंवित राका उडुगणवृन्द।
वदनचन्द्र मंडल की शोभा अवलोकनि सुख देत।
जनु जलनिधि मथि प्रगटकियो शशि श्री अरु सुधा समेत।

—वही, पृ० २३७

५. रतन जटित पग सुभगपांवरी, नूपुर ध्वनि कल परम रसाल।
मानहुँ चरणकमलदल लोभी निकटहि बैठे बालमराल।

—वही, पृ० ३४७

६. चंदन चरचित कुच उर उपटित मनु नवघन में उदित दोउ शशि।

—वही, पृ० ४७६

७. केसरि आड़ लिलाट हो बिच सेंदुर को बिंदु।
चक्र तजे ता नैन मृग जनु बैठो रथ इंदु।

—वही, पृ० ४९०

८. बाँह उँचाइ जोरि जमुहानी ऐंड़ानी कमनीय कामिनी।
भुज छूटे छवि यों लागी मनो टूटि भई द्वै टूक दामिनी।

—वही, पृ० ४९८

९. तुम सों प्रेमकथा को कहिबो मनहुँ काटिबो घास।

—वही, पृ० ७००

नंददास—१. कंज कंज प्रति पुंज अलि गुंजत इमि परभात।
जनु रवि डर तम तजि भज्यो, रोवत ताके तात।

—नंद, पृ० ३

२. नवला निकसति तीर जब नीर चुवत बर चीर।
असँवन रोवत बसन जनु, तन बिछुरन की पीर।

—वही, पृ० ६

३. और विहंगम रंग भरे बोलत हिय हरहीं।
जनु तरवर रस भरे परस्पर बातें करहीं।

—वही, पृ० १४५

४. अरुन चरन प्रतिबिम्ब अवनि में यों उनमानी।
जनु धर अपनी जीभ धरति पग कोमल जानी।

—वही, पृ० १५१

५. कछु रुकमिनि चलि आई हरि लै रथ बैठाई।
घन ते बिछुरी बिजुरी, मनौ घन मैं फिरि आई।

—वही, पृ० १५२

हरिवंश—अंस अंस बाहु दै किशोर जोर रूप रासि,
मनौ तमाल अरुझि रही सरस कनक बेलि ॥१७॥

—श्रीहित० चौ०, पृ० ८

श्रीभट्ट—पलक-पलक मानो अलिन नलिन पै प्रात मुदित हित पंख पसारे।
अंजन-अमिल रेख इषद लखि बसि नागिन मानो खंजन गारे।

—नि० मा० पृ०, १५-१६

हरिराम व्यास—याही तैं माई कुचनि के ओर भये कारे।
ये पिय के नैननि मैं बसत, इनमें पिय के तारे।

—व्या० वा०, पृ० ४८९

ध्रुवदास—१. जमुना की छवि कहा कहौं तहाँ न आँनद थोर।
मनहुँ ढर्‌यो सिंगार रस करि प्रबाह चहुँओर ॥९॥

—मंडलसभासिंगार

२. नासापुट मुकता फब्यो चितै रहे दृग द्वंद ।
भाजन भरि तन झलकि परी मनो रूप की बुंद ॥३६॥

—वही

मतिराम—स्वेद के बूँद लसे तन मैं रति अंत रही लपटाय गुपालहिं ।
मानो फली मुकुताफल पुंजन हेमलता लपटानी तमालहिं ॥३१९॥

—रसराज

केशव—मखतूल के झूल झुलावत केशव भानु मनौ सनि अंक लिए ।

बिहारी—मकराकृत गोपाल कैं सोहत कुंडल कान ।
धर्‌यो मनौ हिय-धर समरु, ड्यौढ़ी लसत निसान ॥ १०३ ॥

—बिहारीरत्नाकर

देव—भाल गुही मुकुतालर माल, सुधाधर मैं मनौ धार सुधा की ।

—भावविलास

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि ब्रजभाषा-काव्य में मिलने वाली उत्प्रेक्षाओं के समक्ष गुजराती काव्य की उत्प्रेक्षाएँ सरल, असंश्लिष्ट तथा अनूहात्मक हैं। ब्रजभाषा के कवियों ने अपने उत्प्रेक्षण में सूक्ष्मता, सुकुमारता, सश्लिष्टता एवं ऊहात्मकता का विशेष परिचय दिया है। सूर और नंददास की उत्प्रेक्षाओं में रूपछायाओं के अद्‌भुत वैभव के साथ उक्ति-वैचित्र्य का अपूर्व आग्रह मिलता है। सूर, केशव, बिहारी आदि कवियों ने कहीं कहीं वर्ण सादृश्य के आधार पर ग्रहों को उत्प्रेक्षण का साधन बनाया है जिससे उनके ज्योतिष ज्ञान का आभास मिलता है। गुजराती में वर्ण पर आधारित ऐसी उत्प्रेक्षाओं का अभाव है। नरसीं ने अवश्य एक स्थल पर ऐसी उत्प्रेक्षा की है—

लीलवट आडरे शोभती केसरतणी रे जाणे मुखे उग्यो शशीयर भाण।

—न० कृ० का०, पृ० ४०४

इससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि ब्रजभाषा-काव्य में कल्पना का आलंकारिक स्वरूप कहीं अधिक विकसित हुआ। कहीं कहीं यह वृत्ति गूढ़ और दुरूह भी होगयी है किन्तु अधिकतर भाव, रूप, वर्ण आदि के सादृश्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

गुजराती कवियों ने उत्प्रेक्षा से अधिक रूपक का प्रयोग किया है। उनके रूपकों की रचना भी प्रायः सहज सुलभ एवं परम्परागत उपमानों पर ही आश्रित हैं। कल्पना का चमत्कार कम परिलक्षित होता है। रूपकों का अंगविस्तार करके उन्हें सांगरूपक बनाने की प्रवृत्ति इसीलिए नहीं मिलती। गुजराती-काव्य में प्राप्त रूपक अलंकार के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

भालण—१. नयण कचोले अमृत पीतां, क्यम पूरण थाउं ।

—द० स्कं०, पृ० ७८

२. आशा अंबर ने तांतणे मारा वळग्याजी प्राण ।

—वही, पृ० २२०

नरसी—भ्रकुटि भ्रमर रे, धनुष्याकार छे रे, वा लाजीना नेण दीसे छे बाण ।
प्रेम धरी ने रे नाखे वा लो अम भणी रे, वा ले मारे वेध्या मनने प्राण ।

—वही, पृ० ४०४

प्रेमानन्द—१. कंचुकी भीजे कटावनी आंसुडां केरी धार ।
कुच-शंकर पर स्वेदनी काम करे रे पखाल ॥२०॥
जोवन-जलनिधि ऊलट्यो कोटि काम तरंग ॥२१॥

—मास

२. विरहिणी ने सतापवा आव्यो मेघ भुजंग ॥४३॥

—वही

३. नयणे काजल सारी रे साधे मोहना बाण ।
भ्रगुटी धनुष कसी करे, ताणे कर्ण प्रमाण ॥९४॥

—वही

४. सरजे पाले ने संहारे अेणे निपाव्या जीव ।
अे ब्रह्मा ने अे ब्रह्माणी अे शक्ति ने अे शीव॥

—प्रा०का०मा०,पृ० १७०

उक्त उदाहरणों में अनेक रूपक एकदेश-विवर्ति हैं। कुछ में समस्तवस्तु-विषयकता का आभास है। बहुधा निरंग रूपक का ही प्रयोग है। इसके विरुद्ध ब्रजभाषा में साधारण रूपकों के अतिरिक्त सांगरूपकों का विशेष आग्रह मिलता है। सूर ने इस क्षेत्र में अद्भुत क्षमता प्रदर्शित की है। यह सत्य है कि रूपक का अत्यधिक विस्तार कभी कभी विरसता का भी संचार करने लगता है परन्तु सूर के कतिपय सांगरूपकों में कल्पना और भाव का विचित्र संयोग हुआ है। उनके कुछ अतिविस्तृत रुपकों में जटिलता, दुरुहता और नीरसता भी आगयी है। ध्रुवदास आदि अन्य अनेक कवियों ने रूपक-रचना में विशेष कौशल प्रदर्शित किया है। निम्न उदाहरण प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

सूर—१. माधव जू नेक हटकौ गाइ।
निशि वासर यह भरमति इत उत अगह गही नहिं जाइ

क्षुधित बहुत अघात नाहीं निगम द्रुम दल खाइ।

—सू० सा०, पृ० ८

२. अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल।
महामोह को नेपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल।
भरमभये मन भयो पखावज चलत कुसंगत चाल।
तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बांध्यों लोभतिलक दियो भाल।

—वही, पृ० १९

३. विरहबन मिलन सुधि त्रास भारी।
नैन जल नदी पर्वत उरज येई मनो सुभग बेनी भई अहिनि कारी।
नैनमृग श्रवन बनकूप जहँ तहँ मिले, भ्रम गली सघन नहि पार पावै।
सिंह कटि व्याघ्र अंग अंग भूषन मनो दुसह भये भार अतिही डरावै।

—वही, पृ० ३८६

४. तुम्हारो गोकुल हो ब्रजनाथ।
घेर्‌यो है अरि चतुरंगिनि लै मन्मथ सेना साथ।
गर्जत अति गंभीर गिरा मन मैंगल मत्त अपार।
धुरवा धूरि उड़त रथ पायक घोरन की खुरतार।
चपला चमचमाति आयुध बग-पंगति ध्वजा अकार।
परत निसाननि घाव तमकि घनु तरपत जिहि जिहि बार।
मारमार करत भट दादुर पहिरे बहु बरन सनाह।

—वही, पृ० ६२८

इनके अतिरिक्त सूर ने ''देखौ माई सुन्दरता को सागर 'तथा 'साँचो सो लिखवार कहावै, से प्रारम्भ होने वाले पदों में रूपक के अंग-प्रत्यंगों का बहुत विस्तार किया है। ऐसे विस्तृत रूपकों में उन्होंने कहीं कहीं उत्प्रेक्षादि अलंकारों का अन्तर्भाव कर लिया है अर्थात् प्रधान भूमिका तो रूपक की रही है परन्तु उसके अंगों का सादृश्य निरूपित करने में उत्प्रेक्षादि का आश्रय लिया गया है। जैसा कहा जा चुका है कि इतने विस्तृत रूपक गुजराती काव्य में उपलब्ध नहीं होते अतएव इस प्रकार के अलंकार समिश्रण के भी दर्शन नहीं होते। नरसी का 'सुरतसंग्राम' एक अपवाद है। रूपक पर आश्रित इतनी विशाल कल्पना ब्रजभाषा के किसी काव्य में नहीं मिलती। रति को युद्ध का रूपक देकर दोनों भाषाओं में वर्णित किया गया है जिसके अनेक उदाहरण

दिये जा सकते हैं। फिर भी रूपक-रचना की व्यापक प्रवृत्ति ब्रजभाषा में ही पायी जाती है। सूर के अतिरिक्त अन्य भक्त कवियों ने भी इस प्रवृत्ति का सम्यक् परिचय दिया है जो निम्न उदाहरणों से स्पष्ट है—

गदाधर भट्ट—१. आज कहूँ ते या गोकुल में अद्भुत बरखा आई हो।
मणिगण हेमहीर धारा की ब्रजपति अति झर लाई हो।
बानी वेद पढ़त द्विज दादुर हिये निरखि हरियारे हो।
दधि घृत नीर क्षीर नाना रंग बहि चले खार पनारे हो।
आनन्दभरी नाचत ब्रजनारी पहरे रंग रंग सारी हो।
वरन वरन बादरन लपेटी विद्युत न्यारी न्यारी हो।

—वाणी, पृ० ११

२. जो मन स्याम-सरोवर न्हाहि।
बहुत दिनन को जर्‌यो बर्‌यो तूँ, तबही भले सिराहि।
नयन बयन कर चरन कमल से, कुंडल मकर समान।
अलकावली सिवाल जाल तहँ, भौंह मीन मो ज़ान।

—वही, पृ० २५

माधवदास—माली नव मदन तरुनी तन अलबाल,
जतन जुगुति सों जोबन बीज बयौ है।
उपज्यौ है अंकुर सनेह को सरस अति,
सुरति के मेह सों सुनित सरसयौ है।
मूल प्रतिकूलता सुमन फूल फूलि रह्यौ,
हावभाव पल्लव सघन छाँह छयौ है।
मधुरते मधुर लग्यो है एक मान फल,
सोई जाने सुख जिन लोभी रस लयौ है ॥३५॥

—मानमाधुरी

ध्रुवदास ने शतरंज, चौपड़ आदि को लेकर विचित्र रूपकों की सृष्टि की है जिनमें भाव की अपेक्षा काव्य-कौतुक अधिक है—

मन नृप मंत्री चोंप सों रुचि कीनी रुख चाल।
उरज गयंद तुरंग दृग पायक अंगुली लाल ॥१२॥

—हित० सिंगारलीला

सखियन तलप बिसांत बनाई । कहि न जाइ सोभा कुछ भाई ॥९८॥
पासे नैंन कटाछनि ढारैं । हावभाव रँग-रँग की सारैं ॥९९॥
—नेहमंजरी

नरसी और ध्रुवदास ने स्त्री शरीर की कल्पना सफल लता के रूप में की है। दोनों के रूपकों की समानता दर्शनीय है। मुस्कान को फूल कह कर ध्रुवदास ने सादृश्य का अधिक निर्वाह किया है—

ध्रुवदास—कोमल कुंदन बेलि मनु सींची रंग सुहाग।
मुसकनि लागे फूल फल उरज भरे अनुराग॥ २० ॥
—रतिमंजरी

नरसी— अमृत वेलडी व्रज नी नारी उर वर सफळ फली रे।
—न० कु० का०, पृ० ३३३

इस तरह की रूपक-रचना व्रजभाषा के रीतिकाव्यों में भी उपलब्ध होती हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक के अतिरिक्त रूपकातिशयोक्ति, संदेह, दृष्टान्त आदि अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग भी दोनों भाषाओं के काव्य में मिलता है परन्तु प्रधानता पूर्वोक्त अलंकारों की ही रही है। रूपकातिशयोक्ति को सूर ने सर्वोत्तम रूप में प्रस्तुत किया है। उनके पास उपमानों का अशेष कोष रहता है जिसकी सहायता से उनकी कल्पना अभूतपूर्व वैभव के साथ रूप-चित्र रचती जाती है। रूपकातिशयोक्ति सूर के समृद्ध अलंकरण का एक अंशमात्र है। सूर ने इस अलंकार का प्रयोग अपने पूर्ववर्ती पदकार विद्यापति की परम्परा में किया है। भालण ने राधा के रूप वर्णन में इसका व्यवहार किया है। रूपकातिशयोक्ति का व्रजभाषा जैसा विस्तृत समृद्ध प्रयोग गुजराती में नहीं मिलता—

सूर—अद्भुत एक अनूपम बाग।
युगल कमल पर गज क्रीडत हैं, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर शुक पिक मृग मद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मणिधर नाग।
—सू० सा०, पृ० ३९०

भालण—कनकलता ऊपर कशा रे बे लघुपर्वत श्रृंग रे।
अेम अटपटूं उचरे रे, कहे बच्चे वहेती गंग रे।
खंजन मीन मधुकर कह्या रे, तेतो चंद्रबिंब मुझार रे।

—द० स्कं०, पृ० १४५

सूर ने दानलीला के अन्तर्गत तथा कूटों में इस अलंकार का और भी चमत्कारिक प्रयोग किया है जिसका संकेत प्रसंगानुसार किया जा चुका है।

'संदेह' संबन्धी तुलनात्मक स्थिति निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है—

ब्रजभाषा

सूर— १. राधे तेरे नैन किधौं मृगवारे।
२. राधे तेरे नैन किधौं री बान।
३. राधे तेरे नैन किधौं बटपारे।

—सू० सा०, पृ० ५०८

नंददास—किधौं नीलमनि किंकिनि माही, रोमावलि तिहि जोति की छांही।
किधौं लटी कटि दिखि करतारा, रोमवार जनु धर्‌यो अधारा।

—नंद०, पृ० ७

गुजराती

नरसी—छो रे रंभा के रे मोहनी, के छो रे आनंद के चंद।
के रे पाताळमांनी पद्मनी, अेवो विचार करे गोविंद।

—न० कृ० का०, पृ० १५५

प्रेमानंद—सुदामे जाणी आवी राणी, इंद्राणी के रुक्मिणी।
सावित्री के सरस्वती, के शक्ति शंकर तणी ॥१५॥

—बृ० का० दो०, भाग १, पृ० २७५

ब्रजभाषा के कवियों ने संदेह का प्रयोग कवि-कल्पित विविध रूप-छायाओं तथा भाव-व्यंजक उपमानों को लेकर किया है किन्तु गुजराती कवियों ने पात्र विशेष की किसी अन्य पात्र के सम्बन्ध में अनिश्चयात्मक मनस्थिति को व्यक्त करने में इसका व्यवहार किया है जैसा कि नरसी और प्रेमानंद की उक्त पंक्तियों से प्रकट है। दोनों प्रयोगों में पर्याप्त भिन्नता है। एक में रूप-सादृश्य के साथ उक्ति-वैचित्र्य पर अधिक बल है दूसरे में केवल रूप-सादृश्य पर।

कथन पर बल देने और उसे प्रभविष्णु एवं सुन्दर बनाने के लिए 'दृष्टान्त' अलंकार का प्रयोग गुजराती कवियों ने बराबर किया है—

भालण—रीसावी रहेवा नव दीजे, कोमळ तन करमाये।
बीजां वृक्ष रहे सिञ्चा विना, जुइवेली सूकाये।
—द० स्कं०, पृ० ११०

प्रेमानंद—मुंआं वच्छनां चर्मने माटे, गाय प्रीते दूझे रे।
मोटां वच्छ ने श्रृंगे मारे, सगपण कांइ न सूझे रे।
—श्रीम० भा०, पृ० ३१६

ब्रजभाषा में सूरदास तथा नंददास आदि ने भी इसका पर्याप्त कुशलता से प्रयोग किया है। इन कवियों का लक्ष्य भी कथन को सशक्त, प्रभावमय एवं सुन्दर बनाना रहा है—

सूर—तेरो बुरो न कोई मानै।
रस की बात मधुप नीरस सुनि रसिक होइ सो जानै।
दादुर बसै निकट कमलनि के जन्म न रस पहिचानै।
अलि अनुराग उड़त मन बाँध्यो कही सुनत नहिं कानै।
सरिता चली मिलन सागर को कूल सबै द्रुम भानै।
कायर बकै लोभ ते भागै, लरै सो सूर बखानै।
—सू० सा०, पृ० ७००

नंददास—प्रेम एक, इक चित्तसौं एकहि संग समाइ।
गंधी को सौदो नहीं जन जन हाथ बिकाइ।
—नंद०, पृ० १७

गुजराती कवियों में कथन को अलंकृत करने की ओर प्रेमानंद का झुकाव अधिक प्रतीत होता है। उन्होंने अनन्वय, अपन्हुति तथा उल्लेख आदि कतिपय अन्य सादृश्य-मूलक अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया है।

अनन्वय—उपमा ते कोनी आपिये, ना मळ्यु अेकुं प्रश्न।
अे रुक्मिणी ते रुक्मिणी, श्रीकृष्ण ते श्रीकृष्ण।
—प्रा० का० मा०, पृ० १७०

अपन्हुति—न होय इन्द्र अे छे कृष्णजी जेणे आप्युं मुनि ने वळ निरधार।
नोय इन्द्र कमळ लोचनखरा, जेने नथी नेत्र हजार।
—वही, पृ० १६९

उल्लेख—कोई कहे इन्दु, कोई कहे काम...
कोई कहे हाउ आव्यो विकाळ...
कोई वृद्ध जादवे दीठा ऋखी...

—बृ० का० दो०, भाग १, पृ० २४६

'उल्लेख' का उनका प्रयोग विचित्र है क्योंकि उसमें वक्रोक्ति का अन्तर्भाव हो गया है। यादव स्त्रियाँ जर्जर देह सुदामा को जब इंदु और काम कहती हैं तो वहाँ वक्रोक्ति की प्रधान हो जाती है परन्तु जब कोई स्त्री उन्हे 'हाउ' समझती है और कोई यादव 'ऋखी' समझता है तो उल्लेख ही प्रधान हो उठता है। ऐसा उदाहरण ब्रजभाषा में कदाचित् ही कहीं मिले।

सादृश्यमूलक अलंकारों के अतिरिक्त जिन अलंकारों का दोनों भाषाओं के कृष्ण-काव्य में सफल प्रयोग हुआ है उनमें 'प्रतीप' तथा 'अत्युक्ति' विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रतीप का प्रयोग रूप-वर्णन के प्रसंग में अधिक किया गया है—

गुजराती

भालण—पक्व को लां ने प्रवालडां रे, मुख आगळ शुं नाम रे।
दाडमनी कलिका तणुं रे, कहानजी कहे शुं काम रे।

—द० स्कं०, पृ० १४५

प्रेमानंद—सुदामाना वैभव आगळ, कुबेर ते कोण मात्र।

—बृ० का० दो० भाग १, पृ० २५८

ब्रजभाषा

सूर—१. कंज खंजन मीन मृग शावकनि डारति वारि।
भ्रुकुटि पर सुरचाप वारत तरनि कुंडल हारि।

—सू० सा०, पृ० ३५५

२. राधे तेरे रूप की अधिकाइ।
शशि उर घटत, हेम पावक परि, चंपक कुसुम रहे कुम्हिलाइ।
इभ तूटत अरु अरुण पंक भए विधिना आन बनाइ।
कद्रुज पैठि पताल दुरे रहि खगपति हरिवाहन भए जाइ।
हंस दुर्‌यो सर दुर्‌यो सरोरुह गज मृग चले पराइ।
सूरजदास विचार देखि मन तोर रसन पिक रही लजाइ।

—वही, पृ० ५१३

नंददास—मृगज लजे, खंजन भजे, कंज लजे छवि छीन।
दृगन देखि दुख दीन ह्वै, मीन भए जल लीन।
—नंद०, पृ० ६

हरिराम व्यास—निरुपम राधा नैन तुम्हारे।
अंजन छवि खंजन मद गंजन मीन पानि दुरि हारे।
निशि शशि डरत पंकजकुल सुकुचत वधिकनि मृगज विडारे।
—व्या० वा०, पृ० २४१

उक्त उद्धरणों को देखने से ज्ञात होता है कि ब्रजभाषा में 'प्रतीप' अत्यन्त समृद्ध एवं शृंखलाबद्ध रूप में प्रयुक्त हुआ है। उसके जितने भेद ब्रजभाषा काव्य में उपलब्ध होते हैं उतने गुजराती में नहीं मिलते।

दोनों भाषाओं में 'अत्युक्ति' का व्यवहार विरह-सम्बन्धी वर्णन में विशेष रूप से हुआ है जो निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है। कवियों ने विरह-ताप और विरह-दौर्बल्य को लेकर विविध प्रकार की अत्युक्तियों का सृजन किया है जिनमें ऊहा का पुट लगभग समान रूप में मिलता है। रीति कवियों ने उसे अस्वाभाविकता की सीमा पर पहुँचा दिया—

गुजराती

भालण—कुसुम चंदन शीतळ घणां, ते अंग लागे अंगार।
—द० स्कं०, पृ० १३७

नरसी—हैयामां रे होळी बळे कीम करी रमुं वसन्त।
—न० कृ० का०, पृ० ५२४

प्रेमानंद—ऊपनो ताप निश्वास मूके।
कामिनी कंठनी माल सूके। ॥१६॥
सूकी गयुं तन हेली रे, वेली ऊतरे बांह।
धरतीओ लेतां जोती रे, अंगूठी ओ मांह ॥१८॥
—मास

ब्रजभाषा

सूर—१. कर अँगुरी अति ताती।
परसे जरै ......
—सू० सा०, पृ० ६४९

२. गनतहि गनत गईं सुनि सजनी अँगुरिन की रेखे।
—वही०, पृ० ६७९

नंददास—१. लिखी बिरह् के हाथन पाती अजहूँ ताती।

—नंद०, पृ० १४७

२. उपजि बिरह् दुख दवा अवा उर ताप तये हैं।
कोउ कोउ हार के मोतिया, तचि तचि लाल भये हैं।

—वही, पृ० १४३

बिहारी—औंधाई सीसी सुलखि बिरह्-बरनि बिललात।
बिच हीं सूखि गुलाब गौ, छीटौ छुई न गात ॥२१७॥

—बिहारीरत्नाकर, पृ० ९१

देव—हाथ उठायो उड़ाइबे को, उड़ि काग गरे परीं चारिक चूरी।

—भवानीविलास

कार्य कारण, क्रम और संख्या मूलक अलंकारों का प्रयोग गुजराती में नहीं मिलता एक दो स्थल पर अगर मिलता है तो अपवाद स्वरूप ही जैसे क्रमशः 'अक्रमातिशयोक्ति' और 'सार' से युक्त प्रेमानंद की निम्न पंक्तियों में—

१. मुखमां मुष्टि तांदुल मूक्या, दारिद्र्य नाख्यां कापी।
कर मरडी ने गांठडी लीधी साथेना दुःख मोड्यां।
जेम चीथरां छोड्यां नाथे, तेम बंधन तोड्यां।
ज्यारे तांदुल मुखमां मूक्या, उठी छापरी आकाश।

—बृ० का० दो० भाग १, पृ० २५३

२. काष्ठ पें पाषाण कठिन छे तेपे कठिन छे लोढुं।
वज्र तुल्य छे काळज मारुं लोकने शुं देखाडुं मोढुं रे।

—श्रीम० भा०, पृ० २७२

संख्या पर आधारित सूर की 'सूर सकल षट दरशन वे हैं बारह खरी पढ़ाऊँ' जैसी पंक्ति का तो एक भी सादृश्य गुजराती काव्य में नहीं मिलता।

पादटिप्पणियाँ

१. ब्रजभाषा—नंददास : नंद०, पृ० १७१; हरिवंश: श्रीहित चौरासी, पद, ७१
   गुजराती—नरसी : न० कृ० का०, पृ० १८५; प्रेमानन्द : श्रीम० भा०, पृ० २६३

२. प्रकृति और काव्य, हिन्दी खंड, पृ० ४२५—रचयिता: डॉ० रघुवंश

३. न० कृ० का०, पृ० २६७, ५८३

४. भालण : द० स्कं०, पृ० १३४; प्रेमानन्द : बृ० का० दो० भाग १, पृ० २४६, २४७;
   नन्ददास : नंद, पृ० २-६, १४५

५. भालण : द० स्कं०, पृ० ७४; सूरदास : सू० सा०, पृ० १५०

६. सू० सा०, पृ० १५३, ३८८, ३९८, ४०१, ५१२, ५३०, ५३१, ६१४, ६३४, ६३५, ६३७ इत्यादि

६

छंद

दोनों भाषाओं के काव्य में छंद-विधान प्रायः काव्य-शैली के अनुरूप ही हुआ है। काव्य की तीन प्रमुख शैलियां मिलती हैं—

१. आख्यान-शैली
२. पद-शैली
३. मुक्तक-शैली

आख्यान-शैली का प्रधान गुण वर्णनात्मकता है और पद-शैली की प्रधान विशेषता, गेयता। गुजराती के आख्यान काव्यों में भी गेयता का पर्याप्त योग रहा है जो रागों के संकेत से स्पष्ट ज्ञात होता है। प्रथम दोनों शैलियों का अनुसरण गुजराती और ब्रजभाषा दोनों के कवियों ने किया है परन्तु अन्तिम मुक्तक-शैली का व्यवहार जिस रूप में ब्रजभाषा के रीतिकारों ने किया है, गुजराती में उपलब्ध नहीं होता। ब्रजभाषा में पद-शैली की प्रधानता है और गुजराती में आख्यान-शैली की।

कवियों ने इन शैलियों का परस्पर सम्मिश्रण भी किया है और स्वतन्त्र अनुसरण भी। यह सम्मिश्रण बहुधा कवि की आन्तरिक प्रेरणा तथा भावानुभूति के समानान्तर हुआ है। मुख्यतया पद-शैली में रचना करने वाले सूर जैसे कवि ने भी कथा क्रम का कुछ न कुछ निर्वाह किया है और आवश्यकता के अनुसार बीच बीच में आख्यान-शैली को भी अपनाया है। इसके विरुद्ध मुख्यतया आख्यान-शैली में रचना करने वाले भीम, भालण, केशवदास, प्रेमानंद, लक्ष्मीदास, माधवदास आदि अनेक गुजराती कवियों नें भावप्रधान स्थलों पर पद-शैली को स्वीकार किया है। ब्रजभाषा में ध्रुवदास तथा माधवदास आदि ने आख्यान-शैली के साथ मुक्तक-शैली का सम्मिश्रण कर दिया है। नरोतमदास ने तो कथा-कथन में मुक्तकों का ही आद्योपान्त व्यवहार किया है। नंददास में अवश्य शैलीगत मिश्रण नहीं मिलता। उन्होंने दोनों शैलियों को पृथक् पृथक् व्यवहृत किया है।

वास्तव में पद भी एक प्रकार का मुक्तक ही है परन्तु गेयता प्रधान होने के कारण उसे मुक्तक से भिन्न स्वतन्त्र रूप में स्वीकार किया जाता है।

आगे इन शैलियों के अन्तर्गत आने वाले छंदों पर पृथक् पृथक् विचार किया गया है और अन्त में रागों की तुलनात्मक स्थिति भी प्रदर्शित करदी गयी है।

१. आख्यान-शैली

गुजराती में आख्यान रचना 'कडवां' बद्ध रूप में हुई है। भीम और भालण से लेकर प्रेमानंद तक प्रायः सभी आख्यानकारों ने इसी रूप का अनुसरण किया है।

कडवां के सामान्य रीति से तीन अंग होते हैं। प्रारंभ में दो-चार पंक्तियों का एक 'मुखबन्ध' आता है। यह सभी कड़वों में होता हो, ऐसी बात नहीं है। परन्तु मुख्य मुख्य आख्यानों के अधिकांश कडवों में मुखबन्ध मिलता है। मुखबन्ध के समाप्त होने पर कडवां की व्यापक 'देशी' आती है। इन देशियों में 'ढाल' नामक रचना अथवा किसी अन्य प्रकार की देशी का समावेश होता है और अंत में व्यापक देशी की समाप्ति पर उपसंहार की तरह 'वलण' अथवा 'उथलो' का प्रयोग किया जाता है। यह वलण या उथलो पूरे होते हुए कडवां का उपसंहार करने तथा आगामी कडवां की वस्तु की सूचना देने के लिए आता है। उथलो या वलण का प्रारंभ कडवां की देशी की पंक्ति के अन्तिम शब्द से होता है और कदाचित् इसलिए इसकी ऐसी संज्ञाएँ हैं। यह अधिकतर एक द्विपदी का होता है। पर कहीं कहीं अधिक द्विपदियाँ भी आती हैं। कडवों में इसका होना अनिवार्य हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। मुख-बन्ध की तरह यह भी कडवाँ का अपरिहार्य अथवा अव्यभिचारी अंग नहीं है।[१]

कडवांबद्ध शैली का प्रयोग करते हुएं भी कवियों ने भिन्न भिन्न शब्दों का व्यवहार किया है।

अपने दशमस्कंध में भालण ने कडवां के स्थान पर 'पद' लिखा है और देशी के स्थान पर 'ढाल'। भीम ने किसी ऐसे पारिभाषिक शब्द का प्रयोग न करके 'पूर्वछाय' से मुखबन्ध का निर्देश किया है और 'चूपै' से देशी या ढाल का। यह छंदों के नाम हैं। भीम ने और भी जिन छंदों का व्यवहार किया है उनका नाम-संकेत कर दिया है। केशवदास ने यद्यपि इस परिपाटी का अनुसरण न करके अपने काव्य 'श्रीकृष्णक्रीडा-काव्य' का निर्माण सर्गबद्ध रूप में किया है तथापि कडवां का भी व्यवहार उनके द्वारा हुआ है। जिन कवियों ने कडवां, ढाल और वलग जैसे शब्दों का व्यवहार किया है उन्होंने भी कहीं कहीं छंदों के नामों का निर्देश कर दिया है। ढाल का व्यवहार नाकर और प्रेमानंद आदि कवियों ने बराबर किया है। ब्रेहदेव ने ढाल के लिए 'डोढ' का भी व्यवहार किया है पर प्रेमानंद ने 'चाल' का ही।[२]

ब्रजभाषा में न तो इन शब्दों का प्रयोग हुआ है और न कडवांबद्ध शैली का ही व्यवहार हुआ है। दोहा-चौपाई की शैली अवश्य मिलती है जिसका कडवांबद्ध शैली से पर्याप्त साम्य भी है और अन्तर भी। साम्य इस प्रकार कि चौपाइयों की एक निश्चित संख्या के बाद दोहे के प्रयोग किये जाने से बीच की चौपाइयों का रूप ऊपर और नीचे के दोहे के साथ कडवों जैसा ही हो जाता है परन्तु अन्तर यह है कि दोहों का प्रयोग साधारण क्रम से होता है, मुखबन्ध और वलण के रूप में नहीं। नंददास की रूपमंजरी, विरहमंजरी तथा दशमस्कंध इसी ढंग की रचनाएँ हैं। ध्रुवदास और माधवदास की अनेक रचनाओं में दोहा-चौपाई के ऐसे ही क्रम का अनुसरण किया गया है। गुजराती आख्यान-काव्यों में भी दोहा-चौपाई अथवा इन्हीं से निर्मित या इसी जाति के छंदों का विशेष व्यवहार हुआ है। कीकुवसही, देवीदास, परमाणंद, फांग, प्रेमानंद तथा केशवदास वैष्णव के काव्य इसके प्रमाण हैं।

छंद की दृष्टि से आख्यानों के दो प्रमुख भेद हो सकते हैं। एक तो वे आख्यान अथवा वर्णनात्मक काव्य जिनमें किसी एक ही छंद का प्रयोग हुआ हो, दूसरे वे काव्य जिनमें मिश्रित छंद-प्रणाली या अनेक छंदों का प्रयोग किया गया हो। प्रथम प्रकार के काव्यों में ब्रजभाषा की कई रचनाएँ आती हैं। नंददास की गोवर्धनलीला तथा सुदामाचरित और सूर की अधिकांश वर्णनात्मक लीलाओं में चौपाई छंद प्रयुक्त हुआ है। नंददास की रुक्मिणीमंगल, रासपंचाध्यायी तथा सिद्धान्तपंचाध्यायी केवल रोला छंद में लिखी गयी हैं। इसी तरह ध्रुवदास की दानविनोदलीला, सुख-मंजरी, आनंदलता, रसरत्नावली जैसी अनेक कृतियों में दोहे का ही व्यवहार हुआ है। गुजराती में नरसी की दाणलीला भी दोहों में ही लिखी गयी है। १५वीं शती की रचना 'मयणछंद' में मात्र छप्पय छंद में मानलीला का प्रसंग वर्णित है। किन्तु गुजराती में अधिक संख्या मिश्रित छंद-प्रणाली के काव्यों की है। रासक, आन्दोल, अढैयु और फागु नामक छंदों से युक्त फागु काव्य की शैली का एक स्वतन्त्र स्थान है। फागु में गेया-त्मकता और वर्णनात्मकता का विचित्र योग हुआ है। कुछ विशिष्ट एवं प्रिय छंदों को बदल बदल कर बार बार प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति गुजराती कवियों में बहुत मिलती है। ब्रजभाषा में ध्रुवदास तथा माधवदास ने बहुधा मिश्रित छंद-प्रणाली का अनुसरण किया है। नरोत्तम के सुदामाचरित में भी अनेक छंद प्रयुक्त हुए हैं।

आख्यान-शैली में प्रयुक्त प्रमुख छंद और उनका स्वरूप

दोहा—दोहा अथवा 'दूहा' का दोनों भाषाओं में प्रचुर प्रयोग मिलता है। भीम, केशवदास तथा संत ने गुजराती में 'पूर्वछायु' अथवा 'पूर्वछायो' नाम से जिस छंद का व्यवहार किया है वह भी दोहा ही है। वस्तुतः पूर्वछाया शब्द का अर्थ वह

छंद है जो पहले की पंक्ति की छाया लेकर लिखा जाय। दोहा ही क्या, कोई भी छंद पूर्वछाया के रूप में व्यवहृत किया जा सकता है। प्राचीन गुजराती साहित्य में इसके प्रमाण भी हैं परन्तु उन जातिबद्ध प्रबन्धों में जिनमें चौपाई व्यापक रूप में व्यवहृत हुई है, 'पूर्वछायो' शब्द दोहे के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1] उक्त तीनों कवियों के काव्य से एक एक 'पूर्वछायो' नीचे उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जाता है—

भीम—उदरमाहि बाळक वसइ, पीडा करइ अगाधि।
माता मनि आणइ नही, तेह तणा अपराध ।।

—हरि० षो०, पृ० १५०

केशवदास—जलविना जलचर जम दहे, विण घन चातुक मेह।
त्यम हरिणाक्षी हरि विना, दाझे विरहे देह ।। २८ ।।

—श्रीकृ० ली० का०, पृ० १४९

संत—शरद संमंधी सद कथा, शुकजी कहे सुणि भूप।
सांभलता थाय संपदा, लीला ईश अरूप।

—गु० व० सो०, ह० प्र० ग्रथांक ७९२

स्पष्ट है कि पिंगल के नियमों के अनुसार यह दोहे ही हैं। भालण, नरसी और प्रेमानंद आदि कुछ कवियों ने गेयता के कारण 'रे' अथवा 'जी' आदि का दोहे के चरणों के साथ संयोग कर दिया है। प्रेमानंद के मास में तो यह विशेषता बराबर मिलती है। छंद की दृष्टि से इनके द्वारा भी दोहे का ही व्यवहार हुआ है—

भालण—क. करमाहे लइ कामडी रे, कुंवर पूंठे धाय।
रीसे लोचन रातडां रे, जशोदा जी श्वास भराय।

—द० स्कं०, पृ० ३९

ख. सर्वस्व अेने सोंपिये, ते वश क्यम न थाय जी,
आत्मसमर्पण ऊफरो, बीजो नथी उपाय जी।

—वही, पृ० १३४

नरसी—श्री गुरुने प्रणाम करीने, वर्णवुं श्री जदुराय।
श्री कृष्णनी लीला सांभलता, पातिक दूर पलाय।

—न० कृ० का०, पृ० ४२८

प्रेमानंद—वली अे दीपक गोकुल गामनो रे, गोवालानो राय।
वदन इंदु निरखतां रे, तृप्त नेत्र न थाय।

—श्रीम० भा०, पृ० २४६

वस्तुतः यह दोहे की देशी है अर्थात् दोहे की गति के आधार पर निर्मित गीत। ब्रजभाषा में दोहे का व्यवहार गुजराती से भी अधिक व्यापक रूप में मिलता है। दोहे के अन्त में ९ या १० मात्राओं की एक लघु पंक्ति जोड़ कर एक विशेष प्रकार की गेयात्मकता उत्पन्न करने का प्रमाण दिया गया है जो चरणों के बीच में गेयात्मक शब्द रखने से भिन्न कोटि की वस्तु है। सूर, नंददास और हरिराय द्वारा दोहे के इस विशिष्ट प्रयोग के निम्न उदाहरण दर्शनीय हैं—

सूर—एहि मग गोरस लै सबै, दिन प्रति आवहि जाहि।
हमहिं छाप देखरावहू, दान चहत केहि पांहि।
कहत नंदलाडिले।
—सू० सा०, पृ० ३२०

नंददास—प्रेमधुजा, रसरूपिनी, उपजावति सुखपुंज।
सुंदर श्याम विलासिनी, नववृंदावन कुंज।
सुनौ ब्रजनागरी,।
—नंद, पृ० १२३

हरिरायजी—गोवर्धन के शिखर ते, मोहन दीनी टेर।
अति तरंग सौं कहत हैं, सो ग्वालिनि राखी घेर।
नागरि दान दे।

हरिरायजी के दोहे में 'सो' का गेयात्मक समावेश ठीक भालण और प्रेमानंद की तरह हुआ परन्तु यह अपवाद स्वरूप है। नंददास ने दोहे को रोले के साथ संयुक्त करके तब उसके अंत में १० मात्राओं के गेय लघु अंश का योग किया है जिससे उनकी छंद-योजना में अधिक विशेषता आ गयी है। गुजराती में भालण ने 'ध्रुवा' अथवा 'टेक' के रूप में दोहे को स्थान देकर उसके साथ उक्त ब्रजभाषा कवियों की तरह गेय लघुअंश संयुक्त कर दिया है—

देवकी कहे सांभलो, पूरा थया दशमास।
उदर मांहे त्यां गर्भ थयों छे, ते करशे तेज प्रकाश।
पीउजी अे शुं कहिये।
—द.० स्कं०, पृ० १०

दोहा छंद के इस विशिष्ट प्रयोग का साम्य दर्शनीय है। दोहों के साथ ध्रुवा का संयोग प्रेमानंद ने भी किया है परन्तु ऐसे उदाहरण वहीं मिलते हैं जहाँ पद-शैली का व्यवहार हुआ है। भालण में भी यही बात है पर ब्रजभाषा में इसे वर्णनात्मक प्रसंगों में एक विशेष छंद के रूप में व्यवहृत किया गया है।

दोहे के लिए 'साखी' नाम का व्यवहार दोनों भाषाओं के कवियों ने किया है, जैसे गुजराती में नरसी और प्रेमानंद ने तथा ब्रजभाषा में हरिराम व्यास और पीतांबरदेव ने।[१] नरसी ने साखी के अन्तर्गत दोहे की देशी को स्वीकार किया है पर कहीं कहीं दोहे से भिन्न छंद भी प्रयुक्त मिलता है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित छंद को दोहा कहना कठिन है—

गर्भ गाल्यो उमियाजीओ, नारी पामी सुख घणुं रे।
कैसे जाण्यु गर्भ गळीयो, ते पराक्रम न जाण्यु प्रभु तणुं रे।

इसमें मात्रा, यति और गति का ही अंतर नहीं है वरन् दूसरे और चौथे चरण के अंत में एक गुरु और एक लघु का भी विधान नहीं है। ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं। साधारणतया दोहा और साखी पर्याय रूप में ही ग्रहण किये जाते हैं। संतकाव्य की परम्परा इसकी साक्षी है और साखी नामक कोई स्वतंत्र छंद होता भी नहीं। गुजराती के एक कवि वासणदास ने एक विचित्र नाम 'चुआक्षरा' का व्यवहार दोहे के लिए किया है। नीचे एक चुआक्षरा उद्धृत किया जाता है।

वृंदावनि रलीआमणूं अनि रूडो माधव मास।
रुडा मोर कला धरे स्वामी पूरो आस ॥३॥

गेयतापरक 'अनि' को निकाल देने पर यह स्पष्ट ही दोहा सिद्ध होता है। यदि 'चुआक्षरा' को किसी शब्द का विकृत रूप मानें तो भी दोहे से उसके अर्थ की संगति सिद्ध नहीं होती—

चौपाई, चौपई—दोनों भाषाओं के कवियों ने वर्णनात्मक प्रसंगों में मुख्यतया प्रयुक्त १६ मात्रा की चौपाई और १५ मात्रा की चौपई के बीच कोई अन्तर प्रदर्शित नहीं किया है। गुजराती में १५ मात्रा की 'चौपई' का अधिक व्यवहार हुआ है जिस के अन्त में एक गुरु, एक लघु का प्रायः निर्वाह हुआ है। कहीं अन्त में लघु के बाद गुरु भी मिलता है जिससे चौपई छंद चौबोला छंद में परिणत हो जाता है। ब्रजभाषा में १६ मात्राओं की चौपाई अधिक व्यवहृत हुई है पर कवियों ने १६ मात्रा के अन्य छंदों पद्धरि, डिल्ला, उपचित्रा, पज्झटिका, पादाकुलक आदि से उसका कोई भेद नहीं किया है।[१] प्रायः चौपाई के अन्तर्गत १६ मात्रा के छंदों के सभी रूपों का व्यवहार हुआ है। यही नहीं, १५ मात्रा की चौपई और चौबोला को भी चौपाई से पृथक नहीं रक्खा गया है। गुजराती कवियों की भी स्थिति बहुत कुछ ऐसी ही है। उन्होंने भी चौपाई और चौपई के बीच कोई विवेक नहीं दिखाया। 'चौपाई', 'चौपई', 'चोपै' अथवा 'चूपै' को समानार्थी ही समझा है। १६ मात्रा के छंद 'अरिल्ल' और

'पाधडी' का अवश्य पृथक् रूप से विधान हुआ है और इनके लक्षणों का भी निर्वाह किया गया यद्यपि अनेक स्थलों पर उनमें भी अशुद्धता मिलती है। अरिल्ल २१ मात्रा के प्लवंगम छंद का पर्याय भी है।[१] ब्रजभाषा में यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जैसा कि हरिवंश की स्फुटवाणी, ध्रुवदास की मानलीला और मनिसिंगार से विदित होता है। गुजराती कवि केशवदास ने अरिल्ल का १६ मात्रा का रूप ग्रहण किया है जिसको ब्रजभाषा के कवियों ने चौपाई के अन्दर समाविष्ट कर लिया है। पिंगलशास्त्र के अनुसार अरिल्ल के अन्त में दो लघु भी रह सकते हैं और यगण भी आ सकता है। परन्तु गुजराती में यगणान्त रूप नहीं मिलता। केशवदास ने इसका नाम 'अडयल' दिया है; उनके द्वारा प्रयुक्त 'यु यंड' और 'मुंडेल' नामक छंद भी अडयल से भिन्न प्रतीत नहीं होते।[२] इन छंदों के अन्त में 'ह' अक्षर बराबर जोड़ दिया गया है—

आगे मत्स्यादिक अवतारह, तूह ज त्र्ण्य भुवन ने तारह।
हवडां भूतल भार उतारह, सुर नर पन्नग करवा सारह।

—श्री कृ० ली० का०, पृ० १५

भीम ने जगणांत छंद को 'अडयल' कहा है जो वस्तुतः पद्धरि का लक्षण है—

सृष्टि विनाशइ हूं अज अेक, सदा निरंतर हूं अज अेक।

—हरि० षो०, पृ० ४४

अरिल्ल की तरह पद्धरि भी पादाकुलक का एक भेद है जिसके अंत में जगण होना आवश्यक है। भीम ने इसका भी व्यवहार किया है।[३] कहीं कहीं गुरु को लघु करके पढ़ने की आवश्यकता होती है। यह गुजराती और ब्रज दोनोंमें समान रूप से किया जाता है। गुजराती में कहीं लघु को गुरु भी मानना पड़ता है—

हे कृष्ण! कृष्ण! लीला-विलास, शरणागत-वत्सल श्रीय निवास ॥१६॥
त्रय-ताप-निवारण स्वयं प्रकाश, वेगि करि स्वामी शोक-नाश ॥१७॥

—हरि० षो०, पृ० १६८

बिना व्यवधान के १६ और १५ मात्राओंके विविध छंदों का परस्पर जो सम्मिश्रण दोनों भाषाओं में मिलता है उसके भी उदाहरण आवश्यक हैं। भीम और केशवदास ने तो चूपै, चोपाई का व्यवहार १५ मात्रा के छंद के लिए ही किया है अतएव उनके काव्य से उदाहरण नहीं दिये गये हैं—

भालण—अेम करतां गोकुल मांहे आव्या, माधवजीना मनमांहे भाव्या—**चौपाई।**
आलिंगन दीधुं अति प्रेम, कहो काकाजी कुशली क्षेम —**चौपाई।**

—द० स्कं०, पृ० १५५

नरसी—नंद नाम सुणी चोदिश जोती, नहि नहि कही वली संशय खोती—चौपाई ।
हरि कहे आवे नक्की मम तात भूली गोपी मानी खरी बात ।—चौपई ।
स्त्रीअे नंद मानी लज्जा धरी, नरसहींनो स्वामि नाठो मुठियो करि—चौबोला
—न० कु० का०, पृ० ६३-६४

प्रेमानंद—छे छेल्ले आश्रमे अे संतान, अे मारे शत पुत्र समान । —चौबोला ।
तुं विना दया कोण आणेजी, मामो तुंने कहेशे भाणेजी । —चौपाई ।
तमने भ्रांति बालकनी पडे, केम घात हशे आ कन्या वडे । —चौबोला ।
—श्रीम० भा०, पृ० २४२

सूर—व्रतपूरण कियो नंद कुमार, युवतिन के मेटे जंजार । —चौबोला ।
जप तप करि अब तन जिनि गारो, तुम घरनी में भर्ता तुम्हारो ।—चौपाई ।
अंतर शोच दूरि करि डारहु, मेरो कह्यो सत्य उर धारहु ।—अरिल्ल ।
—सू० सा० पृ० २५३

नंददास—गोपरहे सब जोहे, मोहे,जानहि नहिन कछू हम को हैं । —चौपाई ।
गोपी चकित चाहि कै ताहि, कहन लगीं कि रमा यह आहि । —चौपई ।
अपने पिय कौं देखति डोलति, यातें नहि काहू सौं बोलति । —अरिल्ल
लरिकन लहति लहनि छवि छई, नंद के सुन्दर मंदिर गई ।—चौबोला ।
—नंद०, पृ० २२१-२२२

ध्रुवदास—श्री हरिवंश हिये जो आनें, ताको वह अपनो करि जानें ॥९७॥ चौपाई ।
यह रस गायो श्री हरिवंश , मुक्ता कौन चुगै बिनु हंस ॥९८॥ चौपई ।
रसद रहस्य मंजरी भई, छिनछिन जोति होति है नई । ॥९९॥ चौबोला ।
—रहस्यमंजरी ।

दोहे की तरह चौपाई का भी अनेक रूप में व्यवहार हुआ है । प्रेमानंद ने अपने भागवत दशमस्कंध में कड़वे के मुखबन्ध के रूप में इसको प्रयुक्त किया है । ढाल में तो व्यापक रूप से चौपाई का प्रयोग हुआ ही है । पद-रचना में भी इसका योग मिलता है ।

गाथा और वस्तुबन्ध—इन दोनों छंदों का प्रयोग एक दो स्थल पर भीम और केशवदास के काव्यों में मिलता है ।[९] केशवदास ने 'गाहा' नाम दिया है जो अपभ्रंश का रूप है । व्रजभाषा में वर्णनात्मक काव्य में तो किसी कवि ने इसका व्यवहार नहीं किया, परन्तु हितहरिवंश के शिष्य सेवकजी के स्फुट काव्य में यह 'गाथा' और 'गाहा' दोनों नामों से अन्य छंदों से संयुक्त एवं मिश्रित रूप में उपलब्ध होता है—[१०]

भीम—तारा कवणी गणीजइ, कवणेण गणीइ भूमि रज कणिआ ।
कवणि गणीइ जल लहरी, हरिगुण जाइ कवण गणीआ ।

केशवदास—मरकत मुक्ता मळे, सोलह बनीह सोहयं ।
कणयं तिम शाम शरीरें, अजवि अवलेपन भणयं ।

सेवक—वर भूमि रमानि सुखद द्रुम वल्ली प्रफुलित फलित विविध बरनं ।
नित सरद बसंत मत्त मधुकर कुल बहु पतत्रि नादहि करनं ।

गाथा अथवा आर्या के नियमों का भीम ने तो लगभग ठीक निर्वाह किया है परन्तु अन्य उदाहरण नाम मात्र के लिए गाथा कहे जा सकते हैं। गुजराती और ब्रजभाषा में प्रयुक्त गाथा छंद के उक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि इसका कोई निश्चित रूप नहीं रहा है। कवियों ने इसे तुकान्त से युक्त कर दिया है। अपभ्रंश में भी गाथा का कोई सुनिश्चित रूप नहीं रहा। यह एक सामान्य नाम था जो बाद में तीस, बत्तीस मात्राओं की चरणान्तप्रास-हीन द्विपदी के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होने लगा।[११] केशवदास ने श्री कृष्णक्रीडाकाव्य में गाथा के एक विकसित रूप 'दंडेलक आर्या' का प्रयोग किया है। साधारण आर्या का प्रयोग भी उन्होंने किया है जो लक्षण में उनकी गाथा से भिन्न नहीं।[१२] वस्तुबंध जो छप्पय की तरह मिश्र छंद प्रतीत होता है, ब्रजभाषा में प्रयुक्त नहीं हुआ। इसकी कुछ पंक्तियाँ दोहे के समान होती हैं, विशेष कर पांचवीं और छठी।

सोरठा—ब्रजभाषा में सोरठे में काव्य-रचना माधवदास, ध्रुवदास सेवक आदि अनेक कवियों ने की है। रीति कवियों ने भी इसका व्यवहार किया है पर गुजराती कृष्ण-काव्य में भीम और केशवदास ने ही इसे व्यवहृत किया है।[१३] सोरठा के पहले गुजराती में दूहा शब्द का बराबर प्रयोग हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि इसे दोहे का ही एक भेद समझा गया है। दोनों भाषाओं में इसका स्वरूप एक जैसा ही है।

छप्पय—गुजराती में मयण के 'मयणछंद' में इसका आद्योपांत व्यवहार हुआ है। भीम और केशवदास ने भी इसे व्यवहृत किया है।[१४] भीम ने इसके लिए 'कवित्त' शब्द प्रधान रूप से दिया है और छप्पय गौण रूप से। केशवदास ने 'छेपाया' तथा 'कलश' नाम से जो छंद लिखे हैं वह छप्पय ही हैं।[१५] ब्रजभाषा में वर्णनात्मक काव्य में माधवदास ने इसका व्यवहार किया है और स्फुट काव्य मे हरिवंश, तत्ववेत्ता, रसिकदेव, सेवक और पीतांबर ने। मयण की तरह तत्ववेत्ता का यह सर्वाधिक प्रिय छंद है। सोरठे की तरह ही इसके स्वरूप में भी कोई अन्तर नहीं मिलता।

रोला—छप्पय से इतर कहीं अन्यत्र गुजराती कृष्ण-काव्य में रोला छंद का प्रयोग हुआ हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। नरर्षि और चतुर्भुज के द्वारा प्रयुक्त फागु छंद का पहला और तीसरा चरण रोला का होता है और दूसरा तथा चौथा दोहे का। यदि अन्तिम अक्षर को गुरु रूप में पढ़ा जाय तो वह रोला ही प्रतीत होता है।[१६]

ब्रजभाषा में नंददास ने अपने आख्यान काव्य में इसका सर्वाधिक प्रयोग किया है। अन्य कवियों में सूर, वल्लभरसिक और गदाधर इसके प्रयोक्ता रूप में उल्लेखनीय हैं।

चन्द्रावला—इस मिश्र छंद के प्रारंभ में चरणाकुल के साथ दोहे के उत्तर पद के संयोग से बनी दो पंक्तियां रहती हैं और बाद में कुंडली के साथ चरणाकुल के चार चरण।[७०] इसका व्यवहार मात्र गुजराती में मिलता है और वह भी कृष्ण-काव्य में केवल फूढ कवि के द्वारा।

कुंडलिया—ब्रजभाषा में ध्रुवदास ने रहसिलता, प्रेमावली और निर्तविलास आदि अनेक वर्णनात्मक रचनाओं में इस का व्यवहार किया है तथा हरिवंश और सेवक ने स्फुट काव्य में गुजराती कृष्ण-काव्य में यह व्यवहृत नहीं हुआ है।

गीतिका—इस छंद का व्यवहार ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य में अपवाद स्वरूप ही हुआ है जैसे सूर की निम्न वर्णनात्मक पंक्तियों में—

मकर कुंडल जटित हीरा लाल शोभा अति बनी।
पन्ना पिरोजा लगे बिच-बिच चहूँ दिस लटकत मनी।

—सू० सा०, पृ० ७३३

यहाँ हरिगीतिका और गीतिका की पंक्तियों का मिश्रण हो गया है क्योंकि पहली पंक्ति २८ मात्राओं की है और दूसरी २६ की। गुजराती में भालण, नरसी प्रेमानंद, शोधजी आदि कई कवियों ने इसकी ढाल की रचना में स्थान दिया है। उनके प्रयोग को गेयात्मकता की प्रधानता के कारण गीतिका की देशी कहा जा सकता है—

भालण—वात वीतक विस्तारी छे सुणिये श्रवणे नाथ हो।
मनुष्य माया अनुसरी ने झाटक्या बे हाथ हो।
विलाप त्यां कीधा घणा ने नीर त्यां नयणे झरे।
दुःख पामे अति घणुं ने शोक कीधो त्यां सरे।

—द० स्कं०, पृ० ३१२

नरसी—काहाना सुणीओ वात मोरी, तोरां नयण छे निद्राभर्यां।
प्रगट अंगो अंग मांहे, चिन्ह तो दीसे खरां।

—न० कृ० का०, पृ० १२७

प्रेमानंद—धस्या श्रीकृष्ण हेत साथे, संकर्षण पूठे गया।
अक्रूर प्रीते पाय लाग्या, नाथजी अे कर ग्रह्या।

परस्परे स्तवन कीधां, भत्रीजा बाम दक्षिण रह्या।
वलगी हाथे आदर साथे मंदिर मां तेडी गया।

—श्रीम० भा०, पृ० ३०२

शेधजी—एहवे समे एक वर्ध ब्राह्मण जतो मारग मांहि जो।

—रुक्मिणीहरण

मात्राओं की न्यूनाधिकता तथा गुरु लघु के उच्चारण की अनिश्चयता प्रायः सर्वत्र मिलती है। कहीं कहीं यह भी कहना कठिन है कि यह गीतिका छंद की ही रचना है।

सवैया (मात्रिक)—यह ३१ मात्रा के वीर छंद का ही दूसरा नाम है।[१८] गुजराती पिंगलकार ३२ मात्रा के सवैया का भी परिचय देते हैं।[१९] पहले प्रकार के सवैये का प्रयोग गुजराती में केशवदास ने और दूसरे प्रकार के सवैये का प्रयोग ब्रजभाषा में सेवक ने किया है।[२०] पर केशवदास के 'सवाइयो' छंद की भाषा ब्रज ही है। कुछ अंशों में नयर्षि के फागु में प्रयुक्त रासक छंद की गति सवैया जैसी कही जा सकती है। गेयात्मक अन्तिम 'रे' के स्थान में जगणात्मक शब्द रख देने पर इसका रूप स्पष्टतया वीर छंद जैसा हो जाता है। 'रे' को निकाल देने पर यही सरसी छंद में परिणत हो जाता है जिसका परिचय आगे दिया गया है—

गोपिय लोपिय ढाण निरोपिय वनि वनि भमइ मुकुंद रे।
अह्म बीचारी किहि संचारी वोलित कुल नभचंद रे॥५१॥
वाट घाट सब वाधइ सहियर तब कुण रंग रे।
अह्म मूकी तुं किमि हिव चालई पालइ गोपिय वृंद रे॥५२॥

—फागु

चांद्रायण—११ जगणान्त और १० रगणान्त अर्थात् कुल २१ मात्राओं के इस छंद का व्यवहार ब्रजभाषा में सूरसागर के अन्तर्गत सूर ने तथा रहसिलता के अन्तर्गत ध्रुवदास ने किया है। सूर ने इसको स्वतन्त्र रूप में व्यवहृत न करके 'रोला दोहा' से संयुक्त छंद के पूर्व स्थान दिया है।[२१] गुजराती में 'चंद्रायणी' अथवा 'चंद्रायणा' चंद्रावला के पर्याय रूप में माना गया है।[२२] परन्तु भालण ने दशमस्कंध में २१ मात्रा के चांद्रायण जैसे एक छंद का प्रचुर प्रयोग किया है। उसे चांद्रायण की देशी कहा जा सकता है। उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

कंसने कही संकेत, नारद वेगे गया।
गाता गुण गोविंद, अंतरधान थया।

राय तणे मन क्रोध, आवी प्रगट थयो।
भालण प्रभुनो भ्रात, कंसे तेडावीयो।

—द० स्कं०, पृ० ४

प्रेमानंद ने अपनी 'व्रजबेलि' में जो छंद प्रयुक्त किया है वह भी २१ मात्राओं का है परन्तु गति, यति तथा अन्य लक्षणों को देखते हुए वह प्लवंगम अथवा अरिल्ल सिद्ध होता है जिनका उल्लेख चौपाई के प्रसंग में किया जा चुका है।

सरसी और सार—चौपाई की १६ मात्राओं के बाद दोहे के सम चरण की ११ मात्राओं के योग से २७ मात्रा के सरसी छंद का निर्माण होता है। सरसी के अन्त में रहने वाले एक गुरु और एक लघु वर्ण के स्थान पर यदि दोनों वर्ण गुरु कर दिये जायें तो वही २८ मात्रा का सार छंद हो जाता है। सरसी और रासक का साम्य सवैया के प्रसंग में निर्दिष्ट किया जा चुका है। गुजराती के वर्णनात्मक काव्य में इनका व्यवहार कम हुआ है पर व्रजभाषा में सूरसारावली जैसी सम्पूर्ण रचना कुछ पंक्तियों को छोड़ कर आद्योपांत सार और सरसी छंद में ही लिखी गयी है। भीम द्वारा प्रयुक्त 'चालतीचूपै' सरसी छंद ही है—

उद्धवनूं हितकारण जाणी, बोलइ श्री भगवान।
कथा अनादि विवेक समंधी, परमारथ विज्ञान।

—हरि० षो०, पृ० १९२

अढैयु, आदि-लघु मात्रिक छंद—वर्णनात्मक काव्यों में कभी मुखबन्ध के रूप में, कभी स्वतन्त्र रूप में अनेक लघुमात्रिक छंदों का प्रयोग गुजराती कवियों ने किया है जिनमें से 'अढैयु' सर्वप्रमुख है। यह फागु शैली का छंद है और नयर्षि के फागु में उपलब्ध होता है। पहली दो पंक्तियों में दोहे के सम पदों की तरह ११, ११ मात्राएँ होती हैं और शेष दो चरणों में अन्तिम गेयात्मक 'अे' के संयोग के कारण १२, १२ मात्राएँ मिलती हैं[२३]—

गजबिड पहिरइ बाल, सिरि वरि मोतिय जाल,
करजित कमलू अे, अति नख विमलू अे॥ ३७॥

इसी प्रकार का ११ मात्राओं के अंशों से निर्मित 'आन्दोला' छंद भी फागु काव्य में प्रयुक्त हुआ है। केशवदास ने 'अढैया' नामक एक छंद प्रयुक्त किया है जो गेयात्मक है और चौपाई के साथ 'अढैयु' की एक पंक्ति संयुक्त करके बना है, कदाचित् इसी कारण उसे 'अढैया' की उपाधि मिली है।[२४] केशवदास ने १२ मात्रा के एक अन्य छंद का 'कारिका' शीर्षक से व्यवहार किया है।[२५] भालण के दशमस्कंध में, मुखबन्ध के

रूप में, अढैयु जैसे छंद का बराबर प्रयोग हुआ है पर उसमें गेयात्मक 'अे' नहीं मिलता। कहीं कहीं चारों चरणों में ११, ११ मात्राएँ बनी रहती हैं—

मंन विमासे वात, भगिनीनो करूँ घात।
गर्भवती छे नारी, नानी बेन अे मारी।

—द० स्कं०, पृ० ८

आव्या ब्रह्मा इन्द्र, तेत्रीस कोटि ने रुद्र।
नारद रुखीवर जेह, अवतार आठमो अेह।

—वही, पृ० ९

ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य में ऐसे लघु छंदों का व्यवहार नहीं हुआ है।

झूलणा—गुजराती कृष्णकाव्य में यह नरसी मेहता का सर्वप्रिय छंद रहा है और उन्हीं के काव्य में विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है। यह छंद गुजराती के प्राचीन रास काव्यों में भी मिलता है और नरसी तक इसका स्वरूप पूर्ण रूप से सिद्ध हो चुका था। इसकी गति निम्नलिखित प्रमाण से चलती है—[२६]

दालदा दालदा दालदा दालदा
दालदा दालदा दालदा गा।

नरसी के 'सुरतसंग्राम' और 'सुदामाचरित' में आद्योपान्त इसी का व्यवहार हुआ है। ब्रजभाषा में सूर ने कतिपय वर्णनात्मक प्रसंगों में इसे प्रयुक्त किया है—

नरसी—जदुपती नाथ ते, मित्र छे तमतणा, जाओ वेगे करी कृष्ण पासे।
प्रीत पूरवतणी, हेत धरशे हरि, मनना मनोरथ सफळ थाशे।

—न० कृ० का०, पृ० १५७

सूर—झिरकि कै नारि दै गारि गिरिधारि तब पूछ पर लात दै अहि जगायो।
उठ्यो अकुलाइ डरपाइ खगराइ को देखि बालकं गरब अति बढ़ायो।

—सू० सा०, पृ० २२०

अंत में यगण के साथ १०, १०, १०, ७ के क्रम से यति और मात्राओं का विधान हिंदी के पिंगलकारों ने झूलना के लिए आवश्यक माना है।[२७] वैसे २०, १७ मात्राओं के यतिक्रम वाले ठीक ऐसे ही छंद की संज्ञा हंसाल दी गयी है।[२८] सेवक ने ठीक उसी जाति के 'करखा' नामक छंद का प्रयोग अपने काव्य में किया है।[२९]

त्रोटक अथवा तोटक—इस छंद का प्रयोग ब्रजभाषा और गुजराती में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न रूप में हुआ। हिंदी के पिंगलकारों के मत से यह वर्णिक वृत्त है जिसमें

चार सगण होते हैं।[१०] व्रजभाषा कृष्णकाव्य में कदाचित् सेवक ने ही इसे प्रयुक्त किया है—

पहिले हरिवंश सुनाम कहौ, हरिवंश सुधर्मिनि संग लहौ।
हरिवंश जु नाम सदा तिनके, सुख संपति दंपति जू जिनके।
—श्रीहितचौरासी सेवकवाणी, पृ० ६७

गुजराती छंद-शास्त्र के एक विद्वान् के अनुसार त्रोटक किसी छंद-विशेष का नाम न होकर बीच बीच में आने वाले छंदों का विशेषण मात्र है।[११] त्रोटक शीर्षक से अष्ट-कल और सप्तकल रूप वाली जो पंक्तियाँ भीम और केशवदास की रचनाओं में मिलती हैं उन्हें देखते हुए यही कहना यथार्थ प्रतीत होता है कि गुजराती कृष्णकाव्य में त्रोटक नाम से किसी छंद-विशेष का अभिप्राय ग्रहण नहीं किया गया। निम्न-लिखित उदाहरण इसके प्रमाण हैं—

१—भाजइ नहीं ते योध, बलदेव भरिया क्रोध।
प्रहार मूकइ ठीक, तेणइ हुंइ कूटइ हीक।
—हरि० षो०, पृ० १६४

२—क्षण हाथ्य वळगा, वळी अलगा, बहु वेले तिहां बाल।
वेणु वाजे गीत ज गाजे, मधुर मादल ताल।
—श्रीकृ० ली० का०, पृ० ८३

३—रथ नंद दोआरे जाणी रे, आवे सहु नार्‌य उजाणी रे।
अक्रूर क्रूर वली आव्यो रे, अथवा को अच्युत लाव्यो रे।
—वही, पृ० १४८

उक्त तीनों उदाहरणों में से छंदशास्त्र की दृष्टि से पहला तोमर का, दूसरा २६ मात्रा के झूलना का और तीसरा पदपादाकुलक का उदाहरण है।[१२] साथ ही जिस २६ मात्रा के झूलना का केशवदास ने त्रोटक शीर्षक से अधिक व्यवहार किया है वह हरिलीलाषोडशकला मे प्रबंध शीर्षक से व्यवहृत हुआ है। इस प्रकार त्रोटक प्रबंध का पर्यायवाची सिद्ध होता है।[१३]

संस्कृत वृत्त: शार्दूलविक्रीडित, मालिनी, इन्द्रवज्रा और भुजंगप्रयात—गुजराती में व्यवहृत इन चारों वृत्तों का व्रजभाषा कृष्ण-काव्य में कहीं भी व्यवहार नहीं हुआ है। गुजराती में संस्कृत वृत्तों में काव्य लिखने की एक परम्परा रही है जो १४वीं शती तक जाती है।[१४] ह्रस्व-दीर्घ का निर्धारण उच्चारण और गेयात्मकता के आधार पर कर लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता कवियों ने ली है और चरणान्त में प्रास का

विधान अनिवार्य रूप से बराबर किया है जो महत्त्वपूर्ण है। इस सबके आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि गुजराती कवियों ने इनका देशीकरण कर डाला है। केशवदास ने श्रीकृष्णक्रीडाकाव्य में रासवर्णन ही शार्दूलविक्रीडित में किया है, पर वासणदास ने तो अपने कृष्णवृंदावनरास के समस्त अंशों को इसी वृत्त में रच डाला। नीचे दोनों के काव्य से एक एक उदाहरण दिया गया है—

१—वाहे दुंदभी देव सेव करता, पुष्पो ज वर्षी रह्यां।
गाये किंनर सर्व कृष्ण गुणने तेणे न जाये कह्या।
वाजे नूपुर किंकिणी वलययुक् गौरांगी गोपी तणी।
सोहे मध्य मुरारी मरकत यशो हेमांग मांहे मणी।
—श्री कृ० ली० का०, पृ० १०१

२—साथि सोल सहस्र नारि शांमा कांमा ते कांमाकुली।
कीधां अंगति छांटणाति कृष्णे वाजित्र वाजे वली।
खेला खेल अपार अत्य गमता राधा ते साथे सही।
राखे वासण स्वामी शर्ण ताहारे एहवी ते वाणी कही।
—राधारंग

कदाचित् दोनों कवियों ने शार्दूलविक्रीडित को रासवर्णन के विशेष उपयुक्त समझा है अथवा इस वृत्त-विशेष में रास-वर्णन की कोई परिपाटी भी हो सकती है।

मालिनी और इन्द्रवज्रा का प्रयोग गुजराती कृष्ण-काव्य में केवल रत्नेश्वर द्वारा हुआ है। बारमास नामक गेयता-प्रधान काव्य में, प्रत्येक मास के वर्णन के प्रारंभ में, मालिनी छंद को स्थान दिया गया है। न, न, म, य, य, इन पाँच गणों से बनने वाली प्रत्येक पंक्ति को कवि ने आठ और सात वर्णों के दो भागों में विभाजित करके दोनों को तुक से युक्त कर दिया है और इस प्रकार संस्कृत के वृत्त को अधिक मनोरम बना दिया है। यथा—

सुरत मुख विशाला, सांभलो व्रीजबाला।
सुकति कुसुममाला, शोक निश्वास ज्वाला।
निरखी नयन मीचे, आंसुओ अंग सींचे।
दुःख लखि सखी आवे, बांय साही बोलावे।
—बृ० को० दो०, भाग ६, पृ० ८०३

इन्द्रवज्रा का प्रयोग रत्नेश्वर ने श्रीधर के 'वागीशा यस्य वदने' के अनुवाद करने में किया है—

विराजते यस्य मुखे सरस्वती।
लक्ष्मी सदा वक्षविषे विराजती।
जेने हृदे ज्ञान प्रकाश धाम।
नृसिंह ने आद्य करूं प्रणाम।
—रत्नेश्वर मेघजी कृत श्रीमद्भागवत, दशमस्कंध।

भुजंगप्रयात में भीम, केशवदास और प्रेमानंद ने काव्य-रचना की है। प्रेमानंद ने इसे वृत्त के रूप में न अपनाकर गणात्मक नियमों की अवहेलना करते हुए देशी के रूप में व्यवहृत किया है जिसका नाम उन्होंने 'भुजंगप्रयात नी देशी' दिया है। किसी छंद और उसकी चाल की देशी में पर्याप्त अंतर होता है।[१५] अन्य कवियों में भी नियमों का पूर्ण परिपालन नहीं मिलता। तुकान्त का इसमें भी विधान किया गया है। संस्कृत वृत्तों में भुजंगप्रयात ही सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है, जैसा उक्त कवियों के काव्य से प्रमाणित होता है। निम्नलिखित पंक्तियाँ उदाहरण रूप में दर्शनीय हैं—

१—तपसा तणूं मूल अे देह जाणु, तेणइं कांइ अहंकार प्रमाद आणु।
तप आचरतां मन शुद्ध थाइ, जिणइ माया मोह अगन्यांन जाइ ॥१३॥
—हरि० षो०, पृ० ६४

२—इका आवती गोपिका पातली अे, उधा आवती आउली कल्प लई।
इशे दंतधावा करी दोष टाले, कपूरे करी कोगला म्हों पखाले।
—श्रीकृ० ली० का०, पृ० १०५

३—गुरुचर्ण पंकजनुं ध्यान राखुं, काळी नाग श्रीकृष्णनुं युद्ध भाखुं।
गुरु गणपति सरस्वती शीष नामुं, शुक कहे वदन वाणी नों प्रसाद पामुं।
—श्रीम० भी०, पृ० २७०

२. पद-शैली

पदों की रूपरेखा—किसी भी गेय पद्यरचना को पद कहा जा सकता है। यह सबसे व्यापक शब्द है।[१६] भालण और नरसी जैसे कवियों ने इसे 'कडवां' के स्थान पर व्यवहृत किया है जिसका आधार कदाचित् गेयता ही है। ब्रज-भाषा में यह अपेक्षाकृत निश्चित स्वरूप की रचनाओं के लिए आया है जिनमें अधिक-तर टेक या ध्रुवा का होना आवश्यक है। वस्तुतः पद अनेक जाति के होते हैं। कुछ ध्रुवा-रहित और कुछ ध्रुवा-सहित। दोनों प्रकार के पद दोनों भाषाओं में उपलब्ध होते हैं। नरसी की शृंगारमाला तथा हिंडोलानांपदो के अनेक पद ध्रुवाहीन हैं। इसी तरह सूरदास ने भी टेकरहित पदों की रचना की है।[१७] अन्य कई पदकारों ने दोनों तरह के पद रचे हैं। कुछ पद अत्यन्त लम्बे होते हैं और कुछ अत्यन्त लघु। गुजराती के

कतिपय कवियों ने ध्रुवा की एक या अनेक पंक्तियों के बाद कडवों की तरह कुछ पंक्तियों का क्रमिक विधान किया है जिनके अंत में ध्रुवा की आवृत्ति का हर बार संकेत कर गया है। ब्रजभाषा में भी दीर्घ और लघु दोनों ढंग के पद मिलते हैं।

ध्रुवा और ध्रुवा-सहित पद—टेक या ध्रुवा एक स्थायी गेय पंक्ति अथवा पंक्ति-समूह के रूप में मिलता है। गुजराती कवियों ने कहीं कहीं पद के प्रारम्भ में दी हुई पंक्तियों में से अन्तिम कुछ ही पंक्तियों को ध्रुवा के रूप में व्यवहृत किया है पर ऐसा कम ही मिलता है। प्रायः एक द्विपदी और उससे सम्बद्ध एक लघु किन्तु विशेष गेयता-युक्त पंक्ति को ध्रुवा बनाया गया है। नीचे अनेक पंक्तियों वाले कतिपय ध्रुवा दिये जाते हैं जिससे स्थिति अधिक स्पष्ट रूप में समझी जा सकती है—

१—आनंद अेक अभिनवु रे वृंदावन मझारि।
वंश बजावइ विठ्ठलु रे, तेणइ छंदइ नाचइ नारि।—ध्रुवपद
वृंदावनि गोपी नाचइ रे, तेणइ रंगि राचइ राम ॥वृंदा०॥
—हरि० घो०, पृ० १५३

२—माधव अंतरि नारी, अंगना अंतरि हरि।
रासक्रीड़ा वृंदावनि रमइ आनंद भरि।—ध्रुवपद
नंदानंदनि अेक मांडिलइ अति उछाह।
गोपी सरसां कृष्ण रमइ, वृंदावन माहिरि ॥नंदा०॥
हरि० घो०, पृ० १५४

३—मली माननी सघली टोले, खांत्ये हर जी कीधो खोले।
नानडियो लोचन चोले रे।—ध्रुवपद
हरि चड्यो रे आडे, मात रमाडे...। रे० हरि०
—श्रीकृ० ली० का०, पृ०३१

४—मंदिर मांहे पेसी करी, ग्रहे गोरस सार रे,
अभिनवी विद्या अेहनी, लहो नहीं लगार रे।
सांमलो राव यशोमती, कहूँ कूंअर नां सूत्र रे।
घर्‌य घर्‌य हींडे पेसतो, लीलां लाडको पुत्र रे।—ध्रुवपद। साभलो०
—वही, पृ० ४३

५—कमल पांअे अति कोमलडो रे, मयण थकी अति रूडो,
अमृत पांअे रस आगलो, हवे वाद म कर्‌य तूं कूडो। ध्रुवपद। कमल०
—वही, पृ० १२२

६—ओल्या कपटीनो क्रूर परधान, अेहने तह्मे म द्यो अेवडूं मान,
शूं गोप तणी गइ सान रे।—ध्रुवपद

—वही

७—चालो सहीयो जोवाने रे जइये, विनती तो जइ वा'ला ने कहीये,
सुख दुःख तो हैंडा मां रे सहीये, कोने जोइ ने तां रे रहीये ॥चालो०॥

—न० कृ० का०, पृ० ४१३

८—झोलीये झूलो कहान गोवाळा।
ब्रजनी बाला गाय-हालरुं हालोनी नंदलाला,—टेक

—श्रीम० भा०, पृ० २४८

९.—गोपी आवी यशोदा पासे, करवा हरिनी रावजी।
वचन बोले वढवा सरखां, हरि साथे हृदे भाव जी।
गोकुळ केम रहीअे, भांगो गोरसनो व्यापार कहोजी क्यां जइअे।

—टेक, गो०

—वही, पृ० २५३

गुजराती काव्य में पदों के साथ इतने दीर्घ और विविध प्रकार के ध्रुवा अथवा ध्रुवक देने की परिपाटी प्राचीन रही है।[१८] ब्रजभाषा में ऐसे ध्रुवाओं का व्यवहार नहीं हुआ है। श्रीभट्ट तथा हरिव्यासदेव जैसे कुछ पदकारों ने अपने प्रत्येक पद के पहले एक दोहा रक्खा है जो टेक की पंक्ति से भिन्न रहता है अतएव गुजराती ध्रुवाओं से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। एक पंक्ति की छोटी टेक का व्यवहार ब्रजभाषा के पदों में बराबर हुआ है। गुजराती के पदों में भी ऐसी टेक बहुधा मिलती है। फाग, विवाह और लोरी के गीतों में 'रे लोल' 'मनोरा झूमक हो', जैसे गेयांशों की बराबर आवृत्ति मिलती है जो लोकगीतों की छाया प्रतीत होती है।

ध्रुवा के अतिरिक्त पदों के शेष अंश में स्वतन्त्र चरणान्तप्रास वाली द्विपदियों का विधान हुआ है। जिन पदों में ध्रुवा नहीं होता उनमें भी द्विपदियों का ही विधान मिलता है। कभी कभी यह द्विपदियां ध्रुवा के तुक की एक स्वतन्त्र पंक्ति देने के बाद रक्खी गयी हैं। ब्रजभाषा के पदों में ऐसा अधिकतर मिलता है। बहुत से पद ऐसे भी मिलते हैं जिनमें द्विपदियों के स्थान पर ध्रुवा के साथ तुक का निर्वाह करने वाली तथा उसी के समान गतिवाली अपेक्षाकृत दीर्घ पंक्तियों का विधान किया गया है। द्विपदियों अथवा इन पंक्तियों की संख्या को निर्धारित करने में कवि पूर्णतया स्वतन्त्र रहे हैं। प्रायः यह निर्धारण वस्तु और भाव के अनुरूप हुआ है। गुजराती और ब्रजभाषा के पदों मे ध्रुवा की उक्त भिन्नता को छोड़कर बहुत अधिक समानता मिलती

है। १५वीं शती में ही गुजराती कवि भीम और भालण के काव्य में उक्त सभी प्रकार के पद उपलब्ध हो जाते हैं जब कि ब्रजभाषा में इस शती में कोई काव्य नहीं मिलता।

पद-शैली में प्रयुक्त प्रमुख छंद और उनका स्वरूप

पदों में केवल मात्रिक छंदों का प्रयोग हुआ है। वर्णिक छंद तो कहीं अपवाद रूप में ही मिलते हैं जिन पर आगे मुक्तक-शैली के प्रसंग में विचार किया गया है। मात्रिक छंदों में अधिकतर वही प्रयुक्त हुए हैं जिनका निरूपण किया जा चुका है जैसे दोहा, चौपाई, सवैया, गीतिका, सार, सरसी, झूलना आदि। इन्हीं की जाति के तथा और भी अनेक मात्रिक छंदों के संयोग से दोनों भाषाओं में पद-रचना हुई है। तुलनात्मक दृष्टि ऐसे प्रमुख छंदों का परिचय नीचे दिया गया है—

विष्णुपद—१६, १० के क्रम से २६ मात्रा तथा अंत में गुरु वर्ण वाले विष्णुपद नामक छंद का पद-रचना में प्रचुर प्रयोग हुआ है—

भालण—१. क्षण अेक पडखोजी मनमोहन, लइ उत्संग धरूं।
उभराई जाशे मही मारुं, अे नवनित हरूं।

—द० स्कं०, पृ० ३८

२. वडी वार थइ रमतां मुजने, में अति भूख सही,
हवे तो में रह्युं न जाये, रहेवा द्यो रे मही।

—वही

नरसी—गातर भंग कीधां गिरधारी, जेम रे मार्यां झटके।
वेग बजाडी वहाले मारे वनमां, रंग तणे कटके।

—न० कृ० का०, पृ० ३०५

मीरां—चित्त चढी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी।
कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी।

मी० प०, पृ० ५

सूर—मुनि वशिष्ठ पंडित अति ज्ञानि, रचि रचि लग्न धरै।
तात मरन सियहरन राम बन-बपु धरि बिपति भरै।

—सू० सा०, पृ० २७

हरिवंश—विचलै श्याम घटा अति नौतन ताके रंग रसी।
एक चमकि चहुँ ओर सखी री अपने सुभाय लसी।

हि० चौ०, पद ५५

रेखांकित स्थलों पर गुरु को लघु अथवा लघु को गुरु करके पढ़ना होता है। उक्त कुछ उदाहरण ही पद-साहित्य में इस छंद की व्यापकता के प्रमाण हैं।

सार और सरसी—इन छंदों का परिचय दिया जा चुका है। पद-साहित्य में यह छंद भी विष्णुपद की ही तरह अत्यन्त व्यापक रूप में मिलते हैं। एक मात्रा के अन्तर से छंद परिवर्तन तो हो जाता है पर गति प्रायः वैसी ही रहती है। यति अनिवार्यतः १६ मात्राओं के बाद आती है। कुछ कवियों ने गेयता के कारण अतिरिक्त 'रे' या 'ने' का भी संयोग कर दिया है—

भीम—थड विण अेक महा वृक्ष ऊग्यु, प्रसरी शाखा पंच।
बीज अंकुर बहु फलि फलियु, त्रिधा विस्तारे रंच।
अलीक संसार अछइ अनोपम, अगन्यानि प्रतिभासइ।
विवेक विचारइ, दृढ़विश्वासइ, न्यान प्रकाशइ नासइ।

—हरि० पो०, पृ० ६८

भालण—अेणी पेरे देवकी टळवळ्यां, हरिने हैये चांपे रे।
पीयु तणे कर बालक आपे, भे थी हैडुं कांपे रे।
भामणडां मावडी लइने, लइ चाल्या वसुदेव रे।
भालणप्रभु रघुनाथ मूक्या, जशोदा घेर ततखेव रे।

—द० स्कं०, पृ० १३

केशवदास—करे अन्याय केशव घर मांअे रे, ढोले ने गोरस गोली।
माखण मांकडलां ने आपे, नित्य तेडी ने ताही टोली।

—श्री कृ० ली० का०, पृ० ५०

नरसी—भावे रे भजतां मारो वहालो, रंग रेल रस वाध्यो रे।
कंठ विलागी कहान जी ने अधुर अमृत रस आप्यो रे।

—न० कृ० का०, पृ० २८६

प्रेमानंद—१. मूल पोतानुं विचारीये रे, तुं उदे थयो आज काल।
कंसने घेर गोरस लइ जातां, नंद ने पडी छे टाल।

२. संग कीधो जड गोवालानो, टाढी राव शीरावे।
पींडारो वन पशु ने चारे, बुद्धि कोनी पावे।

—पृ० २७१

मीरां—१. ऊभी ठाढ़ी अरज करतहूँ, अरज करत भयो भोर ।
मीरां के प्रभु हरि अविनासी, देस्यूं प्राण अकोर ।
—मी० प०, पृ० २

२. साजि सिंगार बाँधि पग घुंघरू, लोक लाज तजि नाची ।
गई कुमति लई साधु की संगति भगत रूप भई साँची ।
—वही, प० ७

सूर—१. ग्वाल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो ।
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो ।
—सू० सा०, पृ० १७६

२. अति कृश गात भई ए तुम बिनु परम दुखारी, गाइ ।
जल समूह बरषति दोउ अँखैं हूँकति लीने नाउँ ।
जहाँ तहाँ गोदोहन कीनो सूँघति सोई ठाउँ ।
—वही, पृ० ७११

ताटंक—सार छंद के अन्त में यदि एक गुरु वर्ण और रख दिया जाय तो वह ३० मात्राओं का ताटंक छंद बन जाता है। इसका दोनों भाषाओं के पदों में कम व्यवहार हुआ है। सार छंद की पूर्वोक्त कुछ पंक्तियों के साथ संयुक्त 'रे' को यदि छंद का अंग मान लें तो वह ताटंक का ही उदाहरण मानी जायेंगी। नरसी के काव्य में ऐसे अगणित पद मिलते हैं। नरसी, और मीरां के निम्नलिखित पदांश इसके शुद्ध उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

नरसी—कोह सजनी अे केह पेरे मूकुं आनंद रूपी मा'वा ने ।
नही समरथ अबळा विण कोई जे अेहेनो पालव सा'वा ने ।
—न० कृ० का०, पृ० ५३१

मीरां—नाचि नाचि पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमी जन को जाचूँगी ।
प्रेम प्रीत की बाँधि घूँघरू, सुरत की कछनी काछूँगी ।
—मी० प०, पृ० ६

झूलना, हरिप्रिया आदि दीर्घ छंद—गुजराती और ब्रजभाषा दोनों के पद-साहित्य में दीर्घ छंदों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। झूलना ऐसे छंदों में सर्वप्रमुख है। इसका भी परिचय दिया जा चुका है। नीचे नरसी, प्रेमानंद, सूर और हरिवंश के कुछ पदांश प्रमाण रूप में उद्धृत किये जाते हैं—

नरसी—जागी ने जोउं तो जगत दीसे नहीं, ऊंघ मां अटपटा भोगभासे।
चित्त चैतन्य विलास तद्रूप छे, ब्रह्म लटकां करे ब्रह्म पासे।

—न० कृ० का०, पृ० ४८६

प्रेमानंद—परब्रह्म निष्कर्म ते पर्म क्रीडा करे, रास विलास व्यभिचार भासे।
भक्तविश्राम श्रीराम करुणानिधि, नामलेतां कोटि कर्म न्हासे।

—श्रीम० भा०, पृ० २९४

सूर—घेरि चहुँ ओर करि शोर अंदोर बन धरणि आकाश चहुँ पास छायो।
बरत बन बाँस थरहरत कुस काँस जरि उड़तहूँ बाँस अति प्रबल वायो।

—सू० सा०, पृ० २३१

हरिवंश—वदन जोति मनो मयंक, अलकतिलक छवि कलंक,
छपति श्याम अंक मानौ जलद दामिनी।
विगत बास हेमखम्भ मनों भुवंग वेनीदंड,
पिय के कंठ प्रेम पुंज कुंज कामिनी।

—हि० चौ०, पद ८०

हरिवंश की तरह सूर ने इससे भी दीर्घतर छंद हरिप्रिया का प्रयोग किया है जो गुजराती कृष्ण-काव्य में अलभ्य है। इस छंद में १२, १२, १२, १० के क्रम से ४६ मात्राएँ होती हैं।[११] हरिवंश द्वारा प्रयुक्त छंद के चौथे चरण में दस के स्थान पर आठ मात्राएँ हैं—

जागिये गुपाल लाल, आनंदनिधि नंदबाल,
यशुमति कहै बार बार भोर भयो प्यारे।
नैंन कमल से विशाल, प्रीति बापिका मराल,
मदन ललित बदन ऊपर कोटि वारि डारे।

—सू० सा०, पृ० १५८

हरिप्रिया के सदृश अन्य दीर्घ किन्तु भिन्न गति के अन्तर-आवृत्तिमूलक छंद गुजराती कवियों ने भी लिखे हैं। भीम ने एक पद में समान तुक के १३, १३, मात्राओं वाले चार चरण रख कर तब टेक की पुनरावृत्ति की है—

रास रमइ, नृत्य हुइ, अेक थीइ ऊंवर थोइ,
मुनिवर केरां मन मोहइ, अन्तरि ब्रह्मादिक जोइ।
रे गोकुलि जनम्या गोव्यन्द।

—हरि० षो०, पृ० १४१

रचना-तंत्र की दृष्टि से हरिप्रिया और इसमें पर्याप्त अंतर भी है और वह यह कि झूलणा या हरिप्रिया में आवृत्ति वाले अंश, छंद के अंश होते हैं जबकि यहाँ वे स्वतन्त्र खंड बनाते प्रतीत होते हैं। केशवदास ने भी १४, १४ मात्राओं की तीन आवृत्तियों के योग से एक दो पदों का निर्माण किया है—

१. घुघरीये धीर न धावे, प्रेमे बहु पानो आवे,
भूख्यो ध्यो कांइ न भावे ॥ रे० हरि० ॥

—श्रीकृ० ली० का०, पृ० ३१

२. हरिचरण ग्रही रहि नारी, मुखे हसिया देवमुरारी,
केशवदास स्वामी सुखकारी—नन जइये रे।

—वही, पृ० १२३

भालण के काव्य में ७, ७, ७, १३ के विराम से युक्त पद-रचना के भी उदाहरण मिलते हैं। देखने में यह ७, ७, ७, ५ के क्रम वाले लघु झूलना के समान लगता है, केवल अंतिम अंश में ८ मात्राएँ अधिक हैं पर वस्तुतः ७ मात्रा वाले अंश के अंत में प्रास-युक्त गुरु-लघु वर्णों की अनिवार्य आवृत्ति इसकी गति को उस झूलना की गति से पर्याप्त भिन्न बना देती है—

चंचल काय, कोण उपाय, माखण खाय, दोणी फोडी दूधनी।
ऊखल पीठ, मांडे ठीठ, कहानक दीठ, शीके थी चडी ने ग्रहे।
मांकडां साथ, त्रिभुवननाथ, लइ लइ हाथ, वहेंची आपे बाल ने।
अमे आप्युं जेह, आणीने नेह, नव ले तेह, चोरी ने भावे घणुं।

—द० स्कं०, पृ० ३७

कुंडल और उड़ियाना—२२ मात्राओं के इस छंद में १२, १० के क्रम से यति का विधान होता है और अन्त में दो गुरु वर्णों का होना आवश्यक माना जाता है।[४०] गुजराती की अपेक्षा ब्रजभाषा के पद-साहित्य में इसका व्यवहार अधिक मिलता है—

केशवदास—किंकिणी ने नादे नरहरि नाहानडियो नाचे।
आंखडी ने मचकडे मात यशोमती राचे।

—श्रीकृ० ली० का०, पृ० ४०

नरसी—छानो मानो आव्यो कहान, पाछली ने राते।
वेणु मां तही रव गायो, आवी ने प्रभाते.

—न० कृ० का०, पृ० ४१९

सूर—नासिका लोचन बिशाल, संतत सुखकारी।
सूरदास धन्य भाग्य, देखत ब्रजनारी।

—सू० सा०, पृ० १४०

मीरां—मुरली कर लकुट लेऊँ, पीतवसन धारूँ।
काछी गोप भेष मुकुट, गोधन सँग चारूँ।

—मी० प०, प० ६२

जहां कहीं अन्तिम गुरु वर्ण के पहले गुरु वर्ण न आकर लघु वर्ण आया है वहाँ यह छंद उड़ियाना नाम से अभिहित किया जाता है जो कुंडल का ही एक उपभेद है।[४१] उदाहरण के लिए सूर की निम्न पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

नंद जू के बारे कन्हैया छाँडि दे मथनियाँ।
बार बार कहे मात यशोमति रनियाँ।

—सू० सा०, पृ० १४९

उपमान, शोभन और रूपमाला—उपमान में १३, १० का मात्रा-क्रम तथा अंत में दो गुरु वर्ण होते हैं, रूपमाला में १४, १० के मात्रा-क्रम के साथ अन्त में एक गुरु और एक लघु। यदि रूपमाला के अंत में जगण हो तो वही शोभन छंद हो जाता है।[४२] ब्रजभाषा की तुलना में गुजराती में यह छंद बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं और यदि कहीं मिलते भी हैं तो यति के नियम की पूर्ण अवहेलना के साथ। मात्राओं में भी पर्याप्त शिथिलता दिखाई देती है जो एक सामान्य वस्तु है और सर्वत्र पायी जाती है—

नरसी—सोल सहस्र सुन्दरी मळी अचरज पामी।
भक्तवत्सळ मळ्यो, नरसैंनो स्वामी॥

—न० कृ० का०, पृ० २१७

मीरां—मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।

—मी० प०, पृ० ६

नरसी और मीरां की उद्धृत पंक्तियाँ उपमान छंद की लगती हैं। मीरां की अपेक्षा नरसी की पंक्तियाँ कहीं अधिक सदोष हैं। नरसी ने कहीं कहीं रूपमाला और शोभन का भी व्यवहार किया है पर वह और अधिक विकार-ग्रस्त है।[४३] ब्रजभाषा में सूर और मीरां आदि के कुछ पदों में यह व्यवहृत हुआ है।[४४]

३. मुक्तक-शैली

मुक्तक-शैली में प्रयुक्त प्रमुख छंद और उनका स्वरूप

मुक्तक-शैली में दोहा, सोरठा, कुंडलिया, छप्पय के अतिरिक्त मनहरण, घनाक्षरी और वर्णिक सवैया का प्रयोग विशेष रूप से हुआ। पहले चार छंदों का परिचय

आख्यान-शैली के छंदों के अन्तर्गत दिया जा चुका है। मुक्तक-शैली के कवियों ने इनमें कोई छंदगत भेद प्रस्तुत नहीं किया, प्रत्येक छंद में वर्ण्य-वस्तु की पूर्णता के कारण ही यह मुक्तक बन जाते हैं।

मनहरण और घनाक्षरी—यह वर्णिक छंद हैं जिनमें ८, ८, ८, ७ तथा ८,८,८,८ एवं ८, ८, ८, ९ का यति-क्रम रहता है। अन्तिम ३३ वर्णों की घनाक्षरी देवघनाक्षरी कहलाती है और ३२ वर्ण वाली रूप घनाक्षरी।[४५] सवैया गणात्मक वृत्त है जिसके मत्तगयंद आदि अनेक भेद होते हैं।[४६] मनहरण और घनाक्षरी में ह्रस्व और दीर्घ का कोई भेद ही नहीं रहता। सवैया में छंद-शास्त्र की दृष्टि से यह भेद रहता तो है पर ब्रजभाषा और गुजराती दोनों में ही, गति के अनुसार, दीर्घ को ह्रस्व पढ़ने की प्रथा मिलती है। इन छंदों का व्यवहार गुजराती कृष्ण-काव्य में नहीं हुआ। लक्ष्मीदास द्वारा लिखित सवैये अपवाद प्रस्तुत करते हैं पर उनकी भाषा भी गुजराती नहीं है।[४७] सवैया का व्यवहार ब्रजभाषा में केशवदास, मतिराम, देव, सरसदेव, नागरीदास, माधवदास, बल्लभरसिक, ध्रुवदास, नरोत्तमदास, आलम, रसखान, हरिवंश और सेवक द्वारा हुआ है।

इसी तरह मनहरण को केशवदास, मतिराम, देव, सूरदास, मदनमोहन, नरोत्तम-दास, रसखान, ध्रुवदास, सेवक, बल्लभरसिक, सरसदेव, तथा सेनापति ने व्यवहृत किया है। सेनापति ने सवैया का व्यवहार किया ही नहीं। ध्रुवदास तथा माधवदास ने मनहरण और सवैया को अपने वर्णनात्मक काव्यों में स्थान दिया है। घनाक्षरी में देव जैसे कुछ ही कवियों ने काव्य-रचना की है। मनहरण कवित्त का कुछ रूप सूर और मीरां के पदों में भी परिलक्षित होता है।[४८]

कवियों ने प्रायः ८, ८, ८, ७ के यति-क्रम का अनुसरण न करके १६, १५ पर यति का निर्वाह किया है। कुछ ने उसमें भी शिथिलता दिखाई है।

आन्तर-प्रास—दोनों भाषाओं के कवियों ने कतिपय छंदों में यति के साथ अनु-प्रास का निर्वाह किया है। दूसरे शब्दों में यह आन्तर-प्रास आन्तर-यति के समानान्तर मिलता है। यह लम्बे छंदों में विशेष रूप से मिलता है।[४९] 'प्राकृत पैंगलम्' तथा 'छंदोनु-शासन' से ऐसे अनेक छंदों का परिचय मिलता है जिनमें आन्तर-प्रास एवं आन्तर-यमक का विधान नियम रूप में होता है। अपभ्रंश काव्य इसका प्रमाण है। यह आन्तर-प्रास कभी अन्त्यानुप्रास जैसा मिलता है और कभी यमक के रूप में यति के पूर्वापर अंशों को शृंखलाबद्ध करता हुआ। दूसरी स्थिति में उसे आन्तर-यमक की संज्ञा दी गयी है। नयर्षि के 'फागु' काव्य में प्रयुक्त रासक और फागु नामक छंदों में कुछ अपवादों

सूर—नासिका लोचन विशाल, संतत सुखकारी ।
सूरदास धन्य भाग्य, देखत ब्रजनारी ।
—सू० सा०, पृ० १४०

मीरां—मुरली कर लकुट लेऊँ, पीतवसन धारूँ ।
काछी गोप भेष मुकुट, गोधन सँग चारूँ ।
—मी० प०, प० ६२

जहां कहीं अन्तिम गुरु वर्ण के पहले गुरु वर्ण न आकर लघु वर्ण आया है वहाँ यह छंद उड़ियाना नाम से अभिहित किया जाता है जो कुंडल का ही एक उपभेद है ।[४१] उदाहरण के लिए सूर की निम्न पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

नंद जू के बारे कन्हैया छाँडि दे मथनियाँ ।
बार बार कहे मात यशोमति रनियाँ ।
—सू० सा०, पृ० १४९

उपमान, शोभन और रूपमाला—उपमान में १३, १० का मात्रा-क्रम तथा अंत में दो गुरु वर्ण होते हैं, रूपमाला में १४, १० के मात्रा-क्रम के साथ अन्त में एक गुरु और एक लघु । यदि रूपमाला के अंत में जगण हो तो वही शोभन छंद हो जाता है ।[४२] ब्रजभाषा की तुलना में गुजराती में यह छंद बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं और यदि कहीं मिलते भी हैं तो यति के नियम की पूर्ण अवहेलना के साथ । मात्राओं में भी पर्याप्त शिथिलता दिखाई देती है जो एक सामान्य वस्तु है और सर्वत्र पायी जाती है—

नरसी—सोल सहस्र सुन्दरी मळी अचरज पामी ।
भक्तवत्सळ मळ्यो, नरसैंनो स्वामी ।।
—न० कृ० का०, पृ० ३१७

मीरां—मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।
—मी० प०, पृ० ६

नरसी और मीरां की उद्धृत पंक्तियाँ उपमान छंद की लगती हैं । मीरां की अपेक्षा नरसी की पंक्तियाँ कहीं अधिक सदोष हैं । नरसी ने कहीं कहीं रूपमाला और शोभन का भी व्यवहार किया है पर वह और अधिक विकार-प्रस्त है ।[४३] ब्रजभाषा में सूर और मीरां आदि के कुछ पदों में यह व्यवहृत हुआ है ।[४४]

३. मुक्तक-शैली

मुक्तक-शैली में प्रयुक्त प्रमुख छंद और उनका स्वरूप

मुक्तक-शैली में दोहा, सोरठा, कुंडलिया, छप्पय के अतिरिक्त मनहरण, घनाक्षरी और वर्णिक सवैया का प्रयोग विशेष रूप से हुआ । पहले चार छंदों का परिचय

आख्यान-शैली के छंदों के अन्तर्गत दिया जा चुका है। मुक्तक-शैली के कवियों ने इनमें कोई छंदगत भेद प्रस्तुत नहीं किया, प्रत्येक छंद में वर्ण्य-वस्तु की पूर्णता के कारण ही यह मुक्तक बन जाते हैं।

मनहरण और घनाक्षरी—यह वर्णिक छंद हैं जिनमें ८, ८, ८, ७ तथा ८, ८, ८, ८ एवं ८, ८, ८, ९ का यति-क्रम रहता है। अन्तिम ३३ वर्णों की घनाक्षरी देवघनाक्षरी कहलाती है और ३२ वर्ण वाली रूप घनाक्षरी।[५५] सवैया गणात्मक वृत्त है जिसके मत्तगयंद आदि अनेक भेद होते हैं।[५६] मनहरण और घनाक्षरी में ह्रस्व और दीर्घ का कोई भेद ही नहीं रहता। सवैया में छंद-शास्त्र की दृष्टि से यह भेद रहता तो है पर ब्रजभाषा और गुजराती दोनों में ही, गति के अनुसार, दीर्घ को ह्रस्व पढ़ने की प्रथा मिलती है। इन छंदों का व्यवहार गुजराती कृष्ण-काव्य में नहीं हुआ। लक्ष्मीदास द्वारा लिखित सवैये अपवाद प्रस्तुत करते हैं पर उनकी भाषा भी गुजराती नहीं है।[५७] सवैया का व्यवहार ब्रजभाषा में केशवदास, मतिराम, देव, सरसदेव, नागरीदास, माधवदास, बल्लभरसिक, ध्रुवदास, नरोत्तमदास, आलम, रसखान, हरिवंश और सेवक द्वारा हुआ है।

इसी तरह मनहरण को केशवदास, मतिराम, देव, सूरदास, मदनमोहन, नरोत्तम-दास, रसखान, ध्रुवदास, सेवक, बल्लभरसिक, सरसदेव, तथा सेनापति ने व्यवहृत किया है। सेनापति ने सवैया का व्यवहार किया ही नहीं। ध्रुवदास तथा माधवदास ने मनहरण और सवैया को अपने वर्णनात्मक काव्यों में स्थान दिया है। घनाक्षरी में देव जैसे कुछ ही कवियों ने काव्य-रचना की है। मनहरण कवित्त का कुछ रूप सूर और मीरां के पदों में भी परिलक्षित होता है।[५८]

कवियों ने प्रायः ८, ८, ८, ७ के यति-क्रम का अनुसरण न करके १६, १५ पर यति का निर्वाह किया है। कुछ ने उसमें भी शिथिलता दिखाई है।

आन्तर-प्रास—दोनों भाषाओं के कवियों ने कतिपय छंदों में यति के साथ अनु-प्रास का निर्वाह किया है। दूसरे शब्दों में यह आन्तर-प्रास आन्तर-यति के समानान्तर मिलता है। यह लम्बे छंदों में विशेष रूप से मिलता है।[५९] 'प्राकृत पैंगलम्' तथा 'छंदोनु-शासन' से ऐसे अनेक छंदों का परिचय मिलता है जिनमें आन्तर-प्रास एवं आन्तर-यमक का विधान नियम रूप में होता है। अपभ्रंश काव्य इसका प्रमाण है। यह आन्तर-प्रास कभी अन्त्यानुप्रास जैसा मिलता है और कभी यमक के रूप में यति के पूर्वापर अंशों को श्रृंखलाबद्ध करता हुआ। दूसरी स्थिति में उसे आन्तर-यमक की संज्ञा दी गयी है। नर्षि के 'फागु' काव्य में प्रयुक्त रासक और फागु नामक छंदों में कुछ अपवादों

को छोड़कर प्रायः सर्वत्र इसी का विधान मिलता है। कहीं कहीं यमक के स्थान पर मात्र अनुप्रास दृष्टिगत होता है, फागु की निम्न पंक्तियों में दोनों रूप दिखाई देते हैं—

१. आविय मास वसंतक, संत करइ उतसाह।
मलयानिल महि वायउ, आयउ कामगिदाह ॥१७॥
२. वन्निसु फागि नरायण, राय णमइ जसु पाइ।
तस गुण अणुदिण खेलत, हेल तजाइ अपाइ ॥ २ ॥

गुजराती कवि चतुर्भुज के काव्य में भी ऐसे छंद मिलते हैं।

ब्रजभाषा में नंददास ने रोला छंद में कहीं अनुप्रास और कहीं यमक की ग्रंथि दी है—

१. कृपा रंग रस अयन, नयन राजत रतनारे।
—नंद०, पृ० १५५
२. जो जनमन आकरषत, बरषत प्रेम सुधा रस।
—वही, पृ० १५६
३. तब कही श्री सुकदेव, देव यह अचरिज नाहीं।
—वही, पृ० १६२
४. तंसिय पिय की मुरली, जु रली अधर सुधारस।
—वही, पृ० १६४

उक्त छंदों में आन्तर-प्रास होते हुए भी चरणान्त-प्रास का स्वाभाविक रूप में निर्वाह किया गया है पर गुजराती में कुछ छंद ऐसे मिलते हैं जिनमें केवल आन्तर-प्रास का ही विधान है। चरणान्त-प्रास या तुक उनमें प्रायः नहीं मिलता। नीचे की पंक्तियाँ प्रमाण रूप में प्रस्तुत की जाती हैं—

१. निरखतां रुक्मणी रूप अे, भूप मोह्या ते भूमें पडे।
पीडाये सखी पर्‌य पर्‌य कामे अे, हाम धरीने हाले नहीं अे।
—श्रीकृ० ली० का०, पृ० १८३

२. छ दहाडाने छोकरे ते पूतना शोषी,
तारा दोषी दुरिजन जाजो मरी रे।
मोटा थइ ने चारो वन गावडी रे,
मावडी यशोदा जी जाशे भामणा रे।
—श्रीम० भा०, पृ० २४८

ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य में इस तरह का तुकान्तहीन कोई छंद प्रयुक्त नहीं हुआ है। तुकान्त के विधान में आन्तर-प्रास की तरह ही शिथिलता दोनों भाषाओं में दिखाई

देती है। उत्तम, मध्यम और अधम सभी प्रकार के तुक पाये जाते हैं। हरिप्रिया, झूलणा आदि छंदों में आन्तरप्रास का विधान मिलता है। नरसी ने कहीं इसका पूर्ण निर्वाह किया है, कहीं अपूर्ण और कहीं किया ही नहीं। उनकी निम्न पंक्तियों में आन्तर-प्रास दर्शनीय है। कवि ने पहली दो यतियों पर ही अनुप्रास रखने की चेष्टा की है—

कृष्ण ने हळी मळी, शीघ्र आवो वळी, जाणशे दुःख अंतरजामी।
विनति मनमां धरो, आळस परहरो, सहाय थाशे नरसैंनो स्वामी।
—न० कृ० का०, पृ० १५७

सूर ने तीनों यतियों को प्रास-युक्त बनाने का प्रयास किया है जिसके अपवाद भी मिलते हैं। पद-शैली के छंदों में झूलना के जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें सूर की यह विशेषता देखी जा सकती है। दो यतियों में प्रास का निर्वाह हरिवंश ने भी किया है। झूलना के ही प्रसंग में जो पंक्तियाँ भालण के काव्य से उद्धृत की गयी हैं उनमें तीनों यतियों में प्रास का पूर्ण निर्वाह हुआ है, ठीक वैसा ही जैसा सूर के हरिप्रिया छंद में। अन्य कवियों में भी आन्तर-प्रास का विधान मिलता है। वस्तुतः गेय छंदों के निर्माण में यह प्रवृत्ति गुजराती और ब्रजभाषा दोनों के कृष्ण-काव्य में समान रूप से पायी जाती है यद्यपि यह सत्य है कि फागु और रासक इन दोनों छंदों का व्यवहार ब्रजभाषा काव्य में नहीं हुआ है।

रागों का निर्देश—मुक्तक-शैली में तो नहीं किन्तु आख्यान-शैली और पद-शैली के काव्यों में रागों का निर्देश बराबर मिलता है। ब्रजभाषा के आख्यान-काव्यों में रागों का उल्लेख नहीं मिलता पर गुजराती में प्रायः सर्वत्र प्राप्त होता है। जिन रागों का उल्लेख गुजराती आख्यानों और पदों के साथ मिलता है उनमें निम्न-लिखित प्रमुख हैं।

वेराडी, सामेरी, गोडी, मारू, धनाश्री, परजियो, देशी, नटनारायण, केदारो, देशाख, कल्याण, रामग्री, गूजरी, मलार, कानडो, काफी, आशावरी, बसंत, भैरव, टोडी, शारंग, श्रीराग, सींधुडो, मालाखाड, प्रभात, विहाग, कालेरो, भूपाल, मालव, हींडोले, अरगजो, होरी और मेघ आदि।

इसी तरह ब्रजभाषा के पदों के साथ मुख्यतया निम्नोक्त रागों का उल्लेख मिलता है।

कल्पद्रुम, काफी, विभास, विलावल, टोडी, आसावरी, धनाश्री, बसंत, देवगंधार, सारंग, मलार, गौड़, गौरी, कल्यान, कान्हरो, केदारो, नट, कमोद, जयति श्री,

भूपाली, गूजरी, मारू, मालव, चौतारो, विहाग, भैरव, कल्याण, अडानौ, श्रीराग, प्रभाती, भैरवी, देस, मालकोस, ईमन, खम्माच, हमीर, पंचम, रामकली, हिंडोरा तथा धमार आदि ।

दोनों नामावलियों में बहुत से नाम समान रूप से मिलते हैं । इनमें संगीत की दृष्टि से राग-रागिनियों तथा ताल-स्वर सभी पर आधारित नाम हैं जिनका स्वतन्त्र अध्ययन अपेक्षित है ।

इन रागों का छंद के साथ कोई अभिन्न सम्बन्ध रहा हो, ऐसा नहीं लगता । एक ही राग के अन्तर्गत विभिन्न छंद प्रयुक्त हुए हैं और एक ही छंद विभिन्न रागों से निर्दिष्ट हैं । अतएव रागों का निर्देशन गेयता को ही प्रमाणित करता है । संभव है, मात्रा और गति के सम्बन्ध की सामान्य त्रुटियों के मूल में संगीतात्मकता भी एक कारण हो परन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से बिना स्वतन्त्र विवेचना के कुछ नहीं कहा जा सकता ।

पादटिप्पणियाँ

१. प्रा० गु० सं०, पृ० १३५

२. क—सू० का० दो० भाग १, पृ० ६६०
ख—श्रीम० भा०, पृ० २८२, २८५, २८८ आदि

३. प्रा० गु० सं०, पृ० १३७

४. नरसी : न० कृ० का०, पृ० १९९, ४२८—४३१; प्रेमानन्द : रुक्मिणीहरण; हरिरामव्यास : व्या० वा०, पृ० १०६; पीताम्बरदेव : सिद्धान्त की साखी

५. छन्द:प्रभाकर, पृ० ४०-५१

६. वही, पृ० ५५-५६

७. श्रीकृ० ली० का०, पृ० १०४

८. छन्द:प्रभाकर, पृ० ४८

९. हरि० पी०, पृ० ७, २८; श्री कृ० ली० का, पृ० १२९

१०. श्रीहित चौरासी सेवक वाणी, पृ० ६४, ८८

११. प्रा० गु० सं०, पृ० १०५

१२. श्रीकृ० ली० का०, पृ० १४०, १४२

१३. हरि० पी०, पृ० ८, १६४; श्रीकृ० ली० का०, पृ० ११५

१४. हरि० पी०, पृ० १२०; श्रीकृ० ली० का०, पृ० ५८

१५. श्रीकृ० ली० का०, पृ० १४१, १४२

१६. प्रा० गु० सं० पृ० १५०-१५८

१७. वही, पृ० १५९

१८. छन्द:प्रभाकर, पृ० ७२

१९. प्रा० गु० सं०, पृ० ७२

२०. श्रीकृ० ली० का०, पृ० १२४; श्रीहित चौरासी सेवकवाणी, पृ० ७३, ७४

२१. सूरदास : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ५३६

२२. प्रा० गु० सं०, पृ० १२१-१२२

२३. वही, पृ० २६६

२४. श्रीकृ० ली० का०, पृ० १३९

२५. वही, पृ० १०६

२६. प्रा० गु० सं०, पृ० १७२, १७६

२७. छंद:प्रभाकर, पृ० ७६; पिंगलप्रकाश, पृ० ९२

२८. छंद:प्रभाकर, पृ० ७६

२९. श्रीहित चौरासी सेवक वाणी, पृ० ६१

३०. छंद:प्रभाकर, पृ० १५२; पिंगलप्रकाश, पृ० २७५

३१. प्रा० गु० छं०, पृ० २१३, २१८

३२. छंद:प्रभाकर, पृ० ४४, ५०, ६५

३३. प्रा० गु० छं०, पृ० २१८

३४. वही, पृ० १२, १८

३५. वही, पृ० २२८

३६. वही, पृ० २२३

३७. सूरदास : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ५४३

३८. प्रा० गु० छं० पृ० ८८-८९

३९. छंद:प्रभाकर, पृ० ७८

४०. वही, पृ० ५८

४१. वही, पृ० ५९

४२. वही, पृ० ५९, ६२

४३. न० कु० का०, पृ० ४२३, ४२८

४४. सूरदास : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा; प्रथम संस्करण, पृ० ५४०; मी० प० भूमिका, पृ० ४३

४५. छंद:प्रभाकर, पृ० २१३, २१६, २२०

४६. वही, पृ० २०१, २०७

४७. कविचरित, भाग २, पृ० ३६६

४८. मी० प० भूमिका, पृ० ४४; सूरदास : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ५४०

४९. प्रा० गु० छं०, पृ० ३०, ३१

५०. वही, पृ० १४०, १४१

७

भाषा-शैली

साहित्य में भावाभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम होने के कारण भाषा अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखती है। शिथिल एवं असमर्थ भाषा सुन्दर से सुन्दर भाव को प्रभावहीन बना देती है। इसके विरुद्ध सशक्त एवं समर्थ भाषा साधारण भाव में भी विलक्षणता उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होती है। श्रेष्ठ काव्य वस्तुतः भाव और भाषा दोनों के श्रेष्ठ सामंजस्य से उद्‌भूत होता है। भाषा की इस शक्ति और सामर्थ्य का बहुत बड़ा आधार शब्द-भांडार होता है। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी भाषा-शक्ति का सहज परिचायक होता है। अतएव यहाँ गुजराती और ब्रज दोनों के कृष्ण-काव्य में प्रयुक्त भाषा का, उसके शब्द-भांडार तथा मुहावरों और लोकोक्तियों की दृष्टि से, तुलनात्मक विवेचन पहले किया गया है और भाषा की शैलीगत विशेषताओं का निरूपण बाद में।

शब्द-भांडार—शब्द-भांडार तत्सम, तद्‌भव, देशज और विदेशी इन चार वर्गं के शब्दों से निर्मित होता है। अतः दोनों भाषाओं के शब्द-भांडार का अध्ययन क्रमशः इन्हीं चार वर्गों के अनुरूप किया जाना अपेक्षित है। देशज शब्दों के साथ लोकप्रचलित शब्दों को भी ले लिया गया है। इनके अतिरिक्त पर्याय शब्दों से भी शब्द-वैभव का अनुमान होता है इसलिए संक्षेप में इस ओर भी निर्देश कर दिया गया है।

तत्सम शब्द

जिन तत्सम शब्दों का दोनों भाषाओं में प्रयोग हुआ है उनमें संस्कृत भाषा के शब्दों का पूर्ण बाहुल्य है। धर्म, भक्ति, सिद्धान्त, दर्शन तथा उच्चतर सांस्कृतिक वातावरण से सम्बद्ध सहस्रों संस्कृत शब्दों को उनके तत्सम रूप में कवियों ने बराबर स्थान दिया है। संस्कृत ग्रन्थों को आधार बनाना और कभी-कभी आदर्श मानना इसका अत्यन्त प्रमुख कारण रहा है। 'यदि प्राचीन साहित्य का अध्ययन ध्यानपूर्वक किया जाय तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि उस समय भी साहित्यिक भाषा संस्कृतगर्भित थी'। इन शब्दों के साथ ब्रजभाषा के एक प्रसिद्ध वैय्याकरण ने

स्वीकार किया है कि 'प्राचीन व्रजभाषा साहित्य में तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है'।[1] मध्यकालीन गुजराती की स्थिति भी प्रायः व्रजभाषा के ही समानान्तर है। १६वीं और १७वीं शती की रचनाओं में तो तत्सम शब्दों का विशेष व्यवहार मिलता ही है किन्तु गुजराती कृष्ण-काव्य में १५वीं शती से ही नर्षि, मयण, भीम और भालण की रचनाओं में बहुसंख्यक तत्सम शब्द उपलब्ध होने लगते हैं। नीचे इन कवियों द्वारा व्यवहृत कुछ शब्द उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं।

नर्षि—गुण, यादव, उत्तर, दक्षिण, पश्चिम, गृह, परिवार, मास, संत, उत्साह, मलयानिल, सहकार, अभिनव, कुल, सुरतरु, चंदन, नंदन, गंध, रण, कामी, देव, माधव, निज, पंकजनाल, विशाल, निर्मल, जल, सकल, सहित, नवनिधि, नभ, तारा, प्रभु, नाग, सुरनर, प्रिय, क्रीडा, पुरी इत्यादि।

मयण—कज्जल, मानिनि, निकंदन, देव, गंध, दिवस, विरह, उर, अति, चीर, अबला, क्षिति, भोगी, भ्रमर, रस, चतुर, कंकण, शशि, पवन, कामिनि, कामबाण इत्यादि।

भीम—सनकादिक, सदा, ज्ञान, वैराग्य, धर्म, ऐश्वर्य, कृष्णचरित्र, उत्तम, कथा, पवित्र, सुमंगला, सुललित, श्रवण, भवरोग, तृप्ति, भूमि, बहु, पीडा, मृत्यु, लोक, मस्तक, केश, वाणी, परमानंद, भूपाल, आकाश, नाश, वृक्ष, पुत्र, कलत्र, नागेन्द्र, दिवाकर, चन्द्र, प्रपंच, श्रीकांत, दृष्टांत, संदेह, श्रावण, मध्य, कन्या, अपराध, दुःख, यथा, विश्वास, इत्यादि।

भालण—श्रीगणपति, सिद्धिबुद्धि, हरसुत, दया, लक्ष, लाभ, उज्ज्वल, दंत, माता, विख्यात, इच्छा, क्रीडा, विस्तार, स्वामी, तेजस्वी, अंतरिक्ष, हस्ति, कुंभस्थली, अष्टादश, द्विसहस्त्र, आकाशवाणी, क्रोध, विवाह, खड्ग, महानिंदित कर्म, अपराध, प्रतिबोध, ज्ञान, गर्भ, भय, अंतःकरण, कारागृह, आकर्षण, आरोपण, अवतार, कन्यका, मनुष्य, लक्षण, कीर्तन, संशय, मिथ्या, चतुर्भुज, स्वरूप, भाग्य, तोरण, पुनरपि, प्राणजीवन, निश्चय, परमानंद, स्वस्तिवाचन, जातकर्म, मस्तक, बालुका, स्वच्छ, पीतांबर, मुक्ताफल, अमृतस्त्रावी, अद्भुत, विस्मय, तत्क्षण, कल्याण, निज-स्थान, ऋषिपत्नी, ब्राह्मण, इंद्रमहोत्सव, जलवृष्टि, प्रदक्षिणा, नमस्कार, आश्चर्य, पुण्य, भास्कर, रक्त, निर्विष, उत्संग, लघुशंका, सत्य, कौटिल्य, नालिकेर, प्रतिज्ञा, मन्मथ, द्राक्ष, सत्यार्थ, वारिजनेत्र, रोमांचित, अश्व, दंतधावन, क्षीरसागर, आह्लाद, अवश्यमेव, ...इत्यादि।

दिवेटिया, ध्रुव, शास्त्री आदि गुजराती भाषाशास्त्रियों ने १५वीं से लेकर १७ वीं शती के पूर्वार्ध तक की भाषा को 'जूनी गुजराती', 'मध्यकालीन गुजराती' अथवा 'गुर्जरभाषा' के नाम से एक युग के अन्तर्गत रक्खा है।[१] यह अपभ्रंश के ठीक बाद का युग है। १५वीं शती के पूर्वोक्त कवियों की रचनाएं संधिकाल में विरचित होने के कारण अपभ्रंश की छाया से युक्त हैं। प्राचीन गुजराती के अनेक लक्षण उनमें पाये जाते हैं जो प्रेमानंद तक पहुँचते-पहुँचते पूर्णतया विलुप्त हो जाते हैं।[२] नर्षि और भीम की भाषा जैन कवियों की भाषा से मिलती-जुलती है। ऐसी स्थिति में इन कवियों द्वारा इतनी अधिकता से तत्सम शब्दों का प्रयोग यह सूचित करता है कि मध्यकालीन गुजराती साहित्य की भाषा तत्समता की ओर बहुत प्रारंभ से झुकने लगी थी। १६वीं, १७वीं शती के नरसी और प्रेमानंद द्वारा तो तत्सम शब्दों का और भी प्रचुरता से व्यवहार हुआ है। प्रेमानंद की मनोवृत्ति यद्यपि लोक-सामान्य-जीवन में विशेष रमती है तथापि पौराणिक होने के कारण उन्होंने कदाचित् सर्वाधिक तत्सम शब्दों का व्यवहार किया है। नरसी और प्रेमानंद के काव्य से चुनकर कुछ प्रमुख तत्सम शब्द नीचे दिये जाते हैं जो उक्त स्थापना को प्रमाणित करते हैं।

नरसी—चैत्र, पूर्णिमा, क्षमा, युद्ध, प्रसन्न, व्यग्र, गर्व, दर्प, कंदर्प, मुक्ति, निश्चय, युक्ति, पिष्टपेषण, प्राण, गोष्ठि, शोषण, सत्यभामादिक, प्रभात, स्वामी, भवसागर, वल्लभ, भ्रुकुटि, भ्रमर, किंकर, नित्य, पुनरपि, अवतार, मोक्षदाता, दुर्लभ, नीरस, मनोरथ, अमृत, सर्वत्र, पुरुषोत्तम, पर्वत, सहस्त्र, आभूषण, सकलगुणनिधान, लक्षण, निर्मल, विश्राम, संग्राम, पद्मिनी, वैष्णव .... इत्यादि।

प्रेमानंद—वर्णाश्रम, कर्तुमकर्तु, कंपायमान, अकस्मात्, शरणागत, पार्थिव, अष्टादश, शिरोमणि, व्यासात्मज, कथाश्रवण, नौका, स्नेह, इन्द्रासन, गर्भ, धूम्रपान, पृथ्वी, अमृत, वसुधा, सुरभि, काष्ठाकार, पाषाण, कनिष्ठ, कारागृह, प्रातःस्नान, अश्वत्थ, प्रमाण, परमेश्वर, दीप्तिमान, सप्त, द्राक्ष, निश्वास, विरहिणी, घोष, गोष्ठी, सन्ताप, आभूषण, दूषण, प्रयाण, कर्णप्रमाण, पीयूष, श्रोतावक्ता, स्वल्प, वेदोक्त धर्म, प्रपंच, उच्छेद, ब्राह्मण, शोणितवर्ण ... इत्यादि।

लगभग ऐसी ही स्थिति ब्रजभाषा के कवियों की है। सूरदास, नंददास, हरिवंश, श्रीभट्ट, गदाधर, ध्रुवदास और बिहारी के काव्य से चयित निम्नलिखित शब्द प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किये जाते हैं।

सूरदास—चरण, पंगु, रंक, करुणामय, अविगत, अंतर्गत, परमस्वाद, निरंतर, अगोचर, निरालम्ब, चकृत, भवत्रास, क्रीडा, कलानिधान, गुणसागर, ब्रह्मलोक,

पर्यंत, मृतक, गर्व, संताप, कृपासिंधु, क्षुधित, त्रिगुण, अंतर्यामी प्रभु, रसिकशिरोमणि, शिखी, असुरनिकंदन, मुखारविन्द, सुकृत, क्रीडा, महामहोत्सव, ब्रह्मांड, क्षुद्र, मेघवर्तक, आकाश, घोषकुमारी, दधिभाजन, चित्रित, लुब्ध, सम्बन्ध, सुगन्ध, सुभगपुलिन, करपल्लव, मुद्रिका, चतुर्दश, अष्टसिद्धि, अखिल, जघन, शृङ्गार, द्युति, कटाक्ष, मुकुलित, पद्म, मन्मथ, त्रिवली, अद्भुत, तरणि, खंडिता, मध्य, कनक, कलश, पीयूष, विभावरी, विराजमान, आच्छादित, नीलाम्बर, मानापमान, परितोष, सिद्धांत, यूथ, यद्यपि... इत्यादि।

नंददास—प्रेम-पद्धति, तत्व, कंचन, इंदु, मतिमंद, भिन्न, प्रभु, मुकुट, इंदीवर, राजीव, चिबुक-कूप, रोमावलि, अधोक्षज, प्रतिमा, अद्भुत, द्वारावति, पुलकित, आसक्ति, कर्म, क्रिया, दिव्यदृष्टि, विश्रमता, बुद्धि, अमरेंद्रवृंद, कृपा-निधान, नीलोत्पलदळ, रसासवपान, चिद्घन, तिमिरग्रसित, रसिकपुरंदर, उज्ज्वल, परमात्मा, परब्रह्म, प्रारब्ध, छादन, अवधिभूत, सच्चिदानंद, आश्रय ... इत्यादि।

हरिवंश—राग, श्रवण, रमण, रसलंपट, भूषण, शिथिल, अलकावलि, विथकित, रुचिर, सीमंत, गलित, अलंकृत, चित्रित, शिरोमणि दम्पति, प्रमथित, मिथुन, निर्मित, सुपेशल, मुकुर, विभ्रम, ललितादिक, संभ्रम, विशदवेश, राका, मध्य, नेति नेति, वेपथु, अद्भुत, कौशेय, चिकुर, चिबुक, पृथु, नितम्ब, कृश कटि, रतिरण, माधविका, मधुपूरित, पशुरिव, जघनदुकूल, पयोधर, खंडित, विलुलित.......इत्यादि।

श्रीभट्ट—वृंदाविपिनविलास, वृषभानुजा, कुंज, त्रिभुवनपोषण निरन्तर, व्यंजन, पुष्प, चंदन, सौरभ, मुकुट, मन्मथ, मिथुन, भृकुटि, मुदित, सम्भ्रम, शिखंड-मंडित.........इत्यादि।

गदाधर—पदारविन्द, परमतत्व, पुलिन, पवित्र, विचित्र, पल्लवनिर्मित, स्थल, कलधौत, पद्माकर, दूर्वांकुर, नित्यानंद, भृकुटि, कौस्तुभमयूख, नादामृत, कंदर्पदर्पापिहर, मुरलिका, पीयूषनिर्झर, ब्रह्म, रुद्रादि, गुच्छ, घंटिका, दृष्टि, स्वाद, प्रतिबिंब, क्रीडा, आडम्बर.........इत्यादि।

ध्रुवदास—चित्रित, विचित्र, कल्पतरु, अवलंब, किंवा, प्रथम, प्रताप मंडलाकार, विस्तार, कुंज, मंजु, युगल शृंगार, नासापुट, कंचुकी, कंचन, नारदादि, ब्रह्मादि, दम्पति, प्रेममाधुरी, अद्भुत, नित्य, किशोर, मुक्ता, हृद्रोग, वारिधि, राजहंस, विपरीत, अनुराग, निगम...इत्यादि।

बिहारी—हरित, नृपति, स्तन, लोचन, विरह, लोभ, स्वेद, रोमांच, कच, भुज......इत्यादि ।

दोनों भाषाओं के कवियों ने अपनी अपनी भाषा के अनुकूल सामान्य ध्वनि-परिवर्तन कर के तत्सम शब्दों का इससे कहीं अधिक बड़ी संख्या में व्यवहार किया है। पूर्वोक्त अनेक शब्द इस ध्वनि-परिवर्तन के साथ उन्हीं काव्यों में व्यवहृत हुए हैं जिनमें वे तत्सम रूप में मिलते हैं। कुछ तत्सम शब्द छंद-विधान या उच्चारण सम्बन्धी अनेक कारणों से अत्यन्त विकृत कर दिये गये हैं। कहीं कहीं उनमें बिना स्पष्ट अकारण के प्रायः स्वेच्छा से ही कवियों ने विकार उत्पन्न किये हैं। उदाहरणार्थ गुजराती में भीम द्वारा प्रयुक्त[४] हीम, वीनती, पापीष्ट, ऊर, त्रिभोवन, मंगलच्यारि, भालण द्वारा प्रयुक्त[५] अन्या (अन्याय), प्रतीकार, प्रत्य, रोहिदास (रोहिताश्व), प्रभा (प्रवाह), केशवदास द्वारा प्रयुक्त[६] नार्‌य, मुरार्‌य, धूल्य, धूसारव, विक्षात, कोमल्ल, नरोहरि, संक्षा, नरसी द्वारा प्रयुक्त[७] भ्रखुभान, सोव्रण, रुदीया, ब्रध, अधुर, केन्द्रप, (कन्दर्प), कलिबर, भूजबल, दुरीजन, धनुष्याकार, अहोनीश, भर्म, शीव, तथा प्रेमानंद द्वारा प्रयुक्त[८] अशरणशर्ण, जग्त, अहरनिश, शमश्या, गर्वभासुर, नाटारंभ अतूल, ओशींकल, प्राक्रम, शीला (शिला) प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ब्रजभाषा में इसी प्रकार सूर ने कँटभारे, बैराग, तातु, अकाश, तटनी प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया है।[९] ब्रजभाषा के अन्य कवियों ने भी स्वेच्छा से तथा छंद-निर्वाह के लिए तत्सम शब्दों में पर्याप्त विकार ला दिया है जिसके उदाहरण कम नहीं मिलते, प्रकट, भोग, अवतार, शोध, परिणय, निस्सरण, खंड, प्रणाम, पोषण, संतोष, विस्तार, हरण जैसे अनेक तत्सम शब्दों से दोनों भाषाओं के कवियों ने क्रिया पदों का निर्माण कर लिया है जिनमें तत्समता पूरी तरह सुरक्षित रही है। इस प्रकार तत्सम शब्दों को विविध रूप में प्रयुक्त करना कवियों की शक्ति का परिचायक है और कहीं कहीं अशक्ति का भी।

तद्‌भव शब्द

गुजराती और ब्रजभाषा दोनों का विकास अपभ्रंश से हुआ है अतएव तद्‌भव शब्दों का अत्यन्त विशाल संख्या में पाया जाना स्वाभाविक ही है। दोनों भाषाओं के कवियों ने तद्‌भव शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, १५वीं शती की गुजराती भाषा अपभ्रंश के अधिक समीप है अतएव नर्षि, मयण, भीम और भालण की रचनाओं में तद्‌भव शब्दों का प्राचुर्य विशेष रूप में मिलता है। केशवदास, नरसी और प्रेमानंद द्वारा रचित बाद की रचनाएँ भी अगणित तद्‌भव शब्दों से आपूरित हैं। इन सभी कवियों की रचनाओं से कुछ प्रतिनिधि शब्द नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

नर्षध—जसु, मझारि, जादव, पुहुता, सहिअर, चा , अंतेउरी, नेउर, केउर, हरखिय, निरखिय, दीविइ (द्वीप), मयण, पणमइं।

मयण—मूकी, पयोहर, नाह, वयण, कंचूउ, तुह, बंभ, सयल, नत्थि, तित्थि, निठर, रवणि, विहंडण, दैतांह, नेह, उल्हसी, बइट्ठी, दिट्ठी, दूहविउ, ठविउ, वत्त, वल्लही, मच्छी, लच्छी,वुझ्झवि, एकाउलि, रेह, किद्धीय, पुलइ, पेषीय, ऊअरि, डसण, समप्पिय, गल्ल, गेहणि, तूठइ, अहर, पीनत्थण, सूकइ, नीसासह, भिन्नउ, नियतणु......इत्यादि।

भीम—थाण, अवर, बिहु, कान, आगलि, हुआ, कूअडइ, सरखा, पुहुता, कीधु, मूकीइ, मझारि, कमाड, विणठी, नचंत (निश्चिंत), दाधी, सूकइ, हैआ, सघला , दीठुं, सूतइ, शीआल, पोलिदुआरि, फोफल, पसाइ, न्यान...........इत्यादि।

भालण—पासा, दीठी, कादवे, केड, पूठे, गोठडी, सूंडे, ठार, सासु, जेठाणी, मुगट, जइयां, मूकी, माणस, अमी, अलूणां, पाखे, ठाम, सघला, जुइ, भादरवे.......इत्यादि।

केशवदास—सायर, गेडी, मोहोटूं, हइआ, दीवो, साकर, जूठुं-साचूं, दुल्लभ, दूबली, मुझार, गोवाल, सहु, वखाण, वयण, दोहिला. मुया, अवर, चरंत, विचरंत, ततखेव, रखवाल, आंखडी, पांखडी. ....इत्यादि।

नरसी—फागण, पूठल, आखा, सहीयर, खूणे, मुआ, आंसु, दोहेला, जुवती, शणगार, वहाली, जोबन, वायक, चुडिलो, दाझे, पीयु, पंखीआं, उग्यो, आथम्यो, रेणी, वालमा, नेण, जाम, विभिचारी, माकडां, गेंडी, दीठी, पालव, शीख, रीत, मोघी, वाई,............इत्यादि।

प्रेमानंद—तंबोल, गाम, हैया, बांझणी, अजाणी, नेण, भाणेजो, मासी, हीका, दोड, ओछंगे, माणस, पहोर, मलियागर, महोटा, दीवो, भामणे, मोझार, गाडा, दैत, फोफल, फणसी, केसु, पोयण, गोवाला, विखाणे, घेर, दहाडे, पूठे, मूके, गेडी, आहीर, फेणा, लीधुं, दीधुं, लोढुं, जीभ, मेह, जोवन, ठाम, मच्छ, कच्छ, नाठा, चोहोजुग, दूगणां, थोभण, आखो दांत, भूखी, बरसात, खट, कोड, पाछा, नहावा, दीसे, कुहाडा, लांबा, जोग, विजोग, विहूणी, मांछली, आंबा, पाखे, भादरवो, सहियर, भोजाई, कादव..........इत्यादि।

व्रजभाषा के कवियों ने भी अगणित तद्भव शब्दों का व्यवहार किया है परन्तु उनमें अपभ्रंश की छाया, जो १५वीं शती के गुजराती कवियों में बहुत अधिक स्पष्ट है, कहीं भी प्राप्त नहीं होती। हरिवंश की स्फुट वाणी में अवश्य अपभ्रंश का

आभास मिलता है जो कृत्रिम है। सूर, नंददास, हरिवंश, श्रीभट्ट आदि जिन कवियों के काव्य से तत्सम शब्द उद्धृत किये गये हैं उन्हीं के काव्य से नीचे तद्भव शब्दों के भी उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिससे तुलनात्मक स्थिति स्पष्ट प्रकट हो जाती है।

सूर—ढिठाई, पठाई, गवन, भक्तबछल, जाति गोंत, खंभ, बरजि, भरमति, निठुर, सींग, दई, बिगरी, गांठि, दांत, छिन, काजर, बच्छ, पूत, गुनी, नैन, बेनी, पांति, फरी, थाप्यो, थिर, पुहुप, साथिये, सँजोइ, लीपि, भादौं, आठैं, सोवरनथाल, ठाँउ, पाछे, कनिया, धरनी, भुवंगम, बांभन, बिनानी, मथनियाँ, चौगुनौ, कोखि, जायो, आँसू, चोंच, ग्वारि, बरही, अँगुरी, साँझि, मुकुता, अंकवारि, बूंद, सरवर, काग, चिहुर, मूँदि, भौंहन, बारे, बाँह, मँडवारी, जोवन, फागुन, भौन, अँचरा, पतूखी... इत्यादि।

नंददास—प्रनऊँ, जोति, बरनत, झांई, बिस, देस, ठाँ, जीह, अच्छर, पखान, धौरहर, नाइक, पछितयौ, रूखन, रवनी, धरती, लुनाई, सुठौन, राउ, जोवन, लच्छ, साँवरी, जतन, परपंचनि, मुरझाइ, धूरि, उपखान, अकास, परमान, दुलही, बजमारे, माँखिन, बिजुरी, करनिका, दुति, माँझ, साँझ, मनमथफाँसी, गाँउ, रूसि, मूरति, बिजना, जुद्ध, अंतरजामी, सुमिरन, भाउ, अटारी.,......इत्यादि।

हरिवंश—ठौर, समै, जुद्ध, जुत, परायन, जुवती, अंस, नैन, औसर, सिज्या, नइ, बूंदन, नयौ, पिया, धरम्म, भवन्न, बिसवासित, बिछुरंत, निकज्ज, गज्ज, लज्ज, बिहून.........इत्यादि।

श्रीभट्ट—चरन, तीरथ, गोद, धीरज, भौंह, मैन, बिछौने, चँवर, निरखत, रतियाँ, हुलसन्त, जूथ, सुहाग, छता, मेह, धुनि, सुकुँवारी, अंस, अरुन......इत्यादि।

गदाधर—ओस, उपाइ, बरखा, पनारे, उल्हयो, पूत, सीस, ग्यान, मर्जादा, बितई, ठई, छिन, सुहाग............इत्यादि।

ध्रुवदास—अैन, रैन, निबाह, नैन, सिंगार, हुलास, सनेह, पिय, सुहाई, कुँअरि, निसरै.........इत्यादि।

बिहारी—नीठि, दीठि, ईठि, नैन, नेहु, जोति, दुति, अहेरी, जोबन, दुलहिया, किय, बिथुरे, जोन्ह, जतन, मोधु, तोधु, दच्छिन, पच्छीनु, सोनजुही......इत्यादि।

दोनों भाषाओं के काव्य में प्रयुक्त तद्भव शब्दों पर दृष्टिपात करने से सहज ही ज्ञात हो जाता है कि इस ओर कवियों की प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम होती रही। प्रायः तद्भव शब्द तत्सम अथवा अर्धतत्सम शब्दों के द्वारा स्थानान्तरित किये जाने लगे।

लोक-प्रचलित तथा देशज शब्द

मध्यकालीन भक्ति-साहित्य बहुत अंशों में लोकोन्मुखी रहा है। लोक-चेतना से उसका निर्माण हुआ है और लोक-भाषा में उसे अभिव्यक्ति मिली है। कविगण लोक-जीवन से बराबर सम्बद्ध रहे हैं। फलतः लोक-व्यवहार के बहुसंख्यक शब्द दोनों भाषाओं के काव्य में उपलब्ध होते हैं जिनमें अनेक शब्द ऐसे हैं जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्दों से नहीं सिद्ध होती अतएव उन्हें देशज संज्ञा दी गयी है। आगे गुजराती कवियों में भीम, भालण, केशवदास, नरसी और प्रेमानन्द की रचनाओं से ऐसे शब्द प्रमाण रूप में उद्धृत किये गये हैं।

भीम [१०]—झंखइ, फोक, ऊलटपालट, तालोवेलि, जूजूआ, झाकझमाल, खूसट, चीस, रलीयामणी, सुचंग, फरूकइ,......... इत्यादि।

भालण [११]—भुंटी, टाढु, हुलरावशे, धवरावी, लटके, टळवळ्या, फाव्यो, दीकरी, करगरे, झडपी, बोवडुं, अटपटी, वंटोलियो, अडवडशे, लडथडशे, जोखम, करमलडो, कोलियडो, अवटाऊं, तालावीहीली, भंभेरी, पाखल, टची, फोकट, छेलपण, मोडामोड, धिंगाई, असुर (देर), अलूराई, मीटसगाई.........इत्यादि।

केशवदास [१२]—टोले, हलुअडे, कमकमे, हाम, शीकूं, हालेडोले, लाडघेहेली, पाडोशण, निटोल, डूंगर, छीलर, ठाकोर.........इत्यादि।

नरसी [१३]—झाकमझोल, खचको, भचको, टीलडी, झगझोल, वलगाडुमी, मरकलडो, सथरुं, गांजे, माची, टाढुं, कीलकलाट, शाकुं, तोतलुं, ओथ, चीथरडुं, धूलधाणी, थोथाठाला, नोहरा, ठुपणुं, आडडो, झोंटी, टकोपैसो, खाट...इत्यादि।

प्रेमानंद [१४]—पोपटी, दीकरी, छोकरां, चत्तापाट, शीके, मीठडां, लटपटी, भडकी, झुझकार्यो, गुंछळां, छछेंडी गडगडाट, ढुकडो, पीपली, खंखार्या, करमायां, टळवळी तरफडे, हलुअे, टळके, झीले, टोळे, गोरटी, खंजरी ढोलकी, रवाबडुं, बापडुं पडछंदा, आछटे, डावो, फडफडे...इत्यादि।

ब्रजभाषा में लोक-प्रचलित तथा देशज शब्दों का और भी अधिक व्यापक प्रयोग हुआ है। पदकारों में सूर सब का प्रतिनिधित्व करते हैं। सूरसागर में ऐसे शब्दों का सर्वाधिक व्यवहार हुआ है। आख्यानकार कवियों में नंददास तथा रीतिकारों में बिहारी प्रतिनिधि रूप में लिये जा सकते हैं अतएव ब्रजभाषा के इन्हीं तीनों कवियों की रचनाओं से ऐसे शब्द चुनकर प्रस्तुत किये जाते हैं।

सूर [१५]—खतियाना, अपुनपौ, कैंती, चेटक, धगरी, सेंत, महरैटी, सिकहरैं, विरुझाना, सकाना, अजगुत, मौड़ा, उपरफट, खसमगुसैंया, हटकना, टटकी, चिकनियाँ

मुहाँचही, गांस, चोटी-पोटी, फंग, खोचन, हाँक, डहकाना डोंगरी, अचगरी, अलकलड़ैते, अलूट, ढुंढ, अहीठ, ठगमूरी, साट, चाँड़िले, गोसों, खुटक, फेफरी, बुड़की, छोहरा, सकसकाना, झूखी, नौतम, फोकट, ठालीबैठी, जोरावरी, खिसियानो, टकटोरना, निटोल, फूचो .... इत्यादि ।

नंददास[१६]—छिल्लर, निरवारि, चटसार, लरिकाई, लटकि, फूलेल, खुभी, टौनो, गुड़ा-गुड़ी, धुरवाने, पुई, ठगौरी, झलमलताई, उनहारी, अचरिज, टटावक, चुचाई, मुसकि, ठकुराइत, ढिंग, पटबिजना, झींगुर, अहरनि, डहकि, नकवानी, होड़नि, अरगाइ, उगहन, चटपटी, अटपटी, बजमारे, चुटिया, ... इत्यादि।

बिहारी[१७]—मरक, होड़ाहोड़ी, खुभी, भौंर, अनाकनी, बहाऊ, झुलमुली, ठोड़ी, टलाटलीं, बरवट, चटपटी, एड़ी, आड़, महावरु, बदाबदी, किरकिटी, चटकाहट, चहुटिनी, गदराने, गोरटी, हुठ्यौ, इठलाइ, मुलकी, गुड़हर, अनखाइ, लरिका, महदी ... इत्यादि ।

इन दिये हुए शब्दों में संभव है कि कवियों ने कुछ अपने आप गढ़ लिये हों परन्तु सभी शब्दों की रूपरेखा स्पष्टतया लोक-सिद्ध, ठेठ और देशज लगती है ।

विदेशी शब्द

कृष्ण-काव्य में विदेशी शब्दों का सामान्यतः बहुत कम व्यवहार हुआ है । बहुत से कवि ऐसे हैं जिन्होंने विदेशी शब्दों का बहिष्कार सा किया है पर कुछ ऐसे भी हैं जिनके काव्य में कतिपय स्थलों पर इनका प्रचुर प्रयोग हुआ है । ऐसे स्थल अपवाद रूप में ही मिलते हैं ।

गुजराती कवियों में भालण ने 'कागळ' का प्रयोग अपने दशमस्कंध में किया है ।[१८] 'कागळ' निश्चित रूप से अरबी 'कागद' का रूपान्तर है । नरसी ने दस्त, होश, दील, नूर, शर्म जबाप, जकात, माल, हाल, फजेत, इजारे, मीरांत, जैसे कई शब्दों का व्यवहार किया है जो सभी विदेशी हैं ।[१९] प्रेमानंद के दशमस्कंध के अन्तर्गत 'खामी' 'नफेरी' आदि शब्द अपवाद रूप में ही मिलते हैं ।[२०] परन्तु उनके रुक्मिणी-हरण में बाज, हौदा, नेजा, कांफला, अरज, सूबा, सरदार, उमराव, तलवार रस्ता, कीनखाब, तैयार, बख्तर जैसे अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं ।[२१]

ब्रजभाषा में सूर के काव्य में बहुत से अरबी-फ़ारसी शब्द व्यवहृत हुए हैं ।[२२] 'सांचो सो लिखवार कहावै' पंक्ति से प्रारम्भ होने वाले उनके एक ही पद में मसाहत, कैंद, जहतिया, कसूर, फरद, असल, अबारजा, मुजमिल, कुल्ल, बारिज, जमाखर्च

गुजरान, मुसाहिब और जवाब इत्यादि कई दुरूह विदेशी शब्द प्रयुक्त हुए हैं ।[२३] ऐसे ही एक दूसरे पद में अमल, साबिक, मिनजालिक, बासिलबाकी, स्याहा, मुस्तौफी, मुहर्रिर जिम्मे आदि का प्रयोग हुआ है ।[२४]

'गरीबनिवाज', 'दामनगीर' तथा 'शहर' जैसे और भी कई शब्द सूर के काव्य में मिलते हैं ।[२५] नंददास ने 'गरज', 'लाइक' 'अरदास' आदि का व्यवहार अपवाद रूप में ही किया है ।[२६] वल्लभरसिक की वाणी में स्याह, जुलफ, इश्क, शहर, मुश्किल, जाहर, परदा, हाल, महबूब, आशिक जैसे बहुत से शब्दों का व्यवहार हुआ है ।[२७] इसी तरह हरिदास के पदों में दर, पिदर आदि शब्द प्रयुक्त मिलते हैं ।[२८] बिहारी ने भी अनेक फ़ारसी-अरबी शब्दों का व्यवहार किया है । उनके दोहों में इजाफा, हवाल, कबूलि, रोज और ताफता आदि क्लिष्ट-सरल सभी तरह के विदेशी शब्द मिलते हैं ।[२९] सदकै, सिलाम, खानाजाद जैसे कुछ अरबी-फ़ारसी शब्द मीरां के काव्य में भी पाये जाते हैं ।[३०]

फ़ारसी के राजकीय भाषा होने के कारण तथा दरबारी प्रभाव के कारण बहुधा ऐसे शब्द दोनों भाषाओं में व्यवहृत हुए हैं । कवियों ने उनके रूप और ध्वनि में अपनी अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार परिवर्तन कर दिया है ।

पर्याय शब्द

सूर्य, चन्द्र, कमल, भ्रमर, दिन, रात, नयन, मुख आदि अनेक शब्दों के अनेक पर्याय दोनों भाषाओं के कवियों द्वारा, अर्थ तथा छंद की आवश्यकतानुसार, बराबर प्रयुक्त हुए हैं । सबका परिचय देना संभव नहीं है अतएव दोनों भाषाओं से केवल 'कृष्ण' शब्द के पर्याय यहां प्रस्तुत किये जाते हैं जिनसे इस सम्बन्ध की तुलनात्मक स्थिति का आंशिक परिचय निश्चित रूप से हो जाता है । दोनों भाषाओं के कृष्ण-काव्य में 'कृष्ण' से अधिक महत्त्वपूर्ण अन्य कोई शब्द हो भी नहीं सकता ।

गुजराती कवियों द्वारा कृष्ण के लिए विट्ठल[३१], त्रीकम[३२], सामलवान[३३], भूधर[३४], शालिग्राम[३५], और रणछोड़[३६], आदि कुछ ऐसे पर्यायों का प्रयोग व्यापकता से हुआ है जो या तो ब्रजभाषा में प्रयुक्त ही नहीं हुए हैं या केवल अपवाद रूप में उपलब्ध होते हैं । 'बीठल', 'सालिगराम' और 'टीकम', जो त्रीकम (त्रिविक्रम) का ही परिवर्तित रूप है, का व्यवहार मीरां की पदावली में मिलता है ।[३७] 'वल्लभ' शब्द के विविध रूप वाहला, वा'ला, वहालो नरसी के पदों में कृष्ण के लिए प्रायः प्रयुक्त हुए हैं ।[३८] इसी शृंखला में मीरां द्वारा प्रयुक्त 'बाल्हो' भी आता है ।[३९] प्रेमानंद

ने 'पांडुरंग' का प्रयोग किया है जो कदाचित् किसी अन्य कवि द्वारा प्रयुक्त नहीं हुआ—

मुने मळीया पांडुरंगा रे ।

—श्रीम० भा०, पृ० ३३२

कृष्ण के विकृत रूप कहान, कहाना, आदि का प्रयोग भी गुजराती कवियों ने बराबर किया है ।[४०] ब्रजभाषा में इसी तरह कान्हा, कन्हैया, कन्हाई आदि का सतत व्यवहार हुआ है ।

कृष्ण के लिए गुजराती कृष्ण-काव्य में बहुत से विष्णुवाची शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं ।

श्रीरंग, नारायण, माधव, गोविन्द, गरुडाग्रामि, हरि, भगवान, श्रीकान्त, जगन्नाथ, श्रीपति, नरहरि, वैकुंठराय, चतुर्भुज, जगदीश, जुगजीवन, गरुडारूढ, केशव, श्रीनाथ, लक्ष्मीनाथ, कमलेश, कमलापति, लक्ष्मीवरा, पुरुषोत्तम, चक्रपाणी, अच्युत आदि। यह और पूर्वोक्त श्रीकम, विट्ठल, शारंगपाणि आदि सब शब्द विष्णु के अवतारी तथा ऐश्वर्यशाली रूप से सम्बद्ध विविध वस्तुओं पर आधारित हैं। ब्रजभाषा में भी इनमें से अधिकांश शब्द व्यापक रूप से कृष्ण के लिए प्रयुक्त हुए हैं। मुकुंद, मुरारि, दामोदर, आदि कुछ अन्य शब्द भी दोनों भाषाओं में समान रूप में मिलते हैं। कृष्ण के लिए विविध प्रकार के सम्बन्धमूलक, नंदकुमार, नन्द-किशोर, नन्दलाल, नंदनंदन, यशोदानंदन, वासुदेव, राधावर, राधिकारमण, हलधर-वीर, बलवीर, गोपीनाथ, ब्रजबिहारी, ब्रजराज, बनमाली, गोकुलराय, गोकुलनाथ, गोपाल, कुंजबिहारी, जादवराय, जदुनाथ, जदुपति, जदुनंदन, तथा उनके सौन्दर्य एवं रूपगुण आदि को प्रकट करने वाले श्यामसुन्दर, श्याम, सुन्दरश्याम, घनश्याम, सांवलिया, मनमोहन, मोहनलाल, रसिकशिरोमणि, मदनगोपाल आदि शब्दों का भी दोनों भाषाओं में व्यापक व्यवहार हुआ है। गुजराती में सौन्दर्यमूलक शब्दों में 'शामळा', 'श्यामळिया', 'शामलवान' जिनका उल्लेख हो चुका है, का अधिक प्रयोग हुआ है और ब्रजभाषा में श्याम, घनश्याम आदि का। ब्रजभाषा में नाम के स्थान पर स्नेहसूचक लाल, लाड़िलो, प्यारो, जैसे कुछ शब्द भी सामान्य रूप से व्यवहृत हुए हैं। कृष्ण के लिए ब्रजभाषा में प्रयुक्त कदाचित् बहुत कम ऐसे शब्द हैं जो गुजराती कृष्ण-काव्य में न मिलते हों।

लोकोक्तियाँ और मुहावरे

लोक प्रचलित भाषा में लोक के अगणित अनुभव वाक्यों तथा वाक्यांशों के रूप में संचित होते रहते हैं जिन्हें लोकोक्तियाँ तथा मुहावरों की संज्ञा दी

जाती है। इनमें लाक्षणिकता, अर्थ-गंभीरता, वैचित्र्य तथा मार्मिकता के साथ सारल्य का अद्भुत योग रहता है। कभी-कभी इनकी सरलता साहित्य के शतशः लाक्षणिक प्रयोगों से भी अधिक प्रभविष्णु सिद्ध होती है। दोनों भाषाओं के कृष्ण-काव्य में इनका पर्याप्त व्यवहार हुआ है। लोकोक्तियों और मुहावरों के बीच बहुत गहरी सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती फिर भी सामान्यतः जो अर्थ ग्रहण किया जाता है उसके अनुसार कहा जा सकता है कि गुजराती कृष्ण-काव्य में लोकोक्तियों का व्यवहार कम और मुहावरों का व्यवहार अधिक हुआ है। ब्रजभाषा में दोनों प्रायः समान अनुपात में व्यवहृत हुए हैं। गुजराती में भालण, नरसी और प्रेमानंद को छोड़कर अन्य कवियों की भाषा में इनके बहुत कम दर्शन होते हैं। इसी तरह ब्रज-भाषा में सूरदास और नंददास के द्वारा ही इनका विशेष व्यवहार हुआ है। गुजराती के उक्त कवियों द्वारा व्यवहृत कुछ लोकोक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

भालण [४१]—क. कीधुं पोतानुं पोते रे सहेवुं।
ख. कालवश अे सकळ प्राणी कोण मारे, कोण मरे।
ग. जेने भावे बावल बोरडी ऊँट आगळ धरे पान।
घ. बेहुनी राढ मांहे बेहु जागे त्रीजे नव लहेवाय।

नरसी [४२]—क. वात पकवान थी भूख न भागे।
ख. करनी तो कागनी होड करे हंसनी।
ग. तांदुल मेली ने तुष वळगी रहे भूख नहि भागे अेम थोथे ठाले।
घ. परहरी वस्त्र ने वळगे चुंथे।
ङ. अंधगुरुअे बळी निरंध चेला कर्या।
च. आकना वृक्ष थी अमृत फळ तोडवा।
छ. सोनुं ने सुगन्ध अेक छे रे।

प्रेमानंद [४३]—क. पोंपटी प्रसवे सुतने हुलावे होली।
ख. कीडी संचे ने तेतर खाय।
ग. अेक मारग ने बे अर्थ।
घ. सुख मां व्यापे क्रोध ने काम। दुःखमां सांभरे केशवराम।
ङ. छपांचे पोंचे हाथो हाथ नुं काम।

संभव है इन उक्तियों में सभी वास्तविक लोकोक्तियाँ न हों किन्तु कथन-शैली निश्चय रूप से लोकोक्तियों के सदृश है। कभी-कभी समर्थ कवियों के ऐसे कथन ही लोकोक्तियों का रूप धारण कर लेते हैं। ब्रजभाषा के कवियों में से, जैसा कहा जा चुका है, सूर और नन्ददास प्रतिनिधि रूप में लिए जा सकते हैं। यद्यपि परमा-

नन्ददास आदि अष्टछाप के शेष कवियों तथा अन्य पदकारों एवं रीतिकारों द्वारा भी लोक-प्रचलित उक्तियाँ काव्य में ग्रहण की गयी हैं तथापि उपर्युक्त दोनों कवियों का महत्त्व इस क्षेत्र में सर्वोपरि है, जैसा निम्नोद्धृत लोकोक्तियों से स्पष्ट प्रमाणित होता है—

सूर[४४]—क. दुरत नहिं नेह अरु सुगन्ध चोरी।
ख. बीस बिरियाँ चोर की तौ कबहुँ मिलि है साहु।
ग. जो जाको जैसो करि जानै सो तैसो हित पावै।
घ. सूर मिले मन जाहि जाहि सों ताको कहा करै काजी।
ङ. खाटी मही कहा रुचि मानै सूर खवैया घी को।
च. झूठी बात तुसीसी बिनकन फटकत हाथ न आवै।
छ. कहा कथन मौसी के आगे जानत नानी नानन।
ज. जैसो बीज बोइए तैसो लुनिए।

नंददास[४५]—क. घर आयो नाग न पूजहीं बाँबी पूजन जाहि।
ख. बातन विजन कोन अघाये, काके हाथ मनोरथ आये।
ग. मृगतृष्णा कब पानी भई, काकी भूख मन लड्डुवन गई।

मुहावरों के सम्बन्ध की तुलनात्मक स्थिति के परिचय के लिए भी दोनों भाषाओं के पूर्वोक्त कवियों के काव्य से ही उदाहरण दिये गये हैं—

भालण[४६]—क. पडे ते झांखो थई।
ख. स्वप्ने नव सुणियुं।
ग. लूण उतारे भामणा डाले।
घ. चोल तणो जेम चटको रे।
ङ. विण मूल्ये वेचाणी।
च. चांपे आंगुली रे ते दांते।
छ. मीट मांडी रह्या।
ज. नहि सुण्यो नव दीठो।
झ. ठाली जाउँ।
ञ. कहो तेवा सम खाउँ।
ट. पर थी घर वसे नहि।
ठ. न जाणे दूध न पाणी।
ड. घणे दिन हाथे चढी।
ढ. खांत थाय।

ण. बला लउँ तारी हो ।

त. अंधा ने ज्यम लाकडी ।

थ. जो कनक तोलो काय ।

द. जो हिम गालो हाड ।

नरसी[४७]—क. बोल्यो पीशी हाथ ।

ख. करी दईश घडी मां पाणी पाणी जी ।

ग. कुशल छे बालगोपाल सहु ।

घ. कान भकारा ।

ङ. तारे हाथ अे आवे नहीं ।

च. राड न कीजे ।

छ. बूडतां बांहेडी कुण सहाशे ।

ज. पोहो फाट्युं ।

झ. शुं मूछ मरडे ।

ञ. थोथा ठालां खांड्या ।

ट. खांत भागे ।

ठ. पार पाम्या ।

ड. जेहने जे गमे ते ने पूजे ।

ढ. सात सांधुं त्यारे तेर टूटे ।

ण. रंक मनावुं त्यारे राय रूठे ।

प्रेमानंद[४८]—क. नन्दजी राखो बांधी मूठी ।

ख. भडकी उठ्यो ।

ग. पडी तेने पेटडीया मा फाळ ।

घ. दाव पड्यो ।

ङ. मरता ने शुं मारो ।

च. दाझ्या ऊपर लूण लाव्यो ।

छ. घसवा लागी हाथ ।

ज. जेवो ऊगे तेवो आथमे ।

झ. वस्त्र नथी सम खावा ।

ञ. भावठ भांगशे ।

ट. लोक हंसाव्या ठीठी रे ।

सूरदास[१९]— क. चाले जाउ भई पोइसि ।
ख. तुम संग रहै बलाइ ।
ग. हौं कछु लैंन न दैंनु ।
घ. दाई आगे पेट दुरावति ।
ङ. दूध दूध पानी सो पानी ।
च. पाँच की सात लगायो ।
छ. बातनि गहौ अकास ।
ज. सौंह करन को आये ।
झ. कौन पै होत पीरीकारी ।
ञ. मीड़त हाथ ।
ट. कौड़ी हू न लहै ।
ठ. बहे जात माँगत उतराई ।
ड. चाम के दाम चलावै ।
ढ. दाधे पर लोन लगावै ।
ण. मूरी के पातन के बदले को मुकुताहल देहै ।
त. मिलावत हौ गढ़ि छोलि ।
थ. को भुस फटकै ।
द. अपनो बोयो आप लोनिए ।
ध. दाउँ दै हार्‌यो ।

नंददास[१७]— क. पचि मरे ।
ख. हिय लोन लगावौ ।
ग. छुधित ग्रास मुख काढ़ि ।
घ. गाँठि की खोइकै ।
ङ. जबहि लौं बाँधी मूठी ।
च. करत नकबानो ।
छ. सिर धुनहीं ।
ज. बनि रह्यो बान ।
झ. फीक परी ।
ञ. टकी लगि जाइ ।

दोनों भाषाओं में प्रयुक्त लोकोक्तियों और मुहावरों को विहंगम दृष्टि से देखने पर अधिक सादृश्य नहीं दिखाई देता फिर भी कुछ लोकोक्तियाँ और मुहावरे प्रायः

एक जैसे ही हैं जैसे प्रेमानंद का 'घसवा लागी हाथ' और सूर का 'मीड़त हाथ'। जले पर नमक लगाने के मुहावरे को भी दोनों ही भाषाओं के कवियों ने अपने ढंग से प्रयुक्त किया है। यह सादृश्य भाषागत प्रयोग की सुसम्बद्ध परम्परा के द्योतक हैं। अधिकांश मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ दोनों भाषाओं के अपने-अपने प्रदेश की लोक-संस्कृति का परिचय देते हैं।

भाषा-शैली की विशेषताएँ

कृष्ण-काव्य में प्रयुक्त भाषा सामान्यतः सरल और प्रवाहपूर्ण है। सूर के कूट पदों को छोड़ कर दोनों भाषाओं के किसी कवि ने क्लिष्टता और दुरूहता लाने की कहीं चेष्टा नहीं की। अधिकतर गीतात्मकता और कथात्मकता का निर्वाह होने के कारण गुजराती और ब्रजभाषा दोनों में एक अशिथिल प्रवहमानता उपलब्ध होती है जिसका व्याघात कुछ असमर्थ कवियों द्वारा ही हुआ है अन्यथा सभी समर्थ कवियों में उसका रूप अक्षुण्ण रहा है। प्रधानतया आख्यान-काव्य में प्रयुक्त होने के कारण गुजराती भाषा का स्वरूप अधिक व्यावहारिक है। ब्रजभाषा में व्यवहारिकता की अपेक्षा साहित्यिकता अधिक है। उसके आदि-कवि सूर में ही भाषा का स्वरूप साहित्यिकता की ओर बहुत झुका है। रीति-कवियों के हाथ में पहुंच कर ब्रजभाषा सर्वथा साहित्यिक भाषा बन गयी और क्रमशः उसमें कृत्रिमता का आग्रह बढ़ने लगा। इसके विरुद्ध प्रेमानंद की भाषा तत्सम शब्दों से पूरित होने पर भी उस अर्थ में साहित्यिक नहीं कही जा सकती जिस अर्थ में नंददास और बिहारी की भाषा। भालण,प्रेमानंद तथा उनकी श्रेणी के अन्य गुजराती आख्यान-कारों द्वारा प्रयुक्त भाषा प्रायः सहज प्रकृति की है और उसमें साहित्यिकता का प्रदर्शन सर्वत्र न मिल कर केवल कुछ विशेष स्थलों पर ही मिलता है जब कि ब्रज-भाषा के प्रमुख आख्यानकार नंददास की भाषा सर्वत्र सँवारी हुई है और पग-पग पर कवि के 'जड़िया' होने की घोषणा करती है। गुजराती के श्रेष्ठतम पदकार नरसी मेहता की भाषा भी आख्यानकारों की भाषा से बहुत अधिक दूर नहीं है। साहित्यिकता का पुट उसमें अवश्य है परन्तु प्रकृत रूप को उसने आच्छादित नहीं किया है। उनकी अपेक्षा सूर के पदों की भाषा अधिक समृद्ध, शक्तिसम्पन्न और अधिक साहित्यिक है। ब्रजभाषा के कवियों में भाषा का संस्कार करने की प्रवृत्ति प्रारंभ से ही मिलने लगती है जब कि गुजराती में कोई भी कवि इस सम्बन्ध में प्रयासशील नहीं दिखाई देता। भाषा के प्राकृत रूप पर ही गुजराती कवियों को गर्व रहा है। प्रेमानंद में यह भावना अत्यन्त मुखर होकर व्यक्त हुई

है। उन्होंने बार-बार संस्कृत की स्पर्धा में अपनी भाषा को प्राकृत कह कर प्रस्तुत किया है—

आ पासा व्यास बाँचे संस्कृत, आ पासा मारूं प्राकृत,
व्यासवाणी में जाणी यथा, तेवी प्राकृते जोडी कथा।

श्रीम०, भा० पृ० २५७

भालण ने प्राकृत और गुर्जर कह कर तथा नरसी ने प्राकृत और अपभ्रंश का नाम लेकर भाषा के प्राकृत स्वरूप की श्रेष्ठता का उद्घोष किया है—

क. **प्राकृत ने प्रीछवा करी, गुर्जर भाषाओ विस्तरी।**

—द० स्कं०, पृ० ३११

ख. **तेणे कृष्णनुं गमन कराव्युं ते प्राकृत मांय करिये रे।**

—न० कृ० का०, पृ० ५६

ग. **अपभ्रष्ट गिरा विषे, काव्य केवुं दिसे, गाय हिसे ने ज्यम तीर लागे।**

—वही, पृ० ११७

भाषा तथा उसके प्राकृत रूप से सम्बद्ध ऐसी प्रबुद्ध चेतना तथा ऐसी सगर्व जागरूकता ब्रजभाषा के कवियों में उपलब्ध नहीं होती। ब्रजभाषा के भक्त कवियों में भाषा के प्रति गर्व तो नहीं किन्तु प्रेम अवश्य प्रतीत होता है यद्यपि रीति कवियों में केशवदास जैसे कवि भी मिलते हैं जिन्हें 'भाषा कवि' होने में शर्म आती है, क्योंकि वे ऐसे कुल में उत्पन्न हुए थे जिसके दास भी संस्कृत छोड कर भाषा बोलना नहीं जानते थे। भाषा के सम्बन्ध में इस तरह की भावना अपवाद ही प्रस्तुत करती है क्योंकि अन्य रीतिकारों में कहीं भी ऐसा भाव नहीं मिलता। यह केशवदास की वैयक्तिक धारणा ही अधिक प्रतीत होती है, फिर भी गुजराती कवियों की धारणा के ठीक विरुद्ध होने के कारण काफी महत्त्वपूर्ण है। गुजराती कवियों द्वारा व्यक्त धारणाओं से स्पष्ट हो जाता है कि क्यों उनका झुकाव भाषा को प्रकृत रूप से दूर करके संस्कृत बनाने की ओर नहीं रहा। उन्होंने उतने ही अंशों में अपनी भाषा को संस्कार दिया है जितना विषय-वस्तु तथा काव्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक था। भाषा के अलंकरण की प्रवृत्ति भी इसीलिए गुजराती की अपेक्षा ब्रजभाषा में अधिक मिलती है जो अलंकार-विधान के सम्बन्ध में दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट है।

भावों को अभिव्यक्त करने की क्षमता दोनों भाषाओं मे प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। भाव-पक्ष के अन्तर्गत विवेचित, उद्धृत तथा संकेतित स्थल इसके प्रमाण हैं। सामान्यतया तत्सम और तद्भव शब्दों से मिली-जुली भाषा का व्यवहार हुआ

है परन्तु ऐसे स्थलों पर भाषा प्रायः अकृत्रिम, तत्समताहीन, लाक्षणिक तथा लोकोक्तियों और मुहावरों से युक्त मिलती है। भाव-विश्लेषण के साथ साथ भाषा की लाक्षणिकता और व्यंजना-शक्ति की ओर बराबर निर्देश कर दिया गया है। सूर, भालण तथा प्रेमानन्द के पद इस तथ्य को विशेष रूप से प्रमाणित करते हैं। कवियों ने भावों की कोमलता को व्यक्त करने के लिए शब्दों को विविध प्रकार से कोमल बनाने का बराबर यत्न किया है। ओजपूर्ण स्थल काव्य में अपेक्षाकृत कम हैं अतएव भाषा में ओज की अपेक्षा माधुर्य और प्रसाद गुण का प्राधान्य स्वाभाविक रूप में मिलता है। मयण जैसे कवि एक दो ही हैं जिन्होंने शृङ्गार-वर्णन के लिए भी ओजस्विनी भाषा और वीरोचित छंद का व्यवहार किया है। वस्तुगत और भावगत सुकुमारता की छाया काव्य की भाषा पर बराबर परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ कवियों ने कोमलता और सुकुमारता की व्यंजना के लिए शब्दों में 'ल', 'ड' या 'ड़' का संयोग किया है। यह प्रवृत्ति गुजराती कवियों में बहुत अधिक मिलती है। भालण के एक ही पद में 'नानडियो हैडुं, पालणडुं, घुघरडी, आंसुडां, भामणडां, मावडी जैसे अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं।'[१] नरसी ने इस प्रकार के शब्दों का और भी अधिक व्यवहार किया है। उन्होंने प्रेमजन्य लघुता को सूचित करने के लिए कहीं-कहीं 'ड' और 'ल' का एक साथ योग किया है। आंखडली, पाखडली, राखलडी, बाहुडली की तरह बहुत से शब्द प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। मधुर वर्णों के दोहरे योग से बने इन शब्दों के अतिरिक्त एकहरे योगवाले तो अगणित मिलते हैं जैसे नानडीयो, सेजडी, घुंघटडी, टीलडी, बांसलडी, मारगडे, मरकलडो, दीवडीयो, बाहुडी, सांइडां। नरसी के यह सभी शब्द केवल चार पृष्ठों से चुने गये हैं।[२] इससे यह प्रमाणित होता है कि इस प्रकार की शब्द-योजना उन्हें कितनी अधिक प्रिय थी और इससे उनकी भाषा का माधुर्य कितना अधिक बढ़ गया है। ब्रजभाषा के कवियों ने भी शब्द-निर्माण की इस शैली का सम्यक् प्रयोग किया है परन्तु 'ड' और 'ल' के स्थान पर 'ड़' और 'या' का योग मिलता है जैसे 'मावडी' के स्थान पर 'मैया' और 'कानडो' के स्थान पर 'कन्हैया' तथा 'दुख' और 'मुख' से 'दुखड़ा' और 'मुखड़ा'। दीर्घ मात्राओं को लघु करके भी ब्रजभाषा-कवियों ने अनेक शब्दों का निर्माण किया है। यथा अँसुवा, निंदिया, पगिया आदि। 'मेरे लाल को आउ निंदरिया' में नींद को लघु बनाने के लिए दोहरे वर्णों का योग हुआ है। 'दँतुलिया' आदि अन्य शब्द भी इसी प्रकार बनाये गये हैं। भाषा को भावानुकूल और मधुर बनाने को यह एक शैली है। कवियों ने कोमल एवं अनुनासिक वर्णों से युक्त शब्दों की आवृत्ति या शृंखलित संयोग से भी स्थल-स्थल पर भाषा को मधुरता और कोमलता प्रदान की है। इस सम्बन्ध में दोनों भाषाओं के कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं—

गुजराती

भालण—रणक झणक कंकण क्षुद्री, घंटिका शो किंकिणी।
चरण ठवण हंसगवण नेपुर घुणी घुणी।
—द० स्कं०, पृ० १२१

नरसी—ताळी देतां तारुणी, झांझरनों झमकार।
कटि किंकणी रणझणे, घुघरीना घमकार।
—न० कृ० का०, पृ० १६३

प्रेमानंद—शणगार साजे, रूप राजे, गाजे घुंघरु पाय।
ठमक अणवट झमक झांझर छमक पहानी थाय।
—श्रीम० भा०, पृ० २४६

ब्रजभाषा

सूरदास—१. जननि कहति नाचौ तुम देहौं नवनीत मोहन,
रुनुकु झुनुकु चलत पाँइन चायन नूपुर बाजै।
—सू० सा०, पृ० १५०

२. पायन नूपुर बाजई कटि किंकिनी कूजै।
नन्ही एडियन अरुणता फलबिंबन पूजै।
—वही, पृ० १४७।

नंददास—नूपुर, कंकन, किंकिनि, करतल मंजुल मुरली।
ताल, मृदंग, उपंग, चंग एकहि सुर जुरली।
...तैसिय मृदु-पद-पटकनि चटकनि कटतारनि की।
लटकनि, मटकनि, झलकनि, कल कुंडल हारनि की।
—नंद०, पृ० २७६

ब्रजभाषा का माधुर्य सुविदित है परन्तु गुजराती भाषा में भी पर्याप्त माधुर्य मिलता है जो उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है। प्रधान कवियों को छोड़कर सामान्यतया गुजराती कवियों ने भाषा को मधुर बनाने की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है जबकि ब्रजभाषा में सुकुमार वर्ण-योजना और मधुर पदावली के विन्यास की ओर कवि प्रायः सजग रहे हैं।

रूप-शृंगार वर्णन करने में कवियों ने तत्सम और आलंकारिक भाषा का व्यवहार किया है परन्तु साधारण कथा-वर्णन या वस्तु-निरूपण में भाषा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है और फलतः शिथिलता, नीरसता, अनगढ़पन, असमर्थता तथा अपरिपक्वता रह रह कर झलकती है। यह दोष साधारण कोटि के कवियों में तो मिलते ही हैं, कहीं कहीं सूर, भालण और प्रेमानंद तक में प्राप्त हो जाते हैं।

कथा-वर्णन में सूर की भाषा उतनी ही शिथिल मिलती है जितनी भाव-वर्णन में प्रवाहपूर्ण और सशक्त। विषय के अनुसार भाषा का रूप तो बदला हुआ मिलता ही है, साथ ही उसकी चित्रात्मकता और सजीवता में भी उत्कर्ष-अपकर्ष होता जाता है।

विविध भाषाओं का मिश्रण

भाषा के सम्बन्ध में अभी तक जिस स्वरूप-परिवर्तन का उल्लेख हुआ है वह शैली की विशेषता कहा जा सकता है परन्तु दोनों भाषाओं के कई कवियों ने एक भाषा का प्रयोग करते करते बीच बीच में किन्ही अन्य भाषाओं का जो मिश्रण अथवा प्रयोग किया है वह किसी की दृष्टि से शैली की विशेषता नहीं माना जा सकता। एक तो इस मिश्रण का कोई उद्देश्य लक्षित नहीं होता, दूसरे वह सर्वत्र मिलता नहीं। कवि-विशेष के स्वभाव से भी इसका सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो पाता अतएव विविध भाषाओं के मिश्रण को एक 'विचित्रता' मात्र कहना उचित होगा। इस मिश्रण के मूल में जो कारण निहित हैं वे शैली-तत्व से सर्वथा भिन्न हैं।

ब्रजभाषा के कुछ कवियों ने पंजाबी का मिश्रण किया है और गुजराती के कुछ कवियों ने मराठी का। संस्कृत का आभास उत्पन्न करने की चेष्टा कतिपय स्थलों पर दोनों भाषाओं में मिलती है। गुजराती के कई कवियों ने ब्रजभाषा का व्यवहार किया है। ब्रजभाषा के कवियों द्वारा गुजराती में काव्य-रचना तो नहीं हुई परन्तु कुछ गुजराती शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है। मीरां की स्थिति सबसे पृथक् है क्योंकि उनके काव्य में ब्रजभाषा, राजस्थानी तथा गुजराती तीनों का व्यापक मिश्रण है और आंशिक रूप से पंजाबी का भी। आगे भाषाओं के मिश्रण से सम्बन्धित सारी स्थिति का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है।

पंजाबी का मिश्रण—ब्रजभाषा के साथ पंजाबी का मिश्रण वल्लभरसिक, पीताम्बरदेव और मीरां के काव्य में कतिपय स्थलों पर मिलता है। शब्दावली, बहुवचन तथा विभक्तियों आदि के पंजाबीपन के कारण ऐसे स्थल स्पष्टतया अलग प्रतीत होते हैं यद्यपि वे लिखे स्वतन्त्र रूप से नहीं गये हैं। ऐसे स्थलों से चयित कुछ पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

क. पंथ असाडे कोई पैर न रक्खो असी लखि लखूबो लोग हँसाए।
नेह नगर दे अंदर नू असी शिरदे पैर चलाए।
आह पवेननि वाह की सीदा असी तिस्सी राहाँ चल्लाँ।
इश्क दिलाँ दे नाले नाले महबूबाँ दी गल्लाँ।
स्याह जुलफ छल्ले जिस छल्ले असी थर सल्ले तिसी महल्लाँ।
वल्लभरसिक रूमाल लाल पर भूमि हमेसैं झल्लाँ।

—श्रीव० र० वा० पृ० ३९

ख. ऐसी तू चिपटी दिल दी सुइयों काली कमली कीती है ।
हुण आशानूं जावन आवेनै, अंग अंग करि जीती है ।
...ऐसी तू साडे लखना नू तू जाना काहू दाना ।
तू तो ढोल वजंदा चोरा चसमो बीच छिपाना ।
तेरे दिल विच दया दरद ना डारा फंद निमाना ।
पीताम्बर ते राजस जग में गाया वेद पुराना ।

—नि० मा०, पृ० ३०८

ग. हो कानाँ किन गूंथी जुल्फाँ कारियाँ ।
सुघर कला प्रवीन हाथन सूँ, जसुमतिजू ने सँवारियाँ ।

—मी० प०, पृ० ५७, पद १६५

लागी सोही जाणै, कठण लगण दी पीर ।
विपति पड्या कोइ निकटि न आवै 'सुख में, सब को सीर ।

—वही, पृ० ६४, पद १९१

मराठी का मिश्रण—मराठी की षष्ठी विभक्ति का व्यवहार गुजराती कवियों में भीम, नरसी और केशवदास द्वारा हुआ है—

क. भीमचइ-स्वामी श्रीकृष्णइ संसार सागर तारी।

—रि० घो०, पृ० १५५

ख. महारा वहालाजीमां कुसुमचो भार नही रे ।
नरसैंयाचो-स्वामी भले मलीयो, सुखकरो गोकुल राइ रे ।

—न० कृ० का०, पृ० २०७

मनमथची पीड दोहली देखी जोवन न रहे झालुं रे ।

—वही, पृ० ३५७

कंठडाचो भूषण सजनी।

—वही, पृ० ३९३

अंगभीडी आलिंगन लीधुं चोलीयाची कस तूटी गई ।

—वही, पृ० ३७३

ग. केशवदास चो स्वामी, सेवक काजे रे राम ।

—श्रीकृ० ली० का० पृ० ४०

गुजराती के अनेक कवियों ने कृष्ण के लिए 'विट्ठळ' शब्द का प्रयोग किया है जिसकी ओर संकेत पर्याय शब्दों के प्रसंग में किया गया है।

गुजराती साहित्य के प्रसिद्ध पारखी तथा प्रमुख भाषा-शास्त्री न० भो० दिवेटिया के मत से 'चो' 'ची' 'चा' तथा 'विट्ठळ' का प्रयोग गुजराती पर मराठी भाषा के प्रभाव का निश्चित प्रमाण नहीं है।[५३] नरसी मेहता के पदों में कुछ स्थलों पर जो मराठीपन मिलता है वह उक्त लक्षणों तक ही सीमित नहीं है, जैसा नीचे लिख पदांशों से प्रकट है—

आपुला मंदिरमां हो, सखी जालवरे दीवडो।
घणे दहाडले पीयु प्राहुणला आव्या, आदर गोरवा दीजे।

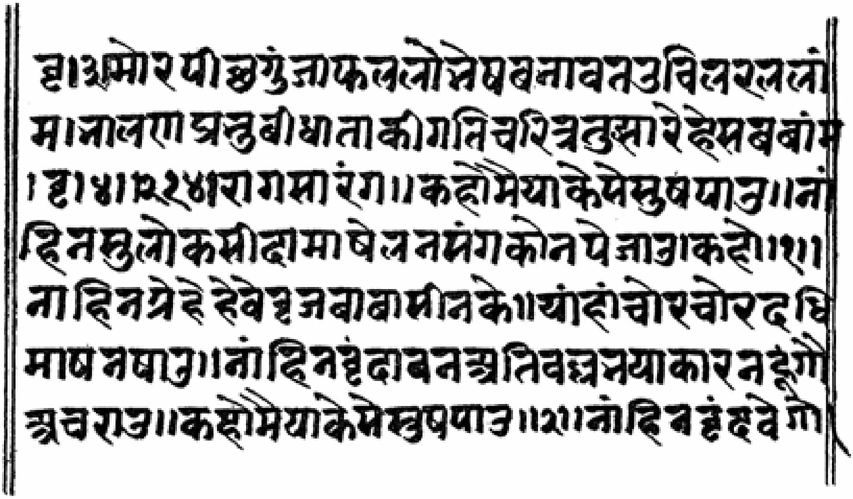
—न० कृ० का०, पृ० ४१७

अनंग आहेडीओ जाळ मांडीला पंखी कामीजन आवीला।
जुगत करी जुवती जोतां, ततक्षणुं पासे पाडीला।
घन स्तन भार भरीलां, कामीजन आप विसरीला।
शरणे तुमारे आवीलां, नरसैंयाचे स्वामी विसरी गेइला।

—वही, पृ० ५२१

संस्कृत का मिश्रण—दोनों भाषाओं के अनेक कवि संस्कृत के ज्ञाता थे और कुछ ने तो संस्कृत में काव्य-रचना भी की है जैसे व्रजभाषा में हितहरिवंश और गुजराती में केशवदास। हितहरिवंश ने 'राधासुधानिधि' की रचना की है और केशवदास ने 'श्रीकृष्णक्रीडाकाव्य' में भीमकृत 'हरिलीलाषोडशकला' की तरह बीच बीच में जो अनेक संस्कृत श्लोक संगुंफित किये हैं उनमें से 'सोळ स्वयंकृत संस्कृत' लिखकर सोलह को स्वरचित स्वीकार किया है।[५४] यहाँ भाषा के कवियों की संस्कृत रचनाओं का परिचय देना अभीप्सित नहीं है वरन् संस्कृत की ओर उनके झुकाव की ओर संकेत कर देना ही इष्ट है। इन कवियों के भाषा-काव्यों में कुछ प्रयोग ऐसे मिलते हैं जो संस्कृत के नियमों के अनुसार बने हैं। हरिवंश ने 'नेति नेति वदति'-तथा 'पशुरिव' लिखकर और केशवदास ने 'निरीक्षणे' 'यमुनातटे' 'वनितया' तथा 'तन्त्री तांबुलचर्वितं च बहुलं' जैसे शब्दों एवं शब्दसमूहों का प्रयोग किया है।[५५] जिन कवियों ने 'गाथा', 'गाहा' या आर्या छंद का व्यवहार किया है उन्होंने कहीं-कहीं चरणान्त के शब्दों को संस्कृत की द्वितीया विभक्ति के एकवचन का रूप दे दिया है। पृष्ठ १६५ पर सूरसागर में भी एक पद में 'पारपारं' 'आधारं' जैसे रूप

भालण का ब्रजभाषा में लिखित पद


ह्ला॥ ॐ मोर पीछ गुंजाफल लोचन बनावत उविलरल लीं
म॥ भालण प्रभु बीधाता की गति चरित्र तुम्हारे हेमसबां म
॥ १६॥ ४॥ पद २४॥ राग गमारंग॥ कहो मैया के पेसुषपाउ॥ नां
हि न सु लोक सीदामा षेलन संग कोन पे जाउ॥ कहो॥ १॥
नाहि न ग्रेहे हेवे ब्रज वाबा मानके॥ यांहां चोर चोर दधि
माष न षाउ॥ नांहि न वृंदावन अति वल्लभ या कारन हूं गौ
ब्रुचराउ॥ कहो मैया के पेसुषपाउ॥ २॥ नांहि न हूं हवे गो

—भालण कृत दशमस्कंध की एक प्राचीन प्रति का,
भालण छाप वाले ब्रजभाषा के पद से युक्त पृष्ठ।

प्राप्ति-स्थान—संग्रहालय, गुजरात-विद्या-सभा, अहमदाबाद

ह० प्र० नं०—४७४ (आदि त्रूटक)

रचनाकाल—अज्ञात

बनाये गये हैं। ब्रजभाषा के कवि गदाधर भट्ट की वाणी में संस्कृत के कई पद मिलते हैं।[५६] कहीं कहीं उनके ब्रजभाषा के पदों में संस्कृत का आभास मिलने लगता है—

रूपबलकोटिकन्दर्पदर्पापिर हरध्यात पद कमल विश्वबंधो !
नामआभासअघरासि विध्वंसकर सकल कल्याण गुनग्राम सिंधो !

—श्रीगदा० बा०, पृ० १३

गुजराती कवियों द्वारा ब्रजभाषा का प्रयोग एवं मिश्रण

१. **भालण**—१५ वीं शती के कवि भालण के दशमस्कंध में भालण की ही छाप से प्राप्त होने वाले ब्रजभाषा के छै पदों की ओर प्रथम अध्याय में ही संकेत किया जा चुका है। दशमस्कंध के सम्पादक हरगोविंद द्वारकादास कांटावाळा के मत से भालण 'ब्रजभाषामां सारी कविता करतो हतो. तेनी प्रतीति दशमस्कंदमां रचेली हिन्दी कविता उपरथी थाय छे'।[५७] अर्थात् भालण ब्रजभाषा के सुन्दर कवि थे जिसकी प्रतीति उनके दशमस्कंध में प्राप्त होने वाली हिन्दी कविता से होती है। दशमस्कंध में ब्रजभाषा के चार पद एक साथ मिलते हैं और दो अलग अलग।[५८] एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है जिससे भाषा विषयक स्थिति का ठीक ठीक अनुमान हो सके—

कोन तप कीनो री, माई नंदघरणी।
ले उछंग हरि कु पयपावत, मुखचुंबन मुख भीनो री।
तृप्त भये मोहनजू हसत है, तब उगमत अधर ही फीनो री।
जशोमती लटपट पूछन लागी, बदन खेचि तब लिनो री।
रिदे लगाये बदजू मोहि तु कुलदेवा दीनो री।
सुन्दरता अंग अंग कहा बरनू, तेजही सब जुग हीनो री।
अंतरिक्ष सुर इन्द्रादिक बोलत, ब्रज जन को दुख खीनो री।
इह रस सिंधु गान करी गाहत हे, भालन जन मन भीनो री।

—द० स्क०, पृ० ५३-५४

यह पद इसलिए और भी उद्धृत किया गया है कि इसकी प्रथम पंक्ति का, भालण की गुजराती में रचित, निम्न पंक्ति से अद्भुत सादृश्य मिलता है—

शां तप कीधां ते कामिनी रे, थइ सुन्दरवर नी माय।

—द० स्क०, पृ० ३६

तुलना करने पर लगता है जैसे दोनों एक ही कवि के द्वारा रची गयी हों। भालण के दशमस्कंध में अन्य अनेक प्रयोग मिले हैं जिनका स्वरूप गुजराती के अनु-

कूल न होकर व्रजभाषा के अनुकूल है। उदाहरणार्थ 'नंद केरे आंगणे' (पृ० ३२;) मोरलीनो रस लेत (पृ० ६९); मटुकी (पृ० १३८, १५०); हुलराव्यो (पृ० १९०); आदि को प्रस्तुत किया जा सकता है। भालण छाप वाले व्रजभाषा के पदों में गुजराती का मिश्रण नहीं मिलता। विभक्तियाँ और क्रियापद व्रजभाषा के ही हैं, केवल ध्वनि का नगण्य अन्तर कहीं कहीं मिलता है। यह सभी पद वात्सल्य भाव से सम्बद्ध हैं। वात्सल्य भाव भालण के अन्य गुजराती पदों में भी प्रमुख रूप से मिलता है।

२. **नरसी**—इसी तरह नरसी मेहता कृत काव्य-संग्रह में नरसी की छाप वाले दो व्रजभाषा के पद मिलते हैं, जिनकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

क. साखी—पीय संग अेकांत रस विलसत राधा नार।
कंध चडावन को कहो तातें तजी गये जु मोरार।

चाल—ताते तजी गये जु मोरारी, लाल आय संग ते टारी।
त्यां ओर सखी सब आई, कयाहू देख्यो मोहनराई।

साखी—प्रेम प्रीत हरि जीनके, आवे उनके पास।
मुदित भई त्यां भामनी, गुण गावे नरसैंयोदास।

—न० कृ० का०, पृ० १९८-१९९

ख. वसंत विवाह आदर्यो हो हो, आदर्यो रे परणे छे नंदजी को लाल।
जेसो सुन्दर श्याम बन्यो हे अेशी बनी राधेनार बल जाऊँ।
पहेलो परण्यो महेता नरशीनो स्वामी पछी परण्यो आ सकल संसार।

—वही, पृ० २५३

नरसी के एक अन्य पद में व्रजभाषा के अनुकूल शब्द प्रयुक्त हुए हैं—

वृन्दावननी कुंजगलनमे महिडां बेचण रे।
महि मटुकी शीर पर लीधी चाली बननी वाटे रे।

—वही, पृ० ५८४

३. **केशवदास**—केशवदास के श्रीकृष्णक्रीडाकाव्य में केवल दो स्थलों पर व्रजभाषा का प्रयोग मिलता है। पहले स्थल पर राधा की मानलीला के सम्बन्ध का एक पद दिया है, तदुपरान्त एक निश्चित क्रम से कारिका की एक एक पंक्ति के पश्चात् त्रोटक की चार चार पंक्तियाँ दी गयी हैं। इस प्रकार चालीस पंक्तियों का व्रजभाषा में रचित यह दूसरा पद प्राप्त होता है जो यशोदा और गोपी के संवाद रूप में निर्मित हुआ है। दोनों पदों के प्रारंभिक अंश परिचय के लिए नीचे दिये जाते हैं—

क. त्यज अभिमान गोवाली, घर्य आयो वनमाली।
याके चरण चतुर्मुख सेवे, किंकर होय कपाली।
—श्रीकृ० ली० का०, पृ० १०९

ख. कारिका—सुन हो यशोमति माय, कृष्ण करत हें हे अति अनिआय।
त्रोटक—कृष्ण करत हें अन्याय अतलीबल, गोपी को कह्यो न माने।
देखत लोक, लाज कुछूं नही, नार्‌य बोलावत ही शाने ?
हम गुनवंती सती सुलखणी, यह विध्य रह्यो न जाय।
कोपहि काल्य सुनेगो कंसासुर, सुन हो यशोमति माय।
—वही, पृ० १०९

केशवदास के इन पदों में गुजराती शैली और गुजराती शब्दों का स्पष्ट मिश्रण हुआ है। पहले पद का ध्रुवा दूसरे पद में कारिका और त्रोटक का क्रम तथा 'मांकड', 'शाने', 'मोहोटी', 'कामणगारो' जैसे शब्दों का प्रयोग इस मिश्रण को प्रमाणित करता है।

दूसरे स्थल पर प्रारंभ में कडवां और त्रोटक के क्रम वाला एक पहले जैसा दीर्घ पद मिलता है तथा अंत में एक 'सवाइयो' दिया हुआ है। इस स्थल पर भी भाषा में मिश्रण हुआ है। कडवां तथा त्रोटक का कुछ अंश और सवाइयो की चारों पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

क. कडवां—सुनो मेरे सैया यादव रैया, गोकुल रहीये, लागूं पैयां।
त्रोटक—लागीये पैयां हरि न जैहें, बात यह मन जाणी हे।
उन क्रूर के अक्रूर का बिसास कछु न आणी हे।
—श्रीकृ० ली० का०, पृ० १२३

ख. गोकुल सकल विकल विदरसन, छन अेक होत युगंतर च्यार,
सोइ अब दिवस मास गत होइ हे, जीये कयो मधुरी मुरार ?
केशोदास मली सब गोपी, रोओती दुःख आगहें नंदनार,
कोइक भाग सुभाग हमारो, जो हरि आवे कंसासुर मार।
—वही, पृ० १२४

केशवदास की रचना के सम्पादक अंबालाल बुलाकीराम जानी ने 'निवेदन' में कवि के उत्कृष्ट व्रजभाषा-ज्ञान की पर्याप्त प्रशंसा की है।[५१]

४. **लक्ष्मीदास**—भालण के दशमस्कंध में जिन लक्ष्मीदास की रासपंचाध्यायी प्रक्षिप्त मिलती है उनके द्वारा रचित कतिपय छोटे छोटे व्रजभाषा के पदों की भी

सूचना मिलती है।[१०] कुछ पदों की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है और कुछ में गुजराती का मिश्रण हुआ है। नीचे लक्ष्मीदास का एक पद उद्धृत किया जाता है—

आजु मेरे सफल भये नयन।
कोटि मन्मथ रूप चतुर जु निरंखे गीरिधर चिन।
कोटि रवि छवि जोति आनन अंबर कोटिक मिन।
जन लषिमिदास विचित्र तरुनि लिखि चित्र सो जिन।
आजु मेरे सफल भये नयन।

—क० च०, पृ० ३३६

इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा में रचित एक पद केदारा का, एक रामगरी का तथा एक कानरा का, और मिलता है।[११] लक्ष्मीदास द्वारा लिखित चार ब्रजभाषा के 'सवाइआ' भी प्राप्त होते हैं। इनमें से एक दर्शनीय है—

अंबर चारु यू तडीत पीतांबर सुन्दर गढे टटिय भूंनां।
कंठ मनोहर हार बीजीतजलधर घोर छबी सूतना।
सीर मोर के चंद आनंद बदन कवल्ल भूजा लटकी फूंदना।
लक्ष्मीदास किहि बली जांउ नरभेष घोषपति नंद के ललनां।

—क० च०, पृ० ३६६

शास्त्री को इन पदों और सवैयों के लक्ष्मीदासकृत होने में शंका नहीं है। उनके अनुसार इनमें ब्रजभाषा का तत्कालीन रूप अपने ढंग से मिलता है।[१२]

५. **ब्रेह्देव**—ब्रेह्देव की 'भ्रमरगीता' नामक कृति में भी एक पद ब्रजभाषा का प्राप्त होता है। पद का विषय वही है जो समस्त कृति का है। पूर्वापर प्रसंग की दृष्टि से भी पद उचित स्थान पर प्रायः अप्रक्षिप्त रूप में प्राप्त होता है—

प्रीत बनी है अैसी नीकी।
नाहीं री उधो दिवस चार की, मोहे तो पेले भवकी।
दिन-दिन प्रीति बढी जाअे उधो, तिल ज्यो आ तन छूटे।
अबनिशि गांठ पडी माधो सुं, नवि छूटे तन तूटे। प्री०
माधो बिन मेरे हैअे उधो उरना कोय सुहाये।
विविध रूप छां री मेरे नयनां, स्वरूप श्याम को चाहे। प्री०
वचन पराये सुनत दुःख उपजे हरिलीला बिन सोई।
बेह्दे प्रभु बिनारी उधो, बानी सफल न होई। प्री०

—बृ० का० दो०, भाग १, पृ० ६७५

६. कृष्णदास—'श्री रुक्मिणी विवाहनां पदो' में, जो अनेक कवियों के पदों का एक छोटा सा संग्रह है, कृष्णदास की छापवाले दो तीन ऐसे पद मिलते हैं जिनकी भाषा ब्रज है। भाषा का सामान्य स्वरूप कुछ विकृत एवं अनिश्चित है। पदों की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

क. सिंह-भक्ष को श्याल पावे मेरे तो पति अेक श्याम हे।
कहत कृष्णोदास गिरिधर रुकमैयो शिशुपाल हे।
—कडवुं० ६ ठुं०

ख. श्रीकृष्ण तहां रथ साज ठाढे, सत्य करन प्रभु पातियाँ।
कहेत कृष्णोदास गिरिधर, बहोर सुनी द्विज बतियाँ।
—कडवुं० ६ ठुं०

ब्रजभाषा के कवियों द्वारा प्रयुक्त कतिपय गुजराती शब्द

गुजराती कवियों द्वारा जिस रूप में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है उस रूप में किसी भी ब्रजभाषा कवि ने गुजराती का प्रयोग नहीं किया। बहुत खोजने पर कहीं एक दो शब्द ऐसे मिल पाते हैं जो गुजराती से आये प्रतीत होते हैं। सूरदास द्वारा प्रयुक्त 'कापर', 'मोटे', 'आखौ' तथा ध्रुवदास द्वारा प्रयुक्त 'दोहिली' शब्द उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[६३] सूरसागर में सूर का ऐसा कोई पद नहीं मिलता जिसमें गुजराती का व्यवहार हुआ हो परन्तु भालण के दशम स्कंध में 'सुरदास' के नाम से दो गुजराती पद भी प्रक्षिप्त मिलते हैं।[६४] यह अष्टछापी सूर की रचना हों, ऐसा संभव नहीं दीखता। अतएव सूरदास नामक किसी अप्रसिद्ध गुजराती कवि ने इनकी रचना की हो, यही संभव है।

मीरां के पदों की भाषा

मीरां के पदों में कुछ गुजराती के, कुछ ब्रजभाषा के, कुछ राजस्थानी के और कुछ मिश्रित भाषा के पद मिलते हैं। प्रथम अध्याय में इस ओर संकेत किया जा चुका है। कुछ पदों में खड़ी बोली का पुट भी है। पंजाबी के प्रसंग में भी मीरां के पदों की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं। वस्तुतः मीरां के पदों की भाषा का स्वरूप बहुत ही अनिश्चित है। डाकोर वाली प्रति में उनके पदों की भाषा शुद्ध राजस्थानी है जबकि बृहत्काव्यदोहन में संगृहीत सौ से अधिक पद गुजराती के हैं। मीरां की पदावली जैसे संग्रहों में ब्रजभाषा के भी शताधिक पद मिलते हैं। डाकोर की प्रति सं० १६४२ की बताई जाती है अतएव यदि वह प्रामाणिक है तो उनके पदों की भाषा राजस्थानी ही ठहरती है। सं० १६९५ की गुजराती में प्राप्त एक प्रति

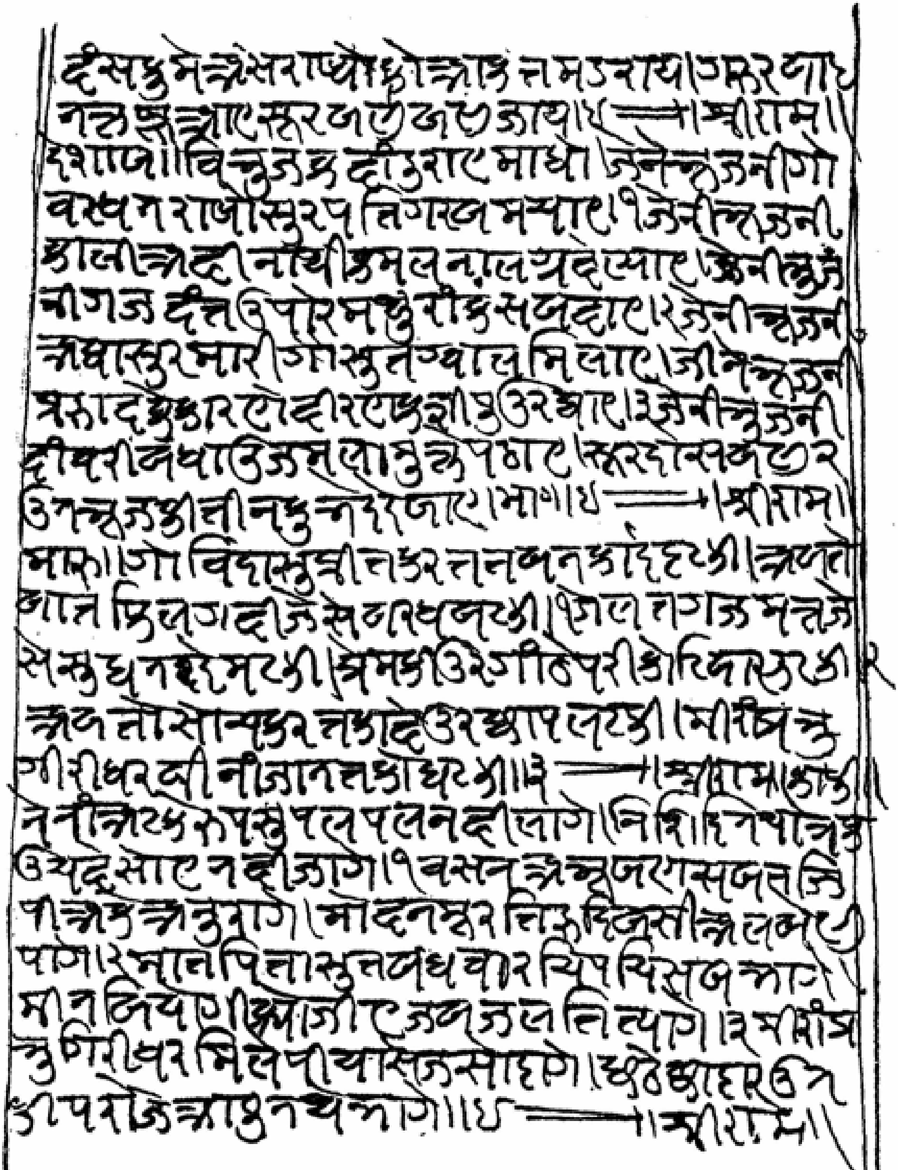
में जो उनके पद मिलते हैं उनकी भाषा ब्रज है। किसी अन्य प्राचीन संग्रह में भी मीरां के गुजराती पद नहीं मिलते, गुजराती लिपि में लिखे पद अवश्य मिलते हैं। इस सारी स्थिति पर गुजराती के विद्वान मुंशी के निम्नलिखित कथन से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

"मीरां गुजराती न होती ज, अेनां पदो गुजरातीमां लखायां न होतां अे मत वास्तविक लागे छे। हाल अेने नामे मंडायलां पदो केटलां अेनां ते पण नक्की करवुं मुश्केल छे। पण गुजरात मां शुद्ध-भक्तिनो प्रचार सामान्य लोक मां जेटलो अेनां पदोअे कर्यो छे तेटलो नरसिंहनां पदोअे पण कर्यो नथी."[६६]

> **अर्थ**—मीरां गुजराती तो नहीं ही थी, उनके पद भी गुजराती में नहीं लिखे गये थे यह मत वास्तविक लगता है। इधर इनके नाम से प्रचलित पदों में से कितने इन्हीं के हैं यह भी निश्चित कर पाना कठिन है। परन्तु यह सत्य है कि गुजरात में शुद्धभक्ति का जितना प्रचार मीरां के पदों द्वारा हुआ उतना नरसी के पदों से भी नहीं हो सका।

मीरां के पदों में जो विविध भाषाओं का रूप मिलता है उसका कारण उनका बहुप्रदेशव्यापी प्रचार प्रतीत होता है, जैसा कबीर आदि कुछ अन्य कवियों के पदों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। जो भी कारण हो, प्रस्तुत अध्ययन में मीरां के पदों का अन्यतम महत्त्व है।

मीरां के दो पद



—गुजरात से प्राप्त मीरां के पदों से युक्त हस्त-प्रति का एक पृष्ठ।

ह० प्र० नं०—द ४७७ क,

काल—हस्त-प्रति में समाविष्ट, अविचलदास के निजी हस्त-लेख में लिखित आरण्यक पर्व का रचनाकाल—सं० १६९५

पादटिप्पणियाँ

१. ब्रजभाषा-व्याकरण, ले० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ३४

२. प्रा० गु० छं०, पृ० ३-४

३. GL page, 99-100

४. हरि० पी०, पृ० १३६, १५०, १५६, १६४, १६८, १८० क्रमशः

५. द० स्कं०, पृ० १६, ६४, १७२, ३५८ क्रमशः

६. श्रीकृ० ली० का०, पृ० २८, ४०, ४४, १००, ११६, २०४ क्रमशः

७. न० कृ० का०, पृ० १५५, २२१, २२६, २५१, ३१६, ३४८, ३५७, ३७७, ३९२, ४०४, ४८०, ४८२, ४८६ क्रमशः

८. श्रीम० भा०, पृ० २३४, २३७, २५७, २६१, २६९, २९८, ३१३, ३१६, ३४५, ३३६ क्रमशः

९. सू० सा०, पृ० १५८, १५८, १५९, ३१८, ४०१ क्रमशः

१०. हरि० पी०, पृ० १३५, १३५, १३८, १५४, १५४, १५९, १५६, १६१, १६४, १७२, १७६ क्रमशः

११. द० स्कं०, पृ० १०, १२, १२, १२, १३, १३, १५, १६, १६, २८, ३०, ३०, ३२, ६२, ६२, ६९, ७०, ७०, ७०, ७१, ७१, ८५, ८६, ९१, ९३, ९३, ९४, ६७, १०१, १०९ क्रमशः

१२. श्रीकृ० ली० का०, पृ० ३१, ३९, ३६, ४०, ४२, ४२, ४३, ४४, ४६, १००, ३१०, ३११ क्रमशः

१३. न० कृ० का० पृ० १३७, १३८, १३८, २७७, ३०५, ३१६, ३४०, ३४४, ३५४, ३५५, ३९४, ४३२, ४६१, ४६६, ४७२, ४७२, ४७७, ४७७, ४७८, ४७८, ४८१, ४८२, ४९३, ४९३ क्रमशः

१४. श्रीम० भा०, पृ० २४१, २४२, २४२, २४७, २५३, २६०, २७१, २७२, २७२, २७२, २७२, २७४, २७४, २७४, २७८, २८६, २९१, २९१, २९१, २९२, २९३, २९३, २९४, २९४, २९४, ३००, ३००, ३००, ३००, ३००, ३०० क्रमशः

१५. सूरदास : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ५२१, ५२२

१६. नंद : पृ० १, २, ३, ४, ४, ४, ४, ४, ५, ५, ७, ७, ८, ९, ६, १२, १३, १४, १४, १५, १६, १६, १८, ३०, ३३, ३३, ३५, ३५, ३७, ३७, १५३, १५३, क्रमशः

१७. बिहारी रत्नाकर : पृ० ४, ४, ७, ९, ६, १०, ११, १२, १६, १७, २०, २१, २३, २४, ३२, ३२, ४०, ४२, ४३, ४३, ४३, ४३, १११, ११९, १२१, १५६, १८४ क्रमशः

१८. द० स्कं०, पृ० ९६

१९. न० कृ० का०, पृ० ६५, १०२, ११४, १४७, १५२, १५६, १५६, १५६, १५६, ३१६, ४९४, ५०८, क्रमशः

२०. श्रीम० भा०, पृ० २६४, २९४ क्रमशः

२१. प्राचीन काव्य माला, भाग १४, पृ० ९९, १८१

२२. सूरदास : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ५२३

२३. सू० सा०, पृ० १७

२४. वही,

२५. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग २, पृ० ८८२

२६. वही, पृ० ८७८

२७. श्रीव० र० बा०, पृ० ३५, ४०, ४१, ७६

२८. नि० मा०, पृ० २०३

२९. बिहारी रत्नाकर, पृ० ४, २२, २७, २८, ३४

३०. मी० प०, पृ० २२ पद ५५

३१. हरि० घो०, पृ० १४३, १७५; द० स्कं०, पृ० ९८, ११६। श्रीकृ० ली० का०, पृ० ३०, ४४, ४६; न० कृ० का०, पृ० ६५, १६३, ३०१, ३०७, ३४८, ३६२, ३६४, ४०४, ४०८, ४७१, ४९२ श्रीम० भा०, पृ० २५८; प्रेमानंद कृत मास में, छन्द संख्या ६२, सुदामाचरित में, बृ० का० दो० भाग १, पृ० २५०

३२. न० कृ० का०, पृ० ४७२, ४८८; श्रीकृ० ली० का०, पृ० ३०, ४४; प्रेमानन्दकृत मास में छन्द संख्या ७१

३३. हरि० घो०, पृ० १४३; द० स्कं०, पृ० १२, ६२, ९७; श्रीकृ० ली० का०, पृ० ३०१

३४. हरि० घो०, पृ० १४५; न० कृ० का०, पृ० ४७२, ४८०, ४८४, ४८५; श्रीकृ० ली० का०, पृ० २९

३५. हरि० घो०, पृ० १४४; श्रीकृ० ली० का०, पृ० २९

३६. द० स्कं०, पृ० २३०; न० कृ० का०, पृ० ८४; श्रीम० भा०, पृ० २४०, २४७, ३१६; बृ० का० दो० भा० १, पृ० २४८

३७. मी० प०, पृ० १८, ४९, पद ४३, ४५, १३९

३८. न० कृ० का०, पृ० २२१, २२२, २२६, २०५

३९. मी० प०, पृ० ६२ पद ५४

४०. द० स्कं० पृ० ६८; न० कृ० का०, पृ० ३०५

४१. द० स्कं०, क. पृ० १०, ख. पृ० १६, ग, पृ० १३७, घ. पृ० ११०

४२. न० कृ० का०, क. पृ० ४८५, ख. पृ० ४८४, ग. पृ० ४८५, घ. पृ० ४८५, ङ. पृ० ४८७
च. पृ० ४८८, छ. पृ० ५२२

४३. श्रीम० भा०, क. पृ० २४१, ख. पृ० २४१, ग. प्राचीन काव्य माला पृ० ११३, घ. बृ० का० दो० भा० १, पृ० २५६, ङ. वही, पृ० २८४

४४. सूरदास, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ५२८

४५. नन्द०, क. पृ० १२७, ख. पृ० ११, ग. पृ० १२

४६. द० स्कं०, क. पृ० ८, ख. पृ० ११, ग. पृ० ५६, घ. पृ० ६९, ङ. पृ० ७१
च. पृ० ७३, छ. पृ० ७४, ज. पृ० ७७, झ. पृ० ९१, ञ. पृ० ६५७
ट. पृ० ९६, ठ. पृ० ६६, ड. पृ० १००, ढ. पृ० ११५, ण. पृ० ११
त. पृ० १७२, थ. पृ० २२३, द. पृ० २२२

४७. न० कृ० का०, क. पृ० ६५, ख. पृ० ११८, ग. पृ० १५९, घ. पृ० २७३, ङ. पृ० ३१६
च. पृ० ४६२, छ. पृ० ४७५, ज. पृ० ४७४, झ. पृ० ४७६, ञ. पृ० ४७७
ट. पृ० ४८२, ठ. पृ० ४८३, ड. पृ० ४८५, ढ. पृ० ४८९, ण. पृ० ४८६

४८. श्रीम० भा०, क. पृ० २५२, ख. पृ० २७२, ग. पृ० ३२५,
घ. पृ० ३२६, ङ. पृ० ३२७ च. पृ० ३३०,
छ. मास छं० सं० ४९, ज. बृ० का० दो०, भा० १ पृ० २४०
झ. वही, पृ० २४०, ञ. वही, पृ० २४१, ट. श्रीम० भा० पृ० ३२७

४९. सूरदास : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ५२६, ५२८

५०. नंद०, क. पृ० १२७, ख. पृ० १३०, ग. पृ० १३३, घ. पृ० १३०, ङ. पृ० १४०,
च. पृ० ३३, छ. पृ० २ ज. पृ० ३, झ. पृ० ७, ञ. पृ० १४३

५१. द० स्कं०, पृ० १३

५२. न० कृ० का०, पृ० १७०, १७१, १७४, १७५

५३. गुजराती लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर, पृ० ६०-६७

५४. श्रीकृ० ली० का०, पृ० ३११

५५. श्रीहितचौरासी पद, ११, ५२; श्रीकृ० ली० का०, पृ० १००, १०२; छं० स०, ४१, ४२, ५१

५६. श्रीगदा० वा०, पृ० ६, १०, १६, १८, १९

५७. द० स्कं०, प्रारंभ में दिया हुआ 'कविचरित्र', पृ० ५

५८. द० स्कं०, पृ० ५३, ५४, १९९, २०१, २०७

५९. श्रीकृ० ली० का० प्रारंभ में दिया हुआ 'निवेदन', पृ० १३

६०. कविचरित, भाग २, पृ० ३६५

६१. वही, पृ० ३६६

६२. वही, पृ० ३६७

६३. सू० सा०, पृ० १३२, ४८२, ६५५; प्रीतिचौवनी. छं० सं० ३३

६४. द० स्कं०, पृ० २२३, २२४

६५. गुजराती साहित्य, खंड ५ मो०, पृ० ३४७

उपसंहार

उपसंहार

गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य में प्रस्तुत, भावगत और विचारगत जो व्यापक साम्य मिलता है वह दोनों भाषाओं से सम्बद्ध प्रदेशों की सांस्कृतिक एकता का परिणाम है। यत्र तत्र जो थोड़ा सा वैषम्य प्राप्त होता है वह दोनों प्रदेशों की संस्कृति की क्षेत्रीय विशेषताओं पर आधारित है। सारी परिस्थिति पर गंभीरता-पूर्वक विचार करने से ज्ञात होता है कि साम्य आन्तरिक है और वैषम्य अपेक्षाकृत बाह्य। इस साम्य और वैषम्य में गुजरात तथा ब्रज की भौगोलिक स्थिति का बहुत बड़ा हाथ रहा है जिसके कारण दोनों का सांस्कृतिक सम्बन्ध इतनी मात्रा में संभव हो सका। यह सम्बन्ध धर्म, राजनीति, भाषा और साहित्य आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यक्त हुआ। कृष्ण का यादवों समेत मथुरा को छोड़कर द्वारका में जा बसना एक ऐसी घटना है जिसे दोनों प्रदेशों के सांस्कृतिक सम्बन्ध के प्रतीक रूप में ग्रहण किया जा सकता है।[1] कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा है और देहोत्सर्ग भूमि गुजरात। काठियावाड़ में प्रभास से कुछ मील दूर एक स्थल आज भी दिखाया जाता है जहाँ श्रीकृष्ण शर-विद्ध होकर गिरे थे।[2] इसी तरह मथुरा के इतिहास में कृष्ण के महाभिनिष्क्रमण को बहुत महत्वपूर्ण घटना माना जाता है।[3] कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण ही मथुरा और द्वारका दोनों को भारतवर्ष की सात मोक्ष-दायिका पुरियों में स्थान मिला है।[4] कृष्ण के समय की द्वारावती और वर्तमान द्वारका की स्थिति में भेद माना जाता है फिर भी आधुनिक द्वारका का इतिहास २००० वर्ष प्राचीन कहा जा सकता है।[5] मथुरा से द्वारका तक के सुविस्तृत क्षेत्र में कृष्ण-भक्ति अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित रही जिसके अनेक प्रमाण पुरातत्व विज्ञान की खोजों में मिलते हैं। मथुरा क्षेत्र मे कृष्ण-बलराम की कई मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। एक शिला-पट्ट पर नवजात कृष्ण को लिए वसुदेव के यमुना पार करने का दृश्य अंकित मिलता है और एक गुप्तकालीन मूर्ति कालीय-दमन की भी मिली है।[6] गुजरात क्षेत्र में कालीय मर्दन और गोवर्धन धारण विषयक अनेक प्रतिमाएं अथवा प्रस्तर आलेखन आबू, मनोद, सोमनाथ तथा मांगरोल नामक स्थानों पर मिले हैं।[7] कृष्ण का 'त्रैलोक्यमोहन' रूप तो केवल गुजरात में ही उपलब्ध होता है।[8] कृष्ण की चतुर्भुज और द्विभुज मूर्त्तियाँ विष्णु से उनकी एकता प्रमाणित करती हैं। गुजरात में कृष्ण-भक्ति के प्रचार का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाण अनावाडा से प्राप्त वि०

सं० १३४८ के शिला लेख से मिलता है जो शांर्गदेव से सम्बद्ध है। इस लेख का प्रारम्भ **'वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूभारमुद्बिभ्रते'** से होता है। यह जयदेव के 'गीत-गोविंद' की पंक्ति है। इस शिलालेख से एक कृष्ण-मन्दिर के होने की भी सूचना मिलती है।[९]

दामोदर की उपासना के भी कई प्रमाण मिलते हैं। गिरनार में प्राप्त होने वाला सं० १४७३ का एक शिलालेख दामोदर कृष्ण की स्तुति से प्रारम्भ होता है। जिस प्रकार द्वारका में रणछोड़राय का महत्व है उसी प्रकार जूनागढ में दामोदर का। जैन कवियों ने 'दामोदरहरि पंचमऊ' के द्वारा दामोदर को भारतवर्ष में प्रसिद्ध कृष्ण या विष्णु के चार स्वरूपों, जगन्नाथ, बदरी केदारनाथ, रणछोड़राय तथा विठोवा के बाद पांचवां स्थान दिया है।[१०] कृष्ण के अतिरिक्त विष्णु के अन्य रूपों की उपासना का भी विकास इस क्षेत्र में समान रूप से हुआ है। भंडारकर, रायचौधरी तथा दुर्गाशंकरशास्त्री द्वारा वैष्णवधर्म की उत्पत्ति और विकास का जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उसमें इस सत्य को प्रकट करने वाली सामग्री यथेष्ट मात्रा में मिलती है जिसका उल्लेख यहां संभव नहीं है। कृष्ण-भक्ति और वैष्णवधर्म से इतर शैव तथा जैन धर्म के द्वारा भी मध्यदेश और गुजरात परस्पर सम्बद्ध रहे। प्रभास के सोमनाथ से लेकर काशी के विश्वनाथ तक शैवोपासना का एक ही स्वर गूंजता रहा। मथुरा का आधुनिक कंकाली टीला प्राचीन समय में जैनियों का बहुत बड़ा केन्द्र रहा है। गुजरात तो शताब्दियों तक जैनधर्म की श्वेताम्बर शाखा का प्रधान आश्रयस्थल रहा। जैनियों के ९१ वें तीर्थंकर नेमिनाथ काठियावाड़ से ही सम्बद्ध थे। आचार्य हेमचन्द्र के समय में आकर जैनधर्म गुजरात का राजधर्म बन गया।[११] गुजरात में ही जैन साहित्य में कृष्ण को स्थान मिला जिसका विशेष परिचय 'जैनागमों में श्रीकृष्ण' शीर्षक लेख में अगरचन्द नाहटा ने दिया है।[१२] आठवीं और दसवीं शती के जैन कवि स्वयंभू और पुष्पदन्त आदि के काव्यों में विविध कृष्णलीलाओं का भी वर्णन मिलता है।[१३]

राजनैतिक रूप में मध्यदेश और गुजरात अनेक वार अभिन्न रहे हैं। उग्रसेन ने कृष्ण की सहायता से द्वारका को राजधानी बना कर भी दूर तक फैले हुए यादवों पर शासन किया।[१४] परशुराम का आतंक महिष्मती से मिथिला तक व्याप्त था। पौराणिक काल के इन सम्बन्धों के बाद मौर्यकाल के सुस्पष्ट इतिहास से प्रमाणित होता है कि मध्देश के साथ ही चन्द्रगुप्त मौर्य का आधिपत्य आनर्त और सौराष्ट्र पर भी था तथा अशोक का साम्राज्य भी मध्यदेश से सौराष्ट्र तक विस्तृत था जिसकी साक्षी गिरनार के शिलालेख देते हैं।[१५] चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल में गुजरात

पुनः मध्यदेश से शासन की दृष्टि से अभिन्न हो गया और उज्जयिनी शासन का केन्द्र बनी। हूणों के आक्रमणों द्वारा गुजरात से मथुरा तक का सारा भूभाग पादाक्रान्त हुआ।

राजपूताना और गुजरात दोनों पर आभीरों का आधिपत्य रहा। गुर्जर और प्रतिहारों ने अपना केन्द्र कन्नौज को बनाया।[१६] नवीं शती के दूसरे दशक से लेकर दसवीं शती के पूर्वार्ध तक गुजरात कन्नौज से ही शासित होता रहा।[१७] गुर्जरों का सम्पर्क ब्रजप्रदेश से इतना रहा कि आजतक ग्वालिन अथवा किसी सुन्दरी स्त्री के लिए 'गूजरी' या 'गुजरिया' शब्द प्रयुक्त होता है। मथुरा और सोमनाथ दोनों को महमूद ग़ज़नवी के आक्रमणों से ध्वस्त होना पड़ा जिसका प्रतिकार इस सारे भूभाग की जनशक्ति ने संगठित रूप से किया। गुजरात के अत्यन्त प्रतापी शासक सिद्धराज जयसिंह के शासन की सीमा मध्यप्रदेश में स्थित महोत्सवनगर (महोबा) तक विस्तृत थी।[१८]

शासन के साथ ही गुजरात की सीमाएँ भी बदलती रहीं। प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से यह तथ्य अत्यधिक महत्व रखता है। ग्रियर्सन ने मध्यकालीन गुजरात को राजपूताने का एक भाग मात्र बताया है।[१९] ऐतिहासिक दृष्टि से मध्यकालीन गुजरात की सीमा में खानदेश, मालवा तथा राजपूताने का दक्षिणी भाग भी सम्मिलित था। वर्तमान गुजरात की रूपरेखा तब तक निश्चित नहीं हुई जब तक वह मुग़ल साम्राज्य का अंग नहीं बन गया। अकबर ने सन् १५७३ में गुजरात के सूबे की नवीन सीमाएँ निर्धारित करके उसे अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। गुजरात और मध्यप्रदेश पुनः एकसूत्र में बँध गये।[२०] प्रस्तुत अध्ययन के लिए स्वीकृत शताब्दियों में यह राजनैतिक एकता पूर्णतया अक्षुण्ण रही।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है गुजरात और मध्यदेश का पश्चिमी भाग दोनों युगों तक और भी अधिक समीप रहे हैं। संस्कृत का प्रभुत्व प्राचीनकाल से ही दोनों प्रदेशों पर रहा परन्तु लोकभाषा का विकास जिस अप्रतिहत गति से इस भूभाग में हुआ वह विलक्षण है। यह लोकभाषा थी अपभ्रंश और इसे मूलतः आभीरों की भाषा माना गया है। भरत ने इसको **'आभीरोक्तिः'** कहा और दंडी ने **'आभीरादिगिरः'** बताया।[२१] यह आभीर कौन थे इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वान इन्हें विदेशी मानते हैं और कुछ के मत से इनका भारतीय होना भी सम्भव है क्योंकि विदेशी होने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता।[२२] आभीर गोपाल-कृष्ण या गोविन्द के उपासक थे।[२३] इनका विस्तार गुजरात से लेकर

शूरसेन प्रदेश तक था और इनकी भाषा अपभ्रंश का प्रसार भी लाट, सुराष्ट्र, त्रवण, दक्षिणी पंजाब, राजपूताना, अवंती और मंदसोर आदि में था[२४]। भंडारकर के मत से अपभ्रंश का विकास छठी या सातवीं शती में, उस भूभाग में हुआ जिसमें आज ब्रजभाषा बोली जाती है।[२५] बूथी ने इसी मत को स्वीकार किया है।[२६] यह शौरसेनी अपभ्रंश किसी समय गुजरात में भी प्रचलित थी।[२७] राजपूताने से लेकर गुजरात तक पन्द्रहवीं शती के पहले एक ही भाषा का प्रचार था ऐसी टेसीटरी आदि कई भाषा-शास्त्रियों की धारणा है।[२८] गुजराती और जयपुरी की सहायक क्रियाओं का रूप इसका प्रमाण है।[२९] जयपुरी ही नहीं मालवी का भी गुजराती से घनिष्ट सम्बन्ध रहा।[३०] ग्रियर्सन के अनुसार गुजराती अपनी मूल विशेषताओं में पश्चिमी हिन्दी के समीप है और उससे भी अधिक उसकी समीपता राजस्थानी से है।[३१] 'हिन्दी काव्य-धारा' की अवतरणिका में राहुल सांकृत्यायन ने स्पष्ट लिखा है कि तेरहवीं शती तक गुजरात आज के हिन्दी क्षेत्र का अभिन्न अंग रहा है।

वस्तुतः पन्द्रहवीं शती से पूर्व की भाषा विषयक यह समीपता ही मीरां के पदों के गुजराती, राजस्थानी और ब्रज तीनों में पाये जाने का कारण है। साथ ही सारे प्रदेश की एकता का अन्यतम प्रमाण भी। प्रारंभ से गुजरात में लोकभाषा के प्रति विशेष आकर्षण एवं अहं भाव मिलता है। भोजदेव ने **अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः** तथा राजशेखर ने **संस्कृतद्विषः** लिखकर इसी ओर लक्ष्य किया है।[३२] भालण तथा प्रेमानंद आदि कवियों में लौकिक भाषा के प्रति जिस गर्व की भावना की ओर भाषा सम्बन्धी विवेचन करते हुए संकेत किया गया है उसकी प्रेरणा काफी गहरी है। लोक-भाषा की तरह लोक-चेतना से सम्बन्ध रखने वाला बहुत सा लौकिक और पौराणिक साहित्य दोनों प्रदेशों की समान सम्पत्ति रहा। लोक कथाओं के निर्माण में गुजरात का विशेष योग मिलता है। संस्कृत और प्राकृत का विपुल वार्ता-साहित्य इसी भूभाग में रचा गया और उज्जयिनी से उसे सतत प्रेरणा मिली। भोज और मुंज की कथाओं ने सारे प्रदेश को प्रभावित किया।[३३] हिन्दी साहित्य में प्रेमकथाओं और वीरगाथाओं की जो परम्परा मिलती है उसका पश्चिमी अपभ्रंश की रचनाओं से अभिन्न सम्बन्ध माना जाता है।[३४]

पौराणिक साहित्य का इस क्षेत्र में विशेष प्रचार रहा है। महाभारत, हरिवंश और विष्णु आदि कई पुराण गुप्त-काल से ही गुजरात में व्याप्त हो चुके थे। यही नहीं हरिवंश, मत्स्य तथा मार्कण्डेय जैसे पुराणों के निर्माण में भी गुजरात ने योग दिया हो यह बहुत संभव है।[३५] हरिवंश युक्त महाभारत तो शतसाहस्त्रीय संहिता अथवा पंचम वेद[३६] माना जाता था। वायु, मत्स्य, मार्कण्डेय तथा ब्रह्मपुराण और कदाचित्

देवीभागवत भी सातवीं शती तक जनप्रिय हो चुके थे। साहित्यिक जनता ने शताब्दियों तक विभिन्न पुराणों से प्रेरणा ली।[३६] आलोच्य काल तक भागवत के साथ साथ ब्रह्मवैवर्त तथा पद्म आदि अन्य पुराण भी गुजरात तक व्याप्त हो गये थे जैसा कि भालण, प्रेमानंद तथा अन्य अनेक आख्यानकारों द्वारा स्वीकार किया गया है। केशवदास ने अपनी रचना 'श्रीकृष्णक्रीडाकाव्य' में भागवत ब्रह्मवैवर्त, आदि पुराणों के अतिरिक्त गर्गसंहिता को भी आधार बनाया है। ब्रज के कवि भी इन ग्रंथों से परिचित थे। रचनाओं का परिचय देते समय तथा वस्तु-विश्लेषण के प्रसंग में इस ओर बराबर संकेत कर दिया गया है। भागवत का तो मध्यकालीन भक्ति साहित्य पर शताब्दियों तक अखंड राज्य रहा। इसका प्रभाव सभी पुराणों से अधिक व्यापक मिलता है। भक्तों का यह प्रधान उपजीव्य ग्रंथ था और विद्वन्मंडली में भी इसकी महत्ता सर्वमान्य थी यह **विद्यावतां भागवते परीक्षा** से प्रकट है।[३७] धार्मिक दृष्टि से इसे एक सीमा-चिन्ह कहा जा सकता है। इसमें चार बल केन्द्रस्थ मिलते हैं। शुद्धभक्ति, उपासना-वृत्ति, पौराणिक बल और कला[३८]। भारत की प्रमुख भाषाओं में इसके प्रचुर अनुवाद मिलते हैं। गुजरात और ब्रजप्रदेश में इसका प्रभुत्व और भी अधिक रहा। गुजरात में तो इसकी प्रसिद्धि दशवीं शती तक हो चुकी थी। मूलराज सोलंकी ने भागवत की ११०८ प्रतियाँ सिद्धपुर के ब्राह्मणों को दान दी थीं।[३९] एक विद्वान की धारणा है कि यदि गुजराती साहित्य में से भागवत से अनुप्रेरित सारी रचनाओं को निकाल दिया जाय तो बहुत कम ऐसी रचनाएँ रह जायेंगी जिन्हें साहित्य कहा जा सके।[४०] गुजराती कृष्ण-काव्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि गुजरात न केवल भागवत से सुपरिचित था वरन् उससे सम्बन्धी अन्य साहित्य का भी उसे पूर्ण ज्ञान था। रत्नेश्वर ने भागवत की श्रीधरी टीका को अपने अनुवाद का आधार बनाया और भीम ने वोपदेव के हरिलीलामृत को। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभाषा से अधिक भागवत के अनुवाद गुजराती में क्यों हुए।

गुजरात में कुछ ऐसे ग्रन्थों के प्रचार के प्रमाण भी मिलते हैं जिनसे ब्रज का परिचय नहीं था जैसे नृसिंहारण्यमुनि का 'विष्णुभक्ति-चन्द्रोदय' जिसकी सं० १४६९ वि० में लिखित प्रति का एक पृष्ठ नरसी के जन्म-स्थान तलाजा में प्राप्त हुआ।[४१] पूना के भंडारकर इन्स्टीट्यूट के संग्रहालय में इसकी अनेक प्रतियाँ मिलती हैं। विल्वमंगल द्वारा रचित 'कृष्णकर्णामृत' से भी गुजराती कृष्ण-काव्य ने प्रेरणा ग्रहण की है जैसा केशवदास की रचना में संगुफित उसके तीन श्लोकों से ज्ञात होता है। यह भी कहा जाता है कि चैतन्य इस रचना की रमणीयता पर

मुग्ध होकर इसे द्वारका से 'नदीया' ले गये थे ।[४२] गुजरात में 'गीतगोविन्द' के १३ वीं शती से बहु प्रचलित होने का उल्लेख किया ही जा चुका है। वस्तुत: भागवत के बाद जिस ग्रंथ ने गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य को विशेष रूप से प्रभावित किया वह यही 'गीतगोविंद' है। गुजराती के सर्वप्रमुख पदकार नरसी का जयदेव की इस रचना से घनिष्ठतम परिचय मिलता है। यही नहीं उन्होंने अपनी रचनाओं में जयदेव का नामोल्लेख मात्र न करके उन्हें पात्रता तक प्रदान की है। नरसी ने स्वयं को गोपियों और जयदेव की परम्परा का भक्त माना है।

> 'अेक जाणे छो ब्रजनी गोपी के रस जयदेवे पीधो रे ।
> उगतो रस अवनी ढलतो नरसैये ताणी ने लीधो रे ।
>
> —न० कु० का०, पृ० २६६

स्व० दुर्गाशंकर शास्त्री ने नरसी पर जयदेव के प्रभाव का अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण किया है।[४३] गीतगोविंद का प्रभाव ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्त कवियों पर भी पर्याप्त रूप से मिलता है। इस रचना की अनेक प्रतिलिपियाँ हिन्दी की प्राचीन पुस्तकों के साथ बंधी ब्रज के वैष्णव घरों तथा मंदिरों में मिलती हैं जिससे ज्ञात होता है कि चाहे संगीत की दृष्टि से हो, चाहे इसमें निहित भावों की दृष्टि से हो, ब्रज में इसका बहुत प्रचार था।[४४] आलोच्यकाल के कई कवियों के पदों में जयदेव की कोमलकांतपदावली के अंश ध्वनित और ग्रथित मिलते हैं जैसे हरिराम व्यास के पदांश (व्या० वा० पृ० ३६८) पर **'धीर समीरे यमुना तीरे'** की छाया स्पष्ट झलकती है।

यद्यपि ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य की तरह गुजराती कृष्ण-काव्य विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों के अन्तर्गत विकसित नहीं हुआ तथापि भक्ति-आन्दोलन और भक्ति-सम्प्रदायों की विचारधारा ने गुजरात को स्पर्श ही न किया हो ऐसी नहीं। यह अवश्य है कि वृन्दावन और गोकुल इन सम्प्रदायों के प्रमुख केन्द्र रहे हैं जबकि गुजरात किसी भी वैष्णव भक्ति-सम्प्रदाय का, ब्रज की तरह केन्द्र न बन सका। वैष्णव धर्म और वासुदेव-पूजा का मूल प्राचीन उत्तर भारत में ही मिलता है परन्तु मध्यकालीन भक्ति का प्रवाह दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित हुआ इसमें किसी को संदेह नहीं है। यह धारणा नवीन न होकर पर्याप्त प्राचीन है। द्रविड़ देश में कावेरी, ताम्रपर्णी आदि सरिताओं के तटवर्ती भूभाग में रहने वाले आळवार भक्तों द्वारा भक्ति के एक स्वरूप का विकास १० वीं शती के पूर्व की कई शताब्दियों में हुआ जो इन भक्त कवियों के प्रबन्धम् में संग्रहीत पदों से स्पष्ट है। भागवत में जो नवधाभक्ति उपलब्ध होती है उसका मूल आळवारों

भक्ति में माना जाता है।[४५] यही नहीं भागवतकार के दक्षिणी होने की भी संभावना प्रकट की गयी है।[४६] द्राविड़ी भक्ति का यह प्रवाह उत्तर भारत में किस किस क्षेत्र को पार करता हुआ आया इसका स्पष्टीकरण पद्मपुराण के उत्तरखंड में दिये हुए भागवत माहात्म्य के अन्तर्गत भक्ति और उसके पुत्र ज्ञान-वैराग्य की कथा से किया गया है। भागवत माहात्म्य के प्रथम अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों से ज्ञात होता है कि ब्रज में पहुँचने से पहले इस प्रवाह ने क्षीण होते हुए भी गुजरात का स्पर्श अवश्य किया था।

उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता। ॥४८॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी। ॥५०॥

—पद्मपुराणे उत्तरखंडे श्रीमद्भागवत माहात्म्ये प्रथमोध्यायः।

११वीं शती के बाद दक्षिण से जिन भक्ति-सम्प्रदायों का उदय हुआ उनका गुजरात पर १५वीं शती तक कोई असर दिखाई नहीं देता। इस काल में गुजरात में वैष्णव धर्म के जो चिन्ह मिलते हैं वे साम्प्रदायिक न होकर सामान्य एवं पौराणिक हैं।[४७] १५वीं शती में रामानुज-सम्प्रदाय प्रसरित होने लगा। द्वारका में १२ वीं शती में रामानुज का प्रभाव रहा हो ऐसी भी संभावना दुर्गाशंकर शास्त्री द्वारा स्वीकार की गयी है।[४८] रामानंद ने रामानुज-सम्प्रदाय से कुछ भिन्न मान्यताओं को स्थापित करते हुए राम-भक्ति का प्रचार किया और उनके कबीर, रैदास आदि शिष्यों का प्रभाव समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हो गया। मध्यदेश में कबीर और तुलसी ने उन्हीं का अनुसरण करते हुए राम को इष्टदेव के रूप में ग्रहण किया। गुजरात में रामानंद का प्रभाव १४वीं शती के उत्तरार्ध से लेकर १५वीं शती के बाद तक रहा।[४९] भालण और प्रेमानंद पर राम-भक्ति का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है क्योंकि कृष्ण के सम्बन्ध में काव्य रचना करते हुए भी उन्होंने राम को ही अपना इष्ट देव माना है। ऐसा उनके दशमस्कंधों में बार बार प्रयुक्त 'भालण प्रभु रघुनाथ' तथा 'प्रेमानंद प्रभु राम' से सिद्ध होता है। कहा जाता है कि यह साम्प्रदायिक न होकर पौराणिक है।[५०] परन्तु अपने नाम के साथ राम शब्द के योग का इतना आग्रह तुलसीदास जैसे राम-भक्त में भी नहीं मिलता। मीरां के पदों में कृष्ण के लिए अनेक रामवाची शब्द प्रयुक्त हुए हैं। नरसी ने भी अपने को रामनाम का व्यापारी कहा है—

संतो हमे रे वेवारीया श्री रामनामनां।

—न० कृ० का०, पृ० ४७४

अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'निम्बार्क, मध्व के वारकरीओनी असर गुजरात मां कांई देखाती न थी।' [५१] वस्तुतः यही सत्य भी है। हिन्दी के एक विद्वान् का यह कथन कि 'गुजरात में माधवाचार्य ने द्वैतमूलक वैष्णव धर्म का प्रवर्तन किया' यथार्थ प्रतीत नहीं होता। [५२]

राधा-कृष्ण के युगल रूप की उपासना को प्रश्रय देने वाले निम्बार्क-मत का प्रभाव वृंदावन पर तो रहा परन्तु गुजरात में परिलक्षित नहीं होता। राधा-कृष्ण के उपासक राधावल्लभीय सम्प्रदाय के सम्बन्ध में अवश्य कहा जाता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय से पहले उसी ने गुजरात को अपना प्रभाव-क्षेत्र बनाया था।[५३] यह प्रभाव कदाचित् बहुत ही क्षणिक रहा होगा क्योंकि १६ वीं शती के राधावल्लभीय कवि हरिराम व्यास ने लिखा है कि लोग व्यर्थ ही बंगाल और गुजरात में भटकते फिरते हैं। भक्ति का केन्द्र तो वृंदावन ही है—

भटकत फिरत गौड़ गुजरात।
सुखनिधि मथुरा तजि वृंदावन दामन को अकुलात।

—व्या० वा०, पृ० १५०

वारकरी-सम्प्रदाय के नामदेव आदि सन्तों से मध्यदेश और गुजरात परिचित अवश्य था परन्तु उनका प्रभाव गुजराती भक्तों पर पड़ा हो ऐसा निश्चयपूर्वक कहना कठिन है यद्यपि शास्त्री के अनुसार नरसी ने उनके द्वारा प्रसरित एवं द्वारका तक विस्तृत प्रवाह में स्नान किया था जैसा उनके निम्नलिखित कथन से प्रकट है।

'मराठी वारकरी संतोअे जे प्रवाह दक्षिणमां विस्तार्यो हतो ने छेक द्वारका सुधी पहोंच्यो हतो ते भक्ति प्रवाहमां नरसिंह नाह्यो हतो ने भक्तनी तन्मयता प्राप्त करी चूक्यो हतो, अे वस्तु अेनी प्रत्येक कृतिमां मूर्त थाय छे। अेना जीवनमां भगवाने करेली चमत्कारिक मदद पणो अे तन्मयतानी ज निरूपणा छे।' [५४]

परन्तु नरसी में जो तन्मयता है उसके साथ सखी-भाव या गोपी-भाव की प्रेरणा है अतएव वारकरी सन्तों की भाव-धारा से उसका मेल करना समुचित प्रतीत नहीं होता। पद-शैली और चमत्कारिक घटनाओं में वारकरी सन्तों के साथ नरसी की रचनाओं का सादृश्य अवश्य परिलक्षित होता है मीरां और नरसी दोनों ने नाम-देव का उल्लेख दो एक स्थल पर किया है—

नरसी—क.....नामो ने रामो।

—न० कृ० का०, पृ० १०४

ख. सोइ नामदेव नुं देवल फेरव्युं ते तमारी कृपा गणाणी रे ।

—वही, पृ० ५५६

मीरां—......नामदेव की छान छवंद ।

—मी० प०, पृ० १३७

मीरां और नरसी की प्रेम-ज्वालाएँ कहाँ से फूट पड़ीं, उनमें इतनी 'तलसाट' कहाँ से आयी, इस प्रश्न का उत्तर गुजरात पर चैतन्य-सम्प्रदाय का प्रभाव स्वीकार करके दिया जाता है जिसकी पुष्टि गोविंददास के भ्रमण-वृत्तान्त से होती है। चैतन्य-सम्प्रदाय के जीव गोस्वामी के सम्पर्क में मीरां अपने वृन्दावन-वास के समय आयीं थी यह भी असंदिग्ध समझा जाता है।[५५] इस सबका मूल आधार है मीरां, नरसी और चैतन्य की रागानुगा, प्रेमलक्षणा एवं शुद्ध भक्ति। वृन्दावन चैतन्य-सम्प्रदाय का केन्द्र बना और शुद्ध भक्ति के प्रसार की दृष्टि से सारे भारतवर्ष का हृदय सिद्ध हुआ।[५६] दुर्गाशंकर शास्त्री ने नरसी पर वृन्दावनी भक्ति अथवा चैतन्य-सम्प्रदाय का प्रभाव अस्वीकृत करते हुए सिद्ध किया है कि नरसी ने भागवत, जयदेव और भ्रमणशील साधुसंतों के प्रभाव से सखी-भाव का स्वतन्त्र विकास किया। उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि सखी-भाव चैतन्य द्वारा ही उद्-भूत न होकर उनसे पहले भी मिलता है।[५७] नरसी को वल्लभ-सम्प्रदाय से सम्बद्ध करने की भी चेष्टा की गई है जिसपर अब तक किसी विद्वान् ने श्रद्धा प्रकट नहीं की। उनके दो पद ऐसे हैं जिनमें 'पुष्टिमार्ग' शब्द प्रयुक्त हुआ है। एक के आधार पर तो उन्हें पुष्टिमार्ग का 'वधैया' तक कहा जाता है—

१. कोटिक काम विलास विविध, बेहु समोवड शोभी रह्यां,
अेवो **पुष्टिमारग** अनुभव्यो रस नरसइंयो हूतो तिहां।

—न० कृ० का०, पृ० १२३

२. श्री वल्लभ श्री विट्ठळ, भूतले प्रगटी ने, पुष्टिमार्ग ते विशद करशे।
दैवी निज जीव जे, शरण जे आवशे, बिना साधन उद्धार करशे।

—वही, पृ० ५३४

पहले स्थल पर 'प्रेम मार्गीनो अनुभव्यो रस' पाठांतर मिलता है। दूसरे पद पर टिप्पणी करते हुए संग्रहकर्ता इच्छाराम सूर्यराम देशाई लिखते हैं—

'उपलुं पद नरसिंह महेतानी कृति छे अेम मानवबानो प्रयत्न, श्रीमद्‌वल्लभाचार्य सम्प्रदायना केटलांक गोसांइना बालको अने अनेक वैष्णवो करे छे......वैष्णवो कहे छे के नरसैंयो पुष्टिमार्गनो वधैयो वधामणी आपनारो हतो, अने नरसिंह मेहे-

ताओ श्री वल्लभाचार्य जे बोध करवाना हता, ते प्रथम जणाववाने जन्म लीधो हतो। आना जेवो उडांगटोल्लो, हुँ धारूं छुं के कोई पण पंथ सम्प्रदायमां नहि हशे। नरसिंह मेहेताना काव्यो, पदो जेटलां जेटलां जूना चोपडामांथी उतार्यां छे तेमां क्यांही ओ पद दृष्टे पड्युं नथी पण अराडमी सदीना लखायला वल्लभ-सम्प्रदायना चोपडामांथी ज मात्र आ पद मळी आव्युं छे............सूक्ष्म रीते अवलोकन करनारने प्रत्यक्ष थशे के नरसिंहनी ज्ञान-भक्ति अने पुष्टि-भक्ति वच्चे कोई पण जातनी साम्यता नथी तो पछी उक्त पदमां वर्णवेली भविष्यवाणी नरसिंह मेहेतो केम भाखे ? नरसिंहनी भक्ति नुं स्वरूप, कोई पण विष्णु उपासक पंथ ने मान्य छे, सर्वदेशी छे, वल्लभाचार्यनी भक्ति नुं स्वरूप अेकदेशी छे।'

टिप्पणीकार ने पद को प्रक्षिप्त माना है और चौथी कड़ी को जो ऊपर उद्धृत की गई है, भाषा, वस्तु तथा विचार तीनों की दृष्टि से कृत्रिम कहा है जो यथार्थ ही है। दिवेटिया ने भी नरसी के काव्य-काल को वल्लभाचार्य के जन्म सन् १४७९ से पूर्व मानते हुए घोषित किया है कि उनपर पुष्टिमार्ग का कोई प्रभाव न था और नरसी की कृष्ण-भक्ति का मूल भागवत, जयदेव आदि को ही मानना चाहिए; साथ ही यदि नरसी को समय-च्युत भी किया जाय तो भी यही मान्यता चरितार्थ होगी।[५८]

नरसी के दार्शनिक विचार शुद्धाद्वैतवाद से बहुत मिलते हैं जैसा कि सिद्धान्त पक्ष में निर्दिष्ट किया गया है। उन्होंने 'लीलाभेद', 'लीला रस' आदि का प्रयोग भी किया है किन्तु इस सबका कारण पुष्टिमार्ग का प्रभाव न होकर उपनिषद् भागवत आदि प्राचीन भक्ति एवं दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों की परम्परा का परिपालन ही है। लीला की महत्ता भागवत में मुख्यतया निरूपित की गई है और दार्शनिक क्षेत्र में भी उसकी देन महत्वपूर्ण है। वल्लभाचार्य ने इसीलिए भागवत की 'समाधि भाषा' को प्रस्थान-त्रयी के बाद चतुर्थ प्रमाण माना।

गुजराती साहित्य पर पुष्टिमार्ग का प्रभाव वस्तुतः सत्रहवीं शती के पड़ना प्रारंभ हुआ। इस समय तक वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ अनेक बार गुजरात जा चुके थे और अनेक स्थलों पर उनकी बैठकें स्थापित हो चुकी थीं। वल्लभाचार्य अपने पर्यटन में सूरत, भरुच, मूर्वी, नवानगर, खंभालीया, पिंडतार डाकोर, द्वारका, जूनागढ़, प्रभास, नरोडा, गोधरा आदि स्थानों पर गये ऐसा माना जाता है।[५९] वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ के प्रचार का मुख्य क्षेत्र गुजरात ही था।[६०] विट्ठलनाथ ने द्वारकाधीश के दर्शन के लिए निम्नलिखित प्रमाण से छः बार गुजरात की यात्रा की।[६१]

१. प्रथम अड़ैल से गुजरात पधारे।
२. सं० १६१३ में पुनः अड़ैल से गुजरात पधारे।
३. सं० १६१९ में गढा से पधारे।
४. सं० १६२३ में मथुरा जी से पधारे।
५. सं० १६३१ में श्रीगोकुल से पधारे।
६.* सं० १६३८ में पधारे।

चैतन्य की शुद्ध भक्ति गुजराती स्वभाव की व्यावहारिकता तथा व्यापारी प्रवृत्ति के प्राबल्य में न पनप सकी।[६२] किन्तु इन्हीं कारणों से पुष्टिमार्ग वहाँ कुछ ही समय में इतना व्याप्त हो गया कि गुजरात उसका घर बन गया और वैष्णव का अर्थ ही पुष्टिमार्गीय वैष्णव हो गया। सम्प्रदाय-प्रसार के नवीन उत्साह से प्रेरित होकर विट्ठलनाथ के 'अर्बुदारण्य' निवासी एक गुजराती शिष्य गदाधरदास ने 'सम्प्रदाय प्रदीप' नामक संस्कृत ग्रंथ की रचना की जिसमें अनेक प्रशस्तियों के साथ वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी और विल्वमंगल की आचार्य परम्परा में स्थापित किया। गदाधर न विद्यानगर के पूज्य देवता 'श्री विट्ठलनाथ' द्वारा दिये गये स्वप्न के प्रसंग में एक स्थल पर स्पष्ट लिखा है कि **'श्रीवल्लभाचार्यन्प्रति श्रीविट्ठलनाथेनोक्तं भवद्भि विष्णुस्वामि मार्गोऽङ्गीकर्तव्यः'** (सम्प्रदायप्रदीप, पृ० ६२) अर्थात् विट्ठलनाथ की मूर्ति ने वल्लभाचार्य से विष्णुस्वामी के मत को अंगीकार करने को कहा, क्योंकि विष्णुस्वामी की रचनाएँ कालकवलित हो चुकी थीं। **'विष्णुस्वामिकृत श्रुति व्याससूत्र गीता भागवतभाष्य निबन्धादि कालेनान्तर्हितं'**। दक्षिण के विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय से गुजरात परिचित रहा हो यह असंभव नहीं है। विष्णुस्वामी विष्णु के नृसिंह रूप के उपासक थे। नृसिंह विष्णु का रुद्र रूप है और विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय की संज्ञा रुद्र-सम्प्रदाय भी है। इस सम्प्रदाय में नृसिंह-भक्ति क्रमशः गोपालोपासना के द्वारा स्थानान्तरित होती गयी। नृसिंहारण्य मुनि द्वारा रचित, जूनागढ़ से प्राप्त 'विष्णुभक्ति चंद्रोदय', जिसका उल्लेख किया जा चुका है, में कई स्थलों पर नृसिंह की वन्दना के श्लोक मिलते हैं। रचयिता के नाम में प्रयुक्त नृसिंह संभव है सम्प्रदायगत नामकरण की परिपाटी का द्योतक हो। श्रीधरी टीका जो गुजरात में परिचित थी नृसिंह की वन्दना से ही प्रारम्भ होती है।[६३] रत्नेश्वर ने अपने गुरु परमानंद के दैवत् को नृसिंह कहा है। गुजरात में नृसिंहोपासना के प्रमाण भी पर्याप्त मिलते हैं। नृसिंह का त्रिशिर-विग्रह तथा स्त्री-मूर्ति गुजरात में नृसिंह से सम्बद्ध किसी विशिष्ट सम्प्रदाय की ओर से रची गयी होगी ऐसा अनुमान किया जा सकता है।[६४] सम्प्रदाय प्रदीप में देवप्रबोध नामक आचार्य को नृसिंहोपासक माना गया है जैसा **'ततो देव-**

प्रबोधाचार्येण स्वेष्टदेवता नृसिंह वचनेन ......।' से विदित होता है। इस सम्बन्ध में विशेष ऊहापोह न भी किया तो भी इतना स्पष्ट है कि गुजरात में पुष्टिमार्ग के, प्रवेश के बाद ही वल्लभाचार्य के विष्णुस्वामी मतवर्ती होने पर विशेष बल दिया गया। स्वयं वल्लभाचार्य की रचनाओं से यह तथ्य प्रमाणित नहीं होता। गोविन्दलाल भट्ट और अमरनाथ राय ने इस विषय में पर्याप्त शोध की है। भट्ट जी का मत यथार्थ प्रतीत होता है। (दृष्टव्य: बड़ौदा ओरियंटल कान्फ्रेन्स रिपोर्ट, सन् १९३३)

गोसाईं विट्ठलनाथ के एक अन्य गुजराती शिष्य गोपालदास ने 'वल्लभाख्यान' और 'भक्तिपीयूष' नामक दो ग्रन्थों की रचना की जिनमें 'वल्लभाख्यान' पर ब्रज-भाषा में टीका भी हुई है। इस रचना में कवि ने अपने गुरु श्रीविट्ठलनाथ को लीला-धारी कृष्ण का साक्षात् स्वरूप माना है।[५५]

आलोच्य काल के तीन गुजराती कवियों पर पुष्टिमार्ग का प्रभाव स्पष्ट परि-लक्षित होता है इनमें से एक हैं 'रसिकगीता' के रचयिता भीम, दूसरे हैं 'मथुरालीला' के प्रणेता केशवदास और तीसरे हैं रासलीलाकार वैकुंठदास। भीम विट्ठलनाथ के शिष्य थे और केशवदास तथा वैकुंठदास गोकुलनाथ के। कवियों ने इस सत्य को विशेष श्रद्धा के साथ स्वीकार किया है जो निम्नलिखित पंक्तियों से व्यक्त होती है—

ब्रजमां भगति घणी, अे सर्वे जाणे सही,
वलव अे रसीक जन तेणे लीलाकरी।
कीहां रस प्रीत न होती ब्रज थी परवरी,
जेणे विट्ठलेश जाण्या तेना पाप थाअे अरी।

—रसिकगीता, बृ० का० दो०, भाग ७, पृ० ७०१

गुरु कल्याण कीधुं मम सार, कीधो वैश्य नाम अधिकार,
आपी वाणी कर्णे कृपाय, श्रीवल्लभ कुलमां गोकुलराय।
प्रथमि प्रणमूं श्री गोकुलचंदनि, रसीकशिरोमणि आनंद कंदनि।

—प्राचीन काव्य सुधा, भाग ३, पृ० १४१

कदाचित् इन्हीं केशवदास वैष्णव ने 'वल्लभवेल' का भी निर्माण किया है जिसपर गोपालदास के पूर्वोक्त 'वल्लभाख्यान' की छाया है। इस रचना में सं० १६४६

में गोकुलनाथ द्वारा की गयी गुजराती यात्रा का भी उल्लेख है तथा वल्लभकुल के सम्बन्ध में अन्य अनेक सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं जिनका क्रमिक परिचय शास्त्री ने 'कविचरित' में दिया है।[६६] प्रस्तुत अध्ययन में स्वीकृत उक्त दोनों कवियों के अतिरिक्त १७ वीं शती में और भी एक कवि हुए हैं जिन पर पुष्टिमार्ग का प्रभाव मिलता है। उनका नाम है महावदास। एक काव्य में उन्होंने गुजराती के वेणाभट्ट की पुत्री के साथ होने वाले गोकुलनाथ जी के विवाह का वर्णन किया है।[६७] गुजरात के प्रसिद्ध व्यंग्यकार वेदान्ती कवि अखा भगत ने भी गोकुलनाथ की शिष्यता स्वीकार की लेकिन वह स्थायी न रह सकी। कवि ने लिखा है **'गुरु कर्या में गोकुलनाथ, गुरुए मुजने घाली नाथ'**[६८] अष्टछाप के कवियों के पद वैष्णव सम्प्रदाय के मंदिरों में गाये जाते रहे और गुजराती मध्ययुगीन भक्ति-काव्य के अन्तिम स्तम्भ दयाराम को उनसे पर्याप्त प्रेरणा मिली।[६९] गुजराती कवि केशवदास के 'श्रीकृष्णक्रीडाकाव्य' में एक गोपी जनवल्लभाष्टक दिया है वैसा ही अष्टक वल्लभ-सम्प्रदाय में हरिराय-कृत माना जाता है। दोनों में प्रायः अभेद है, संभव है केशवदास तथा हरिराय दोनों ने किसी एक स्त्रोत से उसे ग्रहण किया हो।[७०] हरिराय जी का गुजरात से पर्याप्त सम्पर्क रहा। इस प्रकार गुजरात पर उस पुष्टिमार्ग का व्यापक प्रभाव मिलता है जिसका प्रधान केन्द्र ब्रज था। गुजरात ने पुष्टिमार्ग के विकास में उसे स्वीकार करके ही योग नहीं दिया वरन् तत्सम्बन्धी साहित्य निर्माण में भी भाग लिया जिसके कुछ प्रमाण ऊपर दिये जा चुके हैं। पर जो इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण योग है वह अष्टछाप के कवि कृष्णदास की रचनाओं के रूप में मिलता है। कृष्णदास गुजराती थे और उनका जन्म गुजरात में, राजनगर (अहमदाबाद) राज्य के चिलोतरा नामक एक गाँव में हुआ था। शूद्रकुल में उत्पन्न होने पर भी उन्हें पुष्टिमार्ग में पर्याप्त मान्यता मिली और ये 'अधिकारी' की उपाधि से विभूषित किये गये। इन्होंने अपने अधिकार से गोसाई विट्ठलनाथ तक को श्रीनाथ जी की सेवा से निर्वासित कर दिया था।[७१] युगों पुरानी गुजरात और ब्रज की अभिन्नता पुष्टिमार्ग के प्रसार के साथ चरमसीमा पर पहुँच गयी। पुष्टिमार्ग से पहले के सम्प्रदायों का गुजरात पर जो प्रभाव पड़ा वह इतना पर्याप्त नहीं था कि साहित्य-सृजन को उस प्रकार प्रभावित कर सकता जैसे कि ब्रज में किया है। यही कारण है कि पुष्टिमार्ग के प्रवेश के पूर्व साम्प्रदायिक प्रेरणा से लिखा गया साहित्य गुजराती में उपलब्ध नहीं होता। इसके विरुद्ध ब्रज को प्रत्येक कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय ने अपना केन्द्र बनाया और परिणामतः ब्रज का समस्त कृष्ण-भक्ति-साहित्य प्रायः किसी न किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से प्रेरणा लेकर लिखा गया।

जहाँ तक गुजरात के लोक-मानस का सम्बन्ध है वह धर्म के क्षेत्र में सहज श्रद्धावान्, विश्वासी, तर्कहीन, तुलसी-पीपल पूजनेवाला, गो-ब्राह्मण की पूर्ण श्रेष्ठता स्वीकार करने वाला-स्मार्त एवं पौराणिक है। अपने इसी स्वभाव के कारण गुजरात ने कृष्ण-काव्य में राधा को 'भक्ति' का स्वरूप माना जबकि ब्रज के विभिन्न सम्प्रदायों ने राधा को 'आदिप्रकृति' तथा 'ह्लादिनी शक्ति' आदि अनेक स्वरूपों में देखा है और तदनुरूप दार्शनिक व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की हैं। गुजरात के स्वभाव में राज-सत्ता तथा वैभव के प्रति विशेष आकर्षण मिलता है। इसका फल यह हुआ है कि कृष्ण के राजसी जीवन के प्रति भी गुजराती कवियों ने पर्याप्त आकर्षण प्रदर्शित किया है। 'कृष्णविष्टि' अथवा 'पांडवविष्टि' नाम से जो उनेक रचनाएँ गुजराती कृष्ण-काव्य में मिलती हैं वे इसका प्रमाण हैं कि गुजराती कवियों ने ब्रज के कवियों की तरह अपने भाव-क्षेत्र को केवल गोकुल-वृन्दावन के कृष्ण तक ही सीमित नहीं रक्खा है। ब्रज के कवियों ने कृष्ण के राजसी स्वरूप को कहीं भी अपने काव्य का भाव-केन्द्र नहीं बनाया। सुदामाचरित और रुक्मिणीहरण सम्बन्धी काव्य अपवाद जैसे ही हैं। विष्टि ही नहीं द्वारकावासी कृष्ण के जीवन की कुछ अन्य घटनाओं को भी गुजराती कवियों ने रस के साथ अंकित किया है। उदाहरणार्थ सत्यभामा का विवाह तथा रूठना। भालण ने सत्यभामा के प्रसंग को विशेष भाव से चित्रित किया है। वस्तुतः मुख्यरूप से आख्यानकार होने के नाते गुजराती कवियों ने प्रायः कृष्ण के जीवन के किसी एक भाग तक ही अपने काव्य को सीमित नहीं रक्खा है प्रत्युत समस्त कृष्ण-चरित के प्रति उनकी भक्ति थी। यह भक्ति पूर्णतया पौराणिक कही जा सकती है, केवल नरसी और मीरां को छोड़कर क्यों कि उन की प्रेरणा पौराणिक न होकर वृन्दावनीय थी।

कुछ बातें गुजराती कृष्ण-काव्य में ऐसी मिलती हैं जो सर्वथा प्रादेशिक प्रभाव से आयी हैं जैसे रुक्मिणीहरण की कथा में प्रेमानंद द्वारा गुजरात से सम्बद्ध जैन तीर्थंकर नेमिनाथ का समावेश तथा नयर्षि और नरसी द्वारा किया गया द्वारका-रास का वर्णन। जैनधर्म मथुरा में भी प्रचलित था परन्तु बाद में विलुप्त होगया। परन्तु गुजरात में आज तक वह एक प्रधान धर्म है। प्रेमानंद ने निश्चित रूप से गुजराती जैनधर्म के प्रभाव से ही नेमिनाथ का समावेश किया, ठीक उसी तरह जिस तरह जैन साहित्य में कृष्ण को स्थान दिया गया। द्वारका में रास की कल्पना भी प्रदेश विशेष के वातावरण एवं प्रादेशिक परम्पराओं से प्रभावित मानस की उपज है। जैसे कृष्ण ने वृन्दावन में गोपियों के साथ रास किया वैसे ही द्वारका में भी रानियों के साथ किया होगा

ऐसी कल्पना का गुजरात के लोक-मानस में उत्पन्न होना अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक है। गुजरात की अपनी शैली तथा छंदगत विशेषताएँ भी कृष्ण-काव्य में मिलती हैं जैसे कडवाबद्ध आख्यान-शैली और संस्कृत वृत्तों का प्रयोग। इसी तरह भाषा के क्षेत्र में भी कुछ बातें उल्लेखनीय हैं।

गुजरात और मध्यदेश की उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त बहुमुखी सांस्कृतिक एकता से साथ साथ कुछ विशेषताएँ और भी मिलती हैं जिन्हें प्रादेशिक, प्रांतीय अथवा क्षेत्रीय कुछ भी कहा जा सकता है। ब्रज-प्रदेश की लोक-संस्कृति ब्रज-काव्य में और गुजरात की लोक-संस्कृति गुजराती काव्य में प्रतिबिम्बित हुई हैं। यमुना के किनारे के लिए ब्रज में प्रयुक्त 'तट' या 'तीर' का प्रयोग न करके नरसी ने 'कांठे' का प्रयोग किया है जो गुजरात में सुप्रचलित है—

सुन्दर जमुना जी ने कांठे रे उग्यो शरदपुनम नो चंद।

—न० कृ० का०, पृ० ४१८

प्रेमानंद ने 'रुक्मिणीबाई' लिखा है जो गुजरात के लिए सहज प्रयोग परन्तु ब्रज के लिए नहीं। गोपियाँ जो गीत गाती हैं उनको 'गरबी' की संज्ञा दी गयी है। गरबी गुजरात की एक प्रधान विशेषता है। यह प्रायः 'गरबा' नृत्य के साथ गा जाती है—

ताल पखाज वेणा रस महुवर गरबी गाय रसीली रे।

—न० कृ० का०, पृ० ५१२

नरसी ने 'हमची' लेकर गाने का भी इसी तरह कई स्थलों पर वर्णन किया हैयी जिसका अभिप्राय मंडली-बद्ध गायन से है। कृष्णदास की 'रुक्मिणी हरण हमचडी' ऐसे ही गीतों का संग्रह है। प्रेमानंद ने कृष्ण को झुलाने के लिए सारी बाँध कर बनाई हुई झोली का वर्णन किया है यह भी गुजरात में बहुप्रचलित है। गुजराती कवियों ने जहाँ आभूषणों और पकवानों की नामावलियाँ दी हैं वहाँ भी प्रांतीय विशेषता देखी जा सकती है। ब्रज के कवियों ने कलेवा या जेवनार में अनेक प्रादेशिक व्यंजनों का उल्लेख किया है। आभूषण तथा वेश-भूषा के वर्णन में भी प्रादेशिक प्रभाव स्वाभाविक रूप में मिलता है। सूर के कृष्ण 'भौंरा चकडोरी' से खेलते हैं—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीतांबर ओढ़े हाथ लिये भौंरा चकडोरी।

—सू० सा०, पृ० २०४

लाठी मार होली तो निश्चय ही ब्रज की अपनी वस्तु है सूर ने उसका भी वर्णन अपने काव्य में किया है—

उत जेरी धरे ग्वाल बाँसन की परी मार यह छबि नाहि बारपार सोर झोर झोरी।
उत होरी पढत ग्वार इत गारी गावति ए नंद नाहिं जाये तुम महिर गुणन भोरी।

—सू० सा०, पृ० ५५८

इस उद्धरण में गाली गाने का भी वर्णन है। ब्रज के अन्य कवि गदाधर भट्ट ने गाली गाने का वर्णन किया है जो लोक प्रचलित जीवन से लिया गया है—

देत परस्पर गारि द्वारे जाय खरे।

—वा० श्रीगदा०, पृ० ५०

गुजराती कवियों ने गुजरात की मास-गणना के अनुसार कृष्ण का जन्म श्रावण में लिखा है परन्तु ब्रज के कवियों ने भादों में माना है। नरसी, प्रेमानंद और वासगदास ने 'राही' को राधा से भिन्न एक सखी के रूप में चित्रित किया है। ऐसा चित्रण ब्रज में उपलब्ध नहीं होता। यह समान्य बातें अपने आप में अधिक महत्त्व नहीं रखतीं किन्तु इनसे जिस सत्य की व्यंजना होती है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। और वह यह है कि समान परम्परा से कृष्ण-लीलाओं का ग्रहण करके भी दोनों भाषाओं के कवियों ने उनका विकास अपने अपने प्रदेश के संस्कारों, व्यवहारों, लोकाचारों, विचारों एवं भावनाओं के अनुरूप किया है, जो स्वाभाविक ही है। सभी कवियों ने अपने आराध्य को लोक-चेतना का केन्द्र बनाने के लिए अपने चारों ओर की भूमि के जीवन से विविध तत्त्व संचित करके उनसे कृष्ण का शृंगार किया है। समस्त कृष्ण-काव्य वास्तव में अपने व्यक्त रूप में लोकोन्मुखी काव्य है। उसकी रचना भी ऐसे वर्ग के कवियों द्वारा हुई है जिन्होंने लोक-जीवन से अपना सम्बन्ध कभी विच्छिन्न नहीं किया। ब्रजभाषा के रीतिकालीन कवि अवश्य दरबारों में आश्रय ग्रहण करके लोक-जीवन से दूर जा पड़े परन्तु गुजराती के प्राय: सभी कवियों का लोक से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यही कारण है कि भक्ति से हटकर गुजराती काव्य ब्रजभाषा की काव्य की तरह रीति-शैली की आलंकारिकता और कृत्रिम भावाभिव्यक्ति की ओर अग्रसर नहीं हुआ। शृंगार-प्रियता अवश्य गुजराती और ब्रजभाषा के काव्य में चरम रूप में मिलती है। दोनों भाषाओं के कवियों ने वैराग्य, ज्ञान और भक्ति से युक्त सूक्ष्म भावनाओं के निरूपण के साथ ही राधा-कृष्ण की विलास-लीलाओं का स्थूलतम

चित्रण किया है। आधुनिक मनोविज्ञान ऐसे वर्णनों के भक्ति-काव्य माने जाने पर गंभीर प्रश्नचिह्न अंकित करता है। प्राचीन सैद्धान्तिक व्याख्याओं के अनुसार इसका उत्तर अनेक प्रकार से दिया जाता है जो पूरी तरह संतोष नहीं देता। यहाँ केवल इतना ही अभिप्रेत है कि दोनों भाषाओं में 'उघाडो' या उघरे हुए शृंगार से युक्त काव्य-रचना प्रचुर मात्रा में हुई। १५वीं, १६वीं तथा १७वीं शती के गुजराती और व्रजभाषा में लिखे गये कृष्ण-काव्य और उसकी बहुमुखी पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से संक्षेप में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों की आत्मा एक है, जो कुछ विभेद हैं वे अपेक्षाकृत गौण एवं बाह्य हैं और वे किसी प्रकार इस आत्मिक एकता का अपघात नहीं करते। यह एकता और भेद,साम्य और वैषम्य वर्ण्यवस्तु, सिद्धान्त, भाव, कला, छंद तथा भाषा प्रभृति काव्य के सभी अंगों में लगभग समान रूप से परिलक्षित होता है।

किसी भी तुलनात्मक अध्ययन में प्रभाव के सम्बन्ध में निश्चित रूप से हठात् किसी निष्कर्ष पर पहुँच जाना उचित नहीं कहा जा सकता फिर भी काव्य-धाराओं की गति देखकर दिशा का निर्देशन संभव है। पिछले पृष्ठों में देखा जा चुका है कि गुजरात और व्रज की बहुत सी परम्पराएँ अभिन्न रही हैं इसीलिए दोनों के काव्य में बहुत से समान तत्व उपलब्ध होते हैं। उनके लिए कदापि नहीं कह जा सकता कि वे इस भाषा के साहित्य के प्रभाव से उस भाषा के साहित्य में आये हैं पर कुछ बातें ऐसी हैं जिनके विषय में किसी भ्रान्ति की संभावना नहीं हैं। गुजरात में जो साहित्य पुष्टि-मार्ग की प्रेरणा से रचा गया उस पर निश्चय ही व्रज की विचारधारा का प्रभाव है क्योंकि सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र व्रज ही बना रहा। इसी तरह गुजराती के भालण, नरसी, केशवदास, लक्ष्मीदास, ब्रेहृदेव आदि की रचनाओं में जो व्रजभाषा का प्रयोग मिलता है वह भी निश्चित रूप से व्रज का प्रभाव कहा जा सकता है। इनमें से सब प्रक्षेप नहीं हैं और फिर किसी गुजराती कवि के नाम से रचकर व्रजभाषा की रचनाओं को प्रक्षिप्त करने की प्रवृत्ति भी तो प्रभाव को ही सिद्ध करती है। भाषा और सम्प्रदाय इन दो बिन्दुओं को मिलाकर एक रेखा खींची जा सकती है जिसकी गति स्पष्टतया व्रज से गुजरात की ओर है। वृन्दावन के कृष्ण-भक्ति के मुख्य केन्द्र होने के कारण प्रभाव का प्रवाह मथुरा से द्वारका की ओर प्रवाहित हुआ ऐसा गुजराती विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। निम्नलिखित पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं।[७२]

'बार तेर ने चौदमा सैका मां राजपुताना ने गुजरातनी भाषामां झाझो फेर न होतो, अने मथुरां ने वृन्दावननी कीर्तिना पदो अे भाषामां थतां ज हशे अेम स्पष्ट

लागे छे। अेटलुं ज नहीं पण द्वारकां श्रीकृष्णनुं धाम होई, कृष्ण-कीर्तननो प्रवाह गुजरात मां बह्यो आवतो होवो ज जोइअे।'

अर्थ—१२वीं, १३वीं तथा १४वीं शती में राजपूताना और गुजरात की भाषा में बहुत अन्तर नहीं था और मथुरा एवं वृन्दावन की कीर्ति के पद इस काल की भाषा में थे और रचे गये यह स्पष्ट लगता है। इतना ही नहीं द्वारका कृष्ण का धाम होने के कारण ऐसा दीखता है मानो कृष्णकीर्तन का प्रवाह गुजरात में बहा आ रहा हो।

इसीलिए आरंभ में कृष्ण के मथुरा से द्वारका गमन को दोनों प्रान्तों के सांस्कृतिक सम्बन्ध का प्रतीक कहा गया है।

दोनों भाषाओं के कृष्ण-काव्य के बीच मीरां की स्थिति उस पयस्विनी जैसी है जो गुजरात और ब्रज प्रदेश का अमर संयोग कराती है।

पादटिप्पणियाँ

१. मथुरां संपरित्यज्य गताद्वारवतीपुरीम्—महाभारत २, १३, ६५

२. GL, page 12

३. मथुरा परिचय, पृ० ३६

४. अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

५. The Glory that was Gurjardesha, part I, Section III, Chapter III, page 131

६. मथुरा परिचय, पृ० ५८; JOIB, Vol. 1, No. 1, page 55

७. AG, Chapter XI, page 229

८. वही

९. वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २५७; AG, Chapter XI, page 228

१०. GL, page 116; संशोधनने मार्गे, पृ० ९५

११. मथुरा परिचय, पृ० ५६; AG, Chapter XI, page 233-235

१२. विश्वभारती, खंड तीन, अंक चार, १९४४, पृ० २३६

१३. हिन्दी काव्यधारा, राहुलसांकृत्यायन

१४. GL, Page 12

१५. GL, Page 12-13

१६. मथुरा परिचय, पृ० ६०

१७. GL, Page 28

१८. GL, page 37

१९. Linguistic Survey, Vol. IX, part II, page 328

२०. JISOA. Vol. X, 1942, page 7.

२१. GL, page 60

२२. मी० प० भूमिका, पृ० ४६; CL, page 17

२३. Enoyclopoedia of Religion and Ethics, Vol. XII, page 570; JOIB, Vol. I, No. 1, Page 52

२४. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १७, २४

२५. Wilson's Philological Lectures, page 302

२६. VG, page 216

२७. GL, page 20; "This Saurseni prevailed in Gujarat......"

२८. Language of Gujarata, Bharatiye Vidya (New Series) No. 12, Page 314; GLL. Lecture II, page, 40

२९. ब्रजभाषा व्याकरण, पृ० २१

३०. GL, page 2.

३१. Linguistic Survey, Vol. IX, part II, page 328; "Gujarati closely agrees in its main characteristics with Western Hindi and still more closely with Rajasthani."

३२. JISOA, Vol. X, 1942 page 9-10

३३. गु० सा० खंड ५मो, विभाग ५मो संस्कृत वार्ता साहित्य, प्राकृत लोक कथाओ

३४. हिन्दी साहित्य की भूमिका; पृ० २७, २८

३५. GL, page 18, 19

३६. GL, page 113

३७. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ७०, ७१

३८. मोढाक रसदर्शनो, पृ० १२१

३९. श्रीकृ० ली० का०, निवेदन, पृ० २, ३

४०. VG. page 223; "For all the practical purposes, it may be said that if we remove all the literary work inspired by the Bhagwat purana, little will remain which may be worth the name of literature at all."

४१. वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३५६

४२. श्रीकृ० ली० का०, निवेदन, पृ० १०

४३. ऐतिहासिक संशोधन, पृ० १३४, १३७

४४. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, भाग १, पृष्ठभूमि, पृ० २४

४५. Hymns of the Alwars by J. S. M. Hooper; "The kind of Bhakti described in thh Bhagwat Puran is precisely that of the Alwars."

४६. ऐतिहासिक संशोधन, पृ० १६७

४७. वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृ०, ३५३

४८. ऐतिहासिक संशोधन, पृ० ६१३

४९. GL, page 116

५०. मोढाक रसदर्शनो, पृ० १५५, १६४

५१. वही, पृ० १६०

५२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६

५३. मोढाक रसदर्शनो, पृ० १९०; "......अने वल्लभमत १६ मां सैकाना पाछला भागमां गुजरातमां प्रसर्यो ते पहेलां राधावल्लभी सम्प्रदाये गुजरात मां थाणा कर्या हता।"

५४. संशोधनने मार्गे, पृ० ९८

५५. मी. पद्म. परिशिष्ट, क, ३, पृ० ७२
५६. थीढ़ाक रसदर्शनो, पृ० १७३
५७. ऐतिहासिक संशोधन, पृ० १४२, १४८
५८. GLL, page 49, 50; गु० सा०, खंड ५, विभाग ८, प्रकरण १८, पृ० ३६५
५९. थीढ़ाक रसदर्शनो, पृ० २०४
६०. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, भाग १, पृ० ७५
६१. थीढ़ाक रसदर्शनो, पृ० २०६
६२. वही, पृ० २०३
६३. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ३, अंक ४, पृ० १८, २१
६४. AG, page 151-155
६५. गु० सा०, खंड ५ मो, विभाग ८, प्रकरण १८, पृ० ३६७
६६. क च, पृ० ४९६
६७. वही, पृ० ५००
६८. GL, page 179
६९. गु० सा०, खंड ५ मो, विभाग ८, प्रकरण १९, पृ० ३६९
७०. श्रीकृ० ली० का० निवेदन, पृ० १४, १५
७१. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, भाग १, पृ० २४४, २४८
७२. थीढ़ाक रसदर्शनो, पृ० १४८

सहायक ग्रंथों की सूची

संस्कृत

	ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
१.	अणुभाष्य, भाग २	—लेखक: श्री वल्लभाचार्य, अनुवादक: जठालाल गोवर्द्धन शाह, अहमदाबाद, आवृत्ति १ली, सं० १९८४ वि०।
२.	उज्ज्वलनीलमणि	—लेखक: रूपगोस्वामी।
३.	कृष्णकर्णामृतम्	—लेखक: विल्वमंगल, प्रकाशक: ढाका युनिर्वासिटी।
४.	गीतगोविन्दकाव्यम्	—सम्पादक: पं० केदार शर्मा, प्रकाशक: जयकृष्णदास हरीदास गुप्त १९४१।
५.	तत्वदीपनिबन्ध	—लेखक: श्री वल्लभाचार्य, प्रकाशक: जेठालाल गोवनर्धनदास शाह तथा हरिशंकर शास्त्री, अहमदाबाद, १९२६।
६.	नारदभक्तिसूत्र (प्रेमदर्शन)	—सम्पादक: हनुमान प्रसाद पोद्दार, प्रकाशक: घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, पंचम संस्करण सं० २००१ वि०।
७.	पद्मपुराण	—चार भाग, सम्पादक: विश्वनारायण, पूना, १८९३-९४।
८.	बालचरितम्	—लेखक: भास, सम्पादक, गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम सीरीज, त्रिवेन्द्रम, १९१२।
९.	ब्रह्मवैवर्तपुराण	—श्रीकृष्णजन्म खंड, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, प्रकाशक: खेमराज, मुम्बई सं० १९६६ वि०।

ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
१०. महाभारत	—सम्पादक : टी० आर० कृष्णाचार्य, तथा टी० आर० व्यासाचार्य, सात भाग, बम्बई, १९०६-७।
११. विष्णुपुराणम्	—टीकाकार : टी० आर० व्यासाचार्य, चार भाग, बम्बई, १९१४-१५।
१२. शार्ंगधर पद्धति	—सम्पादक : पीटर्सन, बाम्बे० एस० सीरीज, वाल्यूम प्रथम।
१३. श्रीमद्भगवद्गीता	—गीता प्रेस, गोरखपुर।
१४. श्रीमद्भागवत महापुराण	—टीकाकार : पं० गोविन्ददास 'विनीत' प्रकाशक : लाला श्यामलाल हीरालाल, श्यामकाशी प्रेस, मथुरा, प्रथम संस्करण, सं० १९९६ वि०।
१५. सम्प्रदायप्रदीप	—लेखक : गदाधर, अनुवादक तथा प्रकाशक : श्री कंठमणि शास्त्री, विद्या-विभाग कांकरोली, प्रथम संस्करण।
१६. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु	—लेखक : रूपगोस्वामी, सम्पादक : श्री गोस्वामी दामोदर शास्त्री, अच्युत ग्रंथ माला, काशी, प्रथम संस्करण सं० १९८८ वि०।

प्राकृत

१. गाथासप्तशती	—काव्यमाला २१, श्री सातवाहन विरचिता गंगाधर भट्ट विरचितया टीकया समेता। निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, सं० १८८९।
२. गौडवहो	—लेखक : वाक्पति, बाम्बे संस्कृत एन्ड प्राकृत सीरीज़ नं० XXXIV, सम्पादक शंकर पांडुरंग पंडित, एम० ए०, तथा नारायण बापूजी उत्गीकर एम० ए०, भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९२७ ई०।

हिन्दी

	ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
१.	अलंकार मंजूषा	—लेखक : ला० भगवानदीन, प्रकाशक : रामनारायण लाल, इलाहाबाद, नवीं बार, सं० २००४ वि० ।
२.	अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, भाग १, २	—लेखक : डॉ० दीनदयालु गुप्त, एम०ए०, एल०एल० बी०, डी० लिट्; प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सं० २००४ वि० ।
३.	अष्टछाप परिचय	—लेखक : प्रभुदयाल मीतल, प्रकाशक : अग्रवाल प्रेस, मथुरा, प्रथम संस्करण, सं० २००४ वि० ।
४.	उत्तरी भारत की संत परम्परा	—लेखक : परशुराम चतुर्वेदी; प्रकाशक : भारत दर्पण ग्रंथमाला, प्रथम संस्करण, सं० २००८ वि० ।
५.	कबीर ग्रंथावली	—सम्पादक : श्यामसुन्दरदास बी० ए०, प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९४७ ई० ।
६.	कवित्तरत्नाकर	—लेखक : सेनापति; प्रकाशक : हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।
७.	कविप्रिया	—आचार्य केशवदास, लखनऊ १९२४ ई० ।
८.	कृष्णचरित्र	—लेखक : बंकिमचन्द्र ।
९.	काव्यदर्पण	—लेखक : पं० रामदहिन मिश्र, प्रकाशक : ग्रंथमाला कार्यालय बाँकीपुर, प्रथम संस्करण, १९४७ ई० ।
१०.	छन्दःप्रभाकर	—लेखक : बाबू जगन्नाथप्रसाद, मुद्रक : जगन्नाथ प्रेस बिलासपुर, पाँचवाँ संस्करण, सं० १९७९ वि० ।

ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
११. तुलसी रचनावली (कृष्ण गीतावली)	—सम्पादक: बजरंग बली 'विशारद'; प्रकाशक: श्री सीताराम प्रेस बनारस, प्रथम संस्करण, सं० १९९६ वि०।
१२. देव और उनकी कविता	—लेखक: डॉ० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
१३. देव दर्शन	—संपादक: श्रीहरदयालु सिंह; प्रकाशक: इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९४१ ई०।
१४. ध्रुव सर्वस्व	—संपादक: रामकृष्ण वर्मा; प्रकाशक: भारत जीवन प्रेस काशी, प्रथम संस्करण, १९०४ ई०।
१५. नंददास, भाग प्रथम तथा द्वितीय	—संपादक: पं० उमाशंकर शुक्ल; प्रकाशक: प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९४२ ई०।
१६. निम्बार्क माधुरी	—संपादक विहारी शरण, वृंदावन।
१७. प्रकृति और काव्य, (हिन्दी खंड)	—लेखक: डॉ० रघुवंश; प्रकाशक: साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद; प्रथम संस्करण।
१८. पिंगल प्रकाश	—लेखक: पं० रघुवरदयाल मिश्र; प्रकाशक: रत्नाश्रम आगरा, प्रथम संस्करण, १९३३ ई०।
१९. ब्रजभाषा व्याकरण	—लेखक: डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०; प्रकाशक: रामनारायण लाल, प्रयाग, १९३७ ई०।
२०. ब्रजभाषा साहित्य में नायिका-निरूपण	—लेखक: प्रभुदयाल मीतल, प्रकाशक: प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, परिवर्द्धित संस्करण, सं० २००१ वि०।

ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
२१. ब्रजमाधुरीसार	—संपादक : वियोगी हरि, प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, पंचम संस्करण, २००२ वि० ।
२२. बिहारीरत्नाकर	—संपादक : जगन्नाथदास रत्नाकर; प्रकाशक : दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ, चतुर्थावृत्ति सं० २००७ वि० ।
२३. भक्तनामावली	—लेखक : ध्रुवदास; संपादक : आर० दास, प्रयाग १९२८ ।
२४. भक्तमाल	—लेखक : नाभादास, लखनऊ, १९०८ई०
२५. भावविलास	—लेखक : देवदत्त, भारतजीवन प्रेस, काशी १८९२ ई० ।
२६. मतिराम ग्रंथावली	—संपादक : कृष्णविहारी मिश्र; प्रकाशक : गंगा ग्रंथाकार, लखनऊ, तृतीय संस्करण, सं० १९९६ वि० ।
२७. मथुरा परिचय	—लेखक : श्री कृष्णदत्त बाजपेयी, लोक साहित्य सहयोगी प्रकाशन, मथुरा, प्रथम संस्करण १९५० ई० ।
२८. मिश्रबन्धु विनोद, भाग १	—लेखक : मिश्रबन्धु, लखनऊ, १९९१ वि० ।
२९. मीरां	—लेखक : श्री महावीर सिंह गहलोत, प्रकाशक : शक्ति कार्यालय, दारागंज, प्रयाग, द्वितीय संस्करण सं० २००६ वि० ।
३०. मीरां : एक अध्ययन	—लेखिका : पद्मावती 'शबनम', प्रकाशक : लोक सेवक प्रकाशन, बनारस, प्रथम संस्करण २००७ वि० ।

ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
३१. मीराबाई की पदावली	—संपादक परशुराम चतुर्वेदी; प्रकाशक: हिन्दी साहित्य सम्मेलन, द्वितीय संस्करण, २००१ वि० ।
३२. मीरा स्मृति ग्रंथ	—प्रकाशक : सं० ललिताप्रसाद शुक्ल, प्रकाशक : बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता, प्रथमावृत्ति सं० २००६ वि०।
३३. मोहिनी वाणी	—लेखक : श्री गदाधर भट्ट, प्रकाशक : कृष्णदास कुसुम गोवर्द्धन, सं० २००० वि० ।
३४. रसखान पदावली	—लेखक : रसखान; हिन्दी प्रेस, प्रयाग ।
३५. रसिकप्रिया	—लेखक: आचार्य केशवदास; प्रकाशक: खेमराज कृष्णदास, सं० १९७१ वि० ।
३६. रहीम रत्नावली	—लेखक : रहीम; सं० मायाशंकर याज्ञिक ।
३७. वाणी श्री वल्लभ रसिक जी	—प्रकाशक : कृष्णदास; कुसुम सरोवर प्रथमावृत्ति ।
३८. वाणी श्री सूरदास मदनमोहन	—प्रकाशक : कृष्णदास; कुसुम सरोवर, सं० २००० वि० ।
३९. विद्यापति पदावली	—संपादक: रामवृक्ष बेनीपुरी, लहरिया सराय, कदम कुँआ, पटना ।
४०. श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य	—लेखक: लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक; प्रकाशक: रामचन्द्र और श्रीधर बलवंत तिलक, चतुर्थ मुद्रण, १९२४ ई० ।
४१. श्री माधुरी वाणी	—लेखक : माधवदास; प्रकाशक : बाबा कृष्णदास; कुसुम सरोवर, प्रथमावृत्ति ।

ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
४२. श्री व्यास वाणी, भाग १, २	—प्रकाशक : अखिल भारतवर्षीय श्री हित राधा वल्लभीय वैष्णव महासभा, वृंदावन, प्रथम संस्करण, १९९१ वि० ।
४३. श्री सूरसागर	—प्रकाशक : खेमराज श्री कृष्णदास सं० १९९१ वि० ।
४४. श्री हितचौरासी सेवक वाणी	—गोस्वामी श्री हितहरिवंश तथा सेवक जी, प्रकाशक : गोस्वामी श्री वनमाली लाल जी, तृतीय संस्करण, सं० १९९२ वि० ।
४५. श्री राधावल्लभीय भक्तमाल	—लेखक : पं० रसिकअनन्यहित प्रियादास शुक्ल; प्रकाशक : पं० प्रियादासात्मज ब्रजवल्लभदास मुखिया, मथुरा, प्रथम संस्करण सं० १९८६ वि० ।
४६. श्री हित स्फुट वाणी	—श्रीमद्धित हरिवंश चन्द्र; प्रकाशक : बद्रीदास वंशीदास स्वर्णकार, प्रथम संस्करण ।
४७. सूरदास	—डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, प्रकाशक : हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय, प्रयाग, प्रथम संस्करण १९४६ ई० ।
४८. सूर निर्णय	—लेखक : द्वारिकादास परीख प्रभुदयाल मीतल; प्रकाशक : अग्रवाल प्रेस, मथुरा, प्रथम संस्करण २००६ वि० ।
४९. हरिवंश भाषा	—ज्वालाप्रसाद मिश्र, बम्बई १९५३ वि० ।
५०. हिन्दी काव्य धारा	—लेखक : राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद ।
५१. हिन्दी साहित्य की भूमिका	—लेखक : पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक : हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, प्रथम संस्करण १९४० ई० ।

	ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
५२.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	—लेखक : पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा काशी, छठा संस्करण २००७ वि० ।
५३.	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	—लेखक : डॉ० रामकुमार वर्मा; प्रकाशक : रामनारायण लाल, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, १९४८ ई० ।

गुजराती

ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
१. आपणा कविओ, खंड १	—लेखक : केशवराम काशीराम शास्त्री; प्रकाशक : गुजराती वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद, द्वितीय संस्करण, १९४६ ई० ।
२. ऐतिहासिक संशोधन	—लेखक : दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री; प्रकाशक : गुजराती साहित्य परिषद्, प्रथम आवृत्ति, १९४१ ई० ।
३. कविचरित, भाग १, २	—लेखक : केशवराम काशीराम शास्त्री; प्रकाशक : गुजराती वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद, १९३९ ई०।
४. कवि प्रेमानंद अने नरसिंह कृत कुंवरबाई नु मामेरुं	—संपादक : भगतभाई प्रभुदास देसाई; प्रकाशक : नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, १९४३ ई० ।
५. कार्यवही १९४२:४३ नी	—प्रकाशक : गुजरात साहित्य सभा, अहमदाबाद नी आफ प्रिंट, नरसिंह प्रेमानंदादिनी नामे चढेली संदिग्ध कृतिओ ।
६. काव्य संग्रह नरसिंह महेता कृत	—संपादक : इच्छाराम सूर्यराम देसाई, प्रकटकर्ता, गुजराती प्रेसना मालीक, प्रथम संस्करण सं० १९६९ वि० ।
७. गजरात सर्वसंग्रह	—रचयिता : नर्मदाशंकरलाल शकर कवि, १८८८ ई० ।
८. गुजराती साहित्य	—संपादक : कनैयालाल माणिकलाल मुंशी, प्रकाशक : श्री साहित्य प्रकाशक : कम्पनी लिमिटेड, बम्बई, चतुर्थ संस्करण १९२५ ई० ।

ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
९. गुजराती हाथ प्रतोनी संकलित यादी	—तैयार करनार: के० का० शास्त्री, गुजराती, वर्नाक्यूलर सोसायटी, अहमदाबाद, १९३९ ई०।
१०. थोडांक रसदर्शनो	—लेखक: कनैयालाल मुंशी; प्रकाशक: जीवनलाल अमरशी महेता, अहमदाबाद, प्रथम आवृत्ति, सं० १९८९ वि०।
११. नरसैंयो भक्तहरिनो	—लेखक: कनैयालाल माणिकलाल मुंशी; प्रकाशक: जीवनलाल अमरशी महेता, अहमदाबाद।
१२. प्रबोध प्रकाश	—संपादक: केशवराम काशीराम शास्त्री; प्रकाशक: गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, आवृत्ति पहेली सं० १९९२ वि०।
१३. प्राचीन गुजराती छंदो	—लेखक: रामनारायण विश्वनाथ पाठक, प्रकाशक: गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद, आवृत्ति पहेली सं० २००४ वि०।
१४. पुष्टि दर्पण	—लेखक: जेठालाल गोवर्धनदास शाह; प्रकाशक: लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद, १९३८ ई०।
१५. पुष्टि मार्ग	—लेखक तथा प्रकाशक: श्री द्वारकादास पुरुषोत्तमदास परिख, कांकिरोली, प्रथम संस्करण सं० २००१ वि०।
१६. प्रेमानंद, एक अध्ययन	—लेखक: केशवराम काशीराम शास्त्री।
१७. भालण उद्धव अने भीम	—लेखक: चुन्नीलाल मोदी।

ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
१८. भालण कृत दशमस्कंध	—संपादक : हरगोविंद द्वारकादास कंटावाला; प्रकाशक : विट्ठलभाई आशाराम ठक्कर, बड़ोदा, प्रथम संस्करण १९१५ ई० ।
१९. भालणनां पद	—संपादक : जेठालाल नारायण त्रिवेदी; प्रकाशक : जीवन लाल अमरशी महेता, प्रथम आवृत्ति १९४७ ई० ।
२०. रसेश श्रीकृष्ण अने श्रीकृष्णचरित्र	—लेखक : जे० जी० शाह; प्रकाशक : लल्लू भाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद ।
२१. रास पंचाध्यायी (फल प्रकरण)	—श्री सुबोधिनी जी; सं० जेठालाल गोवर्धन दास शाह ।
२२. रास सहस्रपदी	—संपादक : केशवराम काशीराम शास्त्री ।
२३. बृहत् काव्य दोहन	—संपादक : इच्छाराम सूर्यराम देसाई, बंबई ।
भाग १लो	सप्तम संस्करण १९२५ ई० ।
भाग २जो	तृतीय संस्करण १९१३ ई० ।
भाग ३जो	द्वितीय संस्करण १९०९ ई० ।
भाग छट्ठो	प्रथम संस्करण १९०१ ई० ।
भाग ७मो	प्रथम संस्करण १९११ ई० ।
२४. वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास	—लेखक : श्री दुर्गाशंकर केशवराम शास्त्री; प्रकाशक : अंबालाल बुलाकी राम जानी; श्री फार्बस गुजराती सभा, मुंबई, द्वितीय आवृत्ति १९३९ ई० ।
२५. श्रीकृष्णलीलाकाव्य	—लेखक : केशवदास कायस्थ; संपादक तथा प्रकाशक : अंबालाल बुलाकी-राम जानी मुंबई, प्रथम संस्करण १९३३ ई० ।

	ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
२६.	श्रीमद्भागवत पद्यबंध	—लेखक : प्रेमानंद; संपादक : इच्छाराम सूर्यराम देशाई, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, मुंबई, चतुर्थ संस्करण १९२७ ई० ।
२७.	श्रीरुक्मिणीविवाहनां पदो	—रचयिता : कृष्णदास, प्रकाशक : शास्त्री काशीराम करसब जी ।
२८.	श्री हरिराय जी	—जेठालाल गोवर्धनदास शाह, प्रकाशक : मोहन लाल विट्ठलदास गाँधी, अहमदाबाद, प्रथमावृत्ति सं० २००२ वि० ।
२९.	श्री हरिलीलाषोडशकला	—लेखक : भीम; संपादक : अंबालाल बुलाकीराम जानी ।
३०.	संशोधनने मार्गे	—लेखक : केशवराम काशीराम शास्त्री, प्रकाशक : भारती साहित्य संघ, लिमिटेड, प्रथम संस्करण सं० २००४ वि० ।
३१.	हारमाला	—लेखक : नरसी मेहता, सम्पादक : केशवराम काशीराम शास्त्री, प्रकाशक : अंबालाल, बुलाकीराम जानी, फार्ब्स गुजराती सभा, मुंबई १९३८ ई० ।

अंग्रेज़ी

1. Archaeology of Gujrat: *By* H. D. Sankalia, *Publishers*, Natwar Lal & Co., Hornby Road, Bombay, First Edition 1941.

2. Bhas—A Study. *By* A.D. Pusalkar, *Publishers*, Meharchand Lachmandas, Lahore, First Edition 1940.

3. Classical Poets of Gujrati, and their influence on society and morals. *By* Govardhan Ram Madhava Ram Tripathi, *Publishers*, Ramanuja Ram Govardhan Ram Tripathi, Bombay, First Edition 1916.

4. Early History of Vaishnavism in South India. *By* S. Krishnaswami Aiyangar.

5. Encyclopedia of Religion and Ethics (Vol. 12). *By* James Hastings.

6. Gujarati and its literature. *By* K. M. Munshi, *Publishers*, Longmans Green & Co. Ltd., Bombay, First Edition 1935.

7. Gujarati Language and Literature. Wilson's Philological Lectures *delivered by* N. B. Devatia. *Publishers* Macmillan & Co, Ltd. for the University of Bombay, 1921.

8. Gujarati Language and Literature. Thakkar Vassonji Madhavjji *Lectures* N. B. Devatia, The University of Bombay, First Edition 1932.

9. Hymns of Āḷvārs. *By* J. S. M. Hooper—The Heritage of India Series.

10.	Indian Chronology: (B.C. 1—2000 A.D.)	Dewan Bahadur L. D. Swami Kannu Pillai, Madras, 1911.
11.	Indian Culture.	Vol. IV *Editor* Dr. Radha Krishnan, Ram Krishna Mission.
12.	Language of Gujarat.	*By* H. C. Bhayani. *Reprinted from* The Bharatiya Vidya No. 12, Bombay, 1937.
13.	Linguistic Survey.	Vol. IX, part II. *By* Grierson.
14.	Main Tendencies in Mediaeval Gujarati Literature.	*By* M. R. Majumdar, Baroda 1937-38.
15.	Materials for the Study of Early History of Vaishnava Sect.	*By* Hem Chandra Roy Choudhari, 1220.
16.	Mathura, A District Memoire.	*By* Grouse.
17.	Milestones in Gujarati Literature.	*By* K. M. Jhaveri, Bombay, Fourth Edition 1914.
18.	Outline of the Religious literature of India.	*By* J. N. Farquhar.
19.	Proceedings and Translations of the Seventh All India Oriental Conference.	Baroda, 1933, *Published* at Baroda.
20.	Selections from Classical Gujarati Literature.	*By* Irach Jehangir Sarahji Taraporewala. *Published by* The University of Calcutta.
	(Volume I—15th century)	First Edition 1924.
	(Volume II—16th and 17th centuries)	First Edition 1930.
21.	Shri Vallabhacharya.	*By* Bhai Mani Lal C. Parekh.

22. The Glory that was Gurjardesh Part I, III. — *Edited by* K. M. Munshi, *Published by* Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, 1943.

23. The Imperial Gazetteer of India—The Indian Empire. — Vol. II, Oxford 1909.

24. The Krishna Problem. — *By* S. N. Tadapatrikar, M.A.

25. The Universal Practical Dictionary (Gujarati to English). — *Compiled by* Shanti Lal Sarabyai Ojha, *Publishers* R. R. Sheth & Co., Bombay. First Edition 1940.

26. The Vaishnavas of Gujarat. — *By* N. A. Toothi, Bombay. First Edition 1935.

27. Vaishnava Faith and Movement. — *By* S. K. De.

28. Vaishnavite Reformers of India. — *By* T. Rajgopalachari, Madras, 1909.

29. Wilson's Philological lectures on Sanskrit and the derived languages. — *Delivered by* R. G. Bhandarkar in 1877, Bombay 1914.

अप्रकाशित तथा हस्तलिखित ग्रंथ

संस्कृत

	ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
१.	विष्णुभक्तिचन्द्रोदय	—भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना तथा प्राच्य विद्यामंदिर, बडोदरा।
२.	सम्प्रदायप्रदीप	—प्राच्य विद्यामंदिर, बडोदरा।

गुजराती

१.	आनंदरास	—नरहरि, फार्ब्स गुजराती सभा, १७५,. बम्बई।
२.	कंसोद्धरण	—फांग, फार्ब्स गुजराती सभा, ३६१, बम्बई।
३.	कृष्णचरित	—गोपालदास, फार्ब्स गुजराती सभा, १५१ ल, बम्बई।
४.	गोपी उद्धव संवाद	—नरहरि, फार्ब्स गुजराती सभा, १७५, बम्बई।
५.	दशम स्कंध	—लक्ष्मीदास, गुजराती वर्नाक्यूलर सोसाइटी, ह० प्र० नं०, द ४७०।
६.	दशम स्कंध	—माधवदास, गुजराती वर्नाक्यूलर, सोसाइटी, ७३।
७.	दानलीला	—हरिराय जी, विद्या विभाग कांकरोली, ह० लि० ग्रं० बंध संख्या १०६ : १२।
८.	नानु दशमस्कंध	—अज्ञात कवि, बडोदरा, ६१२३।

	ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
९.	पांडव विष्टि	—फूढ, रचनाकाल १६७७ वि० फार्ब्स गु० स० हु० प्र० नं०, २०८ घ।
१०.	व्रजबेलि	—प्रेमानंद, गुजराती वर्नाक्यूलर सोसाइटी द० ६३५ अ।
११.	बालचरित	—रचयिता : कीकुवसही, फार्ब्स गुजराती सभा बम्बई, हु० प्र० नं० २१५ ख।
१२.	बाललीला	—प्रेमानंद, गुजराती वर्नाक्यूलर सोसाइटी नं० ७४९।
१३.	बाललीला	—शिवदास, फार्ब्स गु० स० हु० प्र० नं० ५३ घ, लिपिकाल १७१६, ५३ घ।
१४.	रासक्रीडा	—कृष्णदास, बडोदरा, ४६८४।
१५.	रासलीला	—वैकुंठ, फार्ब्स गुजराती सभा, ११४ख लिपि काल सं० १७४४।
१६.	रुक्मिणीहरण हमचडी	—कृष्णदास, गुजराती वर्नाक्यूलर सोसाइटी, ३४४।
१७.	रुक्मिणीहरण	—काशी सुत शेध जी, फार्ब्स गुजराती सभा, बम्बई हु० प्र० नं० अ० ५१।
१८.	रुक्मिणीहरण	—फूढ, फार्ब्स गुजराती सभा, हु० प्र० नं० ६४घ रचनाकाल सं० १६५२ वि०।
१९.	रुक्मिणीहरण	—विष्णुदास, बडोदरा ८८४।
२०.	रुक्मिणी हरणनां सलोको	—प्रेमानंद, गुजराती वर्नाक्यूलर सोसाइटी द० ८८५।
२१.	श्रीकृष्णलीला (४२ लीला)	—ध्रुवदास विरचित, म्यु० म्यूजियम, प्रयाग, बंध संख्या २१४ पुस्तक नम्बर १६ : ३० सं० १६५०।

ग्रंथ-नाम	विशेष विवरण
२२. हरिचुआक्षरा तथा कृष्ण वृंदावन रास	—रचयिता : वासणदास, एफ०, गुजराती वर्नाक्यूलर सोसाइटी, ह० प्र० नं० द० ७३८ ।
२३. हरिरस	—परमानंद, फार्ब्स गुजराती सभा ३२५ ।

पत्र-पत्रिकाएँ

हिंदी

	नाम	विशेष विवरण
१.	कल्याण (उपनिषद् अंक)	—वर्ष २३, अंक १, सम्पादक : हनुमान प्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए० शास्त्री, प्रकाशक : घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर।
२.	नागरी प्रचारिणी पत्रिका	—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
३.	नाममाहात्म्य, व्रजांक	—अगस्त १९४०, वृंदावन।
४.	व्रजभारती	—व्रजभारती कार्यालय, मथुरा।
५.	सम्मेलन पत्रिका	—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
६.	हिन्दी अनुशीलन	—वर्ष ३, अंक ४, प्रकाशक : भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, सं० २००७ वि०।
७.	विश्वभारती	—शान्ति निकेतन, खंड ३, अंक ४, १९४४।

गुजराती

१.	कौमुदी	—मार्च १९३१।
२.	गुजरात	—सं० १९८२ वि० श्रावण।
३.	गुजराती	—दिवाली अंक, १९३३।

नाम	विशेष विवरण
४. फार्ब्स गुजराती सभा त्रैमासिक पुस्तक १ लुं, जनवरी-मार्च १९३७, अक्तूबर-दिसम्बर १९३८	—संपादक : अंबालाल बुलाकीराम जानी, फार्ब्स गुजराती सभा, बम्बई।
५. प्रस्थान	—संपादक : १९८३ वि०, वैशाख ज्येष्ठ, अहमदाबाद।
६. बुद्धिप्रकाश	—गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद।
७. वसंत	—सं० १९६१ वि०, भाद्र अं० ८, अहमदाबाद।
८. हिन्दुस्तान, मुंबई नी आवृत्ति	—अंक ७५, ८१, ८७, शुक्रवार ११, १८, २५ नवम्बर १९४९ क्रमशः।

अंग्रेजी

1. Annals of The Bhandarkar Oriental Research Institute, (Part III and IV).	Vol. X. July 1929. Poona.
2. Bharatiya Vidya.	Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay.
3. Journal of the Indian Society of Oriental Art.	Vol. X 1942. *Editors* Abanindra Nath Tagore and Stella Kramrisch.
4. Journal of the Oriental Institute Vol. I, No. 1.	G. H. Bhatt, Oriental Institute Baroda. 1951.

तालिका-चित्र नं० १

★

कवि और काव्य सम्बन्धी तुलनात्मक परिस्थिति

[१५वीं शती]

गुजराती	ब्रजभाषा
१. नर्षि रचना : फागु २. मयण रचना : मयणछंद ३. भालण रचनाएँ : दशमस्कंध कृष्णविष्टि ४. भीम रचना : हरिलीला षोडशकला	कोई नहीं

तालिका-चित्र नं० २

★

कवि और काव्य सम्बन्धी तुलनात्मक परिस्थिति

[१६वीं शती]

गुजराती	व्रजभाषा
१. नरसी मेहता रचनाएँ : सुरतसंग्राम, गोविंद-गमन, चातुरी छत्रीसी, चातुरीषोडशी, दाण लीला, सुदामाचरित, रास सहस्रपदी, शृंगार-माला, बाल लीला, हींडोलानां पदो, भक्ति ज्ञाननां पदो, कृष्ण जन्म सम्बन्धी पद, वसंतनां पदो	वल्लभ सम्प्रदाय १. सूरदास रचनाएँ : सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी
२. मीरां रचना : स्फुट पद	२. कुंभनदास रचना : स्फुट पद
३. केशवदास रचना : कृष्णक्रीडाकाव्य	३. परमानंददास रचना : परमानंदसागर
४. नाकर रचना : भ्रमरगीता	४. कृष्णदास रचना : स्फुट पद
५. चतुर्भुज रचना : भ्रमरगीता	५. गोविन्दस्वामी रचना : स्फुट पद
६. भीम वैष्णव रचना : रसिकगीता	६. नंददास रचनाएँ : दशमस्कंध, श्याम-सगाई, गोबर्धनलीला, सुदामाचरित, विरह-मंजरी, रूपमंजरी, रुक्मिनीमंगल, रास-पंचाध्यायी, भँवरगीत, सिद्धान्त पंचाध्यायी, पदावली
७. ब्रेहेदेव रचना : भ्रमरगीता	७. छीतस्वामी रचना : स्फुट पद
८. कीकुवसही रचना : बालचरित	

[शेष अगले पृष्ठ पर

कवि और काव्य सम्बन्धी तुलनात्मक परिस्थिति

[१६वीं शती]

गुजराती	व्रजभाषा
९. वासणदास रचनाएँ : कृष्णवृंदावनरास, हरिचुआक्षरा १०. काशीसुत शेधजी रचना : रुक्मिणीहरण ११. संत रचना : भागवत (अनुवाद) १२. फूढ रचनाएँ : रुक्मिणीहरण, मल्लअखाड़ा नां चंद्रावला ★ ★	८. चतुर्भुजदास रचना : स्फुट पद **राधावल्लभीय सम्प्रदाय** ९. हितहरिवंश रचनाएँ : श्रीहितचौरासी, श्रीहितस्फुट वाणी १०. सेवक रचना : सेवकवाणी ११. हरिरामव्यास रचनाएँ : सिद्धान्त रस के पद रस विहार के पद **गौडीय सम्प्रदाय** १२. गदाधर भट्ट रचना : स्फुट वाणी १३. सूरदास मदनमोहन रचना : स्फुट वाणी **निम्बार्क सम्प्रदाय** १४. श्रीभट्ट रचना : जुगलसत १५. हरिव्यास रचना : महावाणी १६. परशुरामदेव रचना : परशुराम सागर

[शेष अगले पृष्ठ पर

कवि और काव्य सम्बन्धी तुलनात्मक परिस्थिति

[१६वीं शती]

गुजराती	ब्रजभाषा
★	हरिदासी सम्प्रदाय १७. हरिदास स्वामी रचनाएँ : केलिमाल सिद्धान्त के पद १८. विट्ठलविपुलदेव रचना : स्फुट पद १९. बिहारिनदेव रचना : स्फुट पद, दोहे
★	सम्प्रदायमुक्त कवि [प्रथम वर्ग] २०. मीरां रचना : पदावली २१. तुलसीदास रचना : कृष्णगीतावली २२. रहीम रचना : मदनाष्टक, रासपंचध्यायी २३. नरोत्तमदास रचना : सुदामाचरित
★	[द्वितीय वर्ग] २४. कृपाराम रचना : हिततरंगिनी २५. केशवदास रचनाएँ : कविप्रिया, रसिकप्रिया २६. आलमशेख रचना : आलमकेलि

[समाप्त]

तालिका-चित्र नं० ३

★

कवि और काव्य सम्बन्धी तुलनात्मक परिस्थिति

[१७वीं शती]

गुजराती	व्रजभाषा
१. लक्ष्मीदास रचनाएँ : दशमस्कंध, स्फुट पद २. देवीदास रचनाएँ : रुक्मिणीहरण, भागवतसार, रासपंचाध्यायीनो सार ३. शिवदास रचना : बालचरित्र ४. भाऊ रचना : पांडवविष्टि ५. वैकुंठदास रचना : रासलीला ६. परमाणंद रचना : हरिरस ७. कृष्णदास रचनाएँ : रुक्मिणीविवाह, रुक्मिणीहरण हमचडी ८. नरहरिदास रचनाएँ : आणंदरास, गोपीउद्धव संवाद ९. फांग रचना : कंसोद्धरण २०. माधवदास रचना : दशमस्कंध	**वल्लभ सम्प्रदाय** १. रसखान रचनाएँ : प्रेमवाटिका, सुजानरसखान २. हरिरायजी रचनाएँ : स्फुटपद, दानलीला ३. शोभाचंद रचना : भक्तिविधान **राधावल्लभीय सम्प्रदाय** ४. ध्रुवदास रचनाएँ: रसमुक्तावली रसहीरावली, रसरत्नावली, प्रेमावली, रसानंदलीला, मानलीला, दानलीला, व्रजलीला, नेहमंजरी, रतिमंजरी, रहस्यमंजरी, सुखमंजरी, रहसिलता, आनन्दलता, प्रेमलता, अनुराग लता, वनविहार, रंगविहार, रसविहार, मनिसिंगार, हितसिंगार, मंडलसभासिंगार, वृंदावनसत

[शेष अगले पृष्ठ पर

कवि और काव्य सम्बन्धी तुलनात्मक परिस्थिति

[१७वीं शती]

गुजराती	ब्रजभाषा
११. प्रेमानंद रचनाएँ : रुक्मिणीहरण, रुक्मिणीहरण नां सलोको, बाललीला, ब्रजवेलि, दाणलीला, भ्रमरगीता, भ्रमरपचीसी, मास, सुदामाचरित, दशमस्कंध **१२. रत्नेश्वर** रचनाएँ : दशम-एकादश स्कंध बारमास **१३. विष्णुदास** रचना : रुक्मिणीहरण **१४. केशवदास वैष्णव** रचना : मथुरामहिमा ★ ★	भजनसत, सिंगारसत, रंगविनोद, आनंददसाविनोद, रंगहुलास, ख्यालहुलास, भजनाष्टक, आनन्दाष्टक, नितंविलास, प्रीतिचौंवनी, मनसिक्षा, जीवदिसा, जुगलध्यान, भजनकुंडली **गौडीय सम्प्रदाय** **५. वल्लभरसिक** रचना : वाणी **६. माधवदास** रचनाएँ : उत्कंठामाधुरी, वंशीवटमाधुरी, केलिमाधुरी, वृंदावनविहारमाधुरी, दानमाधुरी, मानमाधुरी **निम्बार्क सम्प्रदाय** **७. रूपरसिकदेव** रचनाएँ : वृहदोत्सवमणिमाल, हरिव्यास-यशामृत, नित्यविहारपदावली **८. तत्ववेत्ताजी** रचना : वाणी

[शेष अगले पृष्ठ पर

कवि और काव्य सम्बन्धी तुलनात्मक परिस्थिति

[१७वीं शती]

गुजराती	ब्रजभाषा
★ ★ ★ ★	**हरिदासी सम्प्रदाय** ९. नागरीदास रचना : वाणी १०. सरसदेव रचना : वाणी ११. नरहरिदेव रचना : वाणी १२. पीतांबरदेव रचनाएँ : रस और सिंगार के पद, सिद्धान्त और सिंगार की साखी, केलिमाल की टीका १३. रसिकदेव रचना : स्फुट पद, दोहे **स्वतन्त्र वर्ग के कवि** १४. सेनापति रचना : कवित्तरत्नाकर १५. बिहारी रचना : सतसई १६. मतिराम रचनाएँ : रसराज, ललितललाम, सतसई १७. देव रचनाएँ : भावविलास, अष्टयाम, भवानी विलास

[समाप्त]

तालिका-चित्र नं० ४

गुजराती साहित्य के विभिन्न इतिहासकारों द्वारा दिया गया कृष्ण-कवियों का समय

[१५ वीं, १६ वीं तथा १७ वीं शती]

कवि ↓	त्रिपाठी	झावेरी	तारापोरवाला	दिवेटिया	थूथी	मुंशी	शास्त्री
१. नरसी मेहता	१५वीं शती	१४१४—८१	१४१५—८१	१४१४—८१ संशयास्पद	१४१४—८१	१५००—८० के बीच	सं० १४७०—१५३६
२. मीरां	१५वीं शती	१४०३—७०	१४९९—१५४७	...	१४०३—७०	१५५० के लगभग	सं० १५५५—१६०३
३. नर्षि	...	...	...	...	...	१४३९ (नर्तर्षि)	सं० १४५०
४. मयण	...	...	...	...	...	...	सं० १५००
५. भालण	१५वीं शती	१४३९—१५३९	१४३४—१५१४	नरसी के समकालीन	१४३९—१५३९	१४२६—१५००	लगभग सं० १५४०—४५

[शेष अगली पृष्ठ पर

तालिका-चित्र नं० ४

६. केशवदास	...	...	...	...	...	(केशवराम)	सं० १५२९
७. भीम	१५वीं शती	१४८४	१४८४	...	१४८४	१४८४	सं० १५४१-४६ के लगभग
८. नाकर	...	...	...	उल्लेख मात्र	१५०४–१५८४	१५५० के लगभग	सं० १५७२-१६२४
९. चतुर्भुज	...	...	...	...	...	...	सं० १५७६ के लगभग
१०. भीम वैष्णव	...	...	...	...	...	...	१७वीं शती वि० के आरंभ में
११. ब्रेहेदेव	...	...	...	...	...	....	सं० १६०९
१२. कीकु वसही	...	...	...	...	...	...	सं० १५५०
१३. वासणदास	...	...	...	...	...	...	सं० १६४८ से पूर्व

[शेष अगले पृष्ठ पर

१४. काशीसुत शेषजी	...	...	...	...	...	...	सं० १६४७–४८
१५. संत	...	...	...	...	...	...	१७वीं शती वि० पूर्वार्ध
१६. फूढ	...	...	...	...	...	...	सं० १६५१–८३ के लगभग
१७. लक्ष्मीदास	...	...	...	...	...	...	सं० १६३९–७२ के लगभग
१८. देवीदास	...	१६०४ के लगभग	१५७५–१६२५	...	...	...	सं० १६६० के लगभग
१९. शिवदास	...	१६१६	१५२५–१६२५	...	...	उल्लेख मात्र	सं० १६६७–७७ के लगभग
२०. भाऊ	...	...	...	...	...	...	सं० १६७६–७९ के लगभग
२१. वैकुंठदास	...	...	...	...	...	...	सं० १६५०–१७०० के बीच

[शेष अगले पृष्ठ पर

२२. परमाणंद	...	...	...	...	...	...	सं० १६८९ के लगभग
२३. कृष्णदास	...	...	...	...	...	...	सं० १६७३–१७०१
२४. नरहरिदास	...	सं० १६६९–१६८६ के लगभग	...	...	...	...	सं० १६७२–१७००
२५. फांग	...	...	...	...	...	...	१७वीं शती वि०
२६. माधवदास	...	...	...	...	...	...	सं० १७०५ के लगभग
२७ प्रेमानंद	१७वीं शती	१६३६–१७३४	१६३६–१७३४	उल्लेख मात्र	अखा के बाद	१६३६–१७३४	सं० १७००. के लगभग
२८. रत्नेश्वर	उल्लेख मात्र	...	...	...	...	१७वीं शती	...
२९. विष्णुदास	...	...	...	...	...	...	सं० १७१६ के लगभग
३०. केशवदास वैष्णव	...	...	...	...	...	...	१७वीं शती वि० उत्तरार्ध

[क्रमशः]

व्यक्ति-नामानुक्रमणिका

[अंक पृष्ठ संख्या के द्योतक हैं ।]

ग्रंथ-नामानुक्रमणिका

[अंक पृष्ठ संख्या के द्योतक हैं।]